त्रयोदशोऽङ्कः

UGC CARE LISTED

ISSN- 2231-0800

गोमती

GOMATI

(Journal for the study of Indology)

Refereed Journal

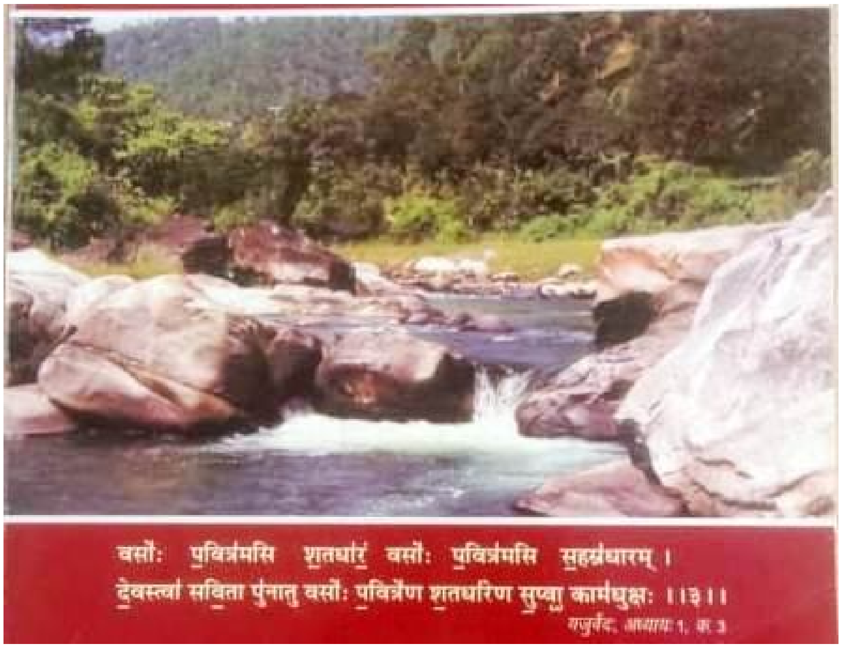

केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालय:, लखनऊपरिसर:

2023-2024

भारत सरकार

राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय,

नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति

केन्द्रीय औषधि अनुसंधान संस्थान, लखनऊ

सत्यमेव जयते

प्रमाण–पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि राष्ट्रीय संस्कृत संस्थानम् ने जून/दिसम्बर २००९ को समाप्त छमाही अवधि में पत्रिका प्रकाशन कर सराहनीय कार्य किया है। राजभाषा कार्यान्वयन हेतु इस कार्यालय के अधिकारियों/कर्मचारियों का यह प्रयास अत्यन्त प्रशंसनीय है।

'गोमती' ने प्रथम स्थान प्राप्त किया।

(डॉ० विजय नारायण तिवारी)
सचिव
नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति,
एवम्
वरिष्ठ हिन्दी अधिकारी
केन्द्रीय औषधि अनुसंधान संस्थान, लखनऊ

(डॉ० तुषार कांति चक्रबर्ती)
अध्यक्ष
नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति,
एवम्
निदेशक
केन्द्रीय औषधि अनुसंधान संस्थान, लखनऊ

राष्ट्रीय मूल्यांकन एवं प्रत्यायन परिषद

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का स्वायत्त संस्थान

NATIONAL ASSESSMENT AND ACCREDITATION COUNCIL

An Autonomous Institution of the University Grants Commission

Certificate of Accreditation

The Executive Committee of the

National Assessment and Accreditation Council

is pleased to declare

Central Sanskrit University, Delhi

56-57, Institutional Area, Janakpuri, New Delhi, Delhi as

Accredited

with CGPA of 3.60 on four point scale

at A++ grade

valid up to May 18, 2028

Date : May 19, 2023

Director

EC(SC)/155/2nd Cycle/DLUNGN166800

UGC CARE LISTED ISSN- 2231-0800

गोमती

Gomati

(Journal for the study of Indology)

Refereed Journal

Chief Editor

Prof. Shrinivasa Varakhedi

Vice Chancellor, CSU, New Dehli

Editor

Prof. Sarva Narayan Jha

Director, Lucknow Campus

Sub. Editor

Dr. Neeraj Tiwari

(Asstt. Prof. in Sanskrit Sahitya)

Asstt. Editor

Dr. Govind Paudel

Dr. Shivanand Mishra

Central Sanskrit University

(Formerly Rashtriya Sanskrit Sansthan)

Established by an Act of Parliament

Under the Ministry of Education, Govt. of India

गोमती

Gomati

(Journal for the study of Indology)

Refereed Journal

Editorial Board

- Prof. Avneesh Agrawal, HoD, Shikshashstra Vidyashakha
- Prof. Bharat Bhushan Tripathi,
  Coordinator, Ved Paurohitya Karmakand Vidyashakha
- Prof. Dhanindra Kumar Jha, Coordinator, Vyakarana Shastra Vidyashakha
- Prof. Pavan Kumar, Coordinator, Sanskrit Sahitya Vidyashakha
- Prof. Gurucharan Singh Negi,
  Coordinator, Bauddhadarshan Avam Pali Vidyashakha
- Dr. Harinarayandhar Dwivedi, Coordinator, Jyotishshastra Vidyashakha
- Dr. Suresh Prakash Singh, Coordinator, Modern Subjects

© Central Sanskrit University,
Lucknow Campus, Lucknow

Publisher:

Director
Central Sanskrit University,
Lucknow Campus, Lucknow

Printed at:

Editorial

This is indeed a moment of supreme delight. By the grace of the Almighty, with the good wishes of the Lucknow Campus family, the kind encouragement , and the gracious blessings of Prof. Shrinivas Varkhedi Hon’ble Vice-Chancellor of the Central Sanskrit University, the illustrious scholar of both Eastern and Western traditions , We are privileged to present before the scholars, connoisseurs, lovers of Sanskrit, and dear students, this annual research journal “Gomati” in commemoration of Prof. Krishnachandra Dwivedi, an erudite scholar of Astronomy and Astrology, former HoD in Jyotisha, Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi. Enriched with diverse streams of knowledge, science and arts, *Gomati* dispels the darkness of ignorance, enlightens all directions, blossoms the lotus-hearts of the learned, and unfolds the intellectual splendour of the Lucknow Campus, revealing its subtle treasure of knowledge to all seekers. Just as the churning of the ocean of nectar yields fresh butter, so too the new creations contained herein, born of study, reflection, and practice, attain illumination through publication. Through such efforts, true education ascends to the fourth, transcendent stage — the stage of dissemination. We hope that this journal will continue to contribute to that noble purpose. This *Gomati*, adorned with golden words, insightful thoughts, and valuable research contributions from the brilliant students, scholars, and teachers of the campus, indeed shines with a rare and radiant beauty. I firmly believe that with the continued cooperation of students, officials, and learned contributors, this research journal will grow ever more mature, refined, and intellectually charming in the years to come. With utmost respect and appreciation, I extend heartfelt commendations to the Honourable members of the Board of referees as well as the Board of editors — whose untiring dedication and scholarly zeal have greatly enriched this endeavour. I also express my deep gratitude to our revered VICE CHANCELLOR, to the distinguished CONTRIBUTERS, to the students who assisted with devotion, and to the office staff, typist, all of whom have worked with great enthusiasm to bring this issue to fruition. If, despite our best efforts, any errors of printing or inadvertent omissions remain, I humbly request the learned readers to pardon them with their characteristic generosity and goodwill.

Sarva Narayan Jha,
Editor

विषयानुक्रमणिका

क्र.सं.	विषयः	लेखकः	पृष्ठ सं.
1.	संस्कृतव्याकरणं सार्वभौमव्याकरणञ्च	प्रो. लोकमान्यमिश्रः	01-05
2.	समाजीकरणम्	प्रो. देवीप्रसादद्विवेदी	06-13
3.	संस्कृतकाव्यशास्त्रे स्थायिभावस्वरूपविमर्शः	प्रो. सनन्दनकुमारत्रिपाठी	14-26
4.	कान्तायाः काव्यशास्त्रीयमास्पदम्	प्रो. ग़ज़ाला अंसारी	27-34
5.	कण्ठस्थीकरणं मनोवैज्ञानिकम् अमनोवैज्ञानिकं वेति ?	प्रो. कुलदीपशर्मा	35-46
6.	वेदार्थनिर्णये अग्नितत्त्वविमर्शः	डॉ. कृष्णमोहनपाण्डेयः	47-52
7.	संस्कृते भारतीयज्ञानपरम्परा	डॉ. अरविन्दकुमारतिवारी	53-59
8.	सद्गुरुममलं सदा वन्दे	डॉ. भुवनेश्वरीभारद्वाजः	60-64
9.	भारतीयज्ञानपरम्परायां मेघदूतखण्डकाव्ये ऐतिहासिकस्थलानां समीक्षणम्	डॉ. नीरजतिवारी	65-77
10.	उत्तररामचरिते भवभूतेर्लोकाराधनपरिपुष्टं वर्णनकौशलम्	डॉ. पवनकुमारपाण्डेयः	78-88
11.	भारतीयज्ञानपरम्परायामाचार्य-सुधाकरावदानम्	डॉ. मधुसूदनमिश्रः	89-102
12.	उदात्तादिस्वराणां हस्तसञ्चालनविधिविचारः	डॉ. राहुलकुमारझाः	103-109
13.	भारतीयवैज्ञानिकपरम्परेतिहासः	डॉ. अखिलेशकुमारमिश्रः	110-119
14.	भारतीयभाषासु तेलुगुसाहित्यस्य विशिष्टता	डॉ. जी. नरसिंहुलु, डॉ. बि. वि. लक्ष्मीनारायणः	120-129
15.	न्यायवैशेषिकदर्शनयोरवयवतत्त्वम्	डॉ. केशवशरणोऽर्यालः	130-146
16.	बृहच्छब्देन्दुशेखरदिशा अचः परस्मिन् पूर्वविधौ इति सूत्रविमर्शः	डॉ. नीरजकुमारभार्गवः	147-155
17.	प्रमाणानां प्रामाण्यं स्वत एवोत्पद्यते ज्ञायते च	डॉ. धीरजकुमारपाण्डेयः	156-162
18.	पदान्तविधौ न स्थानिवत्	डॉ. सुखदेवभट्टः	163-167
19.	कर्मत्वविचारः	डॉ. चिरञ्जीवीअधिकारी	168-173
20.	ध्वनिविमर्शः	डॉ. प्रवीणकुमारचौधरी	174-178
21.	कालिकापुराणस्य स्वरूपम्	डॉ. विवेकशर्मा	179-183

22.	शिक्षणाधिगमाय सूचनासम्प्रेषणप्रौद्योगिक्याः अन्तर्जालसंसाधनानाञ्च प्रासङ्गिकता	डॉ. रुद्रनारायणनरसिंहमिश्रः	184-188
23.	श्रीमद्भगवद्गीताया आलोके जीवनयापनस्य कला	डॉ. हीरापाण्डेय	189-196
24.	शाङ्करवेदान्ते प्रमेयविमर्शः	डॉ. शान्तिमिश्रा	197-209
25.	असिद्धवदधिकारसमीक्षणम्	डॉ. दिनेशकुमारद्विवेदी	210-218
26.	व्यक्तित्वनिर्धारणे सूर्यचन्द्रयोः प्रभावविमर्शः	डॉ. मुकेशकुमारः	219-224
27.	बृहत्संहितायां निर्दिष्टः चन्द्रचारः	डॉ. बालकरामसारस्वतः	225-232
28.	भारतीयसमाजे स्त्रीणां वैवाहिकाधिकारः : एको विमर्शः	डॉ. पिंकीकुमारी	233-240
29.	श्रृंगाररसविवेकः	श्रीशिवानन्दमिश्रः	241-253
30.	प्राचीनभाष्यकारेषु आचार्यसायणस्य भाष्यवैशिष्टयम्	डॉ. अमितभार्गवः	254-259
31.	न्यायदर्शने ईश्वरसाधनोपायाः	डॉ. उमामहेश्वरी बी.	260-267
32.	आचार्यधनञ्जयानुसारेण नाट्यं नाट्यवस्तुविमर्शश्च	डॉ. अरविन्दकुमारपाण्डेयः	268-278
33.	तिरश्चां विषये कालिदासस्य रसाभिव्यक्तिः	लक्ष्मणजीतिवारी, डॉ. नीरजतिवारी	279-287
34.	भूमेः स्वरूपम् (ज्योतिषदृष्ट्या)	डॉ. चन्द्रश्रीपाण्डेय	288-295
35.	वैदिकवाङ्मये चन्द्रस्योत्पत्तिः स्वरूपं च	डॉ. नन्दनकुमारतिवारी	296-305
36.	अधिव्याकरणं पक्षत्रयी	डॉ. गोविन्दपौडेलः	306-311
37.	संस्कृतवाङ्मये वैज्ञानिकत्वम्	मेघाजैन	312-322
38.	भारतीयज्ञानपरम्परायां कामसूत्रग्रन्थस्य ग्रन्थविषयकभ्रमाः वर्ण्यविषयश्च	मयंकतिवारी, डॉ. नीरजतिवारी	323-336
39.	नाट्यशास्त्रान्वितपरम्परायामभिनय-तत्त्वम्	शिवानी, प्रो. गणेशशंकरविद्यार्थी	337-344
40.	वैज्ञानिकदृष्ट्या ज्योतिष्टोमयागस्य महत्त्वम्	अभिषेकचतुर्वेदी, डॉ. नीरजतिवारी	345-353

41.	पारस्करगृह्यसूत्रस्य प्रथमद्वितीयकाण्डस्य संस्काराणां जयरामविश्वनाथभाष्यानुसारं तुलनात्मकं समीक्षणम्	नितेशमिश्रः, प्रो. हरेकृष्णअगस्ती	354-362
42.	भारत के आर्थिक विकास में महिलाओं का बढ़ता योगदान	डॉ. एस. पी. सिंह	363-366
43.	महाभारत में वर्णित राजधर्म	डॉ. राजमंगल यादव	367-377
44.	वेदों में वर्णित जलतत्त्व	डॉ. विजय कुमार शर्मा	378-384
45.	झारखण्ड के अभिलेखों में प्रतिबिम्बित साहित्यिक सन्दर्भों का अवलोकन	डॉ. देवेन्द्र नाथ ओझा	385-393
46.	उपनिषदों में तात्त्विक ज्ञान	डॉ. दिनेश शर्मा भारद्वाज	394-402
47.	तुलसीदास का कल्पना-सौन्दर्य	डॉ. संजय कुमार मिश्र	403-406
48.	पॉल ड्यूसन की कृतियों में अद्वैतवेदान्त के तत्त्व	डॉ. प्रीति, डॉ. धनञ्जय मणि त्रिपाठी	407-413
49.	बौद्धन्यायपरम्परा के अनुसार "परार्थानुमान"	डॉ. अतुल कुमार श्रीवास्तव	414-418
50.	McDougall Theory of Instinct: Relevance in Indian Context	Prof. Avneesh Agrawal	419-423
51.	William Shakespeare and Irony	Dr. Kavita Bisaria	424-439
52.	Rasa Sidhanta	Dr. K. Narayanan	440-448
53.	A Glance of Current and Future Trends and Technologies related to Computer Science	Vinay Kumar Dwivedi	449-454
54.	The Power of Smiling : A Cross-Cultural Communication Tool in Education	Swati Mazta	455-458
55.	Caste system and the Impact of Reservation in Traditional Indian Society	Upasana Tripathi	459-468
56.	Title : The Role of Social Media in Promoting Eco-Friendly Advertising Initiatives in India	Divya Tripathi, Dr. Sumita Kathuria	469-475
57.	Exploring the Manifold Scripts of India from Brahmi Up-Till Nagari	Vanshika Tiwari	476-483
58.	Significance of Tirtha in Indian Tradition: with Special reference to NaimishāraṇyaTirtha	Miss Prajna Panda	484-492

संस्कृतव्याकरणं सार्वभौमव्याकरणञ्च

– प्रो. लोकमान्यमिश्रः

(शोध पत्र में संस्कृत व्याकरण तथा निओम चौम्स्की (NOAM CHOMSKY) द्वारा निरूपित सार्वभौम व्याकरण का परिचय उपस्थित किया गया है। संस्कृत भाषा का व्याकरण अत्यन्त समृद्ध तथा अनन्य है। व्याकरण की गणना वेदांगों में की गई है। व्याकरण का विवेचन नारद पुराण में भी किया गया है। संस्कृत के ज्ञान के लिए व्याकरण का ज्ञान अनिवार्य प्रतिपादित किया गया है। व्याकरण का अन्य नाम शब्दानुशासन भी है। इन्द्र चन्द्र आदि आठ प्रकार के शाब्दिक निरूपित हैं। वर्तमान में केवल पाणिनीय आदि कुछ व्याकरण ही उपलब्ध तथा प्रचलित है। यह सूत्रों में उपनिबद्ध है। यह भाषा विज्ञान के स्वर्णिम विज्ञान रूप विज्ञान वाक्य विज्ञान का आधार है।)

संस्कृतवाङ्मयं हि अनुपमं नाम। संस्कृतभाषायां भारतस्य सर्वस्वं गौरवं संरक्षितमस्ति। एतस्मिन् विविधशास्त्राणां विद्यानाञ्च प्रवर्तनं ऋषिभिः कृतं विद्यते। वेदवेदाङ्गादीनि तु आदिशास्त्ररूपेण प्रथितानि सन्ति। वेदाङ्गानां प्रसारः भारतस्य सुदीर्घां शिक्षणपरम्परां द्योतयति। वेदाङ्गेषु विशिष्टं हि नाम व्याकरणशास्त्रम्। संस्कृतस्य परिज्ञानार्थं व्याकरणज्ञानम् अनिवार्यं प्रतिपादितम्। यदा भाषा लोकप्रिया सुसम्पन्ना च सञ्जाता तदानीं भाषाविदः तस्याः भाषायाः संरक्षणाय एनां व्याकरणनियमैः सुबद्धां कृतवन्तः। अपभ्रंशेभ्यो रक्षणाय तेषां प्रवृत्तिरासीत्। एतद्धि लक्षणशास्त्ररूपेण पतञ्जलिना प्रतिपादितम्। अत एव महर्षिपतञ्जलिना महाभाष्यं व्याकरणस्य अभिधानं 'शब्दानुशासनम्' इति कृतम्। पदशास्त्ररूपेणापि विख्यातमस्ति व्याकरणम्। महाभारतेऽपि एतद्विषये कथितं यत्–

सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते।
प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः।।

– महाभारतम्, उद्योगपर्व, 43/36

व्याकरणशास्त्रस्य समुद्भवो भारते पुरा सञ्जातः। पूर्वं तु अव्याकृता एव शब्दाः व्यवहारे प्रचलिता आसन्। तदनन्तरं तेषां विभागाः प्रवर्तिताः। इत्येवं प्रतिपादितं तैत्तिरीयारण्यके षष्ठकाण्डे। यथा हि–

"वाग्वै पराच्यव्याकृता अवदत् ते देवा इन्द्रमब्रुवन् इमां नो वाचं व्याकुरु इति, तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् तस्मानि व्याकृता वागुद्यते इति। महाभाष्ये सुप्रतिष्ठितं यत्– "बृहस्पतिः इन्द्राय इति शब्दपरायणं प्रोवाच" इत। एवं व्याकरणपरम्परा हि इन्द्रादपि पूर्ववर्तिनी मता। प्रथमः व्याकरणकर्ता हि इन्द्र

एवेति सुप्रसिद्धम्। लोके प्रभूतानां व्याकरणप्रवर्तकानां समुल्लेखाः प्राप्यन्ते। यथा हि– **इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशलीशाकटायनः।**

पाणिन्यमरजैनेन्द्राः जयन्त्यष्टादि शाब्दिकाः।।

एतेषां वैयाकरणानां समुल्लेखाः यास्काचार्यस्य निरुक्तग्रन्थे पाणिनीयसूत्रेषु च सम्प्राप्यन्ते। पूर्ववर्तिनां हि केवलं नामोल्लेखाः एव प्राप्यन्ते न तु ग्रन्थाः। एतेषु साम्प्रतं पाणिनीयव्याकरणमेव श्रेष्ठत्वात् राराजते। षड्वेदाङ्गेषु व्याकरणस्य गणना हि तृतीयक्रमे विधीयते। तथापि व्याकरणस्यास्तित्वं वेदपुरुषस्य मुखरूपे क्रियते। यथा कस्यापि जनस्य प्रमुखः स्वरूपपरिचयः मुखेनैव जायते। यतो हि शरीरावयवेषु मुखस्य प्राधान्यं भवति। तथैव व्याकरणस्य प्राधान्यता परिलक्ष्यते। एतस्मादेव कारणात् पतञ्जलिमुनिः – "प्रधानञ्च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम्। प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति" इति महाभाष्यस्य पस्पशाह्निके प्रतिपादितवान्। एतदर्थं मम्मटाचार्योऽपि व्याकरणप्रामुख्यं प्रतिपादितवान्। यथा हि "प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्" इति।

व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दाः अनेनेति व्याकरणमित्यस्य व्युत्पत्तिः प्रसिद्धा वर्तते। वि-आङ् उपसर्गयोः डुकृञ् (करणे) धातोः ल्युडि सति व्याकरणपदं सिद्ध्यति। अत्र शब्दानां प्रकृतिप्रत्ययादिरूपेण व्युत्पत्तिज्ञानं विधीयते। स्वरवर्णोच्चारणानां परिज्ञानाय व्याकरणम् अध्येयं भवति। व्याकरणेन शब्दानां प्रयोगव्यवहारस्य ज्ञानं सम्भवति। अत्र 'यथा लोके तथा व्याकरणे' इति न्यायोक्तिरपि सुप्रसिद्धा सुप्रचलिता च वर्तते।

विविधेषु व्याकरणेषु सत्स्वपि पाणिनीयव्याकरणं सर्वोत्कृष्टं विद्यते। महर्षिपाणिनेः अष्टाध्यायीति ग्रन्थरत्ने पूर्ववर्तिनां वैयाकरणानां यथा हि– उपालिशलिः (वा सुप्यापिशलेः। 6/1/11), काश्यपः (तृषिमृषिकृशेः काश्यपस्य। 1/1/25), गालवः (तृतीयादिशु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्य। 7/1/77), शाकटायनः (लङः शाकटायनस्यैव। 3/4/111), शाकल्यः (सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे। अष्टाध्यायी 1/1/16), सेनकः (गिरेश्च सेनकस्य। 3/4/112), भारद्वाजः (ऋतो भारद्वाजस्य। 7/2/63), स्फोटायनः (अवङ् स्फोटायनस्य। 6/1/123), गार्गः (ओतो गार्ग्यस्य। 8/3/20) प्रभृतीनाम् उल्लेखः व्याकरणशास्त्रस्य अविच्छिन्नां परम्परां संसूचयति।

पाणिनिना हि अष्टाध्याय्यां शब्दानाम् अनुशासनाय प्रयासाः प्रवर्तिताः। अष्टाध्यायिग्रन्थे यानि सूत्राणि पठितानि विद्यन्ते तानि हि केवलं साधुत्वमात्रस्य बोधकानि न सन्ति, प्रत्युत अर्थान्तरपरिशीलनेन लोकव्यवहारमपि तानि

शिक्षयन्तीति प्रतीयते। पदसाधुत्वबोधने यादृशं व्यवस्थितं स्वरूपं पाणिनीयव्याकरणस्य, न तथा कस्यचिदन्यस्य विद्यते। एतस्मादेव कारणात् पराशरोपपुराणे प्रवर्तितं यत्–

पाणिनीयं महाशास्त्रं पदसाधुत्वलक्षणम् ।
सर्वोपकारकं ग्राह्यं कृत्स्नं त्याज्यं न किञ्चन ।। इति ।

वस्तुतः पाणिनीयसूत्राणां व्याख्याने लोकव्यवहारस्यापि ज्ञानं शास्त्रीयज्ञानेन सहैव सम्भवति। पाणिनिर्हि सूक्ष्मेक्षिकया सर्वमपि प्रयोगविषयं गम्भीरतया सुविचार्य सिद्धान्तत्वेन सूत्राणि रचितवान्। पाणिनिर्हि समुद्रसदृशं व्याकरणशास्त्रं कुशाग्रबिन्दुरिव सूक्ष्मं कृतवानिति प्रथितं विद्वत्सु। यथा हि–

समुद्रमिव व्याकरणं महेश्वरे तदर्धकुम्भोद्धरणं बृहस्पतौ ।
तद्भागभागाच्च शतं पुरन्दरे कुशाग्रबिन्दूत्पतितं हि पाणिनौ ।। इति ।

सूक्ष्मताकारणादेव वैयाकरणेषु– "अर्धमात्रालाघवे सति पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणा" इति प्रसिद्धिरभवत्। परमिदानीं टीका, प्रटीका, व्याख्योपव्याख्या-कारणात् व्याकरणं सुविस्तृतं सञ्जातम्। पाणिनीयाष्टाध्यायी सूत्रशैल्यां समुपनिबद्धा एका विशिष्टा रचना वर्तते। सूत्राणां सन्दर्भे सुप्रतिपादितं यत्–

सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्तिके ।
सूत्रं योनिरिहार्थानां सूत्रे सर्वं प्रतिष्ठितम् इति ।।

– तन्त्रवार्तिकम्, 2.3.11

पाणिनीयव्याकरणस्य वार्तिककारैः भाष्यकारैः, वाक्यप्रदीपकारैः, टीकाकारैश्च ज्ञानं सुगमतया सम्पादितम्। "यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्" इत्याभणकानुसारेण उत्तरवर्तिमुनीनां वैयाकरणानां प्रामाण्यं सिद्धं वर्तते। पाणिनि-कात्यायन-पतञ्जलिरिति मुनित्रयरूपेण प्रसिद्धा: विद्यन्ते। साम्प्रतिके काले प्रवर्तितस्य भाषाविज्ञानस्य स्वनिमविज्ञानम्, रूपविज्ञानम्, वाक्यविज्ञानञ्च पाणिनीयं व्याकरणमन्तरा तादृशं परिपूर्णं महत्त्वपूर्णञ्च सर्वथा असम्भवमिति स्वीक्रियते। भाषातत्त्वसम्बद्धे ध्वनिविज्ञाने पदविज्ञाने वाक्यविज्ञाने च दृढता पाणिनीयव्याकरणं विना न सम्भवति।

सार्वभौमिकव्याकरणं भाषावैज्ञानिकसिद्धिरूपे सार्वभौमिकव्याकरणस्य सम्प्रत्ययो वर्तते। अत्र भाषाया: प्रकृतिविषये संरचनाविषये च विचारो विधीयते। एतदतिरिच्य यत्र भाषायाः विवरणस्य सिद्धिः विधीयते तत्र भाषाविशेषस्य व्याकरणं (Specific Grammar) इति भवति। यत्र च अधिगमप्रक्रिया शिक्षणविधिश्च अन्विष्यते तत्र शैक्षिकव्याकरणं (Pedagogical Grammar) इति भवति। एवं सार्वभौमिकव्याकरणं हि वैज्ञानिकं व्याकरणमिति स्वीक्रियते।

भाषाविज्ञाने सार्वभौमिकव्याकरणस्य सम्प्रत्ययः प्रख्यातेन भाषाविदा नोएम चोम्स्की (NOAM CHOMSKY) महोदयेन प्रतिपादितः। तदनुसारेण भाषाधिगमेन सहैव प्रचलितेन तस्याः व्याकरणाधिगमेन भाषायां परिशुद्धतायाम् अभिवृद्धिर्भवितुं शक्नोति। चोम्स्कीमहोदयानुसारेण भाषायाः अधिगमस्य तद्व्याकरणाधिगमस्य प्रक्रियैषा सार्वभौमिकी (UNIVERSAL) नाम। तन्मते शिक्षार्थिनो भाषाधिगमाय स्तरद्वयोः साक्षादुपयोगं कुर्वन्ति। यथा हि– सामान्यस्तरः (SURFACE LEVEL) गभीरस्तरश्चेति (DEEP LEVEL)।

सामान्यस्तरे हि शिक्षार्थिनो भाषायाः ध्वनीनां शब्दानाञ्चेति अधिगमं कर्तुमर्हन्ति। तेषां ध्वनीनाम् अर्थावगमे ते सामर्थ्यं न धारयन्ति। शब्दानामर्थानां विशिष्टम् अभिप्रायं विज्ञातुं शिक्षार्थिनोऽशक्ताः भवन्ति।

गभीरस्तरे हि शब्दानां ध्वनीनाञ्च अर्थावगमे छात्राः शक्ताः भवितुमर्हन्ति। अत्र ते कस्यचिदपि सम्प्रत्ययस्य प्रकटीकरणे श्रेष्ठानाम् उपयुक्तानाञ्च पदानाञ्चयने सामर्थ्यं धारयन्ति। एतत् छात्राणां भाषाविकासस्य परिपक्वं रूपं भवति। भाषाणां श्रेष्ठतायाः मापदण्डस्तस्याः व्याकरणं भवति। विश्वस्मिन् विश्वे विद्यमानासु भाषासु सर्वाधिकं समृद्धं व्याकरणं हि संस्कृतभाषायाः वर्तते। संस्कृतव्याकरणस्य परम्परा हि अत्यन्तं सुदीर्घा वर्तते।

प्रत्येकं मानवे व्याकरणस्य संरचनायाः एकम् अन्तर्निहितम् आनुवांशिकं च प्रारूपं भवति। एतस्य हि संज्ञा सार्वभौमिकं व्याकरणम् इति वर्तते। एतेन सीमितेषु नियमेषु असीमितानां वाक्यानां निर्मितिः सम्भवति। चोम्स्की महोदयाः पाणिनीयव्याकरणेन सुपरिचिता आसन्। तन्मते सर्वासु भाषासु एकः सामान्यः संरचनात्मक आधारः भवति। स एव आधारः सार्वभौमिकव्याकरणम् इति नाम्ना अभिज्ञायते। सार्वभौमिकव्याकरणे समेषां मानवीयभाषाणां सार्वभौमिकं वैशिष्ट्यं स्वीकृत्य स्पष्टीक्रियते। वस्तुतः एतद् व्याकरणं समेषां भाषाणां सञ्चालनसिद्धान्तानां प्रणालीरूपेण मन्यते। एतदाधारेणैव भाषाज्ञानं विकसति। सार्वभौमिकं व्याकरणं भाषायाः प्रकृतेः अवगमनस्य कुञ्जिकारूपं वर्तते। चोम्स्की महोदयमते मानवे भाषा ज्ञानस्य क्षमता स्वाभाविकी भवति। मानवे शैशवकालादेव संज्ञानात्मिका प्रतिभा भवति। एतेन प्रत्येकं बालको भाषावगमनजन्यं सामर्थ्यं धारयति। चोम्स्की महोदयस्य मतमेतत् सामान्यरूपेण समुपयुक्तं प्रतीयते।

मानवो हि भाषाधिगमस्य सामर्थ्यकारणात् प्राणिषु श्रेष्ठो वर्तते। मानवो भाषायाः शब्दादिज्ञानपर्यन्तमेव परितुष्टं न भवति, प्रत्युत वाक्यरचनायामपि सहजतया अधिगच्छति। वाक्यनिर्मितिपरम्परायां विविधानां शब्दानां क्रियाणां च

प्रतिष्ठापनं वैविध्येन कर्तुम् अर्हति मानवः। सः एकस्मात् वाक्यात् तत् सदृशस्य अन्यश्च वाक्यस्य तद् भिन्नस्य च वाक्यस्य निर्माणं कर्तुमर्हति। एतत्कृते स व्याकरणनियमानां प्रक्रियायाः अभिव्यक्तिं कर्तुं न शक्नोति, परम् एतदाधारेण स आत्मनो भाषिकं सामर्थ्यं भाषिकं निष्पादनञ्च प्रकटयति। मानवमस्तिष्के अपरिमितानां जटिलानां व्याकरणस्य नियमानां धारणस्य क्षमता भवति। एतैः सह मानवेषु प्रतीकानाम् उपयोगस्य गुणमपि विद्यमानं भवति। एतत्कृते मानवानां वाग्यन्त्रे विशिष्टं सामर्थ्यमपि भवति।

चोम्स्कीमहोदयस्य सार्वभौमिकं व्याकरणम् इति सम्प्रत्ययः भाषावैज्ञानिकेषु विवादास्पदः स्वीक्रियते। अत्र विश्वस्य समस्तासु भाषासु अन्तर्निहितस्य ऐक्यस्य कल्पना विद्वद्भिः स्वीक्रिता न वर्तते। चोम्स्की महोदयेन स्वीक्रियते यत् भाषायाः व्याकरणनियमानां वैविध्यं अस्थायिरूपेण भवति। परं भाषाणां गम्भीरसंरचनायाः स्तरे सार्वभौमिकं व्याकरणं समुपयुक्तं भवति। सार्वभौमिकस्य व्याकरणस्य आधारभूता अवधारणा वर्तते यत् सर्वासु भाषासु सार्वभौमिकाः नियमाः विद्यमानाः भवन्ति। वस्तुतस्तु यूरोपीयभाषासु एव सार्वभौमिकव्याकरणस्य सिद्धान्तः कार्यान्वितो भवितुमर्हति। साम्प्रतमपि चोम्स्कीमहोदयस्य सार्वभौमिकव्याकरणे प्रभूतस्य अनुसन्धानस्य सम्भावना वर्तते। वस्तुतः चेम्स्कीमहोदयस्य प्रयासः सर्वथा श्लाघ्यो वर्तते। यतो हि जना: भाषार्जनस्य क्षमतया सहैव प्रादुर्भवन्ति। व्याकरणं हि भाषाया: नियन्त्रणस्य नियमस्वरूपं भवति। एतेषां व्याकरणनियमानाम् अवबोधस्य सामर्थ्यमपि सहजं भवति। सर्वासु भाषासु केचन सामान्या: गुणा: भवन्त्येव।

सन्दर्भग्रन्थाः–

1. शुक्लः, भगवतशरणः, वैयाकरणसिद्धान्तवृत्तिः, शारदासंस्कृतसंस्थानम्, वाराणसी, 2013
2. चतुर्वेदी, रामाधीनः, संस्कृतभाषाविज्ञानम्, चौखम्बाविद्याभवन, वाराणसी, 2005
3. दीक्षितः, गिरिजेशकुमारः, पाणिनीयप्रबोधः, सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः, वाराणसी, 1996
4. त्रिपाठी, करुणापतिः, बृहदृजुपाणिनीयम्, उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी, लखनऊ, 1983
5. चतुर्वेदः, गिरिधरशर्मा, पाणिनि-परिशीलनम्, राष्ट्रीय संस्कृत साहित्य केन्द्र, जयपुर, 2011
6. पाढी, किशोरचन्द्रः पाणिनीयव्याकरणे योगभागविर्मशः, भारतीयबुककार्पोरेशन, दिल्ली, 2001

वरिष्ठाचार्यः अधिष्ठाता च,
शिक्षाशास्त्रकौशल-प्रशिक्षण-विद्यास्थानम्,
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, नव-देहली ।

समाजीकरणम्

– प्रो. देवीप्रसादद्विवेदी

(मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज के बिना उसका कोई अस्तित्व नहीं है। बच्चा जब जन्म लेता है तब वह रक्त, मांस, हड्डी आदि का एक जीवित मांस का पुतला होता है। उस समय न तो उसमें कोई सामाजिक गुण होते हैं न तो कोई विरोधी। उस समय वह प्राणी शास्त्रीय गुण वाला एक जीवित प्राणी होता है। समाज व संस्कृति के बीच पलते हुए वह धीरे-धीरे एक सामाजिक प्राणी में बदल जाता है। अर्थात उसमें सामाजिक गुण या लक्षण दिखाई देने लगते हैं। वह अपने सामाजिक परम्पराओं एवं रूढ़ियों के अनुसार व्यवहार करना सीख जाता है। और इसके द्वारा स्वयं को पशु जगत से अलग कर लेता है। इस प्रकार जिस प्रक्रिया द्वारा कोई भी प्राणी शास्त्रीय प्राणी सामाजिक प्राणी में बदल जाता है उसे समाजीकरण कहते हैं।

समाज में ही सुख-दुख का अनुभव करते हुए सहयोग एवं अनुभूति का ज्ञान उसे प्राप्त होता है। समाज में आचार-विचार, सद्भाव, परोपकार जैसे अमूल्य गुणों को सीखता है । माता-पिता एवं श्रेष्ठजनों से अनुकरण की प्रवृत्ति प्राप्त करता है। समस्त सामाजिक गुण जो जीवन के लिए आवश्यक होते हैं उन गुणों की शिक्षा भी परिवार से प्राप्त करता है। विभिन्न प्रकार के संघर्षों से वह सफलता के मार्ग को प्राप्त करता है। समाजीकरण में शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान है। शिक्षा के माध्यम से बालक समाजीकरण की प्रक्रिया का ज्ञान प्राप्त करता है। शिक्षक कक्षा, क्रीडाङ्गण, साहित्यिक, सांस्कृतिक क्रियाओं के माध्यम से बालक में समाजीकरण का ज्ञान प्रदान करता है।)

मानवः, व्यक्तिः, बालकः वा विद्यालयतः, परिवारतः, समाजतः, वातावरणतश्च प्रतिदिनं किमपि शिक्षमाणः भवति। समाजे सः निवसति समाजतश्च शिक्षते। सः प्राणी व्यक्तिः मानवः वा समाजीकरणेन भवति। सामाजिक-सांस्कृतिक-परम्पराणां प्रतिभागी भूत्वा स्वस्य व्यक्तित्वस्य विकासं करोति। व्यक्तौ, मानवे, बालके स्थिताः ये साधारणासाधारणगुणाः, ते तम् अन्येभ्यो मानवेभ्यः एव मानवगतव्यक्तित्वेन परिचाययन्ति। समाजीकरणे व्यक्तिसमाजयोर्मध्ये अन्तःक्रिया भवति। समाजस्य प्रभावः व्यक्तेः व्यवहाराचरणयोः भवति। समाजीकरणं सामाजिकान्तःक्रियया भवति। एतस्मिन् बालकाः परस्परं सम्बन्धं स्थापयन्ति। व्यक्तेः बालकस्य वा समाजीकरणं कथं भवतीति शोधपत्रस्य आशयः।

यदा बालः जायते तदा सः केवलं रक्तमांसस्य अस्थित्यादीनाञ्च जीवितप्रतिमा एव भवति। तदवस्थायां तस्मिन् बालके सामाजिकासामाजिकगुणाः

न भवन्ति। तदानीं सः बालकः प्राणिशास्त्रीयगुणयुक्तः एकः जीवमानः प्राणी भवति। कथनस्य तात्पर्यमिदमस्ति यत् प्राणिशास्त्रीयप्राणिषु सामाजिकगुणाः लक्षणानि वा प्रादुर्भवितुम् आरभ्यन्ते। सः स्वसामाजिकपरम्परानुसारं व्यवहारं कर्तुं शिक्षते, तेन स्वपशुजगतः भिन्नं करोति। इत्थं यया प्रक्रियया कश्चन प्राणिशास्त्रीयप्राणी सामाजिकप्राणिरूपेण परिणमति, तदेव समाजीकरणम् इति कथ्यते। समाजीकरणेन सः प्राणी व्यक्तिः मानवः वा भवति। स्वस्य सामाजिक-सांस्कृतिक-परम्पराणां प्रतिभागी भूत्वा व्यक्तित्वस्य विकासं करोति। समाजीकरणे व्यक्ति-समाजयोर्मध्ये अन्तःक्रिया भवति। समाजस्य प्रभावः व्यक्तेः व्यवहाराचरणयोः भवति। मानवैः तादृशो यत्नो विधेयः येन समाजस्य अनुकूलो भवेत्। अन्यथा सः अग्रे गन्तुं न शक्नोति। व्यक्तेः समाजानुगुणं व्यक्तित्वनिर्माणस्य प्रक्रिया एव समाजीकरणम्। एतादृशी भावना [1]**मैक् गायर-हविग्हर्स्ट** महोदययोः विचारेषु सुस्पष्टतया दरीदृश्यते यत् समाजीकरणं सा प्रक्रिया भवति, यस्यां वैयक्तिकव्यवहाराणां वैकल्पिकसरणिं प्रस्तूय तैः साकं तान् प्रति समाजस्य सकारात्मकानि नकारात्मकानि वा अनुमोदनानि चापि प्रकाश्यन्ते। यतो हि तेषु केचन स्वीक्रियन्ते तथा च केचन परित्यजन्ते। अस्यां प्रक्रियायां प्रत्येकं व्यक्तेः व्यक्तित्वे औपचारिकानौपचारिकसामाजिकसमूहानां प्रभावोपरि बलं दीयते।

[2]**किम्बाल यंग–** समाजीकरणस्यार्थः अस्ति यद् व्यक्तिः स्वसंस्कृतेः स्वपद्धतिं विविधव्यवस्थां स्वभावञ्च शिक्षते येन समाजस्य क्रियाशीलसदस्यः भवितुं साहाय्यं विदधाति। सः आत्मानं परिवारस्य चानुकूल्ये सर्जति। सारांशेन समाजीकरणस्य सम्पूर्णा प्रक्रिया अन्तःक्रियायाः अथवा सामाजिकक्रियायाः अन्तर्गतम् आगच्छति।

[3]**ड्रेवर–** समाजीकरणं तादृशी प्रक्रिया अस्ति यया व्यक्तिः स्वस्य सामाजिक-पर्यावरणस्य अनुकूलतां प्राप्नोति तथा च सामाजिकमान्यताञ्च प्राप्य सः समाजस्य आदरणीयः कुशलश्च सदस्यः भवति।

[4] **सोरोकिन–** समाजीकरणं सांस्कृतिकवैचारिककारकाणाम् आन्तरिकीकरणस्य प्रक्रिया अस्ति।

[5] **रॉस्–** समाजीकरणं सहकारीव्यक्तिषु समभावनायाः विकासः कारयति तथा च तेषां तत्र एकत्र कार्यं कर्तुम् इच्छाशक्तिः क्षमता च वर्धते।

[6] **हैविघर्स्ट् न्यूगार्टन् च–** "समाजीकरणं सा प्रक्रिया अस्ति येन बालकः स्वस्य समाजस्य स्वीकृतशैलीं शिक्षते तथा च एताः शैलीः स्वव्यक्तित्वस्य एकमङ्गत्वेन निर्माति।

[7] **गिलिन् गिलिन् च–** समाजीकरणस्याभिप्रायः तया प्रक्रियया भवति यया व्यक्तिः समूहस्य क्रियात्मकसदस्यः भवति तथा च स्तरानुसारं कार्यं करोति। लोकाचार-परम्परा-सामाजिकपरिस्थितिभिश्च सह स्वस्य समन्वयं सः स्थापयति।

[8] **बोगार्डस–** समाजीकरणं सा प्रक्रिया अस्ति यया मनुष्याः कल्याणार्थं परस्परयोः उपरि निर्भरशीलो सन् व्यवहारं शिक्षन्ते। अनेन ते सामाजिक-आत्मनियन्त्रण-सामाजिकोत्तरदायित्व-सन्तुलितव्यक्तित्वप्रभृतयः अनुभवन्ति।

समाजीकरणप्रक्रियाद्वारा बालकः सामाजिकः भवति। अस्मिन् क्रमे विविधाः कारकाः सन्ति, येषु महत्त्वपूर्णाः कारकाः अधोलिखिताः सन्ति–

(1) पालनपोषणम्– बालकस्य समाजीकरणे पालनपोषणस्य प्रभावो भवति। यथा वातावरणं तं बालकं मिलति तथा तस्य भावनाः अनुभूतयश्च विकसिताः भवन्ति। यदि बालकस्य सम्यग् परिपालनं न क्रियते तर्हि तस्य असामाजिकव्यवहारः दृग्गोचरी भवति। बालकः तदा असामाजिकव्यवहारम् आरभ्यते यदा सः समाजे अनुकूलतां प्राप्तुमसमर्थो भवति। अनेन प्रकारेण समाजीकरणाय बालस्य सम्यग् पालनं पोषणञ्च आवश्यकम्।

(2) सहानुभूतिः– पालन-पोषण-वत् सहानुभूतिः अपि बालकस्य समाजीकरणे दृढप्रभावं जनयति। ज्ञातव्यं यत् शैशवकाले बालकः सर्वाणि आवश्यकानि पूर्त्यर्थं परिवारसदस्यानामुपरि आश्रित्य एव तिष्ठति। सहानुभूतिद्वारा बालके स्वत्वस्य भावः विकसितः भवति। अनेन सः अन्यान् स्वस्येति विवेकं कर्तुं शिक्षते। परिणामतः भेदभावस्य ज्ञानं सः प्राप्नोति। सः तस्य व्यक्तेः आदरभाजो भवति। तस्य व्यक्तेः व्यवहारः तं प्रति सहानुभूतियुक्तो भवति।

(3) सहयोगः– समाजः व्यक्तिं सामाजिकत्वेन निर्माति। बालकस्य व्यक्तेः वा समाजीकरणे सामाजिकसहयोगः महत्त्वपूर्णां भूमिकां निर्वहति। सामाजिकसहयोगेन बालकः अन्येषां जनानां समर्थनं प्राप्नोति तथा च सः अन्येषां जनानां कृते अपि स्वस्य समर्थनं प्रसारयितुम् आरभते। अनेन तस्य सामाजिकप्रवृत्तयः सङ्घटिताः भवन्ति।

(4) निर्देशः– बालकस्य समाजीकरणे सामाजिकनिर्देशानां भूमिका महत्त्वपूर्णा भवति। ज्ञातव्यं यत् बालकः स्वस्य कार्यस्य विषये अन्येभ्यः जनेभ्यः निर्देशान् प्राप्नोति। तेन यत् कार्यं निर्देशितं तत् सः करोति। अनेन प्रकारेण समाजीकरणे निर्देशः सामाजिकव्यवहारस्य दिशां निर्धारयति।

(5) परिचायिकरणम्– माता-पिता-परिवार-प्रतिवेशी-प्रभृतीनां सहानुभूतिद्वारा बालके परिचयभावः विकसितः भवति। ये बालकेन सह सहानुभूतिपूर्वकं

व्यवहरन्ति तान् सः स्वस्येति स्वीकरोति। तेषां जीवनशैल्या, भाषया, आदर्शेन च प्रभावितः सन् व्यवहर्तुं प्रारभते।

(6) अनुकरणम्– समाजीकरणस्य मूलभूतं तत्त्वमनुकरणमस्ति। सः कुटुम्बे, परिवारे च निवसन् तस्य प्राथमिकानुकरणं करोति। क्रमेण बालकः स्वकुटुम्बस्थजनानां समीपस्थजनानाञ्च व्यवहारान् अनुकर्तुमारभते।

(7) सामाजिकशिक्षणम्– अनुकरणातिरिक्तं सामाजिकशिक्षणस्यापि समाजीकरणे दृढप्रभावः भवति। यतो हि सः सामाजिकशिक्षां परिवारात् आरभ्यते। बालकः मातापितृभ्यः, भ्रातृभगिनीभ्यः, अन्येभ्यः सदस्येभ्यश्च भोजन-जीवनशैल्यादीनां विषये शिक्षमाणः भवति।

(8) पुरस्कारः दण्डश्च– पुरस्कारस्य दण्डस्य च सकारात्मकप्रभावः बालस्य समाजीकरणेनापि भवति। यदा बालकः समाजस्य आदर्शानुसारं, विश्वासानुगुणञ्च वर्तते तदा जनाः तस्य प्रशंसां कुर्वन्ति। यदा कश्चन समाजस्य हितं मनसि निधाय विशेषतया व्यवहारं करोति तदा सः पुरस्कारभाजः भवति। यदा सः असामाजिकव्यवहारं करोति तदा तस्य कृते दण्डः दीयते। दण्डप्रदानेन तादृशं कार्यं सः न करोति। बालस्य समाजीकरणे पुरस्कारस्य दण्डस्य च महत्त्वपूर्णः प्रभावः भवतीति ज्ञायते।

समाजीकरणं सामाजिकान्तःक्रियया भवति। एतस्मिन् बालकाः परस्परं सम्बन्धं स्थापयन्ति। इयं सामाजिकान्तःक्रिया स्तरद्वयेन भवति। प्रारम्भिकान्तःक्रिया व्यक्तिषु भवति गौणान्तःक्रियाऽपि च तेषु वर्तते। सामाजिकान्तःक्रिया बहुविधरूपेण प्रकटीभवति। येषु रूपेषु प्रथमतः प्रतिद्वन्द्वितायाः रूपं वर्तते यत् अविभाज्यलक्ष्यं द्वे द्वयधिकाः व्यक्तयः प्राप्तुमिच्छन्ति, तत्प्राप्तुं सततं संघर्षरता अपि भवन्ति। तेषु द्वितीयरूपं वर्तते सहयोगस्य। एतस्मिन् सामान्यलक्ष्यसम्प्राप्तये सामूहिकप्रयत्नाः भवन्ति। व्यक्तिगतोपलब्धीनाङ्कृते प्रतिद्वन्द्विता सामाजिकोपलब्धीनाङ्कृते सहयोगो नितरामपेक्षितो भवति। तदेव सामाजिकान्तःक्रियाऽपि विद्यते। सामाजिकान्तःक्रियायाः तृतीयरूपं संघर्षः अस्तीत्यपि वक्तुं शक्यते। तदग्रे समञ्जनमिति चतुर्थरूपं वर्तते। समञ्जने पारस्परिकानुकूलनं भवति। सामाजिकान्तःक्रियायाः परिणामं वयमन्यरुचिभिः सह तादात्म्यं स्थापयित्वा पश्यामः। सङ्केताऽनुकरणमपि प्रभावशालिन्योऽन्तःक्रियाः सन्ति। यतः बालकस्य सामाजिकविकासो जायते।

समाजीकरणस्य तात्कालिकी आवश्यकता वर्तते। शिक्षा जीवनं च अविभाज्यम्। यदि जीवनाय शिक्षा अत्यन्तं आवश्यकी अस्ति तर्हि तस्याः समाजीकरणस्य आवश्यकता भवति इति कोऽपि सन्देहः नास्ति। वयम् अस्माकं स्व शक्तिविकासाय शिक्षां प्राप्नुमः, तथा च अस्माकं शक्तिविकासाय समाजस्य अनिवार्यता समाजाय महत्त्वपूर्णा अस्ति। समाजस्य हिताय व्यक्तिः समाजस्य योग्यं भवतु इति आवश्यकः। आदर्शनिर्माणं, समितीनां निर्माणं, विचाराणां स्थापना, मूल्यनिर्धारणं, व्यवहारस्य नियमाः चेत्यादयः समाजाय आवश्यकानि तत्वानि सन्ति। एते समाजस्य न्यासाः भवन्ति, येषां संरक्षणं कृत्वा परम्परागतं स्थानान्तरणं कर्तुं शक्यते। अत्रैव समाजीकरणस्य आवश्यकता दृश्यते। अतः जीवने शिक्षायाः, समाजीकरणस्य च प्रक्रिया उभयोः अपि आवश्यकता अस्ति। प्रत्येकमस्मिन् समये किञ्चिदावश्यकता वर्तते। अद्यतनयुगः प्राचीनकालिकयुगाद् भिन्नः अस्ति। अस्माकम् आर्थिकावश्यकता एतावताः वर्धिताः यत् अस्माकं समाजस्य क्रियाकलापाः परस्परं सम्बद्धाः सन्ति। तथा च सामाजिकसम्बन्धाः नितान्तावश्यकाः सन्ति। एतादृशानां सामाजिकसम्बन्धानां स्थापनायाः आवश्यकता वर्तते यस्मिन् आदानप्रदानकार्यं सुचारुरूपेण कर्तुं शक्यते। बालस्य सामाजिकविकासाय कानिचन साधनानि महत्त्वपूर्णानि सन्ति यस्मिन् परिवारस्य महत्त्वपूर्णा भूमिका भवति। व्यक्तिः आजीवनं कुटुम्बे एव तिष्ठति। एते सम्बन्धाः व्यक्तेः समाजीकरणम् अस्थायीरूपेण प्रभावयन्ति। बालकानां समाजीकरणे मातापितृणां भूमिका महत्त्वपूर्णा अस्ति। यदि तेषां परस्परव्यवहारः उत्तमः अस्ति तर्हि बालकस्य समाजीकरणमपि सम्यग् भवति। यदि परस्परं भेदाः सन्ति तर्हि बालकस्य समाजीकरणं विकृतं भवति। मातापितृभ्यः अतिरिक्तं भ्रातरः अन्ये च परिवारस्य सदस्याः अपि बालकानां सामाजिकविकासं प्रभावयन्ति। अतः स्पष्टं भवति यद् बालकस्य समाजीकरणे परिवारस्य सर्वाधिका भूमिका भवति। अस्मिन् विषये [९] **किम्बालयंग** इत्यस्य एतत् वचनम् अस्ति - “समाजस्य अन्तः समाजीकरणस्य विविधसाधनानां मध्ये परिवारः सर्वाधिकः महत्त्वपूर्णः अस्ति”।

कुटुम्बं विहाय बन्धुजनेभ्यः अपि विविधाः नियमाः व्यवहाराः च शिक्षितव्याः। बालकस्य समाजीकरणे विद्यालयस्य महत्त्वपूर्णा भूमिका भवति। विद्यालयः तत् साधनमस्ति, येन बालकस्य मानसिकः, सामाजिकः, भावनात्मकश्च विकासः भवति। बालकाः अपि विद्यालये संस्कृत-आदर्शानां, विश्वासानां च विषये शिक्षां प्राप्नुवन्ति। बालकस्य कृते विद्यालयः परिवारापेक्षया बहुव्यापकः समाजः अस्ति। विद्यालये एव सः अन्यैः बालकैः सह सम्पर्कं करोति तत्रैव तस्य समाजीकरणं द्रुतगत्या आरभ्यते। विद्यालये एव सः स्पर्धायाः ज्ञानं प्राप्नोति।

विद्यालये एव सः नियमानुशासनादिज्ञानं प्राप्नोति। विद्यालयादतिरिक्तम् अन्ये प्राथमिकसमूहाः बालकं प्रभावयन्ति। यथा मैत्रीसमूहः, क्रीडासमूहः, सङ्घः, मनोरञ्जनम् इत्यादयः।

बालकस्य समाजीकरणे बालचरसङ्घान्तर्गतत्वेन स्काउट-गाइड इत्यनयोः विध्योः अपि विशिष्टं महत्त्वं विद्यते। स्काउटिंग जातिसम्प्रदायस्य उच्छेदं करोति सामूहिककार्यकरणाय च नैकानवसरान् प्रयच्छति। स्वभिन्नस्यान्वेषणस्य रिपुज्ञानस्य च क्रीडा बालकेषु अनेकविधसामाजिकान्तः क्रियाः जनयन्ति।

बालकाः स्वमित्रैः सह निवसन्ति क्रीडन्ति च। ते एकस्य समूहस्य निर्माणमपि कुर्वन्ति। ते एतान् समूहान् प्रति जागरुकाः श्रद्धावन्तश्च भवन्ति। एताभ्यः गोष्ठीभ्यः बालकाः सहयोग-स्वामिभक्ति-नियमपालनादिगुणैः शिक्षिताः भवन्ति। बालकानां समाजीकरणे गोष्ठ्यः सहायिकाः भवन्ति।

बालस्य समाजीकरणे अपि समूहस्य भूमिका महत्त्वपूर्णा भवति। जन्मनानन्तरं प्राणिशास्त्रीयव्यक्तेः सामाजिकप्राणिरूपेण मानवरूपेण वा परिणमयितुं कार्यम् आरभ्यते। व्यक्तेः सामाजिकविकासः समाजीकरणप्रक्रियया भवति। मनुष्यस्य जन्मजातशक्तेः विकासः सामाजिकपर्यावरणाधारितो भवति। समूहस्य संस्कृतेश्च प्रभावः सामाजिकपर्यावरणे निहितः भवति। क्रीडासमूहाः, आयुवर्गाः, धार्मिकसमूहाः, राजनैतिक-आर्थिकसमूहाः, सामुदायिकवर्गाः इत्यादयः बालकस्य सामाजिकविकासे महत्त्वपूर्णां भूमिकां निर्वहन्ति। क्रीडासमूहे भूत्वा बालकः सहयोगं, नेतृत्वं, सौहार्दमित्यादीनि कौशलानि शिक्षितुं समर्थो भवति। एकस्य आयुवर्गस्य बालकाः परस्परं मनोवृत्तीनां, स्वभावानां च विषये सूचनां प्राप्नुवन्ति। तैः सह ते परस्परं परिस्थितेः विषये अपि अवगताः भवन्ति। यथा विश्वासः, दयालुता, करुणा इत्यादयः राजनैतिकसमूहेषु राजनैतिकसंस्थाः, राज्यसर्वकारः, राजनैतिकसमूहाः इत्यादयः सन्ति इति ज्ञायते। बालकस्य सामाजिकविकासे राज्यस्य महती भूमिका भवति। राज्यस्वरूपस्य बालकस्य सामाजिकाचरणे महत्त्वपूर्णः प्रभावः दृश्यते। बालकस्य सामाजिकविकासे ज्येष्ठानामनुभवाः ज्ञातव्याः भवन्ति। तान् अनुकृत्य विभिन्नप्रकारस्य सामाजिकव्यवहारस्य शिक्षणं भवति। समुदायस्य जनाः विविधाः शैक्षिकसंस्थाः, सामाजिकक्रियाकलापाः चेत्यादयः आयोजनं कुर्वन्ति। उपर्युक्तविमर्शाधारेण स्पष्टं भवति यत् समूहाः बालकस्य व्यक्तित्वं जनयन्ति। एते तस्य सामान्यसामाजिकलक्षणं निर्मान्ति। एवं बालकस्य समाजीकरणे समूहस्य भूमिका महत्त्वपूर्णा भवति। बालकस्य समाजीकरणे शिक्षकस्य महत्त्वपूर्णा भूमिका भवति। शिक्षकः कक्षायां क्रीडाङ्गणे च साहित्यिकसांस्कृतिकक्रियासु सामाजिकव्यवहारस्य

आदर्शान् प्रस्तौति। तस्य मूलभूतानुकरणप्रवृत्तेः कारणात् बालकः आचार्यस्य कर्माणि, स्वभावः, कार्याणि च अनुकरोति। अतः शिक्षकाः सर्वदा जागरुकाः भवेयुः अनुचितकार्याणि च न कुर्युः, यस्य दुष्प्रभावः बालकस्योपरि भवति। सः बालकान् यथा प्रभावयति तथा दीर्घकालं यावत् स्थास्यति। यथा– विचारस्वतन्त्रता, सक्रियस्वभावः, सद्भावना, समानता, निष्पक्षता, व्यापकदृष्टिकोणः, सहकारिता, सहयोगः इत्यादयः विशेषगुणाः तस्मिन् आवश्यकाः सन्ति। अस्मिन् विषये [10]**योकन एण्डसिम्पसन** कथयन्ति यत् "शिक्षकः एकः पथप्रदर्शकः, परामर्शदाता, सहयोगकर्ता, निर्देशकः च सर्वोत्तमोऽर्थे भवति, यः बालकान् आविष्कारं कर्तुं प्रेरयति न केवलं तस्य वचनं शृणोति"।

अतः स्पष्टं ज्ञायते यद् समाजीकरणे शिक्षा-शिक्षकयोः महत्त्वपूर्णा भूमिका वर्तते।

सन्दर्भग्रन्थाः–

1. पाल, डॉ. एस. के., (1998), शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय आधार, कैलाश प्रकाशन, इलाहाबाद।
2. त्यागी, जी. एस. डी., (2008-09) शिक्षा के सामान्य सिद्धान्त, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा- 2
3. द्विवेदी, डॉ. देवीप्रसाद, (2013) शिक्षायाः सिद्धान्तः, वीर बहादुर प्रकाशन, वाराणसी।

---

1. Socialization is the process of presenting alternate channels for individual behaviour together with positive and negative sanctions will lead to acceptance of some and rejection of others. It emphasizes the influence of so all groups, formal and informal, upon the personality of the individual. Mc Guire and R. J. Havighurst.
2. "Socialization means that the individual learns the folkways, mores and other features of his culture, as well as skills and other necessary habits which enable him to become a functioning member of society. He wants to identify himself with the aims and values of his life, childhood, class and community. In short, the whole process of civilization falls within the scope of interaction of the social act." – Kimball Young.
3. Socialization is a process by which the individual adapts to his social Environment and becomes a recognized co-operative and efficient member that environment." –Drever.
4. Socialization is the process of internalization of ideological and Tural factors." – Sorokin.
5. "Socialization is the development of we-feeling in associates and the growth in their capacity and will to act together."– J. S. Ross.
6. "Socialization is the process by which children learn the ways of their society and make these ways Part of their own personality." – Havighurst and Newgarten.

7. “By the term socialization we mean the process by which the individual develops into a functioning member of the group according to its standards, confronting to its modes, observing its traditions and adjusting himself to the social situations he meets sufficiently well to command the tolerance if not admiration of his fellows.” –Gillin and Gillin.
8. “Socialization is the process wherby persons learn to have dependably together on behalf of human welfare and in so doing experience social self-control. Social responsibility and balanced Personalities.” Bogardus.
9. “Of the various agencies of socialization within the society the ‘family’ is the most important.”- Kimball Young.
10. The teacher is guide, counsellor, adviser, contributor and director in the best sense of word, trying to get children dis cover things for themselves rather than to have them merely Listening to him–Yoakam and Simpson.

वरिष्ठाचार्यः,
शिक्षाशास्त्रविद्याशाखा,
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
लखनऊपरिसरः, लखनऊ (उ.प्र.)।

संस्कृतकाव्यशास्त्रे स्थायिभावस्वरूपविमर्शः

– प्रो. सनन्दनकुमारत्रिपाठी

(काव्य और नाटक में रस के अन्तर्गत स्थायी भावों का महत्त्व अपरिहार्य है। इस बात पर सभी आलंकारिक आचार्य सहमत हैं कि रति आदि स्थायी भाव ही रस रूप में परिणत होते हैं। स्थायी भावों का स्वरूप-विमर्श, वर्गीकरण एवं नव संख्यात्व कपोल कल्पित नहीं हैं, अपितु पारम्परिक महनीय आचार्यों द्वारा सत्य और तथ्य रूप में प्रमापित हैं। काव्यशास्त्र में स्थायी भावों का स्वरूप एवं संख्याविमर्श पूर्वी और पश्चिमी मनोविज्ञान के विपरीत नहीं हैं। स्थायी भावों की नव संख्या का निर्धारण वैज्ञानिक एवं मूर्धन्य आलंकारिकों द्वारा समर्थित है। फिर भी इयत्ता की घोषणा अहंकार का विजृम्भण है, यह दृढ़तापूर्वक घोषित किया जा सकता है। काव्यशास्त्रीय विमर्श के द्वारा किसी क्रमांकन या वर्गीकरण में समीक्षा का मार्ग अवरुद्ध नहीं होता है। इसीलिए वात्सल्य एवं भक्ति जैसे स्थायी भावों का भी समर्थन देखा जाता है।)

काव्यशास्त्रे रसस्य अतीव महत्त्वपूर्णं स्थानं वर्तते। महामुनिर्भरतो वक्ति **"नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते"** इति।[1] मुनिना भरतेन रसनिष्पत्तिसन्दर्भेसंस्कृतवाङ्मये-प्रथमतोनाट्यशास्त्रे रससूत्रं समुल्लिखितम्– **"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्र-सनिष्पत्तिः" इति।** यदा विभावानुभावव्यभिचारिभिः संयोगात् सहृदयस्य अन्तःकरणे रत्यादिः स्थायिभावः अभिव्यज्यते, तदा स उद्बुद्धः स्थायिभावो रस इत्युच्यते। यथोक्तं मम्मटेनाधिकाव्यप्रकाशम्– **"व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः।"**[2] एवं प्रकारेण विभवादिभिरभिव्यक्तः स्थायिभाव एव रस उच्यते। अतो विभावानुभावादिषु रसघटकेषु स्थायिभावस्योत्कृष्टं स्थानं सिद्ध्यति। मानवस्य स्वाभाविकी प्रवृत्तिर्भवति यत् स स्वस्य भावं विचारं वान्यान् प्रति प्रकटय्यात्यन्तं सुखमनुभवति। अत्र प्रश्नोऽयमुत्पद्यते यत् को नाम भावः स्थायिभावश्च कः? तस्य स्थायि भावस्य भेदाः के? कथं ते व्यज्यन्ते? यस्याभिव्यक्तौ मनुष्य आनन्दमनुभवति। स स्थायिभावः किं स्वरूपः? वस्तुतस्तु स्थायिभावावगमनाय प्रथमं तावत् भावावगमनं नितरामावश्यकम्।

नाट्यशास्त्राचार्येणभरतेन लोकभावनाः सर्जनशीलताया आधारत्वेन स्वीकृताः। आचार्यभरतो लोकभावव्यापारं काव्यभावनाधारं मन्यते। एते भावा एव वागङ्गरचनानुभूतिभिः काव्यार्थान्भावयन्ति, अत एव ते भावा इति कथ्यन्ते। एत एव भावाः सहृदयमनोदशाभ्यः प्रतीतिविषया भवन्ति।

भावस्वरूपम्–

आचार्यभरतो नाट्यशास्त्रस्य षष्ठे सप्तमे चाध्याये भावस्य तद्विविधावस्थानां च सविस्तरं वर्णनमकार्षीत्। षष्ठाध्यायारम्भे नाट्यशास्त्रे स स्वयमेव प्रश्नमुपस्थापयति– **"भावाश्चैव कथं प्रोक्ताः किं वा ते भावयन्त्यपि।"**[3]
नाट्यशास्त्रे सप्तमेऽध्याये भावान्सुस्पष्टं व्याख्यातुमुपक्रमते मुनिर्भरतः–

“भावानिदानीं व्याख्यास्यामः। अत्राह-भावा इति कस्मात्, किं भवन्तीति भावाः, किं वा भावयन्तीति भावाः। उच्यते – वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान्भावयन्तीति भावा इति। भू करणे धातुस्तथा च भावितं वासितं कृतमित्यनर्थान्तरम्। लोकेऽपि च सिद्धम् अहो ह्यनेन गन्धेन रसेन वा सर्वमेव भावितमिति। तच्च व्याप्त्यर्थम्।”[4]

अर्थात् एते भावा वाचिकाङ्गिकसात्त्विकाभिनयैः दृश्य-काव्य-जगतः अभिप्रायं सहृदयदर्शकान् प्रति सम्प्रेषयन्ति। **“भू”** इति मूलाद् धातोर्हेत्वर्थे भावशब्दो निष्पन्नः। कृतं भावितं वासितम् इत्यपि समानार्थप्रतिपादकपर्यायजातम्। लौकिकव्यवहारेषु अपि ते भावा परस्परं भाविता भवन्ति। अत्र ‘भावना’ इति शब्दो व्यापनार्थः। अयं विषयो निम्नलिखितश्लोकेषु प्रतिपादितः–

विभावैराहृतो योऽर्थो ह्यनुभावैस्तु गम्यते ।
वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः ।।[5]

अर्थात् कस्मिन्नपि नाट्ये काव्ये वा योऽर्थो विभावैः प्रस्तुतः सात्विकानुभावैर्बोध्यश्च सन्वाचिकाङ्गिकसात्त्विकाभिनयैः परिपुष्यति, स भाव इत्युच्यते। आचार्यभरतः काव्ये प्रवर्तितस्य भावस्य स्वरूपं स्पष्टयति–

वागङ्गमुखरागेण सत्त्वेनाभिनयेन च ।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव उच्यते ।।[6]

नाट्यकारस्य कवेर्नाट्यरचनायां निगूढा ये भावा वाचिकाङ्गिक-सात्त्विकाभिनयैः प्रेक्षकेभ्यः पुरस्क्रियन्ते यैस्ते भावाः।

‘नानाभिनयसंबद्धान्भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ।।’[7]

इमे भावा विभिन्नैः अभिनयैः संपृक्तान्रसान् भावयन्ति अत एवेमे नाट्यनिर्मातृभिः प्रयोक्तृभिर्वा **‘भावा’** उच्यन्ते।

स्थायिभावस्वरूपम्–

यथा एकस्मिन् भावविधाने मूलत एका वा नैका वा सहजप्रवृत्तयो भवन्ति, तथैव भावतन्त्रे कस्यचित् मूलभूतभावस्य स्थितिराधाररूपेणावश्यकी भवति, एतेन सह केचन गौणभावाः, तत्सम्बद्धाः भावाश्च तस्मिन् सम्पृक्ता एव तिष्ठन्ति। प्राचीनरसाचार्येषु अभिनवगुप्तेन स्थायिभावा अनेकनामभिरुल्लिखिताः। तेन क्वचित् वासना वा संविद् इति क्वचित् चित्तवृत्तिरिति च नामभिस्तदुल्लेखः कृतः। तस्य मतमस्ति यत् स्थायिभावाः सर्वेषु जीवेषु स्वतःसिद्धत्वेन विराजन्ते। अतः ते जन्मतः एव प्राणिनां जीवने तेषां मानसिकाङ्गत्वेन अवतीर्णा भवन्ति। एतावता स्थायिभावनिरूपणकाले अभिनवगुप्तस्य मनसि सहजप्रवृत्तीनामवधारणा आसीदिति भासते। अन्ये भारतीयाः शास्त्रकारा अपि स्थायिभावान् सहजभावसदृशान् मन्यन्ते। आचार्यभरतेन रसाध्याये महात्मना ब्रह्मणा निर्दिष्टेन प्रसिद्धरससूत्रेण

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" [8] इत्यनेन रसस्वरूपस्यतन्निष्पत्ति-प्रक्रियायाश्च साक्ष्यम् प्रस्तुतम्।

रसनिष्पत्तिसम्बद्धाद् भरतस्य रससूत्रादपि अयं प्रश्नः उत्पद्यते यत् यदा रसनिष्पत्तौ सामान्यतया सर्वेषां भावानां योगः तदा स्थायिभावानां परिणामा रसा इति मत्वा किमर्थं स्थायिभावेभ्योऽधिकं महत्त्वं दीयते? भरतमुनिः समाधत्ते यद् आकृतिगते सादृश्ये सत्यपि सापेक्षगौरवात् स्थायिभावानां महत्त्वमधिकम्। यथा कश्चिद् विशिष्टाकृतिः व्यक्तिविशेष एव 'राजा' उच्यते, शेषास्तस्यानुयायिन उच्यन्ते, तथैव स्थायिनामेव रसात्मकपरिणामेनस्थायित्वान्मुख्यतया स्थायिभावा मुख्या महत्त्वपूर्णाश्च। भरतमुनिरस्मिन् विषये पारम्परिकं श्लोकमुद्धरति–

यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः ।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह ।।[9]

अत एव 'स्थायी' इति रससूत्रे अन्यभावतुल्यत्वेन न गृह्यते। स्थायिनोनुपादानस्य कारणं लोचनकारेण सूचितं यत् यदि सूत्रे 'स्थायी' इति पदं स्वीकृतं स्यात् तर्हि शेषभावत्रयवत् स्थायिभावस्याऽपि अनिष्टा परगता प्रतीतिः स्यात्। फलतः सूत्रे तस्य ग्रहणं न कृतम्। ये समुद्रे क्षुद्रतरङ्गा इव उत्पद्यन्ते झटिति विलीयन्ते च, ते संवादात्मकाः भावाः इति उच्यन्ते। एते व्यभिचारिभावा अपि उच्यन्ते। प्रत्युत ये भावा मनसि आरसास्वादं तिष्ठन्ति आस्वादिताश्च भवन्ति, मनांसि येषु निमज्जन्ति ते स्थायिभावाः। स्थायिभावेषु मनसि विद्यमानेषु तेषामेव प्राबल्यं भवति। अन्ये भावाः सजातीया विजातीया वा केवलं तत्पोषकत्वेन विलसन्ति, न तेभ्योधिकाः। सर्वेषामेव भावानां स्थायिभावानुकूलत्वेन पर्यवसानम्। यथा सर्वाणि वस्तूनि लवणसमुद्रे सम्मिल्य लवणमयानि भवन्ति, तथैव स्थायिभावेन सह संयोगाद् अन्ये सर्वे भावास्तद्रूपा भवन्ति। स्थायिभावा रसेभ्यो मूलभूतमाधारं प्रयच्छन्ति। सञ्चारिणस्तु स्थायिभावानां पोषणाय स्वल्पकालं सञ्चरन्ति।

स्थायी सत्त्वातिरेकेण प्रयोक्तव्यः प्रयोक्तृभिः ।
संचार्याकारमात्रेण स्थायी यस्मादवस्थितः ।।[10]

अर्थात् प्रयोक्तारः स्थायिभावान् सात्त्विकभावैः सहात्यन्तं संयुज्य प्रस्तुयुः, किन्तु संचारिभावान् आकृतिमात्रेण प्रस्तुयुर्यतस्ते स्थायिभावानां सहायकाः।

भरतमुनेः रससूत्रे स्थायिशब्दस्यानुपादाने कारणम्–

नाट्यशास्त्रे रससूत्रस्य द्वौ व्याख्याकारौ श्रीशंकुकोऽभिनवगुप्तपादश्च रससूत्रे स्थायिशब्दस्याग्रहणं साभिप्रायं प्रत्यपादयताम्। तथाहि–

(1) श्रीशङ्कुकस्य मतेन स्थायिभावोऽनुमानप्रमाणेनावगम्यते। भरतमुनिः अत्र स्थायिशब्दस्य प्रयोगं न कृतवान् यतः रसः स्थायिभावादतिरिक्तः कश्चन पदार्थो नास्ति। यश्च प्रत्यक्षविभावानुभावसञ्चारिभावानामाधारेणानुमन्यते। एतावता भरतमुनिमते प्रेक्षकस्य हृदये अनुभूयमानः स्थायिभावः विभावादिभावादिभ्यो भिन्नः।

मुनिः प्रत्यक्षप्रमाणेन ज्ञायमानानां विभावादीनां प्रकारान् शब्दैः व्याख्यातवान्, परन्तु अनुमानेन स्थायिभावानामवगमनात् भरतमुनिः स्थायिशब्दं रससूत्रे नोपात्तवान्।

(2) आचार्याभिनवगुप्तपादेन रसपरिभाषासूत्रे भरतमुनेः स्थायि शब्दस्यानुपादाने विस्तृतं विश्लेषणं कृत्वा द्वयोः स्थानयोः समाधानं कृतम्। प्रथमतस्तु रससूत्रव्याख्यानेऽभिनवभारत्यां द्वितीयतश्च ध्वन्यलोकस्य लोचनव्याख्याने रसविषयकव्याख्यानस्य अवसरे।

आचार्याभिनवगुप्तस्य मते विभवानुभवव्यभिचारिभावेभ्यः पृथग्रूपेण स्थायिभावानामनुभवस्य स्थाने तेषां मिश्रसामुदायिकरूपस्य अनुभवः प्रपानकरसन्यायेन भवति। यथा प्रपानकरसास्वादः कस्यापि एकस्य घटकस्य द्रव्यस्य वा कारणेन न भवति, अपि तु एष विशिष्टो रसो य एतेषां सर्वेषां शर्करादिविविधद्रव्याणां सामञ्जस्यपूर्णमिश्रणाद्विलक्षणरूपेणाभिव्यज्यते। तेन विभावादिप्रत्यक्षेण ज्ञातस्य स्थायिभावस्यानुभवो रसास्वाद इति ये प्रस्तुवन्ति, ते न सम्यक्। रसानुभवविधायकतत्त्वेषु यन्मुख्यं तत्त्वम्, तत् स्थायिभाव एव। अस्य स्थायिभावस्य साक्षात्कारः अवगमनं वा केनापि स्वीकृतप्रमाणेन न सम्भवति। एतत्प्रत्यस्य मानसिकत्वात् प्रत्यक्षप्रमाणेन पुष्टिः कर्तुं न शक्यते। अनुमानेनापि तस्य बोधो न स्यात्, यतः प्रत्ययस्य तस्यानुमानकल्पनया अवश्यमेव अन्येन सह तस्य सम्बन्धः कल्पनीयः स्यात्। तथा सति तत्स्थायिभाव आस्वाद्यो न स्यात्।

भरतमुनिना रससूत्रे स्थायिशब्दप्रयोगं न कृत्वा स्पष्टतः सूचितं यत् विषयरूपस्य स्थायिभावस्य ज्ञानं केनापि प्रमाणेन न सम्भवति चेद् अस्य शब्दस्य निवेशेन रसस्वरूपं कथं प्रतिपादयितुं शक्यते। नायकेन सह तादात्म्यात् स्थायिभावो दर्शकस्यावचेतनतो बहिर्निर्गत्य ततश्चेतनचित्तमागत्याभिव्यज्यत इति कारणान्तरम्। रसविधायकतत्त्वेषु स्थायिभावो मुख्य इति बहुधा प्रत्यपादि। स्थायिभावेन सह संयोगे एव विभावानुभावव्यभिचार्यादि-रसविधायकतत्त्वानां महत्त्वं गौरवञ्च वर्धते।

अयमभिप्रायो यत् पुरुषः स्वजीवनेऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे च अनेकान् भावान् अनुभवति। कदाचित् केनचित् प्रेम करोति, कदाचित् कस्मैचित् क्रुद्ध्यति, कदाचित् कस्मैचित् द्वेष्टि, कदाचित् कस्माच्चित् विभेति, कदाचित् कस्मैचित् कार्यायोत्सहते, कदाचित् हसति, कदाचित् विस्मयमनुभवति, तथैव कदाचित् शान्तिम् अनुभवति इति। एते अनुभवा विनश्यन्ति परन्तु तेषां संस्कारा मानवहृदये सदा तिष्ठन्ति। ते सर्वे भावा वासनात्वेन मानवहृदये सदा निवसन्ति। ये भावा मानवहृदयेषु वासनारूपेण वसन्ति, त एवकाव्यनाट्ययोः रतिः, हासः, शोकः, क्रोधः, उत्साहः, भयम्, जुगुप्सा, विस्मयः, शमः निर्वेदो वेति नामभिः स्थायिभावा उच्यन्ते, ते स्थायिभावा वस्तुतो नानारूपाश्चित्तवृत्तयः।

मनोविज्ञानं स्थायिभावश्च–

स्थायिभावानां निरूपणं यदुपलभ्यते काव्यशास्त्रे तत् मनोवैज्ञानिकं विद्यते। अद्य इव प्राचीनकालेऽपि मनोविज्ञानस्य सिद्धान्ताः ज्ञाताः आसन्। अभिव्यक्तौ भेदोऽस्ति। आधुनिकमनोविज्ञाने मूलप्रवृत्तयः मनः संवेगा इति कथ्यन्ते। तदेव साहित्यशास्त्रे स्थायिभाव इति नाम्ना उद्घृतमस्ति। नवीनानां मनोवैज्ञानिकानां मनः संवेगः प्राचीनानां च स्थायिभावा इति एकमेव तत्त्वं विद्यते।

प्रसिद्धः मनोवैज्ञानिकः मैक्डूगलमहोदयः स्थायिभावान् उपार्जितान् मनुते। व्यवहारवादिनः मनश्शास्त्रिणः मार्क्सवादिनश्च स्थायिभावम् उपार्जितं मन्वते। भावानाम् अस्तित्वं सार्वकालिकं सार्वभौमिकं च वर्तते, अनेन प्रतीयते मूलतत्त्वं प्रकृतिप्रदत्तं जन्मजातं च वर्तते। देशकालपात्रानुगुणम् एतेषां स्वरूपे परिवर्तनं भवति। स्थायिभावेषु प्राथमिकभावस्य साधितभावस्य च सम्मिश्रणं भवति। साधितभावाः प्राथमिकभावेषु विलीनाः भवन्ति, किन्तु प्राथमिकभावा आन्तं विद्यमानाः भवन्ति।

मैक्डूगलमहोदयः 14 प्रकारकमूलप्रवृत्तिसम्बद्धान् 14 मनःसंवेगान् स्वीकरोति। मूलप्रवृत्तेः परिभाषा तेन इत्थं कृता–

'मूल-प्रवृत्ति वह प्रकृति-प्रदत्त शक्ति है जिसके कारण प्राणी किसी विशेष प्रकार के पदार्थ की ओर ध्यान देता है और उसकी उपस्थिति में विशेष प्रकार के संवेग या मनःक्षोभ का अनुभव करता है।'

मैक्डूगलमहोदयः 14 मूलप्रवृत्तीः स्वीकृतवान्, तत्सम्बद्धमनःसंवेगानां तालिकां प्रस्तुतवान्। तत्र तालिकायां प्रथमं स्थानं मूलप्रवृत्तीनां विद्यते, द्वितीयं स्थानं सम्बद्धमनःसंवेगस्य च। किन्तु मनोवैज्ञानिकविश्लेषणपरिणामेण आदौ मनःसंवेगः ततः मूलप्रवृत्तिरिति वक्तुम् उचितम्। यतः मूलप्रवृत्तीनां करणं प्रेरणास्रोतसः शक्तुश्च मनःसंवेग एव। अनया एव दृष्ट्या अधस्तात् सूची प्रस्तूयते।

मनःसंवेगानां स्थायिभावानां च तुलनात्मकचित्रम्–

नव्यमनोविज्ञानानुसारेण प्राचीनसाहित्यशास्त्रानुसारेण

मनःसंवेगः	**मूलप्रवृत्तिः**	**स्थायी भावः**	**रसः**
भयम्	पलायनम् आत्मरक्षा च	भयम्	भयानकरसः
क्रोधः	युयुत्सा	क्रोधः	रौद्ररसः
घृणा	निवृत्तिः, वैराग्यम्	जुगुप्सा	बीभत्सरसः
करुणा, दुःखम्	शरणागतिः	शोकः	करुणरसः
कामः	कामप्रवृत्तिः	रतिः	श्रृंगाररसः
आश्चर्यम्	कौतुहलम्, जिज्ञासा	विस्मयः	अद्भुतरसः
हासः	आमोदः	हासः	हास्यरसः
दैन्यम्	आत्मदीनता	निर्वेदः	शान्तरसः

आत्मगौरवम्, उत्साहः	आत्माभिमानः	उत्साहः	वीररसः
वात्सल्यम्, स्नेहः	पुत्रैषणा	वात्सल्यम्, स्नेहः	वात्सल्यरसः

प्रचीनभारतीयाचार्यैः मौलिकतया नव मनःसंवेगान् स्वीकृत्य साहित्यशास्त्रे नव रसाः नव वा स्थायिभावाः स्थापिताः। अनेन स्थायिभावानां सिद्धान्ताः मनोविज्ञानस्य सिद्धान्तानुगुणा विद्यन्त इति निश्चप्रचम्।

स्थायिभावानां मनोवैज्ञानिकस्वरुपम्–

परम्परया स्थायिभावस्वरूपम् आधुनिकमनोवैज्ञानिकपरिभाषया न सम्यक्तया संगच्छते। तथापि न तत् स्वरूपं सर्वथा मनोविज्ञानसिद्धान्तविहीनम्। सम्भवतः प्रारम्भिकावस्थायां साहित्याचार्याः स्थायिभावानां संचारिभावानां च वर्गीकरणं कृतवन्तः, किन्तु परवर्तिभिः आचार्यैः मींमासादिबलात् अव्याप्त्यतिव्याप्तिदोषान् अपाकृत्य दोषरहितं कृत्वा प्रशंसनीयं कार्यं कृतम्। सारांशतो यथा–

1. मनुष्यस्य हृदये उत्पन्नतरङ्गाणां संयोगात् अनेके मनोविकाराः निर्मिताः भवन्ति, येषां संख्या 42 निर्धारिताः सन्ति। एते मनोविकाराः अनेकप्रकारकाः सन्ति, तेषु रतिः, हासः, शोकः, क्रोधः, उत्साहः, भयम्, जुगुप्सा, विस्मयः, निर्वेदश्च इति नव मनोविकाराः अन्येभ्यो मनोविकारेभ्यो अपेक्षिकरूपेण स्थायिनः प्रभावशालिनः पुष्टाश्च भवन्ति। अतः इमे रसपरिपाकयोग्याः भवन्ति, तस्मात् परम्परायां महत्त्वं प्रदत्तं वर्तते अत एव च स्थायिभावाः कथ्यन्ते।

2. रसरूपेण परिणतयोग्याः भावाः साधारणतः नव एव। अन्ये अनेके भावाः अत्र अन्तर्भवन्ति। उदाहरणं यथा दानशीलता-धर्मप्रेमादयः भावाः उत्साहे अन्तर्भवन्ति। वर्तमानयुगे देशभक्ति-राष्ट्रभावना-प्रभृतयो भावा उत्साहे अन्तर्भवन्ति। बहवो भावाः रसतां न प्रप्नुवन्ति ते स्थायिभावाः न भवन्ति। उदाहरणं यथा वात्सल्यं देवविषयकरतिर्वा शास्त्रानुसारेण भाव एव भवति किन्तु स्थायिभावस्य पदं यावत् न गच्छन्ति।

वस्तुतः मनोविज्ञाने एतादृशं वर्गविभाजनं नास्ति। अत्र संभवतः प्रश्नोऽयम् उदेति यत् किं स्थायिसंचारिभावयोः भेदः मनोवैज्ञानिकदृशा उचितोऽस्ति न वा ? तत्र द्विविधं विभाजनं विद्यते एकं मौलिकस्य तथा व्युत्पन्नस्य मनोविकारस्य द्वितीयं च मनोविकारस्य मनोवृत्तेश्च। स्थायित्व-तीव्रता-प्रभावेषु मनोविज्ञाने वर्गीकरणं न स्वीकृतम्। विज्ञानं भेद-विभाजनं न स्वीकरोति। तथापि जीवने भेदः विभाजनञ्च विद्यते एव। भावक्षेत्रेऽपि एकः भावः भावान्तरापेक्षया अधिकः स्वस्थः कोमलश्च वर्तते, तीव्रः स्थायी अथवा प्रभावशाली वर्तते। मनोविज्ञानम् अस्य विवेचनं न करोति, परन्तु साहित्ये इदं वर्गीकरणं बहुलतया भवति, यतः अस्य सम्बन्धः भावजीवने उपयुज्यते। आचार्यः पं. रामचन्द्रशुक्लः नैतिकमूल्याणामाधारेण स्थायिभावानाम् औचित्यनिरूपणं कृतवान् तथापि अधिकव्यापकदृष्टिकोणेन अस्य समाधानं सम्भाव्यते। उदाहरणं यथा–

चिन्तायाः अपेक्षया शोकः अधिकः तीव्रो भवति। चिन्तायाः अधिकाधिकतीव्रचिन्तनं शोकस्य तीव्रतमचिन्तनाद् भिन्न एव वर्तते। एवं प्रकारेण चिन्तायाः अपेक्षया शोके स्वामित्वमधिकम्। शोके चिन्ता विलीना भवति, परन्तु चिन्तायां शोकः कदाचित् विलीनो न भवति। एवं क्रमेण उदाहरणीयम्।

आधुनिकमनोविज्ञाने एतादृशविभाजनस्य अविद्यमानत्वेऽपि इदम् अमनोवैज्ञानिकं न भवति। मनोविकाराः नैसर्गिकाः तीव्राः एवं व्यापकाः सन्ति एवं जीवनस्य आधारभूतानि अङ्गानि भवन्ति, वस्तुतः ते एव स्थायिभावाः। एतेषां मनोविकाराणां सम्बन्धः रागद्वेषाभ्यां वर्तते, ये मानवस्य आत्मनः मूलभूताः गुणाः। उत्तमस्य, मध्यमस्य, अधमस्य च आधारेण रागः प्रेम-करुणारूपेण परिणमते। तेनैव प्रकारेण द्वेषोऽपि भये, क्रोधे तथा घृणायां च परिणतो भवति। डॉ. भगवानदासः मौलिकतया दर्शितवान् यत् अत्रैव रागद्वेषयोः मध्ये संस्कृतसाहित्यस्य सर्वेऽपि स्थायिभावाः समाविष्टाः भवन्ति। रति-हास-उत्साह-विस्मयाः रागे अन्तर्भवन्ति, यतः एते सामान्यतः अस्मितायाः उपकारकाणि भवन्ति। शोक-क्रोध-भय-जुगुप्साप्रभृतयः द्वेषे अन्तर्भवन्ति, यतः एते साधारणतः अस्मितायाः अपकारकाणि भवन्ति। शमे उभयोः सामंजस्यं भवति, यतः अत्र अनयोः रागद्वेषयोः समरसता भवति। आद्याः चत्वारो भावाः मधुरभावाः, अनेन सुखस्य अभिव्यक्तिः भवति। शमे उभयोः समन्वयो भवति। इदं विभाजनं निर्दुष्टं न भवति तथापि सन्तोषप्रदं वर्तते।[11]

विभिन्नप्राचीनाचार्याणां मतम्–

प्राचीनानां पारम्परिकाचार्याणां मतमपि एवं भूतमेव वर्तते यत् सर्वेषु भावेषु एष स्थायी भाव एव सर्वातिशायी महत्त्वपूर्णश्च वरीवृत्यते। अयमेव रसत्वं प्राप्नोति। धनञ्जयः स्थायिभावलक्षणं प्रस्तुवन् लिखति–

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः ।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ।।[12]

अत्र धनञ्जयेन स्थायिभावः समुद्रोपमःप्रतिपादितः। यथा समुद्रे क्षारं मधुरं वा जलं मिश्रं सत् समानं जायते, तत्र तयोः क्षारमधुरयोर्जलयोर्भेदः समाप्नोति। तद्वत् स्थायिभावोपि सर्वान् भावान् आत्मसात्करोति क्रोडीकरोतीत्यर्थः। साहित्यदर्पणकार आचार्यविश्वनाथः स्थायिभावस्य स्वरुपमेवं निरूपयति–

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः ।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावो स्थायीति सम्मतः ।।[13]

प्रतिकूला अनुकूला वा भावा यं भावं तिरोधातुम् असमर्था भवन्ति आस्वादाङ्कुरोसौ मूलभावः स्थायिभाव इति उच्यते। ग्रन्थकारेण कस्यचिदाचार्यस्य श्लोकः प्रमाणरूपेण उद्धृतः, यस्य तात्पर्यम् अस्ति यत् यथा मालायां बहुषु मणिषु एकमेव सूत्रमनुस्यूतं भवति, तथैव अन्येषु भावेषु अनुगतः स्थायिभावः न केनापि तिरोधातुं पार्यते, अपितु सर्वात्मना पुष्यति एव।

शारदातनयो भावप्रकाशने स्थायीभावस्सदा चित्तेऽवतिष्ठते चित्तस्थाणुः स्थायिभाव इति व्याजहार–

अवस्थिताश्चिरं चित्ते सम्बन्धाच्चानुबन्धिभिः ।
वर्द्धिता ये रसात्मानः ते स्मृताः स्थायिनो बुधैः ।।[14]

स्थायिभावस्य प्रतिपादनं रसगङ्गाधरे पण्डितराजजगन्नाथेन सम्यक् कृतमस्ति। यदा स्थायिभावाः **'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** इत्यादिवेद– वाक्यानुसारेण सत्यत्वेन विज्ञानरूपत्वेन च स्वतः प्रकाशमानेन आत्मानन्देन सहानुभूयन्ते तदा तदा ते स्थायीभावा एव रससंज्ञां प्राप्नुवन्ति। तस्याम् अवस्थायामेव 'रसोऽहम्' इति प्रतीतिर्भवति। परन्तु तेषां स्थायिभावानामात्मानन्दसङ्गतिस्तावद् भवितुं नार्हति यावदानन्दस्वरूपे आत्मनि आवृतं यन्महदज्ञानावरणं तन्नापसरेत्, अतस्त दावरणभङ्गाय कश्चन व्यापारः सृज्यते। यश्च व्यापारो 'भावकत्वम्' इत्युच्यते। तस्य लोकोत्तरस्य 'भावकत्व'–व्यापारस्य सृष्टिं विभावानुभावसञ्चारिभावाः परस्परं सम्मिल्य कुर्वन्ति। यथा उदाहरणेन स्थायि भावानां महत्त्वं व्याख्यातम्–

यथा हि शरावादिना पिहितो दीपस्तन्निवृत्तौ सन्निहितान् पदार्थान् प्रकाशयति, स्वयं च प्रकाशते, एवमात्मचैतन्यं विभावादिसंवलितान् रत्यादीन्।[15]

अर्थात् यथा शरावादिना आवृतः दीपः समीपस्थवस्तूनि न प्रकाशयति, न च स्वयं प्रकाशते, किन्तुशरावेऽपसृते स दीपः समीपस्थवस्तूनि प्रकाशयति स्वयं च प्रकाशते, एवमेवात्मचैतन्यं, यदा अज्ञानस्य आवरणमपसृतं भवति, तदा अन्तःकरणवृत्तितयासन्निहितान् विभावादिमिश्रितान् च रत्यादिस्थायिभावान् प्रकाशयति स्वयं च प्रकाशते– 'रसो वै सः' इति श्रुत्यनुसारेण रत्याद्यवच्छिन्न-मात्मचैतन्यमास्वादविषयीभवति। 'आत्म-चैतन्यं रत्यादि - स्थायि - भावान् प्रकाशयति। अत्र युक्तिः प्रदर्शिता–

'अन्तःकरणधर्माणां साक्षिभास्यत्वाभ्युपगतेः।'[16]

अथ अत्र संशय उत्पद्यते यत् रत्यादिस्थायिभावः वासनारूपेण सर्वदा वर्तते, तर्हि कथं न सर्वदा रसरूपेण भासते? अस्य समाधानम् अस्ति यत् यावदात्मनः उपरि विद्यमानम् अज्ञानावरणम् अपसृतं तिष्ठति तावद् आत्मा रत्यादीन् भासयति। न तु पश्चात्, अज्ञानस्य आवरणं च आत्मनः केवलं विभावादिचर्वणावधि अपसृतं तिष्ठति। विभवादिचर्वणायां समाप्तौ आवरणभङ्गोपि समाप्नोति। आत्मा पुनरज्ञानावरणेन आवृतो भवति, अतस्तद्दशायां रत्यादयःस्थायिनः सन्तोऽपि न प्रकाशन्ते यथा शरावादिना आवृते दीपे समीपस्थानि वस्तूनि न प्रकाशन्ते।

उपर्युक्ते प्रथमे पक्षे अज्ञानयवनिकां दूरीकर्तुम् अलौकिको भावकत्वव्यापारः कल्पित इति गौरवम्, अतः पक्षान्तरमुपस्थापितम्–

'यद्वा-विभावादिचर्वणामहिम्ना सहृदयस्य निजसहृदयतावशोन्मिषितेन तत्तत्स्थान्युपहितस्वस्वरूपानन्दाकारा समाधाविव योगिनश्चित्तवृत्तिरुपजायते, तन्मयीभवनमिति यावत्।'[17]

अभिप्रायोऽयं यद् अज्ञानावरणं दूरीकर्तुं नूतनव्यापारस्य कल्पना नावश्यकी, यतः सहृदयतासाहाय्येन प्रौढा काव्यार्थविषयकभावना एव आत्मनि पतितमज्ञानावरणमपसारयेत् विभावादिसाधारणीकरणमपि कुर्यात्भावकत्वमपि न भावनातिरिक्तं पदार्थान्तरम्। **'प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारीभूतो धर्मो भावप्रत्ययार्थः'**[18] इति नियमानुसारेण भावकत्वस्य पर्यवसितार्थो भावनामात्रः स्यात्। अत एवं बोध्यम् यत्प्रोक्तभावनया साधारणीकृतविभावादीनामास्वादनं यत् सहृदयाः कुर्वन्ति तेषु तत्प्रभावः सहृदयतया प्रगाढो भवति। तेन प्रभावेण च काव्यवर्तिव्यञ्जनावृत्त्या-सहृदयान्तःकरणेषु रत्यादिस्थायिभावसंवलिता अज्ञानावरणमुक्ता आत्मचैतन्यरूपा आनन्दात्मिका वृत्तिरुत्पद्यते। सहृदयास्तत्र लीना भवन्ति। तन्मया भवन्ति। यथा योगिनामन्तःकरणे सविकल्पकसमाधिदशायाम् आनन्दाकारा वृत्तिर्जायते, तत्र योगिनां कस्यापि सांसारिकपदार्थस्य भानं न भवति, यतस्ते तदा ब्रह्मलीना भवन्ति। एतावता स्पष्टं यदानन्दाकारा चित्तवृत्तिः स्थायिभावसंवलिता सती एवं प्रकाशते।

एतेषामाचार्याणां स्थायिभावलक्षणविमर्शेन निम्नलिखिततथ्यानि पुष्यन्ति–

1. स्थायिभावो मानवमानसे वासनात्मकरूपेण वसति।
2. स्थायिभावः शाश्वतः। अन्ये भावा उत्पद्यन्ते विलीयन्ते च, परन्तु स्थायिभावः सर्वदा स्थिर एव भवति।
3. स्थायिभावःसर्वेषु भावेषु प्रधानम् भवति मनुष्येषु राजा इव।
4. स्थायिभावा एव रसत्वं प्राप्नुवन्ति। भावान्तराणि सहायकानि।।
5. अनुकूलाः प्रतिकूला वा भावाः स्थायिभावं तिरोधातुं न शक्नुवन्ति, अपितु पुष्णन्ति एव।
6. स्थायिभावोऽनुकूलान् प्रतिकूलान् वा भावान् आत्मसात्कुर्वन्ति अनुकूलयन्ति च।
7. स्थायिभाव आस्वादमूलभावः।

स्थायिभावानां संख्या–

अधुना स्थायिभावानां संख्या का भवितुमर्हतीति प्रश्न उद्भवति। स्थायिभावानां स्थितिर्जीवनस्य मूलभूतानां मनोवेगानां स्थितेर्भिन्ना नास्ति। एवंविधविभाजनस्य आधारो नास्ति मनोविज्ञानविरुद्धः। एनं सिद्धान्तं स्वीकृत्य प्रश्न उद्भवति यत् जीवनस्य मूलभूतमनोवेगानां संख्या नव एवास्ति वा? प्रश्न एषः संस्कृतसाहित्यस्य प्राचीनानाम् आचार्याणां मनसि बहुधा उद्भूतः अतः स्थायिभावानां संख्यावर्धनाय न्यूनीकरणाय वा प्रयत्नाः कृताः, तेषां प्रधानत्वगौणत्वयोश्च भूरिशो विवेचनं जातम्। परन्तु स्थायिभावानां संख्या नवैव स्थिरेति नास्ति काचिद् विचिकित्सा। भरतमुनिना तु स्थायिभावानां संख्या अष्टधा स्वीकृता–

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्त्तिताः ।।[19]

कारिकायामस्यां भरतमुनिना अष्ट स्थायिभावा: स्वीकृता:। स: शान्तरसं न मन्यते। तेन तस्य शान्तस्यशमस्थायिभावस्य उल्लेखःन कृत:। अभिनवभारत्याम-भिनवगुप्तेन शान्तरस उल्लिखितः। तदुक्तम्–

"तत्र शान्तस्य स्थायी 'विस्मयशमा' इति कैश्चित् पठितः। उत्साह इवास्य स्थायीत्यन्ये। जुगुप्सेति केचित्। सर्व इत्येके। तत्त्वज्ञानजो निर्वेदोऽस्य स्थायी। एतदर्थमेवोभयधर्मोपजीवित्वख्यापनाय मङ्गलभूतोऽप्यसौ पूर्वनिर्दिष्टः व्यभिचारिषु।"[20]

अयम्भावो वर्तते यत् केचिद् **'विस्मयश्चे'ति**स्थाने **'विस्मयशमा'** इति पाठं स्वीकुर्वन्ति। तन्मते शमः शान्तरसस्य स्थायिभावः स्वीकार्यः। अन्ये तु उत्साहमेव शान्तस्य स्थायिभावम् अङ्गीकुर्वन्ति। केचित् जुगुप्सां शान्तरसस्य स्थायिभावमुररीकुर्वन्ति। किन्तु वस्तुतः तत्त्वज्ञानादुत्पन्नः निर्वेद एव शान्तस्य स्थायिभावः। अतएव निर्वेदे स्थायिभावव्यभिचारिभावयोरुभयोर्धर्मोऽवतिष्ठत इति द्योतयितुम् अमङ्गलप्रायिकत्वेपि व्यभिचारिभावेषु निर्वेदः पप्रथमं पठितः। ततोऽग्रेऽभिनवगुप्तेन एतन्मतमपि खण्डितम्, आत्मा आत्मज्ञानं वा शान्तस्य स्थायिभावःस्वीकृतः। एवं स्थायिभावानां नवसंख्यात्वमभिनवसम्मतम्।

धनञ्जयः अष्टौ स्थायिभावान् मन्यते। स स्पष्टमुल्लिखति यत्केचिदाचार्याः शमं नवमं स्थायिभावं मन्यन्ते, किन्तु अस्य भावस्य पुष्टिर्नाट्ये न भवति। नायं भावो नाट्यानुकूल इति धनञ्जयस्य मतम्। अतो धनञ्जयमतानुसारेणाष्टौ स्थामिभावाः। शमस्य नवमस्थायिभावत्वमथ च शान्तस्य पृथक् सत्तेति तेन नाङ्गीक्रियते। यथा– **शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ।**[21]

कविराजो विश्वनाथः अष्टौ स्थायिभावान् गणयित्वा नवमं शममुल्लिलेख। पर्यन्ते स नवस्थायिभावान् अङ्गीकृतवान्, किन्तु वात्सल्यमपि स्वीचकार–

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्थमष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपि च ।।[22]

शारदातनयोऽपि सन्दर्भेऽस्मिन् भृशं विवेचनमकार्षीत्। स शमं शान्तस्य स्थायिभावं नावमन्यत। तन्मते अष्टौ स्थायिभावाः। शारदातनयः शमस्य स्थायिभावत्वविरुद्धं तर्कमुपस्थापयामास। शमे सर्वे व्यापारा विलीयन्ते। यत्र नाट्ये शमः स्थायिभावो भवेत् तत्र अनुभावाभावेऽभिनयो न स्यात्।

विलीनसर्वव्यापारः शमः स्थायी भवेद्यतः।
अतोऽनुभावराहित्यान्न नाट्येऽभिनयो भवेत् ।।
तस्माद्वृद्धप्रयोगेण रसपोषो न जायते ।[23]

रामचन्द्र-गुणचन्द्रःशमं स्थायिभावं मत्वा नव स्थायिभावान् उपस्थापयामास–

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयशमाः रसानां स्थायिनः क्रमात्।।[24]

इयं नाट्यशास्त्रस्य एव भरतमुनिकृता कारिका। अत्र 'विस्मयश्चे'ति इत्यस्य स्थाने "विस्मयशमाः" इति पाठः स्वीकृतः। वस्तुतस्तु "विस्मयशमा" इति पाठः पूर्वमेव प्रवर्तित आसीत्, यदुदाहरणं नाट्यदर्पणे दत्तम्। मम्मटेन पूर्वम् अष्टौ रसास्ततश्च नव स्थायिभावा उररीकृताः। तेन मुनेः भरतस्य कारिका समुद्धृता। अनन्तरं तेन निर्वेदस्थायिभावः शान्तरसो मतः-

निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।[25]

पण्डितराजजगन्नाथः स्फुटमेव नव रसान् नवस्थायिभावान् च स्वीकृतवान्। स शान्तस्य तत्स्थायिभावस्य निर्वेदस्य च विषये प्रबलतर्कान् उपस्थापयामास। तदनुसारेण यथोल्लेखं नव स्थायिभावाः सन्ति–

रतिः शोकश्च निर्वेदक्रोधोत्साहाश्च विस्मयः।
हासो भयं जुगुप्सा च स्यायिभावाः क्रमादमी।।[26]

पण्डितराजः सर्वेषां स्थायिभावानां लक्षणमकार्षीत्। तल्लक्षणानि एवं सन्ति–

1. **स्त्रीपुंसयोरन्योन्यालम्बनः प्रेमाख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो रतिः स्थायिभावः।**
2. **पुत्रादिवियोग-मरणादिजन्मा वैक्लव्याख्यश्चित्तवृत्तिविशेषः शोकः।**
3. **नित्यानित्यवस्तुविचारजन्मा विषयविरागाख्यो निर्वेदः।**
4. **गुरुबन्धुवधादिपरमापराधजन्मा प्रज्वलनाख्यः क्रोधः।**
5. **परपराक्रम-दानादिस्मृतिजन्मा औन्नत्याख्य उत्साहः।**
6. **अलौकिकवस्तुदर्शनादिजन्मा विकासाख्यो विस्मयः।**
7. **वागङ्गादिविकारदर्शनजन्मा विकासाख्यो हासः।**
8. **व्याघ्रदर्शनादिजन्मा परमानर्थविषयको वैक्लव्याख्यः स भयम्।**
9. **कदर्यवस्तुविलोकनजन्मा विचिकित्साख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो जुगुप्सा।**[27]

वस्तुतस्तु स्थायिभावसंख्याप्रसङ्गे साहित्यशास्त्रे प्रारम्भत एव मतभेदो दरीदृश्यते। अभिनवगुप्तस्य सङ्केतैः स्फुटमेव भट्टलोल्लटादयः केचिद् विद्वांसः स्थायिभावसीमा नव इति नाङ्गीकुर्वते। एतद्धि अभिनवभारत्यां सङ्केतितम्–

एतावन्त एव रसा इत्युक्तं पूर्वं तेनानन्त्येऽपि पार्षदप्रसिद्ध्या एतावतां प्रयोज्यत्वमिति यद् भट्टलोल्लटेन निरुपितं तदवलेपेनापरामृश्य इत्यलम्।[28]

अयम्भावः शान्तरसमादाय नव रसाः सन्ति। अत एव भट्टलोल्लटेन यदुक्तं 'रसानामनन्तत्वेऽपि नटेषु प्रसिद्धतया नाट्येष्वष्टौ रसाः प्रयोक्तव्याः' इति तेनाभिमानवशतः अविचारितमेव जल्पितम्। अतो नोचितमिदम्, वचनञ्चेदं न बहुधा खण्डनमर्हति।

एवं विवेचनेनेदं स्पष्टं यत् काव्ये नाट्ये च रसस्थायिभावानां महत्त्वमपरिहार्यम्। स्थायिभावा रत्यादय एव रसत्वेन परिणमन्त इति सर्वाचार्यसम्मतम्। स्थायिभावानां वर्गीकरणमिदं न कपोलकल्पितमपितु पारम्परिकाचार्यसम्मतं सत्यं तथ्यञ्च। स्थायिभावानां भारतीयः स्वरूपसंख्याविमर्शः न पौरस्त्य-पाश्चात्य-मनोविज्ञानविरुद्धः। स्थायिभावानां नवत्वसंख्यानिर्धारणमपि युक्तिसङ्गतम् आलङ्कारिकमूर्धन्यसमादृतञ्च। तथापि दृढमिदमुद्घोषयितुं शक्यते यत् इदमित्थमिति वचनं गर्वविजृम्भितमेव। इत्थं कस्मिन्नपि संख्यानिर्धारणे वर्गीकरणे वा समीक्षणमार्गो नावरुद्ध्यते। अत एव वात्सल्य-भक्तिप्रभृतयो वादा विजृम्भन्त एवेति शम्।

सन्दर्भग्रन्थाः–

1. नाट्यशास्त्रम्, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, नईदिल्ली, 2002 ई.
2. नाट्यशास्त्रम्, आचार्यभरतटीका-श्रीबाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2020 ई.
3. भावप्रकाशनम् : शारदातनय, डॉ. मदनमोहन अग्रवाल, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी 1983 ई.
4. काव्यप्रकाशः, आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, अगस्त 2017 ई.
5. अभिनवभारती, अनुवाद : आचार्य विश्वेश्वर, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1960 ई.
6. नाट्यदर्पणः, रामचन्द्र-गुणचन्द्र आचार्य विश्वेश्वर, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1961 ई.
7. दशरूपकम्, आचार्य धनञ्जय, डॉ. रमाशङ्कर त्रिपाठी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1973 ई.
8. भारतीय नाट्य सिद्धान्त उद्भव एवं विकास, डॉ. रामजी पाण्डेय, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1982 ई.
9. काव्यालङ्कारः, आचार्यभामहविरचितः चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी 2013 ई.
10. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः, सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, हिन्दी अनुसंधान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली 1954 ई.
11. ध्वन्यालोकः, श्रीमदाचार्यानन्दवर्धनविरचितः, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, अगस्त 2015 ई.
12. काव्यप्रकाशः, डॉ. पारसनाथद्विवेदी, विनोदपुस्तकमन्दिर, आगरा, 1986 ई.
13. साहित्यदर्पणः, डॉ. सत्यव्रतसिंह, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी 1979 ई.
14. रसगङ्गाधरः, पं. बदरीनाथझा एवं पं. मदनमोहनझा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण 1978 ई.
15. काव्यात्ममीमांसा, डॉ. श्रीजयमन्तमिश्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी 1964 ई.
16. संस्कृत-वाङ्मय का बृहद् इतिहास अष्टम-खण्ड, काव्यशास्त्र, उत्तरप्रदेशसंस्कृतसंस्थान, लखनऊ 2001 ई.
17. शब्दकल्पद्रुमः, राधाकान्तदेव बहादुर, द्वितीय काण्ड, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थान, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रण 2002 ई.
18. अमरकोषः (रामाश्रमीटीका), चौखम्बा कृष्णदास एकेडमी, वाराणसी 2002 ई.
19. ईशादि नौ उपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर, 2070 ई.

1. नाट्यशास्त्र : आचार्य भरत, टीका : श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, अध्याय 7, पृष्ठ सं. 228
2. का.प्र. 4/28
3. नाट्यशास्त्र : आचार्य भरत : अध्याय 6 श्लोक 3
4. नाट्यशास्त्र : आचार्य भरत, टीका : श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, अध्याय 7, पृष्ठ सं. 367
5. नाट्यशास्त्र : आचार्य भरत, अध्याय 7, श्लोक 1
6. नाट्यशास्त्र : आचार्य भरत, अध्याय 7, श्लोक 2
7. नाट्यशास्त्र : आचार्य भरत, अध्याय 7, श्लोक 3
8. नाट्यशास्त्र : आचार्य भरत, टीका : श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, अध्याय 7, पृष्ठ सं. 228
9. नाट्यशास्त्र : आचार्य भरत, अध्याय 7, श्लोक 8
10. नाट्यशास्त्र : आचार्य भरत, अध्याय 7, श्लोक 123
11. भारतीय नाट्य सिद्धान्त उद्भव एवं विकास, पृ. सं. 274
12. दशरूपक : आचार्य धनञ्जय, चतुर्थ प्रकाश, कारिका 34
13. साहित्यदर्पण : आचार्य विश्वनाथ, तृतीय परिच्छेद, श्लोक 147
14. भावप्रकाशन : शारदातनय, प्रथम अधिकार, पृष्ठ सं. 4
15. रसगङ्गाधर: पण्डितराजजगन्नाथ, व्याख्या: मदनमोहन झा, प्रथम आनन, पृष्ठ सं. 91
16. रसगङ्गाधर: पण्डितराजजगन्नाथ, व्याख्या: मदनमोहन झा, प्रथम आनन, पृष्ठ सं. 91
17. रसगङ्गाधर: पण्डितराजजगन्नाथ, व्याख्या: मदनमोहन झा, प्रथम आनन, पृष्ठ सं. 94
18. रसगङ्गाधर: पण्डितराजजगन्नाथ, व्याख्या: मदनमोहन झा, प्रथम आनन, पृष्ठ सं. 95
19. नाट्यशास्त्र : आचार्य भरत, अध्याय 6, श्लोक 18
20. अभिनवभारती, अनुवाद : आचार्य विश्वेश्वर, अध्याय 6, पृष्ठ सं. 433
21. दशरूपक : आचार्य धनञ्जय, चतुर्थ प्रकाश, कारिका 35
22. साहित्यदर्पण : आचार्य विश्वनाथ, तृतीय परिच्छेद, श्लोक 175
23. भावप्रकाशन : शारदातनय, प्रथम अधिकार, पृष्ठ सं. 26
24. नाट्यदर्पण : रामचन्द्र-गुणचन्द्र, तृतीय अध्याय, कारिका 24
25. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, कारिका 44
26. रसगङ्गाधर: पण्डितराजजगन्नाथ, व्याख्या: मदनमोहन झा, प्रथम आनन, पृष्ठ सं. 136
27. रसगङ्गाधर: पण्डितराजजगन्नाथ, व्याख्या: मदनमोहन झा, प्रथम आनन, पृष्ठ सं. 141-146
28. अभिनवभारती, अनुवाद : आचार्य विश्वेश्वर, अध्याय 6, पृष्ठ सं. 259

आचार्योऽध्यक्षश्च,
संस्कृतसाहित्यविद्याशाखा,
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, भोपालपरिसरः
दूरवाणी संख्या – 9691942394

कान्तायाः काव्यशास्त्रीयमास्पदम्

– प्रो. ग़ज़ाला अंसारी

(काव्यशास्त्र में कान्ता पद एक पारिभाषिक शब्द के रूप में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि न केवल संस्कृत साहित्य में अपितु साहित्यशास्त्र में भी सर्वत्र कान्ता का ही प्रभाव परिलक्षित होता है। कान्ता पद का प्रयोग एक ओर सिद्धान्त को स्थापित करने में प्रयुक्त होता है वहीं दूसरी ओर प्रायः सभी उदाहरण कान्ता के बिना अधूरे ही हैं, वहीं मंगलाचरण के रूप में भी कान्ता ही सर्वत्र प्रभावशालिनी है। अलंकृति, रीति, वृत्ति, वक्रोक्ति आदि नामग्रहण में भी स्त्रीलिंग के रूप में कान्ता ही प्रभाव स्थापित करती है। कान्ता के बिना न केवल यह सृष्टि अपितु सम्पूर्ण काव्यशास्त्र भी कान्तार के समान ही है। अतः कान्ता का महत्व काव्य के साथ-साथ काव्यशास्त्र में भी अप्रतिम एवं अक्षुण्ण है।)

दर्शनशास्त्रे यथा आचार्या आत्मतत्त्वरूपेण नैकानि तत्त्वानि कायस्य प्रतिपादितवन्तः केचन स्थूलशरीरमपरे हि इन्द्रियाण्यन्ये मनः परे प्राणान् कतिपये बुद्धिमितरे च परमं सूक्ष्मचैतन्यमात्मानं प्राहुस्तथैव काव्यशास्त्रेऽपि परमात्मतत्त्वस्य विवेचना काव्यतत्त्वविद्भिराचार्यैं विहिता। केचन रसमपरे अलङ्कारमन्ये रीतिम्परे वक्रोक्तिमितरे ह्यौचित्यमन्ये च ध्वनिमेव काव्यात्मानं प्राहुः। एवञ्च काव्यगत-विभिन्नतत्त्वानाङ्काव्यात्मरूपेण प्रतिपादनार्थमेव काव्यशास्त्रस्यैतिहासे नैकेषां सम्प्रदायानाम्प्रादुर्भावो बभूव।

भरतमुनिः नाट्यशास्त्रं विरच्य काव्यशास्त्ररचनामाविर्भावयामास रससूत्रञ्च विरचयामास। तर्हि केचन रससम्प्रदायवादिन आचार्या रसमेव काव्येषु प्रमुखन्तत्त्वमन्वभवन्। रसनिष्पत्तिरेव काव्यरचनायाः प्रतिपाद्यम्। रसमास्वाद्यैव सहृदयजना आनन्दमनुभवन्तीति रस एव काव्यात्मा।

सर्वेषु रसेषु भावेषु, सम्प्रदायेषु दर्शननेषु च सर्वासु रचनासु प्रधानभूतोऽयं शृङ्गारस्तस्मिन् मूले कान्ता एव। कान्तां विहाय न केवलं काव्यं काव्यशास्त्रञ्चेत्यपि तु न सृष्टिरेव सम्भाव्यते। सेयं कान्ता चतुर्धा दृश्यतेऽत्र काव्यशास्त्रे एकतस्तु सिद्धान्तप्रतिष्ठापनाय कान्ता प्रमाणरूपेण प्रस्तूयतेऽत्र। कान्तापदं पारिभाषिक-शब्दावली रूपेणाऽपि दृश्यते। विशिष्टाकान्ताविच्छिन्नं काव्यशास्त्रमिदञ्चेदुच्यते तद्ध्यत्र नास्त्यत्युक्तिः। अपरत्र कान्ता एव वाग्देवीरूपेण दीव्यते। प्रायशस्सर्वत्र परोक्षेऽपरोक्षे वा मङ्गलाचरणे। अन्यत्र तु काव्यशास्त्रीयतत्त्वानाङ्कृते नामयोजनाप्रसङ्गेऽपि प्रायशः प्रमुखानि यानि

तत्त्वानि दृश्यन्ते तान्यपि स्त्रीलिङ्गरूपेणैव कान्तामाहात्म्यम्प-रिस्फुरन्ति अपि च कान्ता एव उद्धरणरूपेणापि सर्वत्र काव्यशास्त्रे प्रस्फुटिता। विलक्षणो हि कान्तायाः कमनीयत्वं रमणीयत्वञ्चेति। अयं हि लोकोत्तरस्य काव्यव्यापारस्य महिमा यत्प्रयोज्या रमणीयाकान्ता आह्लादकमलौकिकं जनयति।

सर्वत्र कान्तासम्मितयोपदेश एवोररीक्रियते। मम्मटेनाभिहितङ्काव्य-प्रयोजनप्रसङ्गे–

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे[1] ।।

सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तर-मानन्दं प्रभुसम्मितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यः शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकर्म तत् कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा यतनीयम्।

उपदेशार्थं नीतिशास्त्राणि सन्त्येव किं काव्येनेति शङ्कानिरासार्थमुपात्तं-कान्तासम्मितया इत्यादि वाक्यं व्याचक्षाणस्तावत् कान्तासम्मितत्वं विवेचयितुमाह। उपदेशस्तावत् त्रिविधः। प्रमुसम्मितस्सुहृत्सम्मितः कान्तासम्मितश्चेति। तत्राद्यः शब्दप्रधानो वेदादिः। शब्दप्रधानत्वञ्च प्रवर्त्तनारूपशासनाप्रधानत्वम्। तथा च इष्टसाधनेऽनिष्टसाधने च नियोजति। द्वितीयस्तु अर्थतात्पर्यवान् अष्टादशपुराणे-तिहासादि एवं कृते इदमिष्टं भवति एवञ्च कृतेऽनिष्टं भवति इत्येतावन्मात्रं बोधयति न तु नियोजयति।

विलक्षणन्तु तृतीयः कान्तासम्मिततयोपदेशः वेदादिशास्त्रेभ्यः पुराणेति-हासेभ्यश्च काव्यस्य वैलक्षण्ये हेतुमाह शब्दो वाचकः अर्थोवाच्यस्तयोर्गुणभावे रसस्य शृङ्गारादेरङ्गभूतो यो व्यापारो विभावादिभावानां मेलनं व्यञ्जना वा तत्प्रवणतया एवञ्च काव्ये तादृशव्यापारनिष्पाद्यरसस्यैव प्राधान्यम्। कान्तेव कामिनीवत् तथा च कान्ता यथा दयितं गुरुमित्राद्यधीनमपि, इतर जनवैलक्षण्येन कटाक्षभुजाक्षेपादिना सरसतामापाद्य स्वाभिमुखीकृत्य स्वस्मिन् प्रवर्तयति एवं काव्यमपि सुकुमारमतीन् नीतिशास्त्रपराङ्मुखान् राजकुमारादीन् ललितपदकदम्बे कोपदर्शितशृङ्गारादिरसेन मधुरपानादिना कटुकषायौषधपानपराङ्मुखान् बालकानिव सदुपदेशस्वरूपार्थे प्रवर्तयेतीति। यदाहुः–

स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं वाक्यार्थमुपभुञ्जते ।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम्[2] ।।

अत एव शाकुन्तलनाटके कालिदासेन, नैषधीयचरिते श्रीहर्षेण, नलस्य दमयन्तीकथाचम्पूप्रबन्धे त्रिविक्रमेण, दम्यन्त्यादेश्च वर्णनङ्कृतम् यत्तु भामिनीविलासे शृङ्गारोल्लासे–

गुरुमध्यगता मया नताङ्गी निहता नीरजकोरकेण मन्दम्। दरकुण्डलताण्डवं नतभ्रूलतिकं मामवलोक्य घूर्णिताऽऽसीत्।। इत्यादिना जगन्नाथपण्डितैः स्वप्रेयसीवर्णनं कृतं तत्तु तेषां श्रीगङ्गाप्रसादादेव शोभतेतरामिति साहित्यसारटीकायां स्पष्टम्।

काव्यप्रकाशस्य साहित्यचूडामणिटीकायां कान्ताविषये प्राप्यते कान्तयेव वल्लभया सदृशं कृत्वा। तत्र सार्धम्यमाह-सरसेति। सारस्याकारचमत्कारार्पणेना-भिमुखीकृत्य अर्थादुपदेश्यं जनम् व्यतिरिक्तवस्तुवासनाव्युदासपूर्वकं रसचर्वणामात्रानु-प्राणनामुपकल्प्य रामादिवद्वर्तिव्यमित्युपदेशं करोति तथाह–

कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम् ।
आह्लाद्यमृतवत् काव्यमविवेकगदापहम् [3] ।।

मधुमतीटीकायामुल्लिखितं कान्ताकृते तस्य कान्तासम्मितत्वं च स्ववशीकरेण एवं सुहृत्कान्तयो: इष्टोपदेशकत्वाविशेषेऽपि स्ववशीकरणेन कान्तैव प्रकृष्यते इति। विवरणटीकायां वर्तते– कान्तासम्मिततयेत्यत्र प्रकृत्यादिगणोत्पन्ना तृतीया उपदेशकर्तरि सादृश्यसम्बन्धमभिधत्ते। तत्र कान्ता सादृश्योपपादकः साधारणधर्मोऽत्र सरसतेत्यादिना पूरितः। सरसता रसोद्बोधः तदापादनं तदुपायत्वप्रतिसन्धानम्। तेनाभिमुखीकृत्य स्वविषयकं शुश्रूषां जनयित्वाऽऽनुषङ्गिकमुपदेशं करोतीति सम्बन्धः। कान्ताऽपि सरसताऽऽपादनेन भोगेच्छया स्वाभिमुखीकृतं नायकमनुषङ्गेनोप-दिशतीति[4]।

रसगङ्गाधरे रसस्वरूपनिरूपणप्रसङ्गेऽपि कान्ताप्रसङ्गः समागच्छति–

भट्टनायकास्तु-ताटस्थ्येन रसप्रतीतावनास्वाद्यत्वम् आत्मगतत्वेन तु प्रत्ययो दुर्घटः शकुन्तलाऽऽदीनां सामाजिकान् प्रत्यविभावत्वात्।

ननु विभावादिप्रतीति विनैव रसप्रतीतिर्भवत्वित्याशङ्कामपास्यति-विना विभावमनालम्बनस्य रत्यादेरप्रतिपत्तेः। पुनराशङ्क्य निराकरोति–

न च कान्तात्वं साधारणविभावताऽवच्छेदकमत्राप्यस्तीति वाच्यम् अप्रमाण्य-निश्चियानालिङ्गिताऽगम्यात्वप्रकारकज्ञानविरहस्य विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रति-योगिताकस्य विभावताऽवच्छेदककोटावश्यं निवेश्यत्वात्।

अन्यथा स्वस्रादेरपि कान्तात्वादिना तत्त्वापत्तेः[5]।

समानाधिकरणसम्बन्धेन विशिष्टं कान्तात्वमितीदृशकान्तात्वरूपालम्बन-विभावताऽवच्छेदकस्य तत्राभावाद्रसप्रतिपत्तिर्न सम्भवतीति तात्पर्यम्।

कान्ताविशेष्यकाऽगम्यात्वप्रकारकज्ञाने जायमानेऽपि तज्ज्ञानविषयका-प्रामाण्यनिश्चये सति न कार्यासिद्धिरित्यप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गितत्वं ज्ञानविशेषणम्। अगम्यात्वप्रकारकं ज्ञानं विशेष्यतया कान्तायामिति विशेष्यतयासम्बन्धा-वच्छिन्नप्रतियोगिताकस्तदभावोऽपेक्षितः। कान्तात्वस्य तादृशज्ञानाभावस्य चैकत्र कान्तायां सत्त्वात् परस्परं समानाधिकरण्यसम्बन्धः। सामान्यधर्मस्य कान्तात्वस्य सत्त्वाद् भ्रात्रादिनिष्ठशृङ्गारालम्बनविभावत्वमापद्येत तस्मादुक्तनिवेश आवश्यक इत्यभिप्रायः[6]।

भावविषये उच्यते भक्तेर्देवादिविषयरतित्वेन भावान्तर्गततया रसत्वानुपपत्तेः प्रसङ्गेस्मिन् कामिनीवर्णनन्दृश्यते यथा–

न च तर्हि कामिनी विषयाया अपि रतेर्भावत्वमस्तु रतित्वाविशेषात्। अस्तु वा भगवद्भक्तेरेव स्थायित्वम् कामिन्यादिरतीनां च भावत्वम् विनिगमकाभावादिति वाच्यम्[7]।

रसदोषविषयेऽपि तेनोक्तम् यथा–

सन्ध्यावन्दनदेवयजनादिधर्मवर्णने प्रसक्ते कयाऽपि कामिन्या सह कस्यचित् कामुकस्यानुरागवर्णने। रसाभासेऽत्रानौचित्यनिर्वचन एव कान्तामाहात्म्यम्भजते-अनुचितविभावालम्बनं रसाभासत्वम् विभावादावनौचित्यं पुनर्लोकानां व्यवहारतो विज्ञेयम्, यत्र तेषाम् अनुचितम् इति धीरिति केचित्। तदपरे न क्षमन्ते मुनिपत्न्यादिविषयकरत्यादेः सङ्ग्रहेऽपि बहुनायकविषयाया अनुभयनिष्ठायाश्च रतेरसङ्ग्रहात्[8]।

ध्वनिसिद्धान्तस्य प्रवर्त्तक आनन्दवर्द्धनाचार्यो ध्वनिं स्पष्टतया काव्यस्यात्म-त्वेनोद्घोषयाञ्चकार। 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इत्युक्त्वा वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्यभेदावुभौ स्मृतौ तेनाभिहितम्। तदाह प्रतीयमानप्रसङ्गे–

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तद्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यामिवाङ्गनासु[9] ।।

यथा ह्यङ्गानासु लावण्यं पृथङ्निर्वर्ण्यमानं निखिलावयवव्यतिरेकि किमप्यन्देव सहृदयलोचनामृतं तत्त्वान्तरं तद्वदेव सोऽर्थः।

अत्राभिनवगुप्तपादेनोक्तं लावण्यविषये– लावण्यं हि नामावयवसंस्थाना-भिव्यङ्ग्यमवयवव्यतिरिक्तं धर्मान्तरमेव। न चावयवानामेव निर्दोषता वा

भूषणयोगो वा लावण्यम् पृथङ्निर्वर्ण्यमानकाणादिदोषशून्यशरीरावयव-योगिन्यामप्य-लङ्कृतायामपि लावण्यशून्येयमिति अतथाभूतायामपि कस्याञ्चिल्लावण्यामृतचन्द्रिकेयमिति सहृदयानां व्यवहारात्। सेयं कान्ता एवेदं लावण्यमावहति। अङ्गनां विना कुत्रमिदं लावण्यम्[10]। तस्य हि ध्वनेः प्रभेदेषु सर्वेष्वस्ति रम्यता–

विच्छितिशोभिनैकेन भूषणेनेव कामिनी।
पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती[11] ।।

एतदेवोत्पादयितुमुच्यते ध्वन्यालोके–

आत्मनोऽन्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि।
वस्तु भातितरां तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम्[12] ।।

सालङ्काराणामपि महाकविवचनानां या कान्ति व्यङ्ग्यार्थसंस्पर्शेन सा तु कान्तायाः लज्जावत् प्रधानभूता शोभा एव वर्त्तते–

मुख्या महाकविगिरामलङ्कृतिभृतामपि।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम्[13] ।।

स एव ध्वनिः अविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविधः सामान्येन द्वितीयस्योदाहरणम्–

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः।
सुमुखि येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः[14] ।।

अत्रापि कान्ता शिखरिणि स्त्रीशिरोमणिरूपेण शुशुभे।

साहित्यशास्त्रेऽन्यतमस्सम्प्रदायः अलङ्कारसम्प्रदायः। काव्येष्वलङ्कारा-नेवाऽङ्गित्वेन प्रतिपादितवन्तः। अलङ्काररहिता विधवैव सरस्वती। भामहेनोक्तम्- न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितान्नम्[15]। अत्राऽपि कान्ताविषयकव्यामोहो दरीदृश्यते। राजशेखरप्रणीतकाव्यमीमांसायामपि दशमेऽध्याये योषितां विषये प्राप्यते–

पुरुषवत् योषितोऽपि कवी भवेयुः। संस्कारो ह्यात्मनि समवैति न स्त्रैणं पौरुषं वा विभागमपेक्षते। श्रूयन्ते दृश्यन्ते च राजपुत्र्यो महामात्यदुहितरो गणिकाः कौतुकिभार्याश्च शास्त्रप्रहतबुद्धयः कवयश्च[16]। राजशेखरो विशिष्टकविप्रशस्तिप्रकरणे व्यलेखि–

के वैकटनितम्बेन गिरां गुम्फेन गुम्फिता।
निन्दन्ति निजकान्तानां न मौग्धमधुरा गिरा।।
शब्दार्थयोःसमो गुम्फः पाञ्चालीरितिरिष्यते।

शीलाभट्टारिका वाचि बाणोक्तिषु च सा यदि ।।
पार्थस्य मनसि स्थानं लेभे खलु सुभद्रया ।
कवीनां वचोवृत्तिचातुर्येण सुभद्रया ।।
सूक्तीनां स्मरकेलीनां कलानाञ्च विलासभू ।
प्रभुदेवी कविर्लाटी गताऽपि हृदि तिष्ठति ।।
अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातङ्गदिवाकरः ।
श्रीहर्षस्याभवत्सभ्यः समो बाणमयूररयोः ।।
सरस्वतीपवित्राणां जातिस्तत्र न देहिनाम् ।
व्यासस्पर्द्धी कुलालोऽभूद्यद्द्रोणो भारते कविः[17] ।।

एवञ्च काव्यशास्त्रीयं यन्मङ्गलचरणं वर्त्तते प्रायशोऽत्र सुमुचितेष्टेदेवता वाग्देवता एव परामृशति न केवलं काव्यशास्त्रेऽपितु काव्येऽपि इयं परम्परा सुतरामातनोति।

यथा काव्यप्रकाशे–

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति[18] ।।

यथा हि साहित्यदर्पणे–

शरदिन्दुसुन्दररुचिश्चेतसि सा मे गिरां देवी ।
अपहृत्य तमः सन्ततमर्थानखिलान् प्रकाशयतु[19] ।।

यथा काव्यादर्शे–

चतुर्मुखमुखाम्भोजवनहंस वधूर्मम् ।
मानसे रमतां नित्यं सर्वशुक्ला सरस्वती[20] ।।

यथा वामनेनाभिहितम्–

प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया ।
काव्यालङ्कारसूत्राणां स्वेषा वृत्तिर्विधीयते[21] ।।

यथा जयदेवकविना प्रणीतं चन्द्रालोके–

उच्चैरस्यति मन्दतामरसतां जागृत्कलङ्कैरव-
ध्वंसं हस्तयते च या सुमनसामुल्लासिनी मानसे ।
दुष्टोद्यन्मदनार्चिरमला लोकत्रयी दर्शिका
सा नेत्रत्रितयीव खण्डपरशोर्वाग्देवता दीव्यतु[22] ।।

श्रीमद्राजानकरुय्यकोऽपि तत्र तावदधिकृतेष्टदेवतानमस्कारपुरस्कारेण प्रकरण-प्रतिपाद्यमर्थं प्रतिजानीते–

नमस्कृत्य परां वाचं देवीं त्रिविधविग्रहाम् ।

निजालङ्कारसूत्राणां वृत्या तात्पर्यमुच्यते[23] ।।

यथा भोजदेवेनोपस्थापितम्–

तात्पर्यमेव वचसि ध्वनिरेव काव्ये
सौभाग्यमेव गुणसम्पदि वल्लभस्य ।
लावण्यमेव वपुषि स्वदतेऽङ्गनायाः
शृङ्गार एव हृदि मानवतो जनस्य[24] ।।

इत्यादिषु प्रायशस्सर्वेष्वपि काव्यशास्त्रीयग्रन्थेषु शक्तिस्वरूपा देवी एव स्तूयते।

काव्यशास्त्रीयग्रन्थानामुद्धरणरूपेणाप्यियं कान्ता एव प्रभावोत्पादिका दृश्यते सर्वत्र। इतोऽपि नामग्रहणेऽपि शक्तिर्नाम भवतु प्रतिभा वा अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना तिस्रो वृत्तयः भवन्तु नाम सात्त्वती, कैशिकी, आरभटी, भारती चतस्रो नाट्यवृत्रयश्च रीतयश्च वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली, उपनागरिका परुषा, कोमला, पञ्चसन्धयः पञ्चकार्यावस्था, अलङ्कृतिः, वक्रोक्तिः, भक्तिः प्रभृतिभ्यः, अलङ्कारेष्वपि उपमा, उत्प्रेक्षा, असङ्गतिः, एकावली, कारणमाला, परिसङ्ख्या जातिः, रीतिः, गीतिः, वृत्तिः, छाया, मुद्रा, उक्तिः, युक्तिः, भणितिः, गुम्फना, शय्या, पठितिः, प्रहेलिका, अभिनीतिः, विभावना, विशेषोक्तिः, परिवृत्तिः, निदर्शना, भ्रान्तिः, स्मृतिः, अर्थापत्तिः, अपह्नुतिः, समाधिः, समासोक्तिः, अतिशयोक्तिः, विशेषोक्तिः, स्वभावोक्तिः, व्याजोक्तिः, विनोक्तिः, सहोक्तिः, अप्रस्तुतप्रशंसा, तुल्ययोगिता पृभृत्यलङ्काराः स्त्रीलिङ्ग एव वर्तन्ते।

एतेषु सर्वेषूदाहरणेषु कान्ता एव सिद्धिदात्री। दिशा शून्या गृहं शून्यं सर्वं शून्यं कान्तां विना। काव्यशास्त्रं वा काव्यं वा पदमेकमपि स्पन्दितुन्न शक्नोति। **'गृहं तु गृहिणीहीनं कान्तारादतिरिच्यते'**[25]। तद्वदेव काव्यशास्त्रमपि कान्तां विहाय कान्तारवदेव। न केवलं गृहस्थाश्रमे सा कान्ता साम्राज्ञी अपि तु सर्वत्र काव्यशास्त्रीयोद्यानेऽपि सा एव शिखरिणी रूपेण राराज्यते। एवं कान्तायाः काव्यशास्त्रीयमास्पदमन्यतममर्पूवमद्भुतमनन्तमलौकिकञ्चेतीदमेव काव्यशास्त्रीयं कार्तज्ञ्यं सर्वे काव्यतत्त्वविद्भिस्समाख्यातवन्तः। नास्त्यत्राशङ्का सन्देहलेशो वा।

---

1. काव्यप्रकाशः, वृत्तिः 2/1 प्रथमोल्लासः
2. काव्यप्रकाशः, वामनभट्टाचार्यझलकीकरोपनाम्नः विरचिताया बालबोधिनीटीकायाः समुद्धृतः पृ. सं.-10
3. वक्रोक्तिजीवितम् 5/1
4. काव्यप्रकाशः , सम्पादनम्- डॉ. ज्योत्स्नामोहनः, नागप्रकाशनः पृ. सं.-6
5. रसगङ्गाधरः, चंद्रिकाहिंदीसंस्कृतव्याख्योपेतः, पृ. सं. 102-103

6. रसगङ्गाधरः, चन्द्रिकाहिन्दीसंस्कृतव्याख्योपेतः, पृ. सं. 102-103
7. रसगङ्गाधरः, चन्द्रिकाहिन्दीसंस्कृतव्याख्योपेतः, पृ. सं. 191
8. रसगङ्गाधरः, चन्द्रिकाहिन्दीसंस्कृतव्याख्योपेतः, पृ. सं. 366
9. ध्वन्यालोकः कारिका वृत्तिश्च 1/4
10. अभिनवगुप्तकृतलोचनटीका: 1/4
11. ध्वन्यालोकः तृतीय उद्योतः- आचार्यविश्वेश्वरव्याख्या पृ. सं. 163
12. ध्वन्यालोकः 4/14
13. ध्वन्यालोकः 3/37
14. ध्वन्यालोकः प्रथमःउद्योतः, आचार्यविश्वेश्वरव्याख्या, पृ. सं. 56
15. काव्यालङ्कारः, 163
16. काव्यमीमांसा-दशमोऽध्यायः, पंडितकेदारनाथशर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पृ. सं. 132
17. जल्हण-सूक्तिमुक्तावली राजशेखरः पृ. सं. 21
18. काव्यप्रकाशः, मङ्गलाचरणम्
19. साहित्यदर्पणः, मङ्गलाचरणम्
20. काव्यादर्शः 1/1
21. काव्यालङ्कारसूत्राणि 1/1
22. चन्द्रालोकः प्रथमो मयूखः 1
23. अलङ्कारसर्वस्वम्, मङ्गलाचरणम्
24. श्रृङ्गारप्रकाशः 1/5
25. पञ्चरात्रम् 4/81

संस्कृतसाहित्यविद्याशाखा,
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
लखनऊपरिसरः, लखनऊ (उ.प्र.)।

कण्ठस्थीकरणं मनोवैज्ञानिकम् अमनोवैज्ञानिकं वेति ?

– प्रो. कुलदीप शर्मा

(जो पूर्वज्ञान स्मृति के आधार पर यथावत् अक्षरश: सदैव उपस्थित रहता है, वह कण्ठस्थीकृत माना जाता है। जिस विद्वान् को कण्ठस्थीकरण के साथ साथ कण्ठस्थ विषय के बारे में सामान्य तथा गूढ दोनों प्रकार अर्थज्ञान होता है, वह विषय विशेषज्ञ के रूप में प्रतिष्ठित होता है। कण्ठस्थीकरण से पुस्तक पर आश्रितता नहीं रहती तथा वक्ता के आत्मविश्वास में अभिवृद्धि होती है। कण्ठस्थीकरण एक विशेष प्रकार का कौशल है, जिससे मेधावृद्धि होती है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में ग्रन्थस्थ विषय को हृदयंगम करने के लिए कण्ठस्थीकरण को सहज तथा सरल तरीके से सम्पादित करने हेतु अनेक उपाय बताए गए हैं। यदि कण्ठस्थीकरण को शास्त्रोक्त विधियों से सम्पादित किया जाए, तो अत्यन्त वैज्ञानिक रूप से विद्यार्थियों की मेधाशक्ति बढ़ाई जा सकती है। शब्दरूप तथा धातुरूप को यदि कण्ठस्थ कर लिया जाए तो न केवल एक शब्द या एक धातु का ज्ञान होता है अपितु उसकी तरह रूप चलने वाले असंख्य शब्दों तथा धातुओं का भी ज्ञान स्वत: हो जाता है। धाराप्रवाह संस्कृत बोलने के कौशल की प्राप्ति के पश्चात् यदि विद्यार्थी एक तरह से चलने वाले शब्दरूपों तथा धातुरूपों में से कोई एक भी कण्ठस्थ कर ले, तो उसकी भाषा शुद्ध तथा व्याकरणसम्मत हो जाएगी।)

संस्कृतवाङ्मये केवलम् अर्थज्ञानपूर्वकं कृतं कण्ठस्थीकरणमेव प्रशस्तम् अस्ति। अनेकैः प्रमाणैः ज्ञायते यदत्र अर्थज्ञानेन विना कृतं कण्ठस्थीकरणं व्यर्थमेव मन्यते। शब्दरूपाणां धातुरूपाणां च कण्ठस्थीकरणं लाघवदृष्ट्या एव वरेण्यमस्ति। यथा राम इति अकारान्तपुँल्लिङ्गशब्दस्य सर्वेषां रूपाणां कण्ठस्थीकरणेन इतरेषाम् अकारान्तपुँल्लिङ्गशब्दानां रूपकण्ठस्थीकरणस्य आवश्यकता न अवशिष्यते। कण्ठस्थीकरणम् उत्तमस्मृतेः परिचायकं भवति। उत्तमस्मृतिं सम्पादयितुम् उत्तमा एकाग्रता अनिवार्या अस्ति। एतदर्थं योगासनम्, उत्तमजीवनशैली, अभ्यासावृत्तिः, पारायणम्, पोषणयुक्तभोजनम्, सकारात्मकं चिन्तनम्, शान्तवातावरणे पठनं लेखनं च इत्यादयः अनेके उपायाः भवन्ति।

अधीतस्य ज्ञानस्य यथावत् मौखिकं प्रस्तुतीकरणं कण्ठस्थीकरणं भवति। श्रुतिपरम्परायां कण्ठस्थीकरणस्य अतीव महत्त्वम् अस्ति। कण्ठस्थीकृतं ज्ञानं सदैव परिश्रमं वैदुष्यं च सूचयति। यथा मन्दिरेषु भगवतः प्रतिमायाः अर्चनाकाले यदि कश्चन अर्चकः प्रतिपदं पूजाविधानपुस्तकं दृष्ट्वा पूजां

सम्पादयति, तर्हि दर्शनार्थिनः तस्य विषये स्वतः ज्ञास्यन्ति यत् सः अर्चकः अभिनवः अनुभवहीनः च अस्ति इति। तस्य स्थाने यदि कश्चित् अन्यः अर्चकः पुस्तकम् अदृष्ट्वा पूजां सम्पादयति तर्हि तद्विषये जनाः चिन्तयिष्यन्ति यत् एषः पुरातनः अनुभवी च अर्चकः अस्ति इति।

यथा आत्मना अर्जितं धनम् ऋणरूपेण अन्यस्मै दत्तं चेत् तस्य धनस्य सङ्कटकाले सहसा उपलब्धिः न भवति, तथैव यदि पुस्तके मुद्रितं ज्ञानं स्मृतौ नास्ति, तर्हि परीक्षादिकाले तत् पठनं व्यर्थतां प्राप्नोति। यथोक्तम्–

पुस्तकस्था तु या विद्या परहस्तगतं धनम् ।
कार्यकाले समायाते न सा विद्या न तद्धनम् ।।[1]
कण्ठस्था तु या विद्या सा विद्या सफला मता ।
गुरौ वा पुस्तके विद्या सा विद्या निष्फला भवेत् ।।
कण्ठस्था या भवेद् विद्या सा प्रकाश्या सदा बुधैः ।
या गुरौ पुस्तके विद्या तया मूढः प्रतार्यते ।।[2]

अर्थात् यथा परहस्तगतम् आत्मार्जितं धनं सङ्कटकाले व्यर्थं भवति, तथैव यदि विद्या अपि बुद्धौ नास्ति, तर्हि आवश्यकतायां सा पुस्तकस्था विद्या अपि व्यर्था भवति। कण्ठस्था विद्या सफला सदैव पथप्रदर्शिका च भवति। या विद्या गुरौ पुस्तके वा भवति, सा निष्फला भवति इति। एतादृशैः पद्यैः सर्वं ज्ञानं कण्ठस्थं स्यादिति आशयः न स्वीकरणीयः। यतो हि एतेषु पद्येषु सर्वं ज्ञानं कण्ठस्थीकर्तुं नैव उक्तमस्ति। कण्ठस्थीकरणम् इति शब्दस्य पर्यायपदेषु रटनम् इत्यपि उच्यते। प्रायशः रटनम् इति शब्दस्य बोधः शुकवत् पौनःपुन्येन आवृत्त्यात्मकपरायणेन स्वीक्रियते। परन्तु रटनम् इत्यस्य पारायणमात्रार्थः नास्ति। भ्वादिगणे रट धातुः परिभाषणार्थे अस्ति। परिभाषणम् अर्थात् कस्मिन्नपि विषये समग्रतया कथनमिति।

सामान्यजनाः अपि भूतकाले सञ्जातानाम् उत्तमानुभवानां स्मरणं कष्टप्रदानुभवानां च विस्मरणं कुर्वन्ति एव, यतो हि स्मरणं विस्मरणम् इति बुद्धेः स्वाभाविकद्वन्द्वात्मकं धर्मद्वयमस्ति। यद्यपि जीवने उभयोः अपि आवश्यकता अस्ति, तथापि लोकयात्राप्रवर्तनाय स्मरणस्य महत्त्वं किञ्चित् विशिष्टमेव अस्ति। तत्र ऐतरेयोपनिषदि स्मरणात्मकबुद्धेः पञ्चदश पर्यायपदानि परिगणितानि, यथा–

संज्ञानम् आज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्-धृतिर्-मतिर्-मनीषा जूतिः स्मृतिः सङ्कल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति। सर्वाण्येव एतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ।[3]

बुद्धेः एतेषु पर्यायपदेषु प्रत्येकं पर्यायस्य सन्दर्भानुसारेण प्रयोगः क्रियते। तत्र मेधा इति पदस्य भाष्यलेखने आदिशङ्कराचार्यैः लिखितम्–

मेधा ग्रन्थधारणसामर्थ्यम् ।[4]

अर्थात् बुद्धेः यत्स्वरूपं ग्रन्थम् अधीत्य बौद्धिकरूपेण तं ग्रन्थं स्मृतिपटले सुरक्षितं करोति, तत् स्वरूपं मेधा इति उच्यते।

यथा श्रवणं कर्णेन्द्रियस्य दर्शनं च नेत्रस्य स्वाभाविकः गुणः अस्ति, तथैव ज्ञानस्य स्मृतिरूपेण संधारणं बुद्धेः स्वाभाविकः गुणः अस्ति। अत एव हेमचन्द्राचार्यः बुद्धेः षट्सु गुणेषु स्मृत्यात्मकं धारणगुणमपि गणितवान्। तद्यथा–

शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा ।
ऊहापोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः ।।[5]

स्मृतितीक्ष्णतायाः लोके सम्मानः भवति। यस्य जनस्य स्मृतिसामर्थ्यम् अल्पं भवति, लोके सः जडबुद्धिः एव मन्यते। जनाः नानाप्रकारक-व्यङ्ग्यवाक्यानि उक्त्वा तस्य परिहासं कुर्वन्ति। यथा हि–

अद्य ज्ञातं श्रुतश्चैव, यस्य बुद्धौ न तिष्ठति ।
क्षीणस्मृतौ नरे तस्मिन् हासं कुर्वन्ति लौकिकाः ।।

आधुनिकशिक्षाशास्त्रिणां मते कण्ठस्थीकरणम् अमनोवैज्ञानिकमिति मन्यते। संस्कृतशास्त्रेषु अपि एतदेव मतं प्रशस्तम् अस्ति। शास्त्रीयमतानुसारेण अर्थज्ञानेन विना यदि कश्चित् कण्ठस्थीकरोति, तर्हि तत् व्यर्थमेव। वैदिकपरम्परायामेव अस्यां, विचाराधारायां, बहूनि प्रमाणानि प्राप्यन्ते, यथा निरुक्ताख्यस्य वेदाङ्गस्य वचनं द्रष्टव्यम्–

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ।।[6]

अर्थात् यः जनः वेदं जानाति, किन्तु तस्य अर्थं न जानातिः सः स्थाणुवत् अर्थात् शुष्कवृक्षवत् व्यर्थः भारभूतः भवति। यः वेदं ज्ञात्वा तस्य अर्थमपि जानाति, सः लोके प्रशंसां प्राप्य ज्ञानकारणात् पापेभ्यः मुक्तः भूत्वा स्वर्गं प्राप्नोति। स्थाणुशब्दस्य गर्दभः इत्यपि अर्थः भवति। गर्दभार्थे एतस्य निरुक्तश्लोकस्य आशयः भविष्यति यत्– यथा गर्दभः चन्दनादिकाष्ठं वहन् अपि तस्य उपभोगात् वञ्चितः भवति, तथैव ग्रन्थस्य अर्थम् अज्ञात्वा ग्रन्थपारायणमात्रस्य कर्ता व्यर्थमेव परिश्रमं करोतीति। एतदेव तथ्यं व्याकरणमहाभाष्ये आचार्यः पतञ्जलिः अपि व्याकरणस्य तृतीयस्य गौणप्रयोजनस्य निरूपणावसरे उदाहरति–

यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।
अनग्नाविव शुष्केधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ।।[7]

अर्थात् यथा अग्नेः समीपस्थं शुष्ककाष्ठम् अपि अग्निसंयोगेन विना न प्रज्वलति, तथैव अर्थज्ञानेन विना अक्षरोच्चारणमात्रेण पुनः पुनः पठितस्य लाभः न भवति।

एवमेव व्याकरणाध्ययनस्य नवमे गौणप्रयोजने ऋग्वेदस्य मन्त्रम् उदाहृत्य आचार्यः पतञ्जलिः सूचयति यत् कश्चन शब्दार्थज्ञानहीनः मनुष्यः वाणीं पश्यन् (पठन्) अपि न पश्यति (अर्थं न गृह्णाति)। अन्यः कश्चन शब्दार्थज्ञानसम्पन्नः यदा वाणीं पश्यति, तदा वाणी आत्मनः सर्वं रहस्यं प्रकटयति। यथा हि–

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ।।[8]

अर्थज्ञानसम्पादनपुरस्सरम् एव ग्रन्थसंस्मरणं प्रशस्तम् इति प्रमाणार्थं व्यासरचितस्य महाभारतस्य अधोलिखितं पद्यद्वयम् अपि प्रासङ्गिकतां वहति–

यो हि वेदे च शास्त्रे च ग्रन्थधारणतत्परः ।
न च ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञस्तस्य तद्धारणं वृथा ।।[9]
भारं स वहते तस्य ग्रन्थस्यार्थं न वेत्ति यः ।
यस्तु ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञो नास्य ग्रन्थागमो वृथा ।।[10]

अर्थात् ग्रन्थं कण्ठे धर्तुं तत्परः जनः यदि तस्य ग्रन्थस्य तत्त्वज्ञानं न जानाति, तर्हि तस्य ग्रन्थपङ्क्तिस्मरणस्य किमपि फलं नास्ति।

अनेन स्पष्टं यत् शास्त्रेषु कण्ठस्थीकरणम् अर्थज्ञानेन सह एव अनुमतम् अस्ति इति। इदानीं प्रश्नः समुदेति यत् आदौ कण्ठस्थीकरणं विधाय अर्थज्ञानं करणीयम्, अथवा अर्थज्ञानं कृत्वा कण्ठस्थीकरणीयम् इति। अस्य उत्तररूपेण एतत् एव कथनीयं यत् शास्त्राध्ययनपरम्परायाम् उभयथा अपि स्वीकृतिः अस्ति। शास्त्रेषु अध्ययनक्रमे कार्यकालपक्षः यथोद्देशपक्षः इति पक्षद्वयं कथितम् अस्ति। कार्यकालपक्षे उपेक्षाबुद्धिः भवति। अत्र अध्येता चिन्तयति यदिदानीं तु प्रथमतः कण्ठस्थीकरणं भवेत्, यदा अर्थस्य आवश्यकता भविष्यति, तदा अर्थावगमनाय चेष्टा करिष्यते। यथोद्देशपक्षे अध्येता अध्ययनकाले एव अर्थज्ञानं प्राप्य तत्पश्चात् कण्ठस्थीकरणाय प्रवर्तते।

वस्तुतः सामान्यसंस्कृतसम्भाषणस्य कृते कण्ठस्थीकरणस्य सामान्य-सामर्थ्यस्य एव आवश्यकता अस्ति। व्याकरणस्य प्रयोजनेषु रक्षा-ऊह-आगम-

लघु-असन्देहाः इत्येतेषु लघुनामकप्रयोजनस्य संसिद्धिः कण्ठस्थीकरणेन भवति। यतो हि कण्ठस्थीकरणेन लघुना उपायेन विद्यार्थी एकस्य शब्दरूपस्य धातुरूपस्य च कण्ठस्थीकरणं कृत्वा तादृशानां शतशः शब्दानां धातूनां च रूपाणि वक्तुं समर्थः जायते। एतादृशं सीमितं कण्ठस्थीकरणं गणितविषयस्य विज्ञानविषयस्य च सूत्राणाम् अपि क्रियते एव। आङ्ग्लभाषायामपि वर्तनीज्ञानाय शब्दाः कण्ठस्थीक्रियन्ते एव। अतः एतादृशं सीमितं कण्ठस्थीकरणं कथमपि आपत्तिजनकं नास्ति।

उदाहरणार्थं कश्चित् छात्रः 'राम' इति प्रातिपदिकस्य कस्याः अपि विभक्त्याः, कस्य अपि वचनस्य रूपं क्षणाभ्यन्तरे श्रावयति चेत् एव कण्ठस्थीकरणं साधु। अन्यथा तृतीयायाः एकवचने किं रूपम् इति पृष्टे सति रामः रामौ रामाः, रामं रामौ रामान्; रामेण इत्येतावता बुद्बुदस्वरेण पारायणं कृत्वा पुनः रामेण इत्यनेन उत्तरेण प्रयोजनं नास्ति। अतः एतस्याः समस्यायाः समाधानाय एषः उपायः अस्ति यत् पराम्परागतरूपेण रामशब्दं संस्मृत्य विपरीतक्रमेण शब्दरूपकथनस्य अभ्यासः करणीयः। पुनः एकवचनस्तम्भस्य, द्विवचनस्तम्भस्य बहुवचनस्तम्भस्य च रूपाणां कथनाभ्यासः करणीयः। ततः स्तम्भभेदेन एव अधस्तात् उपरि अर्थात् सप्तमीविभक्त्याः आरभ्य प्रथमाविभक्तिं यावत् कथनस्य अभ्यासः करणीयः। एवं कृते सति रामशब्दस्य सर्वेषु रूपेषु क्षणाभ्यन्तरे यथेष्टरूपं वक्तुं छात्रस्य सामर्थ्यं समायाति। यः छात्रः अनेन विधिना कण्ठस्थीकरणं करोति, सः सर्वेषाम् अकारान्तपुँल्लिङ्गशब्दानां रूपाणि पारायणेन विना एव वक्तुं प्रभवति।

भारतीयशिक्षापद्धतौ व्यासपद्धत्या अर्थात् सर्वेषां विषयाणां विस्तरेण अध्ययनस्य परम्परा अस्ति। अस्मादेव कारणात् पारम्परिकसंस्कृतविदुषां ख्यातिः जीवच्छब्दकोशरूपेण देशे विदेशे च भवति। शास्त्राणां कण्ठाग्रकरणस्य प्रवृत्तेः प्रोत्साहनाय बहुभिः संस्थानैः स्पर्धानाम् आयोजनं क्रियते। यथा श्रीकाञ्ची-वेदवेदान्तशास्त्रसभा प्रतिवर्षं वेद-न्याय-व्याकरणादिशास्त्रेषु तेनालीशास्त्रपरीक्षाया, आयोजनं करोति। तथैव नवदेहलीस्थ, केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः अपि प्रतिवर्षं शास्त्रीयकण्ठपाठस्पर्धानाम् आयोजनं करोति।

कण्ठस्थीकरणस्य उद्देश्यानि–

1. छात्राणाम् अभिव्यक्तौ प्रभावोत्पादकतां सम्पादयितुम्।
2. तेषाम् आत्मविश्वासे वृद्धिं कर्तुम्।
3. अन्त्याक्षरी-भाषण-वादविवाद-कण्ठपाठस्पर्धासु भागग्रहणसामर्थ्यं दातुम्।

4. सन्दर्भानुगुणं सक्रियरूपेण शब्दसूक्तिसुभाषितादीनां प्रयोगकौशलं प्रदातुम्।

कण्ठस्थीकरणस्य पूर्वभूमिका–

कण्ठस्थीकरणात् पूर्वम् एतत् विचारणीयं यत् कण्ठस्थीकरणस्य आवश्यकता का अस्ति? इति। प्रयोजनं ज्ञात्वा एव कृतं कण्ठस्थीकरणम् औचित्यम् आवहति। कण्ठस्थीकरणस्य सकारात्मकपक्षम् आदाय शिक्षकः प्रेरणां पुरस्कारं च प्रदाय छात्रान् प्रेरयेत्। अनेन छात्रेषु बलात् कण्ठस्थीकरणस्य अनावश्यकप्रतिबन्धः न भविष्यति। ते स्वयमेव रुचिमन्तः भूत्वा विषयं कण्ठाग्रं करिष्यन्ति। सर्वेऽपि छात्राः समानरूपेण कण्ठस्थीकरणसामर्थ्यं न धरन्ति, अतः स्वसामर्थ्यानुगुणं विषयं कण्ठस्थीकर्तुं सर्वेषां छात्राणां कृते स्वातन्त्र्यं देयम्। यदि शिक्षकः प्रभावपूर्णरीत्या दृश्यश्रव्योपकरणानि उपयुज्य विषयं प्रस्तौति, तर्हि विषयस्य स्मृतिकरणे छात्राणाम् अत्यन्तं सौविध्यं सौकर्यं च भवति।

कण्ठस्थीकरणे बाधकतत्त्वानि–

कण्ठस्थीकरणे बहूनि बाधकतत्त्वानि भवितुम् अर्हन्ति, यथा शारीरिकाः मानसिकाश्च रोगाः, रोगोपशामकस्य औषधविशेषस्य दुष्प्रभावः, परिश्रमजन्या क्लान्तिः, नकारात्मकविचारधारा, अनिद्रा, भयम्, अव्यवस्थितकार्यशैली, आत्मविश्वासे न्यूनता, कलुषितं वातावरणम्, अतिभोजनं दुर्व्यसनं च इत्यादीनि। समस्याग्रस्तबालकेषु किं तत्त्वं कण्ठस्थीकरणे बाधाकारकम् अस्ति इति तु तस्य बालकस्य व्यक्तिवृत्तस्य अध्ययनेन एव ज्ञातुं शक्यते।

कण्ठस्थीकरणे मनसः भूमिका–

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः[11] इति वचनप्रमाणेन कर्मप्रवृत्तौ मनसः भूमिकायाः परिचयः प्राप्यते। वेदान्तदर्शनमते मनसः स्वरूपम् अन्तःकरणचतुष्टयरूपेण कृतम् अस्ति। यथा हि–

मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चेति चतुष्टयम्।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे ।।[12]

अर्थात् मनः, बुद्धिः, अहङ्कारः चित्तं च इत्येतानि चत्वारि तत्त्वानि चत्वारः तेषां विषयाः च सन्ति। तत्र क्रमशः मनः संशयात्मकम्, बुद्धिः निश्चयात्मिका, अहङ्कारः गर्वान्वितः चित्तञ्च स्मरणात्मकं भवति। अतः स्मरणसामर्थ्यस्य प्राप्तिं कर्तुं चित्ते नियन्त्रणम् आवश्यकम् अस्ति। एदर्थम् एकाग्रचित्तभावस्य अभ्यासः करणीयः। एषः अभ्यासः कथं क्रियते इति चेत् भगवान् श्रीकृष्णः स्वयं गीतायाम् उपदिशति, यथा हि–

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमासक्तः स विशिष्यते।।[13]
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ...।[14]
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ...।।[15]
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।[16]

अर्थात् यः पुरुषः मनसः नियन्त्रणपूर्वकम् इन्द्रियसंयमनं कृत्वा अनासक्तभावेन कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगस्य आचरणं करोति, सः श्रेष्ठः भवति। एतदर्थं पवित्रे भूभागे शान्तवातावरणे कुशवस्त्रादिभिः आच्छादितं सुखदं स्थिरम् आसनं स्थापनीयम्। तस्मिन् आसने उपविश्य मनसः एकाग्रतां सम्पाद्य अन्तःकरणशुद्धिं कर्तुं यौगिकक्रियाः करणीयाः। अस्यां क्रियायां शरीरस्य, शिरोभागस्य ग्रीवाभागस्य च स्थिरता दृढता च भवेत्। ततः परं योगी दिशानाम् अवलोकनं न कृत्वा केवलं स्वस्य नासिकायाः अग्रभागे एव ध्यानं केन्द्रीकुर्यात्।

एतादृशेन आयासेन चित्ते मनसि वा नियन्त्रणं जायते। चित्ते यस्य नियन्त्रणम् अस्ति, स एव एकाग्रचित्तः भवितुम् अर्हति। एकाग्रचित्तस्य जनस्य स्मृतिः अवधानकुशलतावशात् तीक्ष्णा भवति। तीक्ष्णस्मृतिवान् जनः अध्ययने पठितं विषयं चिरकालपर्यन्तं बुद्धौ स्थापयति।

मनसः एकाग्रतासम्पादनाय उपायाः–

ब्राह्ममुहूर्ते अध्ययनम्– सूर्योदयात् प्रायशः सार्धैकघण्टापूर्वकालः ब्राह्ममुहूर्तकालः भवति। अस्मिन् ब्राह्ममुहूर्ते जागरणेन स्वास्थ्यं शुद्धं भवति। अनेन चित्तस्य चञ्चलता नष्टा भवति। अस्मिन् काले अधीतं विषयवस्तु चिरकालं यावत् तिष्ठति। अस्मिन् विषये आयुर्वेदग्रन्थेषु माहात्म्यम् उक्तम् अस्ति, यथा–

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत स्वस्थो रक्षार्थमायुषः।[17]
वर्णं कीर्तिं मतिं लक्ष्मीं स्वास्थ्यमायुश्च विन्दति।[18]

योगासनानाम् अभ्यासः ब्राह्ममुर्हूते अध्ययनात् परं पूर्वं वा यथासौविध्यं योगासनाभ्यासः अपि करणीयः। बहुभिः योगासनैः स्मृतिधारणक्षमतायां वृद्धिः भवति, येन अवधाने दक्षता आयाति। सुखासनम्, पद्मासनम्, प्राणायामः, सर्वाङ्गासनम्, पश्चिमोत्तानासनम्, वज्रासनं हलासनं च इत्यादीनि आसनानि मेधायाः तीक्ष्णतायै उपकुर्वन्ति इति योगविदां मतम्। चित्तस्य एकाग्रतायै ध्यानकेन्द्रीकरणक्रियासु ज्योतिर्ध्यानम् अतीव फलदायकं मन्यते। शान्तवातावरणे

दीपकस्य ज्योतिर्दर्शनेन नेत्रव्यायामः भवति। अनेन नेत्राभ्यां यत् पठ्यते तस्य एकं भावचित्रं मानसपटले अङ्कितं जायते इति त्राटकक्रियाविदाम् अभिमतम्।

किमपि अन्यत् पठनम्– यदि कश्चित् एकमेव विषयं बहोः कालात् पठति, तर्हि स्वाभाविकरूपेण तस्य एकाग्रतायाः भङ्गः भवति। अतः अस्यां स्थितौ पठनक्रमे एव वर्तमानविषयं त्यक्त्वा किमपि अन्यत् विषयवस्तु पठनीयम्। तेन पुनः एकाग्रतासम्पादने साहाय्यं भवति।

एकस्मिन् समये एकमेव कार्यम्– बहुधा अव्यवस्थितजीवनक्रमस्य कारणात् एकस्मिन् समये बहुत्र अवधानं देयं भवति। शनैः शनैः एषा अव्यवस्था जीवनशैल्याः अङ्गरूपेण परिवर्तते। तेन अवधानतायाः स्तरे न्यूनता आगच्छति। अतः यदि एकस्मिन् समये एकमेव कार्यं क्रियेत, तर्हि एकाग्रतायाः सम्पादनं कर्तुं शक्यते।

पर्याप्तनिद्रा– शारीरिकसामर्थ्यं पुनर्नवीकर्तुं सामान्यतया वैद्यकीयपरामर्शानुसारेण रात्रौ सप्तानां होराणां निद्रा आवश्यकी मन्यते। निद्रायाः अभावे एकाग्रतायाः समस्या भवति एव। अतः छात्रैः प्रसन्नचेतसा रात्रौ ब्राह्ममुहूर्तात् पूर्वं यावत् षण्णां सप्तानां वा होराणां निद्रा स्वीकरणीया।

हसनम्– एकाग्रतासंवर्धनाय हसनम् अपि एकः उपायः अस्ति। हसनेन अस्माकं शरीरे एण्डोर्फिन-हार्मोन इति ग्रन्थिरसस्य स्रावः भवति। येन शरीरे ऊर्जायाः सञ्चारः जायते। हसनेन निरन्तररूपेण क्रियमाणस्य कार्यस्य क्लान्तेः भङ्गः अपि जायते। प्रसन्नचेतसा यदि कश्चित् किमपि विषयवस्तु पठति, तर्हि मनसि तत् विषयवस्तु चिरकालं यावत् अङ्कितं जायते।

जलसेवनम्– शास्त्रेषु जलम् अपि औषधरूपेण वर्णितम् अस्ति। तत्र अथर्ववेदे जलचिकित्सायाः[19] सन्दर्भः अपि प्राप्यते। जलस्य सन्तुलितसेवनेन अस्माकं शरीरे रक्तसञ्चारः समीचीनतया भवति। जलसेवनेन अस्माकं शरीरं स्फूर्तियुक्तं जायते।

शुष्कफलानां सेवनम्– शुष्कफलानि यथा वातादफलम्, अक्षरकोष्ठफलम् इत्यादीनां सेवनेन एकाग्रतायाम् अभिवृद्धिः समायाति। नेत्रोपमफलरूपेण अपि वातादस्य प्रसिद्धिः अस्ति। आयुर्वेदानुसारेण शरीरे वाततत्त्वस्य कुप्रभावकारणात् स्मरणशक्तेः क्षीणतायाः समस्या जायते। वातादः वातरोगाणां वैरी (नाशकः) उक्तः अस्ति, यथा हि - वातादो वातवैरी स्यान् नेत्रोपमफलस्तथा।[20]

सकारात्मकं चिन्तनम्– प्रायः भयेन आशङ्कया वा एकाग्रतायां न्यूनता समवलोक्यते। अतः आवश्यकता भवति यत् एकाग्रतायै भयभावस्य सर्वथा त्यागः स्यात्। सकारात्मकचिन्तनेन एकाग्रतायां वृद्धिः जायते।

बुद्धिवर्धकानाम् औषधीनां सेवनम्– आयुर्वेदानुसारेण शङ्खपुष्पी इति औषधी मेधावर्धनी उक्ता अस्ति, यथा हि–

मेध्या विशेषेण च शङ्खपुष्पी।[21]
शङ्खपुष्पी सरा मेध्या वृष्या मानसरोगहृद्।[22]

अतः वैद्यकीयपरामर्शानुगुणं मेधावर्धकानाम् औषधानां सेवनेन एकाग्रता-भङ्गस्य समस्यायाः उपशमनं भवितुम् अर्हति।

कण्ठस्थीकरणस्य उपाया–

यदि बालकस्य संस्कृतभाषायाः सम्भाषणकौशलं भवेत्, तर्हि आवश्यकतानुसारेण संस्कृतेन कण्ठस्थीकरणम् अतिकठिनम् अपि नास्ति। अतः आवश्यकता अस्ति यत् बालकः प्रथमतया संस्कृतभाषायाः व्यावहारिकं दैनन्दिनं प्रयोगं कर्तुं योग्यतां प्राप्नुयात्। भाषायाः ज्ञानेन बालकः विषयस्य अर्थज्ञानं कर्तुं शक्नुयात्। तेन विषयम् अवगम्य विषयस्य यथावत् हृदयङ्गमनं कर्तुं तस्य अधिकः क्लेशः न स्यात्। भाषायाः सम्प्राप्तेः पश्चात् एकाग्रतायाः बलेन बालकः स्वस्तरानुगुणं कण्ठस्थीकरणं सारल्येन कर्तुं शक्नोति।

अत्र एतदर्थं केचन व्यावहारिकाः उपायाः सूच्यन्ते–

दृश्यसङ्कल्पनम्– प्राथमिककक्षासु वर्णमालाशिक्षणक्रमे क कपोतः, ख खगः, ग गणेशः, घ घटः इति आवृत्तिकाले पाठ्यपुस्तकेषु कपोतः, खगः, गणेशः, घटः इत्यादीनां चित्राणि अपि प्रस्तूयन्ते। एतेषां चित्राणां प्रयोजनं दृश्य-सङ्कल्पनमेव अस्ति। कालान्तरे बौद्धिकसामर्थ्यस्य वृद्धौ चित्रैः विना अपि विषयः स्मृतः भवति। यदि नूतनः विषयः स्मरणीयः चेत् विषयेण सम्बद्धं किमपि मानसिकं चित्रं मानसपटले निर्माय प्रत्यास्मरणं कर्तुं शक्यते।

लेखनावर्तनम्– यदि एकः एव विषयः बहु वारं लिख्येत, तर्हि लेखनस्य आवृत्तिकारणात् तस्य विषयस्य स्मरणं जायते।

कश्चन अन्यः अपि पाठनीय– कण्ठस्थीकरणाय एषः उत्तमः उपायः भवति। अनेन आत्मविश्वासस्य समुत्पत्तिः जायते। पाठने तादृशाः संशयाः अपि आयान्ति, ये स्वतः पठने प्रादुर्भूताः न स्युः। ये संशयाः जायन्ते, तेषां समाधानं गुरुमुखात् ज्ञात्वा प्राप्तज्ञानस्य दृढीकरणमपि जायते।

सङ्केताक्षरैः विषयस्य लघ्वीकरणम्– संस्कृतश्लोकानां बहुवारं पारायणं कृत्वा प्रत्येकं चरणस्य प्रथमाक्षरं स्वीकृत्य सूत्ररूपेण एकं सार्थकं निरर्थकं वा नूतनं कूटशब्दं निर्माय पद्यसंस्मरणं कर्तुं शक्यते। यथा–

उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे ।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः ।।

अस्य श्लोकस्य कण्ठस्थीकरणे चरणानां पूर्वापरव्यतिक्रमः न स्यात् इत्येतदर्थं प्रत्येकं चरणस्य प्रथमम् अक्षरं स्वीकृत्य उ द रा य इति कूटशब्दं निर्माय उ इत्यनेन उत्सवे व्यसने चैव, दु इत्यनेन दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे इत्येवं क्रमेण संस्मरणं कर्तुं शक्यते।

दैनिकपारायणम्– दैनिकपारायणं कण्ठस्थीकर्तुं निश्चयेन फलदायकं भवति। उदाहरणार्थं भारतस्य प्रत्येकं नागरिकः राष्ट्रगानं जानाति, किन्तु तत् राष्ट्रगानं पुस्तकात् अधीत्य कण्ठस्थीकृतवतां जनानां संख्या अधिका न स्यात्। प्रायशः प्रतिदिनं विद्यालये राष्ट्रगानस्य पारायणेन अनायासरूपेण एव राष्ट्रगानं सर्वेषां मुखे लसति। अतः दैनिकपारायणेन कण्ठस्थीकरणं जायते इति निश्चितम्।

अद्यत्वे दैनिकपारायणनिमित्तं श्रव्योपकरणानां यथा ध्वन्यभिलेखयन्त्रम्, चलभाषध्वन्यभिलेखनम् इत्यादीनां कारणतः महत् सौविध्यं जातम्। छात्रः तत्र अङ्कितं ध्वनिं बहुपर्यायेन श्रुत्वा दैनिकपारायणं कर्तुं शक्नोति। पारायणस्य अनेके प्रकाराः भवितुम् अर्हन्ति, यथा–

1. विषयवस्तुनः पौनःपुन्येन आद्योपान्तपठनात्मकं पूर्णं पारायणम्।
2. विषयवस्तु खण्डेषु विभज्य खण्डशः पठनरूपं खण्डितं पारायणम्।
3. प्रथमं पूर्णपारायणं ततः खण्डितपारायणम् इति मिश्रितं पारायणम्।
4. विभक्तस्य पाठ्यवस्तुनः प्रथमखण्डेन सह द्वितीयखण्डस्य, द्वितीय-खण्डेन सह तृतीयखण्डस्य इत्येवंरूपेण प्रगतिशीलं पारायणम्।
5. निश्चितकालखण्डस्य व्यवधानं दत्त्वा पुनः पुनः पारायणम्।
6. विषयवस्तुनः उच्चैः शब्दं कृत्वा सघोषपारायणम्।
7. विषयवस्तुनः शब्दघोषणया विना मौनेन पारायणम्।
8. संस्कृतश्लोकानां छन्दोज्ञानं कृत्वा तदनुसारेण गेयतानुकूलं पारायणम्।

यद्यपि पाणिनीयशिक्षायाः **गीती शीघ्री शिरः**[23] इत्यादिवचनानुसारेण तु छन्दश्शास्त्रं विहाय सामान्यं वाक्यं पदं वा गीत्वा गानस्य निन्दा कृता अस्ति, तथापि अभ्यासदशायां केनापि रागेण शब्दरूपाणां धातुरूपाणां कण्ठस्थीकरणस्य वैयक्तिकप्रयासे ऐकान्तिकप्रयासे वा आपत्तिः नास्ति। यतो हि गीतरागः मुखे त्वरिततया आरूढः भवति। अतः अन्तर्मुखेन शब्दरूपाणां

धातुरूपाणां च छन्दोगानं कर्तुं शक्यते। अन्यस्य कस्यचित् पुरतः तु सामान्येन पदवाचनविधिना एव शब्दरूपाणां धातुरूपाणां च पाठः करणीयः।

सारांश–

पूर्वानुभूतज्ञानस्य पश्चात्काले चेतनावस्थायां यथावत् प्रकटीकरणं स्मृतिः इत्युच्यते। अग्रिमं ज्ञानं प्राप्तुं पूर्वज्ञानस्य स्मृतिः अनिवार्या भवति। अतः ज्ञानार्जनाय तीक्ष्णस्मृतेः अतीव महत्त्वमस्ति। कण्ठस्थीकरणमपि स्मृतेः एव कश्चन विशेषः प्रकारः अस्ति। संस्कृतभाषायाः विषये प्रायशः जनानां भ्रमः अस्ति यदत्र अध्ययनाय कण्ठस्थीकरणम् अनिवार्यमस्तीति परन्तु एषः भ्रमः आधारहीनः अस्ति। वस्तुतः अत्र कण्ठस्थीकरणं लाघवार्थमस्ति, न तु गौरवार्थम्। एतत् तथ्यं शब्दरूपाणि, धातुरूपाणि सुभाषितानि च इत्यादिषु प्रत्यक्षमपि भवति। शास्त्रेषु केवलम् अर्थज्ञानपूर्वकं कृतं कण्ठस्थीकरणमेव प्रशस्तमस्ति। अर्थज्ञानेन विना कृतं कण्ठस्थीकरणं शास्त्रेषु निन्दितम् अस्ति।

सहायकग्रन्थाः–

1. देवनाथः, रा.; उपाध्यायः, भुवनेशश्च (1992); व्याकरणशिक्षणविधयः, भारतीयविद्यासंस्थानम्, वाराणसी।
2. शर्मा, एन.एल. (2012); भूलना भूल जाओगे, द मेमोरी गुरु ऑफ इण्डिया, कानपुर।
3. सिन्हा, सूर्या (2009); अपनी याददाश्त कैसे बढाएँ, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली।
4. स्वामी, पुरुषोत्तमानन्द (2018); विद्यार्थियों के लिए एकाग्रता का रहस्य, रामकृष्ण मठ, नागपुर।
5. Sandau Vivian (2014); How to Improve Concentration and Focus, LC Publish U.S.

---

1. सुभाषितरत्नभाण्डागारम्, सामान्यनीतिः, 431
2. भोजप्रबन्धः, 4
3. ऐतरेयोपनिषद्, 3/1/2
4. ऐतरेयोपनिषदः शाङ्करभाष्यम्, 3/1/2
5. हेमचन्द्राचार्यस्य अभिधानचिन्तामणिः, 2/225
6. निरुक्तम्, 1/6
7. व्याकरणमहाभाष्यम्, पस्पशाह्निकम्
8. ऋग्वेदः, 10/71/4
9. महाभारतम्, शान्तिपर्व, 305/13
10. तत्रैव, 305/94

11. ब्रह्मबिन्दूपनिषद्, 1/2
12. पञ्चीकरणवार्तिकम्, 34
13. श्रीमद्भगवद्गीता, 3/7
14. तत्रैव, 6/11
15. तत्रैव, 6/12
16. तत्रैव, 6/13
17. भावप्रकाशः 5/15
18. भावप्रकाशसारः, 93
19. अथर्ववेदः, 2/27/6
20. भावप्रकाशः, आम्रादिवर्गः, वातादः।
21. चरकसंहिता, रसायनाध्यायः, 3/31
22. भावप्रकाशः, गुडूच्यादिवर्गः, 269
23. पाणिनीयशिक्षा, 32

आचार्यः शिक्षाशास्त्रम्
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
नव-देहली ।

वेदार्थनिर्णये अग्नितत्त्वविमर्शः

– डॉ. कृष्णमोहनपाण्डेयः

(मन्त्र के ऋषि देवता और छन्द के ज्ञान के विना मन्त्र पाठ का फल प्राप्त नहीं होता। इसलिए इन तीनों का ज्ञान आवश्यक है। मन्त्र की द्रष्टा ऋषियों को मन्त्रों का अर्थ ज्ञात था। उन अर्थों का बोध करना साधारण मनुष्य के लिए कठिन है। अतः ऋषियों का नाम ग्रहण कर उनके तात्पर्य का ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार मन्त्र पाठ से पूर्व देवता का ज्ञान होना भी आवश्यक है। जब तक हमें यह ज्ञात नहीं होगा कि इस मन्त्र का देवता कौन है तब तक उसके समक्ष प्रस्तुत होकर उस मन्त्र के पाठ का कोई फल प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार मन्त्र में छन्द क्या है यह भी जानना आवश्यक होता है। क्योंकि छन्दज्ञान के अभाव में मन्त्र पाठ के समय दोष सम्भव होता है। इसलिए इन तीनों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है उनमें मन्त्र के देवता के सन्दर्भ में अग्नि देवता का स्वरूप किस प्रकार हम जानते हैं और उसके स्वरूप से मन्त्र के अर्थ का ज्ञान किस प्रकार होता है यही इस शोधपत्र में प्रस्तुत किया गया है।)

मन्त्राणां ऋषि-देवता-छन्दोज्ञानं विना तत्पाठफलं न लभते अतो निश्चयेन एतत्त्रयं सायासेन ज्ञातव्यमेव। ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः अर्थज्ञातारश्च अतः तेषामर्थदृष्टिं प्राप्तुं नामस्मरणमात्रेण तदर्थं ज्ञातुं सप्रयत्नो भवामः। मन्त्राणां रहस्यं पारयितुमसमर्था मानवाः अतो ऋषीणां नामस्मरणेन तदर्थं कल्पयामः। एवमेव यावत् मन्त्राणां देवता का इति ज्ञानं न भवति तावत् कस्य समक्षं तस्य मन्त्रस्य पाठः करणीयः इत्यपि बोधाभावः अतः मन्त्रस्य देवता का इति ज्ञातव्यमेव। अनेनैव प्रकारेण मन्त्रे किं छन्दः इत्यपि ज्ञातव्यमेव छन्दोज्ञानं विना मन्त्रपाठातिक्रमणं भवितुं शक्नोत्येव अतो मन्त्रस्य छन्दोज्ञानमावश्यकम्। अतः मन्त्रस्य देवताज्ञानं कथं भवितुं शक्नोति इत्यत्र विमर्शः प्रतिपादितः। वेदार्थज्ञानं विना वेदपाठः निरर्थकः अतः सर्वसिद्धसिद्धान्तोऽयं शास्त्रैः प्रचारितः यत् मन्त्रोच्चारणसमये ऋषिदेवताच्छन्दसां ज्ञानमनिवार्यम्।

नियमोऽयं जपे होमे ऋषिश्छन्दोऽथ दैवतम् ।
अन्यथा चेत्प्रयुंजानस्तत्फलाच्चात्र हीयते ।।[1]
ऋषिच्छन्दो दैवतादिज्ञानं यज्ञादिषु श्रुतम् ।
तदाश्रित्य प्राणदृष्टिः विहितात्रेति गम्यताम् ।।[2]
अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च ।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयान् जायते तु सः ।।[3]

अविदितार्षच्छन्दमन्त्रेण ब्राह्मणेन याजयति वा अध्यापयति वा स्थाणुं वाऽर्च्छति गर्तं वाऽपपद्यते।[4] एवं मन्त्राणां प्रयोगसमये ऋषिदेवताच्छन्दसां ज्ञानमनिवार्यमत्र मन्त्राणां देवताः अभिधेयाः भवन्ति। मन्त्रसम्बन्धि देवज्ञानं विना मन्त्रस्य तात्पर्यार्थो न लभ्यते। अतः मन्त्रपाठसमये देवताज्ञानमावश्यकम्। एवमेव छन्दसां ज्ञानेन पापान्मुक्तो भवति। छन्दांसि स्वराणां नियन्त्रकानि भवन्ति। स्वराणामपघातेन पापो वर्द्धते यथा–

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ।।[5]

वेदार्थज्ञानाय मन्त्रेषु स्तुतदेवानां ज्ञानमपरिहार्यम्। यावत् मन्त्रे स्तुतदेवानां पदस्य सांगोपांगार्थज्ञानं न प्राप्यते तावत् सम्पूर्णे मन्त्रे प्रयुक्तानां सर्वेषां पदानामर्थज्ञानं न भवितुमर्हति। सहैव तत्र प्रयुक्तानां देवताविशेषण-वाचकपदानामन्वयमपि न कर्तुं शक्यते। अत एव मन्त्रे प्रयुक्तस्य देवतावाचकपदस्य प्रकृतिप्रत्ययोपसर्गनिर्वचनादिसर्वविधसाधनेभ्यो देवतावाचकपदस्यार्थज्ञानमवश्यमेव कर्तव्यम्। मन्त्रार्थज्ञानं विना मन्त्रफलं नैव प्राप्यते। मन्त्रार्थज्ञानाभावस्य निन्दा बहुशः प्रसिद्धा वर्तते। यथा–

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञः इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ।।[6]

तथैव पुनः यास्केनोच्यते–

यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।
अनग्नाविव शुष्केधौ न तज्ज्वलति कर्हिचित् ।।[7]

एवमर्थाभावस्य सर्वत्र निन्दा विहिता। अर्थज्ञानस्य तथैव प्रशंसा अस्ति–

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः श्रृण्वन्न श्रृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ।।[8]

ऋग्वेदस्य मन्त्रस्यास्य भावोऽयं गृह्यते। दुर्गाचार्यः स्वदुर्गवृत्तौ व्याख्यां प्रस्तौति यत् उत शब्दोऽपि शब्देन समानार्थः। त्व एक इत्यर्थः। पश्यन् अपि वाचं मनसा न ददर्श न पश्यत्येव। अर्थानभिज्ञत्वात्। स हि तां सम्यक् पश्यति यस्तस्या अर्थं विजानाति। अर्थपरिज्ञानफला हि वागित्यभिप्रायः। एवमेकः श्रृण्वन् अपि न श्रृणोति एनां वाचम्। एवमर्धमर्द्धर्चेन अविद्वांसमाह मन्त्रदृक्। साम्प्रतमुत्तरेणार्द्ध-र्चेनार्थज्ञं प्रशंसनमाह उतो त्वस्मै अप्येकस्मै कस्मैचिदर्थज्ञाय, तन्वं शरीरं विसस्रे विवृणोतीत्यर्थः अर्थो वाचः शरीरं प्रकाशनमर्थस्याहानया वाचा अनेन तृतीयेन पादेनेत्यर्थः जायेव पत्य उशती सुवासाः। यथा हि जाया

विवृत्तसर्वांगावयवा भूत्वा उशती कामयमाना। पत्ये इष्टाय भर्त्रे प्रेम्णा दर्शयेदात्मानम्। तदा सः पुरुषो यथा पश्यति तां स्त्रियम्। एवं सा एवैता वाचं यथावत् श्रृणोतीति अर्थज्ञप्रशंसा।

पुनः ये जनाः तत्वं रहस्यं मन्त्रार्थं जानन्ति ते एव स्वर्गं प्राप्नुवन्ति तेषां प्रशंसनमपि प्रस्तौति ऋग्वेदः–

उत त्वं संख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैश वाचं शुश्रुषां अफलामपुष्पाम्।।[9]

अत्र देवसख्ये रमणीये स्थाने देवलोके। विपरीतार्थम् गृहीतार्थमित्यर्थः। वाक् ऋक्संहिता किं च एवं वागर्थज्ञं न हिन्वन्ति नानुगन्तुं शक्नुवन्ति। वाजिनेषु वाग्ज्ञेयेषु अर्थेषु मनोबुद्धयो बहवोऽपि। एवं तावदर्थज्ञः प्रशस्तः। अथेदानीमविद्वानुत्तरेणार्द्धर्चेन निन्द्यते अधेन्वा चरति यस्या अर्थो न परिज्ञायते तामधीयान इतश्चेतश्चरति यः तस्मै किम्, अफलैवाऽपुष्पा च वाग् भवतीति। अथवा किंचित् पुष्पफलेति वा। किं कारणमस्ति ह्यध्ययनमात्रेऽपि किंचिदल्पं फलम्। नासौ परिश्रमो व्यर्थ एवेति भाष्कराभिप्रायः। आह- किं पुनर्वाचः पुष्पफलम्। उच्यते अर्थ वाचः पुष्पफलमाह एतस्मिन्मन्त्रे मन्त्रदृक्। याज्ञदैवते पुष्पफले दैवताध्यात्मे वा। यज्ञपरिज्ञानं याज्ञम् देवतापरिज्ञानं दैवत्, यदा अभ्युदयलक्षणोऽधर्मोऽभिप्रेयते तदा याज्ञं पुष्पं दैवतं फलम्। यदा पुनर्निश्श्रेयसलक्षणो धर्मोऽभिप्रेयते। तदा इमे याज्ञदैवते पुष्पम् अध्यात्मं फलमित्युक्तम्।

यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामर्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति। निरुक्तवचनस्य भावोऽयं गृह्यते यत् यमर्थं कामयमानः ऋषिर्यस्यां देवतायामाभिष्टुतायामार्थपत्यम् अर्थपतिभावं स्वामित्वमिच्छन् अमुष्या देवतायाः प्रसादेनाहममुष्यार्थस्य पतिर्भविष्यामीत्येतां बुद्धिं पुरोधाय स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवताक एव समन्त्रो भवति। एतन्मन्त्रे देवताज्ञानलक्षणम्।

सृष्टिक्रमदृष्ट्या अग्निरेवादौ बभूव। अग्निरुपेणैव साक्षादवतरितं ब्रह्म। अग्निर्यज्ञस्य विधाता सर्वशक्तिसम्पन्नो विधीनां कर्त्ताऽस्ति–

अग्निदूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्।।[10]

अग्निर्वै सर्वा देवता। इति ब्राह्मणवचनात् अग्नि एव प्रमुखो देवः। देवेषु अयमेव प्रथमः। यथा निरुक्ते यास्केन निगदितम्। अग्निः अग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते। अंगं नयति सन्नममानः। अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः। न क्नोपयति न स्नेहयति।[11] त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायते इति शाकपूणिः। इतात् अक्तादग्धाद्वा

नीतात्। स खल्वेतेरकारमादत्तेर्वा दहतेर्वा नीः परः।[12] दुर्गाचार्यः स्ववृत्तौ स्फोटयति यत् त्रयाणां धातूनामभिधेयाः क्रिया अत्र लक्ष्यन्ते। तद्यथा इतात् इण् गतौ इत्यस्मादित्यर्थः। अक्तात् दग्धाद्वा अनक्तेर्वा दहतेर्वा विकल्प एतयोः। ततः नीतात् णीम् प्रापणे इत्येतस्मात् स खलु शाकपूणिराचार्य एतेः धातोः अकारम् आदत्ते गकारम् अनक्तेर्वा दहतेः कृतकृत्व, जश्त्व कृतघत्व, जश्त्वयोर्विकल्पेन नीः परः एश ह्रस्वः एति च व्यनक्ति च रूपाणि। अथवा एति च दहति च नयति च हवींषि देवेभ्य इत्यग्निः। अग्नेः आदिमत्वं सर्वत्र यथा ऐतरेय ब्राह्मणे आदौ एवोक्तम् अग्निर्वै देवानामवमः।[13] तत्रैवाग्रे उल्लिखितो वर्तते यत् अग्निर्वै सर्वा देवता। प्रसंगेऽस्मिन् तैत्तिरीयाः पौरोडाशिके काण्डे समामनन्ति ते देवा अग्नौ तनूः सन्यदधत तस्मादाहुः अग्निर्वै सर्वा देवता। सौमिके काण्डेऽपि श्रूयते देवासुराः संयत्ता आसन् ते देवा विभ्यताऽग्निं प्राविशन् तस्मादाहुः अग्निः सर्वा देवता। अतएव सर्वादौ तस्यावाहनम् अष्टाकपाल आग्नेयः अष्टाक्षरा वै गायत्री गायत्रमग्नेश्छन्दः। अग्निः प्रवृत्तिनिमित्तादग्निशब्देन देवताभिधीयते अतएवाग्निः अग्रणीः। देवसेनायामग्रे स्वयं नयतीत्यग्रणीः। यथोक्तम्

अग्निर्वै देवानां सेनानी ।
तथा च अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानामिति ।[14]
अग्निर्वै देवानामवमः ।[15]

पुनः तैत्तिरीयाः आमनन्ति अग्निरग्रे प्रथमो देवतानामिति।[16] अन्यत्रापि अग्निरवमो देवतानामिति।[17] वाजसनेयिनस्त्वेवमामनन्ति स वा अग्रे देवतानामजायत तस्मादग्निर्नामेति। बृहद्देवता देवताज्ञानविषयकं रहस्यमुद्घाटयति। यथा सूर्यः स्वमग्निरुपेण त्रिधा विभज्य त्रिषु लोकेषु प्रतिष्ठितः। स एव सर्वान् देवान् रश्मिभिः प्रकाशयति।

कृत्वैष हि त्रिधात्मानम् एषु लोकेषु तिष्ठति ।
देवान्यथायथं सर्वान् निवेश्य स्वेषु रश्मिषु ।।[18]

अग्निः सर्वेषु लोकेषु सर्वपदार्थेषु स्वं त्रिधा विभज्य स्थिता वर्तते। तस्य त्रिविभक्तस्याग्नेः स्वरुपस्य विवेचनं ऋषयो विविधमन्त्रैः कुर्वन्ति।

एतद्भूतेषु लोकेषु अग्निदूतं स्थितं त्रिधा ।
ऋषयो गीर्भिरर्चन्ति व्यंजितं नामभिस्त्रिभिः ।।[19]

स एवाग्निः प्रत्येकेषु प्राणिषु भूतेषु वा जठरे ज्वलन् तिष्ठति।

तिष्ठत्येष हि भूतानां जठरे जठरे ज्वलन् ।
त्रिस्थानं चैनमर्चन्ति होत्रायां वृक्तबर्हिषः ।।[20]

अग्नेः त्रिषु लोकेषु पृथक्पृथक्सम्बोधनमस्ति। अस्यां पृथिव्यां पुरोहिताः पवमानोऽग्निः इति कथयन्ति। अन्तरिक्षलोके सोऽग्निः अग्निर्वनस्पतिः कथ्यते। तथैव दिव्यलोके अग्निः शुचिः इति विधीयते। इहैष पवमानोऽग्निः मध्यमोऽग्निर्वनस्पतिः।

अमुष्मिन्नेव विप्रैस्तु लोकेऽग्निः शुचिरुच्यते।[21] ऋषयः त्रिषु लोकेषु अग्नेः पृथक्पृथक्नाम्ना स्तवनं कुर्वन्ति। यथा पृथिव्यां सः अग्निरुपेण स्तूयते। मध्यलोके सः जातवेदस्वरुपेण स्तुतः। तथैव दिव्यलोके अग्निः वैश्वानरः इति कथ्यते।

इहाग्निभूतस्त्वृषिभिर् लोके स्तुतिभिरीळितः ।
जातवेदा स्तुतो मध्ये स्तुतो वैश्वानरो दिवि ।।[22]

तात्पर्यमिदं यत् मन्त्रेषु प्रयुक्तदेवताशब्दो विशेषार्थवाचको भवति। देवतावाचकशब्दानां सहायकाः अन्यविशेषणवाचकशब्दाः तस्य विशेष्यवाचक-पदस्यार्थज्ञानाय स्वसामर्थ्यमर्पयन्ति। एतादृशे सति विशेष्यपदवाच्यस्य देवताशब्दस्य मुख्यार्थः अवश्यमेव ज्ञातव्यः। अनन्तरं तस्य विशेष्यस्य अन्यानि विशेषणानि स्वार्थस्य सम्यक्तया प्रकाशनं कुर्वन्ति। पदानां निश्चितार्थप्रतिपादनाय यास्कपाणिनि-प्रभृतिप्राचीनमुनिभिः सर्वं समर्पितम्। मन्त्रपाठसमये देवताछन्दर्षिज्ञानमावश्यकम्। मन्त्राणामर्थः निश्चितो विनियोगोऽपि निश्चितः। तत्र देवताछन्दज्ञानस्योपयोगिता सामान्येन ग्राह्या भवति किन्तु मन्त्रस्यास्य ऋषिः कः इत्यस्य प्रश्ने सति ऋषेः औचित्यं किमिति विचारणे तस्य अर्थेन सह सम्बन्धः इति ज्ञायते। मन्त्रपाठसमये यदा मन्त्रस्यार्थज्ञानं नास्ति चेदनुचितम्। अत्र दोषपरिहारार्थं मन्त्रपाठसमये मनसि एवं निधाय यत् योऽर्थ ऋषेरभीष्टः आसीत् सोऽर्थः मम कृतेऽपि अभीष्टः। एवं मन्त्रार्थज्ञानविनापि अर्थज्ञानराहित्यस्य दोषात् मुक्तो भवति।

---

1. (बृहद्देवता-1.34), सम्पादकः- राम कुमार राय, प्रकाशकः- चैखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी, द्वितीय संस्करण विक्रम संवत् 2046
2. (बृहद्देवता-1.35), सम्पादकः- राम कुमार राय, प्रकाशकः- चैखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी, द्वितीय संस्करण विक्रम संवत् 2046
3. (बृहद्देवता-1.36), सम्पादकः- राम कुमार राय, प्रकाशकः- चैखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, द्वितीय संस्करण विक्रम संवत् 2046
4. (आर्षेय ब्राह्मण 1.1) मूलमात्रम्
5. (पाणिनीय शिक्षा-52) पाणिनीय शिक्षा, सम्पादकः- बालकृष्ण शर्मा, प्रकाशकः- कालिदास अकादमी, उज्जैन प्रकाशन, वर्ष-विक्रम संवत् 2050
6. निरुक्तम् 1-5-2 निरुक्त, सम्पादकः- भगीरथ शास्त्री, प्रकाशकः- मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष 1963

7. निरुक्तम् 1-5-3 निरुक्त, सम्पादकः- भगीरथ शास्त्री, प्रकाशकः- मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष 1963
8. (ऋग्वेद 10.71.4), सम्पादकः- श्रीराम शर्मा आचार्य, प्रकाशकः- ब्रह्मवर्चस् शान्तिकुंज हरिद्वार, प्रकाशन वर्ष 2002, पंचम संस्करण
9. (ऋग्वेद 10.71.5), सम्पादकः- श्रीराम शर्मा आचार्य, प्रकाशकः- ब्रह्मवर्चस् शान्तिकुंज हरिद्वार, प्रकाशन वर्ष 2002, पंचम संस्करण
10. (ऋग्वेद 01.12.01), सम्पादकः- श्रीराम शर्मा आचार्य, प्रकाशकः- ब्रह्मवर्चस् शान्तिकुंज हरिद्वार, प्रकाशन वर्ष 2002, पंचम संस्करण
11. निरुक्तम् 7-14-2, सम्पादकः- भगीरथ शास्त्री, प्रकाशकः- मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष 1963
12. निरुक्तम् 7-14-3, सम्पादकः- भगीरथ शास्त्री, प्रकाशकः- मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष 1963
13. ऐतरेय ब्राह्मण 1.2, सम्पादकः- डॉ. सुधाकर मालवीय, प्रकाशकः- तारा बुक एजेन्सी वाराणसी, प्रकाशन वर्ष 1996 द्वितीय संस्करण
14. ऐतरेय ब्राह्मण 1.4 ऐतरेय ब्राह्मण, सम्पादकः- डॉ. सुधाकर मालवीय, प्रकाशकः- तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी, प्रकाशन वर्ष 1996 द्वितीय संस्करण
15. ऐतरेय ब्राह्मण 1.1 सम्पादकः- डॉ. सुधाकर मालवीय, प्रकाशकः- तारा बुक एजेन्सी वाराणसी, प्रकाशन वर्ष 1996 द्वितीय संस्करण
16. तैत्तिरीय ब्राह्मण 2.4.3 सम्पादकः- महादेव शास्त्री, प्रकाशकः- मोतीलाल बनारसी दास वाराणसी, प्रकाशन वर्ष 1990
17. (तैत्तिरीय संहिता 5.5.1) सम्पादक एवं प्रकाशकः- श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, भारत मुद्रणालय सतारा, मुम्बई, प्रकाशन वर्ष 2001 विक्रम संवत्
18. (बृहद्देवता – 1.63) सम्पादकः- राम कुमार राय, प्रकाशकः- चैखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी, द्वितीय संस्करण, विक्रम संवत् 2046
19. (बृहद्देवता – 1.64) सम्पादकः- राम कुमार राय, प्रकाशकः- चैखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, द्वितीय संस्करण विक्रम संवत् 2046
20. (बृहद्देवता – 1.65) सम्पादकः- राम कुमार राय, प्रकाशकः- चैखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, द्वितीय संस्करण विक्रम संवत् 2046
21. (बृहद्देवता – 1.66) सम्पादकः- राम कुमार राय, प्रकाशकः- चैखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, द्वितीय संस्करण विक्रम संवत् 2046
22. (बृहद्देवता – 1.67) सम्पादकः- राम कुमार राय, प्रकाशकः- चैखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, द्वितीय संस्करण विक्रम संवत् 2046

सहाचार्यः संस्कृतप्राच्यविद्याध्ययनसंस्थानम्
जवाहरलालनेहरुविश्वविद्यालयः
नव-देहली।

संस्कृते भारतीयज्ञानपरम्परा

– डॉ. अरविन्दकुमारतिवारी

(भारतीय ज्ञान परम्परा संसार की सभी ज्ञान परम्पराओं में उत्तम है। यह परम्परा **सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म** कह कर ज्ञान को सर्वोत्तम सिद्ध करती है। वेद, उपनिषद्, पुराण, रामायण, महाभारत एवम् अन्य आस्तिक शास्त्र विशेषत: परम पुरुषार्थ के लिए प्रेरित करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता का वचन है कि चार प्रकार के भक्त ईश्वर भजन करते हैं, आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। दार्शनिक जन संसार के दु:खत्रय से व्याप्त बताते हैं और आत्यन्तिक मोक्ष का मार्ग सांख्यादि को बताते हैं।

भारतीय ज्ञान परम्परा की सबसे बड़ी विशेषता है कि यह मानवीय गुणों के उत्थान के लिए सर्वथा सन्मार्ग की शिक्षा देती है। यह ज्ञान परम्परा सन्देश देती है कि धर्म मार्ग के द्वारा ऊर्ध्वलोक अर्थात् स्वर्ग की प्राप्ति होती है और अधर्म द्वारा अधोलोक प्राप्त होता है। ज्ञान ही एक ऐसी नौका है, जो प्रत्येक परिस्थिति में संसार सागर से पार लगाती है। इस शोध निबन्ध में भारतीय ज्ञान परम्परा के मूल स्रोतों पर प्रकाश डाला गया है। वेद से लेकर महाकवि कालिदास के प्रकृतिप्रेम को दर्शाने वाला यह निबन्ध कर्तव्य अकर्तव्य की प्रेरणा देता हुआ नैतिक मूल्यों का संवाहक भी है।)

श्रूयते विद्वन्मुखारविन्देभ्यो ज्ञायते शास्त्रपरिशीलनेन च यज्ज्ञानसूर्योदयो भारतदेशे एव सर्वप्रथमम् अभूदिति। चत्वारो वेदा हि ज्ञानराशिभूताः अद्यापि भारतस्य महिमानं मण्डयन्तो दृश्यन्ते। वेदशब्दस्य व्युत्पत्तिर्विद्धातोः अचि घञि कृते निष्पद्यते यस्य बहुष्वर्थेषु ज्ञानमपि गृह्यते। **आ ब्रह्मन्! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामित्यत्रापि**[1] ज्ञानस्यैव प्राधान्यमवलोक्यते। **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**[2] इत्यपि उपनिषद्वचो ज्ञानमेव ब्रह्मेति विज्ञापयति। श्रीमद्भगवद्गीता तु **सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसीति**[3] उक्त्वा ज्ञानस्य माहात्म्यं बोधयति। ज्ञानमस्ति यस्य स ज्ञानीति निगद्यते। श्रीमद्भगवद्गीता प्रमाणयति यदीश्वरं चतुर्विधा जना भजन्ते।

यथा– **चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोर्जुन !**
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ![4]

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते[5] इति वचनमपि श्रीमद्भगवद्गीताया अस्ति यदवगमयति जिज्ञासून् ज्ञानस्य महत्त्वमिति। ज्ञानिजन एव तत्त्वदर्शी मन्यते। **ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः**[6] इति श्रुतेः। सम्प्रति जिज्ञास्यते ज्ञानं नाम किम्? ज्ञानस्य स्वरूपं किमस्ति येन तत्त्वदर्शनं भवति? अस्या जिज्ञासायाः शमनार्थमेव वेदोपनिषत्परम्परा-नुगामिनो दर्शनग्रन्था ज्ञानस्य विषये पर्याप्तं

स्वस्वमतं प्रकटीकुर्वन्ति। ज्ञानशब्दस्य व्युत्पत्तिरेवं मन्यते। ज्ञायते येन विषयस्तज्ज्ञानमिति। सांख्यदर्शनं विवेकज्ञानमेव स्वीकरोति। येन पञ्चविंशतेस्तत्त्वानां विविच्य बोधो भवति। अत एवेदं सांख्यं समुद्घोषयति यत्–

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।
दृष्टे सापार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोभावात् ।।
दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ।। [7]

सांख्यदर्शनेन व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानमेव ज्ञानं मनुते यतः दुःखाभिभवो विधीयत इति। समुपसर्गपूर्वकाच्चक्षिङ् ख्याञ्धातोरणि कृते सांख्यशब्दो निष्पद्यते। यस्यार्थो भवति सम्यक् ख्यानम्। इदमेव प्रकृतिपुरुषविवेकनाम्नापि व्यह्रियते, विवेकबुद्धिः सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरपि कथ्यते। सांख्ये दुःखत्रयनिवृत्तिरेव परमपुरुषार्थ उच्यते। तत्प्रति सत्त्वपुरुषान्यताज्ञानमेव कारणं मन्यते सांख्यदर्शनं वृत्तिरध्यवसायो ज्ञानं प्रमाणमिति शब्दाः पर्यायवाचिनः सन्ति संख्यावतां दृष्टौ। यथोक्तं सांख्यतत्त्वकौमुद्यां यत्

अध्यवसायश्च बुद्धिव्यापारो ज्ञानम्। उपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्याम्, बुद्धेस्तमोभिभवे सति यः **सत्त्वसमुद्रेकः सोध्यवसायः इति वृत्तिरिति ज्ञानमिति चाख्यायते। इदं तावत् प्रमाणम्।**[8] सांख्यदर्शने तत्त्वाभ्यासात् विपर्ययसंशयरहितं यज्ज्ञानमुत्पद्यते तदेव अविशुद्धं ज्ञानं कथ्यते। यथा–

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ।। [9]

आत्मा ज्ञः पुरुषः सर्वथा गुणरहितो यदा तत्त्वाभ्यासात् आत्मानं प्रकृतेः पृथक् मन्यते तदैव विवेकज्ञानोदयो मन्यते। सांख्यदर्शनं योगदर्शनं च समानमेव ज्ञानपरम्परां स्वीकुरुतः। **दृष्टमनुमानमाप्तवचनमिति प्रमाणत्रयं सांख्यमंगीकरोति प्रत्यक्षानुमा-नागमाः प्रमाणमिति योगदर्शनमंगीकुरुते।**[10] इति सर्वमपि सुविदितमेव विदुषाम्। तदेव क्वचित् यथार्थम् अयथार्थमिति द्विविधं मतम्। यथार्थन्तु संशयविपर्ययशून्यं भवति, अयथार्थन्तु संशयविपर्यययुक्तमेव मन्यते। पुनरपि ज्ञानस्य द्वैविध्यं श्रूयते सविकल्पकनिर्विकल्पकनाम्नेति। सविकल्पकं ज्ञानन्तु नामजात्यादियोजनासहितं निर्विकल्पकन्तु बालमूकादिज्ञानं स्वीक्रियते। अनेन प्रकारेण दर्शनशास्त्रेषु भारतीया ज्ञानपरम्परा विलक्षणा दृश्यते। यथा सांख्ये तत्त्वविज्ञानं तथैव न्यायदर्शने प्रतिपदं ज्ञानराशिरेव कियन्तः पदार्थाः, किमेतेषां लक्षणम्, स्वरूपमिति अद्भुतं ज्ञानं न्यायदर्शने निहितमस्ति। यथा गन्धवत्वं पृथिव्या लक्षणम्। कियन्ति द्रव्याणि, तेषां लक्षणं स्वरूपं किं किमिति सर्वमपि

विचित्रमेव विज्ञानं न्यायवैशेषिकदर्शने निहितमस्ति। सर्वमपि दर्शनं ज्ञानमार्गेण गन्तव्यं परमपुरुषार्थं समीहते। चार्वाको वा स्यात्, जैनो वा भवेत्, बौद्धो वा भवेत्, सर्वत्र ज्ञानमीमांसा यथाशक्ति समुपलभ्यते। इमानि दर्शनशास्त्राणि मानवान् धर्ममार्गे नियोजयन्ति। यथा सांख्यमुपदिशति–

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण ।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ।।[11]

अर्थात् धर्मेण मानवो मुक्तिं विन्दति। धर्मशब्दस्य व्याख्याने आचार्याः वाचस्पतिमिश्रमहाशयाः लिखन्ति। यत् **धर्मोभ्युदयनिःश्रेयसहेतुः तत्र यागदानाद्य-नुष्ठानजनितो धर्मोभ्युदयहेतुः, अष्टांगयोगानुष्ठानजनितश्च निःश्रेयसहेतुः।। गुणपुरुषा-न्यताख्यातिर्ज्ञानम्।**[12] दार्शनिका जानन्ति यत् प्राणिलोकः स्वार्थपूर्तये अनर्थमाचरति। अतः धर्म एव करणीयः, **धर्मं चर**[13] इत्युपनिषद्वाक्यं स्मरणीम्। इदमेव लक्ष्यीकृत्य वैशेषिकैः **अथातो धर्मजिज्ञासा**[14] इति। योगदर्शनमपि मानवानां कल्याणायैव योगांगानि वर्णयति। योगमार्गगमनेन मोक्षावाप्तिरिति। तत्रादौ यमनियमानां पालनमतीव सुखदायकं मतम्। एतद्विशिष्टं ज्ञानमेवास्ति। यत्र **अहिंसा-सत्या-स्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहाणां**[15] ग्रहणं **शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानां**[16] नियमानां पालनं कियत् सुखं जनयतीति साधक एव सानन्दं वक्तुं शक्नोति। एत एव भावाः वेदे काव्ये उपनिषदि विलोक्यन्ते। पश्यन्तु भवन्तः।

मानवजीवने ज्ञानमेव सर्वमस्ति। यत्र यत्र सृष्टिर्वर्तते तत्र तत्र ज्ञानिनो जन्म लेभिरे किन्तु भारते या ज्ञानपरम्परा आसीत् अस्ति च सा सनातनज्ञानपरम्परा मन्यते। इयं मानवमूल्यानि वर्द्धयति। इयं ज्ञानपरम्परा शिक्षयति यत्–

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ।।[16]

भारतीया ज्ञानपरम्परा त्यागं समुपदिशति। अतएव उपनिषद् वक्ति यत्

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।[17]

भारतस्य ज्ञानपरम्परा चरित्रनिर्मात्री वर्तते अनादिकालादेव। चरित्रनिर्माणार्थं यादृशी ज्ञानपरम्परा भारते विलोक्यते न सा अन्यत्र क्वचिदस्तीति वक्तुं शक्नुमः। अतएवोक्तम्–

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमायाति याति च ।

अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ।।[18]

अस्मादेव कारणादुक्तं स्मृतौ यत्–

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ।।[19]

अत्र कश्चिन्मुनिः कस्यचिद् व्याधस्य बाणेन भूमौ लुठन्तं क्रौंचं विलोक्य कारुण्यपारावतरंगवद् समुच्छन् शपते यत्–

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ।।[20]

अस्य भारतवर्षस्य ज्ञानपरम्परामेव दर्शयन् समुद्घोषयति परोपकारं कर्तुम् अपकारं त्यक्तुं च। यथा–

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष नहि कश्चिच्छृणोति माम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ।।[21]

महाभारतं भारतीयज्ञानपरम्परायाः कोषो मन्यते। अतएव तु केनचिदुक्तं यत्–

नमोस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र ।
येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्ज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ।।[22]

भारतीयं ज्ञानम् आचारे व्यवहारे विलोक्यते यतोहि शास्त्रेषु निहितं ज्ञानम् आचार्यः शिष्येभ्यो ग्राहयति, स्वयमाचिनोति च तस्मादाचार्य उच्यते। अस्मादेव कारणाद् उपनिषदि आचार्यो वेदमनूच्य वक्ति यत् - **मातृदेवो भव पितृदेवो भव आचार्यदेवो भव अतिथिदेवो भव, यदि कर्मविचिकित्सा वृत्तविचिकित्सा वा भवेत् तत्र ये सम्मर्शिनो अलूक्षाः ब्राह्मणा ते यथा वर्तेरन् तथा वर्तितव्यम्।**[23] अतएवोच्यते-**महाजनो येन गतः स पन्थाः।**[24] एवमेव विचिन्त्य व्यवहारशिक्षकैरुक्तं यत्-**रामादिवद् वर्तितव्यं न रावणादिवत्।**[25] इमामेव भारतीयज्ञानपरम्परां पालयन् महाकविः कालिदासः पंचमहाभूतानां संरक्षणाय अभिज्ञानशाकुन्तलं विलिख्य श्रृंगारव्याजेन अद्भुतं ज्ञानमार्गमदर्शयत्। असौ जानाति स्म यत् मानवाः कथं शिक्ष्येरन्। अतः मंगलाचरणे एव मंगलाचरणमेव परिशील्यताम्। यथा–

या सृष्टिः स्त्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम् ।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ।।[26]

अयं महाकविः प्रकृतिसंरक्षणायैव जनिमलभतेति कदाचित् प्रतीयते। पर्यावरणं प्रति अस्य भावनां कदाचित् महर्षिं वाल्मीकिमपि अतिशेते। असौ महामुनिरादिकविस्तु ज्ञानपरम्परां सुमित्रव्याजेन श्रीरामवनगमनकाले लक्ष्मणाय ददानो ब्रूते–

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम् ।
अयोध्यामटवीं विद्धि तात गच्छ यथासुखम् ।। [27]

किन्तु महाकविः कालिदासस्तु प्रकृतिसंरक्षणस्य भारतीयज्ञानपरम्परां दर्शयन् सुस्पष्टं कण्वमुखेन ब्रवीति। यथा–

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् ।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ।।[28]

वनौकसोपि सन्तो लौकिकज्ञा वयमिति वाक्यं भारतीयज्ञानपरम्परामेव दर्शयति। अयं महाकविस्तु रघुवंशे ब्रूते।

अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोसौ वृषभध्वजेन ।
यो हेमकुम्भस्तननिस्सृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः ।।[29]

एकया एव घटनया कविः भारतीयज्ञानपरम्परां रक्षन् अपूर्वं कार्यं कुरुते। गोरक्षाव्याजेन वृक्षरक्षापि दर्शिता महाकविना कालिदासेन। इयमस्ति सनातन-ज्ञानपरम्परा भारतीयानामिति। अयि महानुभावा ज्ञानिनो भारतीयाः!

भारतीया ज्ञानपरम्परा कर्मवादाश्रिता वर्तते, भारतीया ज्ञानपरम्परा नैतिकमूल्यविभाविका विद्यते। भारतीया ज्ञानपरम्परा लोकसंग्रहशिक्षिका वर्तत इति भाषणे नास्ति सन्देहलेशोपि। वेदा वा स्युः, उपनिषदो वा स्युः, रामायण-महाभारत-पुराण-काव्यानि वा स्युः सर्वत्र भारतीया ज्ञानपरम्परा येन केन प्रकारेण निहिता दृश्यत एव। अस्माकं यज्ञे अरण्या अग्निप्रकटीकरणं भारतीयज्ञानपरम्पराया एव निदर्शनं कारयति। यज्ञेन धूमोद्भवस्तेन मेघोन्नतिस्ततो जलवृष्टिरपि भारतीयां ज्ञानपरम्परामेव दर्शयति। यस्मिन् काले भूमण्डले जनानां परिचय औषधविज्ञानस्य नासीत् तदानीं भारते आयुर्वेदो विश्रुत आसीदिति श्रूयते। नाडीस्पर्शमात्रेण वैद्याः रोगान् ज्ञातुं शक्नुवन्ति स्म। विद्युच्चमत्कृत्या झंझायाः वृष्टेर्वा अनुमानं कुर्वन्ति स्म। वंशिकया मधुरं वेणुनादं कारं कारं जनान् विमोहयन्ति स्मेति नातिचित्रम्। मन्त्रप्रभावेण आग्नेयास्त्रस्य प्राप्तिः प्रक्षेपो विच्छेदश्चेति सर्वं क्रियते स्म। इदमासीद् भारतीयज्ञानपरम्पराया वैशिष्ट्यम्। तपसा महता जनः अपरिमतं बलमवाप्नोति स्म। अनेका विद्याः

अनेकाः कलाः संस्कृते निहिताः नीतिग्रन्थाश्च भारतीयां ज्ञानपरम्परामेव दर्शयन्ति। आकाशवदपरिमितं विषयमिमं स्पृशन् दिङ्मात्रेण यथेच्छं क्रममपहायैव वक्तव्यं प्रस्तौमि।

नेदमेव अपितु व्याकरणादिशास्त्रेषु यो नवाचारः कालान्तरे आरब्धः स तु विलक्षण एव भाति। साम्प्रतं जनाः कोलाहलं कुर्वन्ति यत् अयं नवाचारः अयं नवाचार इति। किन्तु कुचुटुतुपु एते उदिताः, वर्णानाम् उच्चारणस्थानानि भारतीयां ज्ञानपरम्परामेव दृग्गोचरीं कारयन्ति। प्रत्याहारविज्ञानं किं भारतीयज्ञानपरम्परायाः निदर्शनं न कारयति। सम्पूर्णमपि व्याकरणं पाणिनिपतंजलिकात्यायनादिवैयाकरणानां विशालं बुद्धिमेव समुपस्थापयति। इयमेवास्ति भारतीया ज्ञानपरम्परा। केन प्रकारेण वर्णा उच्चारणीयाः इत्यपि विलक्षणमेवास्ति शिक्षाग्रन्थेषु।

यथा– **व्याघ्री यथा हरेत्पुत्रान् दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत् ।**
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद्वर्णान् प्रयोजयेत् ।।[30]

सन्दर्भग्रन्थाः–

1. वेद
2. उपनिषद्
3. श्रीमद्भगवद्गीता
4. श्रीमद्भगवद्गीता
5. श्रीमद्भगवद्गीता
6. सांख्यकारिका 1
7. सांख्यकारिका 2
8. सांख्यतत्त्वकौमुदी 5
9. सांख्यकारिका 68
10. योगसूत्रम् 1-7
11. सांख्यकारिका 44
12. सांख्यतत्त्वकौमुदी 23
13. तैत्तिरीयोपनिषदः शीक्षावल्ली
14. मीमांसासूत्रम् 1
15. योगसूत्रम् 2-30
16. ऋग्वेदः 10 81 2
17. ईशावास्योपनिषद् 3
18. मनुस्मृति

19. मनुस्मृति 2-22
20. वाल्मीकिरामायणम्
21. महाभारतं स्वर्गारोहणपर्व 5-62
22. ब्रह्मपुराणं 138/11
23. शीक्षावल्ली
24. महाभारतम्
25. काव्यप्रकाशः प्रथम उल्लासः
26. अभिज्ञानशाकुन्तले, मंगलाचरणम्
27. वाल्मीकिरामायणे
28. अभिज्ञानशाकुन्तले चतुर्थांके
29. रघुवंशे द्वितीयसर्गे श्लोकसंख्या 14
30. पाणिनीयशिक्षाग्रन्थे 25

संस्कृतप्रवक्ता,
आदर्शवैदिक विद्यालय इण्टर कॉलेज,
नंगला-सिनौली, बागपत ।
दूरवाणी संख्या - 955741038,
इमेल - arvindt490@gmail.com

सद्गुरुममलं सदा वन्दे

– डॉ. भुवनेश्वरीभारद्वाजः

(आगमश्रुति के प्राधान्य द्वारा प्रवृत्त होने वाले काश्मीर शैवदर्शन का जो शिवाद्वयवाद है, उसकी योगसाधना में शिव के अनुग्रह से अनुग्राह्य साधक में शक्तिपात अभीष्ट होता है। इष्टदेव के प्रति भक्ति का उदय ही शक्तिपात कहा जाता है। तदनन्तर ज्ञानभक्तिमान श्रीगुरु से अथवा संविद् देवी से दीक्षा प्राप्त साधक का शिवमाहात्यावगम तथा उसमें श्रद्धाविश्वासदार्ढ्य अपेक्षित होता है। शिव की महिमा, उसकी सामर्थ्यस्वरूपा भगवती शक्ति ही शिवा हैं। शिवा स्वातन्त्र्य शक्ति हैं जिनके चिद्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया ये पाँच प्रभेद होते हैं। विश्वोत्तीर्ण अवस्था में भी चिद् शक्ति और ज्ञान शक्ति शिव में भासती हैं। विश्वमय अवस्था में चित् के प्राधान्य में शिव, आनन्दप्राधान्य में शक्ति, इच्छा प्राधान्य में सदाख्य, ज्ञानप्राधान्य में ईश्वर तथा क्रियाप्राधान्य में शुद्ध विद्या– यह तत्वपञ्चक शुद्धाद्वैत शब्द के द्वारा प्रगीत है। श्रीगुरु के द्वारा प्रतिबोधित शिवशक्ति प्रत्यभिज्ञायमान होकर विद्या के द्वारा अविद्या तत्व की निवृत्ति से बन्धनिर्वर्तिका चिदानन्दस्वात्मसमर्पिका मुक्ति उपायभूत शिवैश्वर्यरूपा तृप्ति को साधक में उत्पन्न करती है। इस प्रकार सद्गुरु के द्वारा प्रबोध्य श्रीदुर्गादेवी, शक्ति और जननी समस्त जगत् का अनुग्रह करते हुए राजती है।)

(आगमश्रुतिप्राधान्येन प्रवृत्ते काश्मीरशैवदर्शने योऽयं शिवाद्वयवादः, तदीययोग-साधनायां शिवानुग्रहाद् अनुग्राह्ये साधके शक्तिपातः इष्यते। इष्टदेवतां प्रति भक्तेरुदय एव शक्तिपात इत्युच्यते। तदन्तरं ज्ञानभक्तिमतः श्रीगुरोः संविद्देव्या वा प्राप्तदीक्षस्य साधकस्य शिवमाहात्म्यावगमः तत्र श्रद्धाविश्वाससदार्ढ्यं च अपेक्ष्यते। शिवस्य महिमा सामर्थ्यात्मा भगवती शक्तिरेव शिवा। स्वातन्त्र्यशक्तिः शिवा यस्याः चिद्, आनन्दः, इच्छा, ज्ञान, क्रियेति पञ्चप्रभेदाः भवन्ति। चिच्छक्तिः आनन्दशक्तिश्चेति विश्वोत्रीर्णावस्थायामपि शिवे भातः। विश्वमयावस्थायां चित्प्राधान्ये शिवः, आनन्दप्राधान्ये शक्तिः, इच्छाप्राधान्ये सदाख्यः, ज्ञानप्राधान्ये सदाशिवः, क्रियाप्राधान्ये तु शुद्धविद्येति तत्त्वपञ्चकं शुद्धाध्वशब्देन गीयते। स्वरूपस्वभावयोः संकोचसमाकलनकर्त्री स्वातन्त्र्यशक्तिरेव न्यक्करण सामर्थ्यात्मा मायापदवेदनीया शिवशक्तिरेव कलाविद्यादिप्राधान्येन व्यापकत्वादिप्रतिबन्धनात् पुरुषो भोक्ता प्रकृतिश्च भोग्यतया भोगकरण-तदीश्वर-तद्विषयस्थूलभूततया अभिव्यक्तः संसारी बद्धो भवति। श्रीगुरुणा प्रतिबोधिता शिवशक्तिः प्रत्यभिज्ञायमाना विद्यया अविद्यातत्वार्थनिवृत्या बन्धनिवर्तिका चिदानन्द-स्वात्म-समर्पिका मुक्तिपां शिवैश्वर्यरूपां च तृप्तिं साधके जनयतीति श्रीसद्गुरुप्रबोध्या श्रीदुर्गादेवीशक्तिर्जननी अस्मान् अनुगृह्णाना विजयते। अतस्तां नता वयम्।)

कूटशब्दाः– स्वातन्त्र्यशक्तिः, त्रातागुरुः, अनुग्रहीता शिवः, भूतिः, संविद्, सरस्वती, प्रतिभा, मातुः उदारभावः, अनन्यापेक्षिता, शिववल्लभा, स्फुरत्ता, तृप्तिः, अनुत्तरम्, परम्, परापरम्, अपरम्, पशुः, पाशः, प्रकाशः, विमर्शः,

प्रतिबिम्बः, क्षेत्रम्, क्षेत्रपतिः, सदोदितम्, देहस्थदेवताचक्रम्, पञ्चकृत्यम्, तत्त्वानां तत्त्वं श्रीसद्गुरुः।

'अर्द्धनारीश्वरः' अत्र या अर्द्धनारी सैव ईश्वरः इत्येवं व्युत्पत्या सूक्ष्मा अर्द्धभागा अग्रभागा नारीशक्तिरेव स्थूलतामुपगच्छन्ती ईश्वर इत्याख्यायते। या स्वातन्त्र्यशक्तिः सा ईश्वरात्मतया शिवरूपतया स्फुरिता चेत् सर्वलोकस्य मूर्ध्नि स्थिता स्वात्ममहेश्वरतया भासमाना भोगं मोक्षश्रियं च शिवगुरुकृपामनुवर्तमानस्य स्वप्रयत्नप्रकर्षेण सावधानस्य सतः योगसाधकस्य लम्भयति। सैषा स्वातन्त्र्यस्य निःसीमैश्वर्यप्रथनात्मा विश्वसृष्टिस्थितिसंहारनिग्रहानुग्रहात्ममयी शिवत्वावद्योत-प्रकाशनात्मा स्तुत्यस्वरूपा सुधियाधिगम्या विभाति। सर्वथा अपरिच्छिन्नवपुष्कायाः अहमात्मचिदब्धिस्वरूपायाः जलबुद्बुदादिसंकुचद्रूपपरिच्छिन्नतया यदवभासनं सैव माया स्वस्वरूपस्वभावसंकोचात्मा निरन्तरमिदम्मये भावौघे कलाविद्याकालराग-नियतितत्त्वनियन्तृतान् भोगमात्रोन्मुखान् आर्त्तादावर्त्तान्तरं गमयति-तादृशसामर्थ्यवती स्वातन्त्र्यशक्तिरेव मायासंज्ञया शास्त्रकृद्भिर्निरूप्यते। येयं मायासंज्ञासमाकलिता भेदप्रवणा संकुचद्रूपापि उच्छलत्स्वभावा विविधेषु दैवहतेषु भोगेषु संसारिणः संयोजयन्ती शक्तिः सततम् इदन्तामयीम् अपूर्णां स्थितिं लम्भयन्ती अणून् पाशशतैराब्धानात्येव केवलम् तत्र त्राता एको गुरुरेव महेश्वरः। महेश्वरः अनुग्रहमयीं शिवां शक्तिम् उन्मुखयन् इदन्तामयान् घोरान् अपरस्वरूपान् पाशान् घोराघोरात्मनः अहम्मुखोन्मुखान् इदन्तास्पन्दान् परापरस्वरूपान् पाशान् साधकानां संसाराम्भोधिमध्ये निमज्जनोन्मज्जनवतां त्राण-पालन-परिरक्षणादिना आह्लादयन् अहमामर्शमयीं हर्षप्रकर्षमयीं स्वात्मस्थितिं प्रकटयन् शास्त्रैः विद्भिः समुपासकैः नामरूपादि-संकीर्तनपरायणैश्च विजयते स्तूयमानस्वरूपः।

यथोक्तम्– **'दैवे (शिवे) रूष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ।**
गुरुस्त्राता गुरुस्त्राता गुरुस्त्राता न कश्चन ।।"[1]
'गुरुशक्तिर्जयत्येका मद्रूपप्रविकासिका ।
स्वरूपगोपनव्यग्रा शिवशक्तिर्जिता यया ।।[2]"

गुरुशक्तिः स्पन्दात्मा संविद् देवी परा प्रतिभा शिवस्य व्यामोहकारिणीं मायां विजित्य स्वात्मसाम्राज्यैश्वर्यमयीं दशां गमयतीति विजयिनीविमर्शशक्तिरेव परा वाग्[3], ऐश्वर्यं विजयं भूतिं विभूतिं च साधकवराणाम् प्राप्तसद्गुरुसन्निधीनाम् आतनोति। यदुच्यते–

"तस्मै नमः परेशाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।
अरूपायोरुरूपाय नम आश्चर्यकर्मणे ।।[4]" इति

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।।[5]' इति

गुरुशक्तिरनुग्रहपरायणा सरस्वती संविद् यथा श्रीमदभिनवगुप्तपादैः स्तूयते तथा विमृशद्भिरस्माभिः कृतकृत्यता काचिद् रस्यताम् आस्वाद्यताम् निभृतम्–

'आदिमुखा कादिकरा टादिपदापादिपार्श्वयुङ्मध्या ।
यादिहृदया भगवती संविद्रूपा सरस्वती जयति ।।[6]' इति
अनन्यापेक्षिता याऽस्य विश्वात्मत्वं प्रतिप्रभोः ।
तां परां प्रतिभां देवीं संगिरन्ते ह्यनुत्तमाम् ।।[7] इति

परिच्छिन्नया कया वा कलया श्रीमातुः सरस्वत्याः अनुग्रहमूर्त्याः संविदः उदारभावः संस्तूयताम्–

तत्र गुप्तोऽप्यभिनव[8] स्वरूपोऽभिधत्ते श्रीगुरुः–

'फलन्ति चिन्तामणि-कामधेनु-कल्पद्रुमाः काङ्क्षितमेव पुंसाम् ।
अप्रार्थितानप्रचितान् पुमर्थान् पुष्णातु मे मातुरुदारभावः ।।[9]'

इच्छाज्ञानक्रियारूपैः, चिदानन्दैषणाज्ञानक्रियाशक्तिस्वरूपैः, षट्त्रिंशत्तत्त्वा-त्मभिः जीवजगदात्मनानास्वरूपैर्वा संविदेव सरस्वती शिववल्लभा शक्तिरूपा सर्वस्वं सामर्थ्यं भगवतो महेश्वरस्येति महिमाऽस्याः सहस्रशीर्ष्णा शेषेणापि कथमियत्तया वर्ण्यताम्? यथोक्तम्–

यया विना नैव करोति किञ्चिन्न वेत्ति नापीच्छति संविदेशः ।
तस्यै परस्यै जगतां जनन्यै नमः शिवायै शिववल्लभायै ।।[10]
प्रसीद सर्वमङ्गले शिवे शिवस्य वल्लभे ।
उमे रमे सरस्वति त्वेमव देवता परा ।।[11] इति

'स्वात्मस्पन्दस्फुरत्ता विश्वोत्तीर्णपराहंविमर्शरूपिणी चिच्छक्तिरसि। अतो मयि प्रसीद। त्वया विना परमेशोऽप्यसमर्थ: तिष्ठति का कथा जगतां द्विजन्मनाम्? यस्तु श्रीगुरुकृपाकटाक्षपूतः जगदम्बिकायाः अम्बिकायाः शाक्तस्फुरत्तायाः अनुत्तरं स्वरूपम् अथ च जगन्मयम् अविद्याख्यमपरं स्वरूपम् अनुशीलयन् स्मृतिपथं प्रत्यभिज्ञापदम् वाऽभिमण्डयति तस्मै भोगः शास्त्रसम्मतः, मुक्तिनाम्नी तृप्तिः, ऐश्वर्यमयी विभूतिश्च जगदम्बिकायाः श्रीमातुरन्नपूर्णाभगवत्याः सदनुग्रहेण विलसन्ति।

'स्फुरति यत् तव रूपमनुत्तरं यदपरं च जगन्मयमम्बिके।
उभयमेतदनुस्मरतां सतामभयदे! वरदे! परदेवते ।।[12]'
परमेश्वरि पञ्चकृत्यलीले परसंविन्मयि पार्वति! प्रसीद! ।
पतितं पशुपाशमुद्धरेमं शिशुमाश्वासय शीतलैः कटाक्षैः ।।[13] इति च ।।

भगवान् शिवः आगम-तन्त्रदर्शनेषु प्रकाशः इत्युच्यते। स च प्रकाशः सर्वभावस्वभावः। अत एव स्वतः संज्ञाशून्याः जडा अचेतना भावाः ज्ञानप्रकाशेन बोध-विद्याशब्दितेन प्रकाशन्ते। स चायं प्रकाशः यम् उपजीवति यं प्राणस्वरूपं विना अप्रकाशकल्पमेव संतिष्ठेत स्फटिकादिप्रकाशवत् सोऽयं विमर्श इत्याख्यायते। विमर्शनात्मा या संवित्तिः स्फूर्त्यात्मा प्रतिभाचमत्कृतिः सैव शक्तिः उमा कुमारी[14] विमर्शाभिधाना जयति। यदुक्तम्- श्रीमद्-उत्पलदेवगुरुणा—

'स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा।
प्रकाशोर्थोपरक्तोपि स्फटिकादिजडोपमः ।।[15]' इति ।।

अन्यच्च— **उदयावभासचर्वणलीलां विश्वस्य या करोत्यनिशम्।**
आनन्दभैरवीं तां विमर्शरूपामहं वन्दे ।।[16]

षट्सु दर्शनेषु पूज्य आत्मा षट्त्रिंशत्तत्त्वसंवलितो विश्वमभिव्याप्य वर्तते। इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते इत्येवं श्रीमद्भगवद्गीतोक्तस्य क्षेत्रज्ञस्य क्षेत्रयतः आत्मनः देहस्थाः इन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्याख्याः देवताः शाक्ताः स्फुटतया श्रीसद्गुरुकृपया आत्ममहेश्वरमभिपूजयन्ति- सततमिति शक्यतेऽनुभवितुम्। तत एवोच्यते—

'षड्दर्शनेषु पूज्यं षट्त्रिंशत् तत्त्वसंवलितुम्।
आत्माभिख्यं सततं क्षेत्रपतिं सिद्धिदं वन्दे ।।[17]
संस्फुरदनुभवसारं सर्वान्तः सततसन्निहितम्।
नौमि सदोदितमित्थं निजदेहदेवताचक्रम् ।।[18]' इति

शिवसद्गुरोरनुग्रहपूता शिवाङ्के खेलन्तीं सप्रह्वीभावं भेत्तुं भवानिशचितं दुरितं भवानि नम्रीभवानि घनमङ्घ्रिसरोजयोस्ते इत्येवं सम्प्रार्थयन्ती पतिपाशादुद्धारं कामये—

परमेश्वरि पञ्चकृत्यशीले परसंविन्मयि पार्वति! प्रसीद।
पतितं पशुपाशमुद्धरेयं शिशुमाश्वासय शीतलैः कटाक्षैः ।।[19]
सर्वस्य तत्त्वस्य च तत्त्वभूतो गुरुः स एको नहि कश्चिदन्यः।
विभासमानोऽपि न भास्यते यो गुप्तो गुरुः सोऽभिनवः सदास्ते ।।[20]
गुरुशिष्यस्वरूपेण दृश्यते यद्यपि द्विधा।
तथापि गुरुरेवैकः सर्वलक्षणलक्षितः ।।[21]

1. गुरुपरम्परया प्राप्तम।
2. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, म.म.रामेश्वर झा, प्र.-अरुण कृष्ण जोशी-विजयकृष्ण जोशी, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 1994, पृ. सं. 3
3. वक्तीत वाक्, तिसृणां पश्यन्त्यादीनाम् ईशिका पराशक्तिः।
4. गजेन्द्रमोक्षस्तवः
5. श्रीमद्भगवद्गीताग्रन्थान्तमंगलम्।
6. रहस्यपञ्चदशिका, अभिनवगुप्त, Abhinavagupta; AN Historical & Philosophical Study, K.C. Pandey, Chaukhambha Amarbharati Prakashan, Varanasi, Fifth Edition, 2018
7. तन्त्रालोके (3.66), अभिनवगुप्तदशस्तोत्री, रमाकान्त पाण्डेय, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर, प्रथम संस्करण, 2023, पृ. सं. 99
8. सर्वस्य तत्त्वस्य च तत्त्वभूतो, गुरुः स एको नहि कश्चिदन्यः। विभासमानोऽपि न भास्यते यो गुप्तो गुरुः सोभिनवः सदास्ते ।।
9. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, 596, पृ. सं. 254.
10. रहस्यपञ्चदशिका, 3, पृ. सं. 954
11. तदेव, 4, पृ. 954
12. रहस्यपञ्चदशिका, अभिनवगुप्तदशस्तोत्री, 6, पृ. सं. 102
13. तदेव, 14, पृ. सं. 107
14. तदेव, 15, पृ. सं. 108. तदेव, 15, पृ. सं. 108
15. इच्छाशक्तिरुमाकुमारी (शि.सू. 1-13) कुम् भेदोत्थापिकां मायाभूमिं मारयति = हिनस्ति या सा कुमारी।
16. ISVARA PARTY ABHIJNAKARIKA OF UTPALDEVA, Trans. & Comm. B.N. Pandit, Muktabodha Indological Research Institute, New Delhi & MLBD, Delhi, First Edition: 2004, 1.5-11, P. 60.
17. देहस्थदेवताचकस्तोत्रम्, 5,
Αβηιναϖαγυπτα; Αν Ηιστοριχαλ & Πηιλοσοπηιχαλ Στυδψ, Π.952
18. तदेव, 14, पृ. सं. 953
19. तदेव, 15, पृ. सं. 953
20. रहस्यपञ्चदशिका, 15, अभिनवगुप्तदशस्तोत्री, पृ. सं. 108
21. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, 596, पृ. सं. 254
22. तदेव, 598, पृ. सं. 254

संस्कृत-प्राकृतभाषाविभागः,
लखनऊ विश्वविद्यालयः, लखनऊ (उ.प्र.)।

भारतीयज्ञानपरम्परायाः मेघदूतखण्डकाव्ये ऐतिहासिकस्थलानां समीक्षणम्

– डॉ. नीरजतिवारी

(महाकवि कालिदास ने मेघदूत खण्डकाव्य में यक्ष के माध्यम से रामगिरि से अलका नगरी तक बादल के मार्ग को परिभाषित किया है, यह सुन्दर यात्रा प्रकृति का प्रतिनिधित्व के साथ साथ भारतीय ऐतिहासिक नगर, पर्वत, झील, नदियों से भी परिचय तथा ज्ञान कराती है। इसी को अभिलक्ष्य करके यह मौलिक गवेषण जनमानस के लिए समर्पित है।)

(मेघदूतस्य भागद्वयमस्ति। पूर्वमेघः उत्तरमेघश्च। पूर्वमेघे रामगिरितः कैलासस्योत्सङ्गे विद्यमानानाम् नगराणां नगरीणां नदीनां निर्झराणाञ्च अलकानगरीं यावत् मार्गवर्णनं उपलभ्यते। एकदा कुबेरानुचरः कश्चित् यक्षः स्वकार्ये असावधानः वर्षपर्यन्तं कान्ताविरहं प्राप्य रामगिरौ स्ववसतिं चकार। कैलासस्य क्रोडे कुबेरनगरी अलका यक्षाणां स्थानम्। भारतवर्षे अवस्थितः रामगिरिः। एवंभूते रामगिरौ विरही सः यक्षः केनापि प्रकारेण बहुमासान् यापयित्वा आषाढमासस्य प्रथमदिवसे पर्वताग्रे संलग्नम्, उत्खातकेलिरतगजस्य इव सुन्दरं मेघं दृष्टवान्।

मेघागमने मेघसंदर्शने च प्रियायुक्तस्यापि जनस्य मनसि कामभावना जायते। प्रियावियुक्तस्य जनस्य दशा तत्र अवर्णनीया। यक्षः उत्तराभिमुखं मेघं दृष्ट्वा श्रावणे सन्निकटे सति तन्माध्यमेन स्वप्रियां प्रति कुशलमयीं वार्तां प्रेषयितुमिच्छन् नवप्रस्फुटितैः गिरिमल्लिकाकुसुमैः प्रीतिपूर्णैः वचनैश्च तस्य स्वागतं चकार। अत्युत्कण्ठया कामार्तः यक्षः चेतनाचेतनेषु प्राणिषु दौत्यकर्मणि कः समर्थः इति विचारं न कृत्वा अचेतनमपि मेघं स्वप्रियासमीपं सन्देशप्रापणाय प्रेषितुमैच्छत्।

रामगिरितः अलकां यावत् सुदीर्घपथि श्रान्तः मेघः क्लान्त्यपनोदनाय पर्वतशिखरिषु विश्रम्य, वर्षणहेतोः क्षीणः सन् गिरिनिर्झराणां स्वच्छं पयः गृहीत्वा च मार्गातिक्रमं करिष्यति। प्रथमतः प्रस्थानानुकूलं मार्गश्रवणं कृत्वा तदनन्तरं श्रुतिसुखकरं यक्षस्य सन्देशं मेघः श्रोष्यतीति। मेघं प्रति यक्षस्य याचना वर्णनसन्दर्भे मेघदूतखण्डकाव्यानुसारं यावन्ति ऐतिहासिकस्थलानि सन्ति तेषाम् अत्र समीक्षणं वर्तते।)

कूटशब्दाः–

यक्षः, मेघः, रामगिरिः, अलका, मानसरोवरः, दूतः, हेमकूटः, भिलसा, वेतवा, रेवा, विशाला, माण्डासोर, सुदीर्घपथि, श्रान्तः, क्षीणः, गिरिनिर्झरः।

प्रस्तावनाः–

मेघदूतखण्डकाव्यं कालिदासस्य अनुपमा कृतिरियम्। मेघदूतं केवलं न गीतिकाव्यम् अपि तु संस्कृतसाहित्यस्य प्रथमं दूतकाव्यं सन्देशकाव्यम् वा। मेघदूते अन्तर्बाह्यप्रकृतेः अद्भुता समरसता लक्ष्यते वस्तुतः एतत्काव्यं विप्रलम्भशृङ्गारस्य मञ्जूषा अस्ति। वैदर्भीरीत्या विरचितं काव्यं मन्दाक्रान्ताच्छन्दसि विराजते। अस्य काव्यस्य पूर्वमेघः उत्तरमेघश्च इति भागद्वयं विद्वद्भिः कल्पितम्। कथावस्तुना सह काव्यस्य प्रारम्भः भवति। मेघदूते स्वकार्यप्रमत्तेन स्वामिना शप्तः कश्चित् यक्षः सेवकः रामगिरिपर्वते निवसति स्म स्वकान्तायाः दूरम्। अष्ट मासाः तु येन केन प्रकारेण यापिताः। किन्तु आषाढस्य आरम्भे स मेघं दृष्ट्वा विह्वलः जातः। स मेघस्य माध्यमेन स्वपत्नीं प्रति सन्देशं प्रेषयति। यक्षः मेघं स्वगृहस्य मार्गं दर्शयति तदा भारतस्य नानाप्रदेशानां सुन्दरतायाः वर्णनं करोति। अत्र रामगिरितः अलकानगरीपर्यन्तम् भारतीयप्रदेशानां प्राकृतिकरमणीयता दरीदृश्यते पूर्वमेघे विरहव्याकुलस्य यक्षस्य मर्मस्पर्शि वर्णनमस्ति। उत्तरमेघे अलकानगर्याः भव्यवर्णनानि सन्ति। तद्यथा– यक्षभवनस्य वर्णनम्, यक्षस्य पत्न्याः वर्णनम् इत्यादीनि सन्ति। यक्षस्य सन्देशानन्तरं काव्यं पूर्णं भवति। भारतीयज्ञानपरम्परायाः मेघदूतखण्डकाव्ये ऐतिहासिकस्थलानां समीक्षणरीत्या रामगिरितः कैलासस्योत्सङ्गे विद्यमानानां नगराणां नदीनां निर्झराणाञ्च अलकानगरीं यावत् मार्गवर्णनम् उपलभ्यते, तेषां प्रतिपादनमत्र एवमस्ति।

मेघदूतस्य ऐतिहासिकपर्वताणां समीक्षणम्–

रामगिरिपर्वतः– रामगिरिपर्वतः अधुना रामटेकनगरे नागपुरस्य उत्तरेण अवस्थितः। यद्यपि टीकाकाराः वल्लभदेव-मल्लिनाथप्रभृतयः पर्वतमिमं चित्रकूटमिति कथयन्ति तत्तु सर्वैः न स्वीकृतम्। केचिद् विद्वान्सः मध्यप्रदेशे नर्मदायाः उद्गमस्थलात् आम्रकूटस्थसमीपे रामगढ़पर्वतः यः विद्यते स एव रामगिरिपर्वतः इति कथयन्ति।[1] तद्यथा मेघदूते–

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमतः
शापेनास्तङ्गमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ।।[2]

आम्रकूटपर्वतः– आधुनिकं नामामरकण्टकमिति केषांचित् मतमस्ति। परन्तु महादेवपर्वतस्य उत्तरेण, आधुनिकसोहागपुरस्य दक्षिणेन स्थितः कश्चित् पर्वतः इति डॉ. पराञ्जपेमहोदयस्य मतमस्ति।[3] मेघदूते तद्यथा–

त्वामासारप्रशमितवनोपप्लवं साधु मूर्ध्ना
वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूटः ।
न क्षुद्रोपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः ।।[4]

विन्ध्यपर्वतः– मध्यदेशस्य दक्षिणसीमारुपेण अस्य स्थितिः वर्तते। सप्तकुलपर्वतेषु अन्तर्भुक्तोऽयं पर्वतः।[5]

स्थित्वा तस्मिन्वनचरवधूभुक्तकुञ्जे मुहूर्तं
तोयोत्सर्गात द्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्मतीर्णः ।
रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णा
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमंगे गजस्य ।।[6]
महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमान् ऋक्षपर्वतः ।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः ।।[7]

नीचैःपर्वतः– भिलाससमीपस्थः एकः पर्वतः। भिलसायाः दक्षिणप्रान्ते भोजपुरपार्वत्यभूमिः नीचैः पर्वतः इति केचिद् कथयन्ति।[8] तद्यथा–

नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र विश्रामहेतो-
स्त्वसंपर्कात्पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदम्बैः ।
यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि ।।[9]

देवपर्वतः– भिलानसिक्षेत्रात् दक्षिणपश्चिमपार्श्वे कियद्दूरे अस्य पर्वतस्य अवस्थितिः। अत्र कार्त्तिकेयस्य मन्दिरं दृश्यते।[10] तद्यथा–

त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसंपर्करम्यः
स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगं दन्तिभिः पीयमानः ।
नीचैर्यास्यत्युपजिगमिषोर्देवपूर्वं गिरिं ते
शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम् ।।[11]

क्रौञ्चरन्ध्रपर्वतः– परशुरामस्य शराघातेन क्रौञ्चपर्वते रन्ध्रमेकं जातम्। इदं प्रसिद्धं क्षेत्रम्। मानसरोवरं प्रति ये गन्तुमिच्छन्ति तेषां कृते द्वारमिव वर्तते। हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रम्।[12] तद्यथा पूर्वमेघदूते–

प्रालेयाद्रेरुपतटमतिक्रम्य तांस्तान्विशेषान्
हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रम् ।
तेनोदीचीं दिशमनुसरेस्तिर्यगायामशोभी
श्यामः पादो बलिनियमनाभ्युद्यतस्येव विष्णोः ।।[13]

हरिवंशे मैनाकपर्वतस्य पुत्ररुपेण पर्वतोऽयं प्रसिद्धः।

कैलासपर्वतः– शिवस्य पार्वत्याः च प्रियं निवासस्थलम्।[14] तद्यथा पूर्वमेघदूते–

गत्वा चोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसंधेः
कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः ।
श्रृङ्गोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं
राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः ।।[15]

महाभारते वनपर्वणि बदरिकाश्रमस्य स्थितिः कैलासे इति वर्णिता। अपि च भीष्मपर्वणि कैलासः हेमकूटः इति वर्णितः।[16]

मेघदूतस्य ऐतिहासिकनगराणां समीक्षणम्–

मालवा– आधुनिकरतनपुरनामकनगरस्य समीपे उन्नतभूभागः मालमिति प्रसिद्धम्। "आरुह्य" पदसाहचर्येण। मालाख्यो देशः इति के के कथयन्ति। परन्तु उत्तरछत्तिशगढसमीपे स्थितं "माल्दा" नामकं स्थानं मालमिति वक्तुमुचितम्।[17] तद्यथा–

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः ।
सद्यः सीरोत्कषणसुरभिक्षेत्रमारुह्य मालं
किंचित्पश्चाद्व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ।।[18]

दशार्णाः– आधुनिकं नाम इदानीं भोपालनगरी अस्ति। पूर्वमालवक्षेत्रे पश्चिमदशार्णदेशः आसीत्। राजधानी विदिशा। छतिशगढराज्यस्य एको भागः पूर्वदशार्णः।[19] तद्यथा–

पाण्डुच्छायोपवनवृतयः केतकैः सूचिभिन्नै-
र्नीडारम्भैर्गृहबलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः ।
त्वय्यासन्ने परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताः
संपत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः ।।[20]

विदिशा– वेतवानदीतीरे अवस्थितेयं नगरी। आधुनिकं नाम भिल्सा। भोपालनगरीतः किञ्चिद्दूरे उत्तरपूर्वप्रान्ते स्थिता विदिशा पुराणप्रसिद्धा नगरी।[21]

तद्यथा– **तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं**
गत्वा सद्यः फलमविकलं कामुकत्वस्य लब्धा ।
तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि स्वादु यस्मा-
त्सभ्रूभंगं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि ।।[22]

उज्जयिनी– मध्यप्रदेशस्य शिप्रानदीतीरे अवस्थिता नगरी। अपरं नाम विशाला। अवन्त्याः राजधानीति प्रसिद्धा। तत्र महाकालमन्दिरं प्रख्यातम्।[23] तद्यथा–

वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्संगप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः ।
विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौरांगनानां
लोलापांगैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि ।।[24]

भारतस्य प्रसिद्धेषु तीर्थस्थलेषु अन्यतमा इयं नगरी। तद्यथा–

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका ।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ।।

विशाला– भागवतपुराणे "विशाली" इति या नगरी वर्णिता सम्भवतः सा एव विशाला। अवन्त्याः राजधानी। विशिष्टाः विविधाः वा शालाः यस्यां सा विशाला। विशाला वंशकृद्राजा वैशालीं निर्ममे पुरीम्। उत्तरतन्त्रे विशालायाः अपरं नाम उज्जयिनी। विशालोज्जयिनी प्रोक्ता पुरी चम्पा च मालिनी।[25] तद्यथा–

प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धा-
न्पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम् ।
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम् ।।[26]

दशपुरः– अधुना माण्डासोर नाम्ना प्रसिद्धं नगरम्। प्राचीने काले अस्य बहुप्रसिद्धिः, महत्त्वं च महाभारते, शिलालेखेषु वर्णितमस्ति।[27] तद्यथा–

तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां
पक्ष्मोत्क्षेपादुपरिविलसत्कृष्णशारप्रभाणाम् ।
कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषामात्मबिम्बं
पात्रीकुर्वन्दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम् ।।[28]

ब्रह्मावर्तः– सरस्वतीदृषद्वत्योः मध्यदेशः ब्रह्मावर्तः इति मनुः कथयति।[29] यथा मनुस्मृतौ–

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ।।[30]

तद्यथा मेघदूते–

ब्रह्मावर्तं जनपदमथच्छायया गाहमानः
क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद्भजेथाः ।

राजन्यानां शितशरशतैर्यत्र गाण्डीवधन्वा
धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन्मुखानि ।।[31]

सम्भवतः सोनपत्, कारनल, पानिपथेत्यादीनां प्राचीनं नाम। हस्तिनायाः उत्तरपश्चिमे अवस्थितम्।

कुरुक्षेत्रम्– कौरवं क्षेत्रम्। थानेश्वरस्य दक्षिणपूर्वे, दिल्लीसमीपे अवस्थितम्। अत्र प्रसिद्धं महाभारतयुद्धं संघटितमासीत्। अत्र बृहत्सरोवरमेकं विद्यते। सरस्वती नदी अपि अत्र प्रवाहिता आसीत्।[32] तद्यथा–

ब्रह्मावर्तं जनपदमथच्छायया गाहमानः
क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद्भजेथाः ।
राजन्यानां शितशरशतैर्यत्र गाण्डीवधन्वा
धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन्मुखानि ।।[33]

कनखलम्– हरिद्वारसमीपे गङ्गायाः पश्चिमे तटे अवस्थितं पवित्रं स्थलम्।[34] तद्यथा–

तस्माद्गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां
जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम् ।
गौरीवक्त्रभृकुटिरचनां या विहस्येव फेनैः
शंभोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता ।।[35]

महाभारते, पुराणेषु, कथासरित्सागरेऽपि अस्य वर्णनं दृश्यते। हरिवंशे उक्तमस्ति–

गंगाद्वारं कनखलं वै तत्र संस्थितः ।
स्नात्वा कनखले तीर्थे पुनर्जन्म न विद्यते ।।[36]

चरणन्यासः– हरिद्वारस्य पार्श्वेऽवस्थिते हिमालयस्य शिलाखण्डे शिवस्य पदचिह्नितम्। शम्भुरहस्ये अस्य नाम श्रीचरणन्यासः। अधुना "हर की पैडी" नाम्ना प्रसिद्धमित्यनुमीयते।[37] तद्यथा–

तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौलेः
शश्वत्सिद्धैरुपचितबलिं भक्तिनम्रः परीयाः ।
यस्मिन्दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्धूतपापाः
संकल्पन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः ।।[38]

अलका– इयं नगरी यक्षाणां कुबेरस्य च निवासस्थली। अलति भूषयतीति अलका।[39] तद्यथा–

तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रोतमङ्गादुकूलां

न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन् !
या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना-
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ।।[40]

कैलासस्योत्सङ्गे विराजिता शोभितेयं नगरी महाभारते इत्थं वर्णिता–

तपसा निर्मिता राजन्स्वयं वैश्रवणेन सा ।
शशिप्रभा खेचरिणां कैलासशिखरोपमा ।
दिव्या हेममयैरुच्चैः पादपैरुपशोभिता ।
रश्मिवती भास्वरा च दिव्यगन्धा मनोरमा ।।[41]

मेघदूतस्य ऐतिहासिकनदीनां सरोवराणाञ्च समीक्षणम्–

रेवा– आधुनिकं नाम नर्मदा। विन्ध्यपर्वतः अस्याः उत्पत्तिस्थलम्। पवित्रा नदी। गङ्गास्नानेन यत् पुण्यं तदेवात्र दर्शनेन च।[42] यथा–

गङ्गा तथा रेवा तथा देवी सरस्वती ।
समं पुण्यफलं प्रोक्तं स्नान-दर्शन-चिन्तनैः ।।

एवमेव मेघदूते तद्यथा–

स्थित्वा तस्मिन्वनचरवधूभुक्तकुञ्जे मुहूर्तं
तोयोत्सर्गात् द्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्म तीर्णः ।
रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णा
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमंगे गजस्य ।।[43]

वेत्रवती– आधुनिकी वेतवा नदी। विन्ध्यपर्वतस्य उत्तरप्रान्तात् प्रवाहिता इयं नदी मालवस्थानमतिक्रम्य आल्लाहावादस्य उत्तरपूर्वप्रान्ते कल्पि (ख्जा) स्ताने यमुनया सह मिलिता दृश्यते। अस्याः प्रथमो भागः “भिलसा” मध्ये प्रवाहिता।[44] तद्यथा–

तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं
गत्वा सद्यः फलमविकलं कामुकत्वस्य लब्धा ।
तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि स्वादु यस्मा-
त्सभ्रूभंगं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि ।।[45]

वननदी– वेतवायाः पश्चिमे प्रान्ते एका क्षुद्रा नदी। विन्ध्यात् अस्याः उत्पत्तिः। शिप्रानद्या सह मिलित्वा चम्बलमध्ये प्रविशति इयं नदी।[46] तद्यथा–

विश्रान्तः सन्व्रज वननदीतीरजालानि सिञ्चन्नु-
द्यानानां नवजलकणैर्यूथिकाजालकानि ।
गण्डस्वेदापनयनरुजा क्लान्तकर्णोत्पलानां

छायादानात्क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम् ।।[47]

निर्विन्ध्या– विन्ध्यपर्वतात् प्रवाहिता इयं क्षुद्रा नदी वेतवा सिन्धूमध्ये दृश्यमाना वर्तते।[48] तद्यथा–

वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः
संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः।
निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ।।[49]

सिन्धुः– इयं न कापि निर्दिष्टा नदी इति मल्लिनाथस्य मतम्। मब्बलमध्ये प्रवाहिता इयं नदी "सिन्ध्" इति अन्ये कथयन्ति। महाभारते अस्याः नाम दक्षिणसिन्धुः। मत्स्यपुराणेऽपि अस्याः वर्णनमुपलब्धम्।[50] तद्यथा–

वेणीभूतप्रतनुसलिलासावतीतस्य सिन्धुः
पाण्डुच्छाया तटरुहतरूभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णैः ।
सौभाग्यं ते सुभग! विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ।।[51]

शिप्रा– एका प्रसिद्धा नदी। मध्यप्रदेशस्थिता याः अस्याः तीरे उज्जयिनी नगरी, महाकालमन्दिरं च विद्येते।[52] तद्यथा–

दीर्घीकुर्वन्पटुमदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः ।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमंगानुकूलः
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः ।।[53]

रघुवंशे अस्याः तटस्थितानाम् उद्यानानां शोभा अतीव मनोरमेति वर्णिता।

शिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु।[54]

गन्धवती– शिप्रायाः एका शाखा नदी। उज्जयिन्याः पार्श्वे प्रवहति। अस्याः तीरे महाकालमन्दिरम्।[55] तद्यथा–

भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः
पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य ।
धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्या-
स्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः ।।[56]

गम्भीरा– मालवसमीपे इयं नदी प्रवहति।[57] आदिपुराणे अस्याः वर्णनमुपलब्धम्। चर्मण्वतीनद्याः उद्गमस्थलात् अस्याः उत्पत्तिरिति अनुमीयते। तद्यथा–

गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने
छायात्मापि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम् ।
तस्यादस्याः कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्यान्मो-
घीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि ।।[58]

व्योमगङ्गा– मन्दाकिनी नदी। गंगा त्रिषु लोकेषु प्रवाहिता प्रख्याता च क्षितौ तारयते मर्त्यान् नागांस्तारयतेऽप्यधः। दिवि तारयते देवांस्तेन त्रिपथगा स्मृता।। व्योम्नि अस्याः नाम मन्दाकिनी।[59] तद्यथा–

तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेधीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगङ्गाजलार्द्रैः ।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूना-
मत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः ।।[60]

चर्मण्वती– चम्बलनदी। इयं नदी दशपुरस्य राज्ञः रन्तिदेवस्य कीर्त्तिरिति प्रसिद्धा। विन्ध्यपर्वतमालायाः स्थानात् निर्गता चर्मण्वती रन्तिदेवस्य "गोसव" यज्ञात् भुवि प्रवाहरूपेण परिणता इति वर्णिता।[61] तद्यथा–

आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लङ्घिताध्वा-
सिध्दद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वीणिभिर्मुक्तमार्गः ।
व्यालम्वेथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन्
स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम् ।।[62]

सरस्वती– वेदे वर्णिता इयं नदी कुरुक्षेत्रे प्रसिद्धा। कुरुक्षेत्रस्य समीपे उत्तरपश्चिमपार्श्वे प्रवाहिता मरुप्रान्तान्तर्गता वालुकाशय्यायां लुप्ता।[63] तद्यथा–

हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्का
बन्धुप्रीत्या समरविमुखो लाङ्गली याः सिषेवे ।
कृत्वा तासामभिगममपां सौम्य! सारस्वतीना-
मन्तः शुद्धस्त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः ।।[64]

तद्यथा–

गङ्गा कनखले पुण्या कुरुक्षेत्रे सरस्वती ।
ग्रामे वा यदि वाऽरण्ये पुण्या सर्वत्र नर्मदा ।।[65]

गंगा– सर्वासु नदीषु गंगा अतिश्रेष्ठा प्रधाना पवित्रतमा च वर्तते। इयम् हिमालयात् निःसृत्य बंगोपसागरे पतति। गंगा एव भारतवर्षस्य धार्मिक विचारधारायाः परिचायिका अस्ति। जाह्वोः कन्या जाह्नवी (54) गङ्गा।[66] तद्यथा–

तस्माद्गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां

जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम् ।
गौरीवक्त्रभृकुटिरचनां या विहस्येव फेनैः
शंभोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता ।।67

मत्स्यपुराणे वर्णितम्–

सर्वत्र सुलभा गङ्गा त्रिषु स्थानेषु दुर्लभा ।
हरिद्वारे प्रयागे च गङ्गासागरसंगमे ।।68

मानसरोवरः– एकः प्रसिद्धः सरोवरः। मानसस्य उत्तरेण कैलासपर्वतः दक्षिणेन गुर्ला पार्वतमाला वर्तते।69 तद्यथा–

हेमाम्भोजप्रसवि सलिलं मानसस्याददानः
कुर्वन्कामं क्षणमुखपटप्रीतिमैरावतस्य ।
धुन्वन्कल्पद्रुमकिसलयान्यंशुकानीव
वातैर्नानाचेष्टैर्जलद! ललितैर्निर्विशे तं नगेन्द्रम् ।।70

एवमेव रामायणेऽपि मानसरोवस्य वर्णनं वर्तते। तद्यथा–

कैलासपर्वते राम मनसा निर्मितं परम् ।
ब्रह्मणा नरशार्दूल तेनेदं मानसं सरः ।।71

निष्कर्षः–

अस्मिन् कर्मणि कथं मेघः सर्वथा उपयुक्तः इति स्वपक्षसमर्थनार्थं मेघस्य प्रसिद्धानां पुष्करावर्तकानां वंशे जन्म, कामरूपता, मघोनः प्रकृतिपुरुषत्वमित्यादयः तत्रोपस्तापिताः। यतः मेघः अधीकगुणयुक्तः। अतः दूरबन्धेः यक्षस्य प्रार्थना यदि विफला जाता, तदपि वरमिति सः कथयति। अपि च मेघः संतप्तानां तापहारकः धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य मेघस्य सन्देशप्रापणाय कुत्र गन्तव्यमिति विरहस्य स्पष्टीकरणार्थं यक्षः निर्दिशति बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या यक्षेश्वराणां वसतिः अलकानामनगरी ते गन्तव्या इति। यदा मेघः आकाशे उत्तराभिमुखः सन् प्रस्थानं करिष्यति तदा प्रोषितभर्तृकाः आश्वस्ताः सत्यः स्वप्रियसमागमहेतुभूतं मेघं नूनं प्रेक्षिष्यन्ते। बहूनि शुभशकुनानि वायोः आनुकूल्यं, विषमपार्श्वेस्थितानां सगर्वाणां चातकानां मधुरध्वनिः, वद्धपंक्तीनां विसकण्ठिकानां सहगामित्वमित्यादीनि मेघस्य यात्रायां शुभफलं दर्शयन्ति। अतः अप्रतिबाधगतिः मेघः तत्र गत्वा अवशिष्टदिवसगणनातत्परां यक्षागमनाशया जीवनीं पतिव्रतां यक्षप्रियां नूनं विलोकयिष्यति। मेघस्य श्रुतिमधुरं गर्जनं पृथिवीं सफलां कर्तुमलम्। तस्य एतादृशं गर्जनं श्रुत्वा मानसगमनाय उत्कण्ठिताः राजहंसाः मृणालनालपाथेयवन्तः आकाशे कैलासपर्वतपर्यन्तं सहायकाः सहचराश्च भविष्यन्ति। रामगिरौ यक्षः निवसति।

पर्वतोऽयं तुङ्गः। लोकाभिवन्दनीयैः श्रीरामस्य चरणाङ्कितैः चिह्नैः अस्य पर्वतस्य मेखलाप्रदेशः शोभते। प्रतिसंवत्सरं प्रावृट्समये प्रियसखस्य मेघस्य समागमं सः प्राप्नोति। अतः एतादृशं बन्धुमालिङ्गय यानारम्भः करणीयः इति यक्षः कथयति। दीर्घयात्रायां मध्ये मध्ये विश्रामोऽपि आवश्यकः। रामगिरितः अलकां यावत् सुदीर्घपथि श्रान्तः मेघः क्लान्त्यपनोदनाय पर्वतशिखरिषु विश्रम्य, वर्षणहेतोः क्षीणः सन् गिरिनिर्झराणां स्वच्छं पयः गृहीत्वा च मार्गातिक्रमं करिष्यति। मेघं प्रति यक्षस्य याचना वर्णनसन्दर्भे मेघदूतखण्डकाव्यानुसारं ऐतिहासिकस्थलानां समीक्षणं संशोधनमिदं अनुसन्धातृणां कृते परमोपकारकः भविष्यति।

सन्दर्भग्रन्थाः–

1. कालिदासग्रन्थावलिः, आचार्यरेवाप्रसादद्विवेदी, कालिदाससंस्थानम् महामनापुरी, वाराणसी सन् 2011
2. मेघदूतम् (सम्पूर्णम्), डॉ. बलवानसिंहयादव, चौखम्भासंस्कृतभवनम् वाराणसी, सन् 2008
3. कालिदास का भारत, भगवतशरण उपाध्याय, भारतीय ज्ञान पीठ, नवदेलही, सन् 2003
4. श्रीमद्भागवतमहापुराणम्, गीताप्रेस, गोरखपुरम्, सन् 2020
5. श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणम्, गीताप्रेस, गोरखपुरम्, सन् 2010
6. संस्कृत के सन्देश - डॉ. रामकुमार आचार्य, आदर्श प्रेस अजमेर, 1963
7. मनुस्मृतिः- चौखम्भासंस्कृतभवनम् वाराणसी, सन् 2008
8. मत्स्यमहापुराणम्, गीताप्रेस, गोरखपुरम्, सन् 2009
9. महाभारतम्, गीताप्रेस, गोरखपुरम्, सन् 2011
10. पद्मपुराणम्, गीताप्रेस, गोरखपुरम्, सन् 2000
11. गुरुणपुराणम्, गीताप्रेस, गोरखपुरम्, सन् 1990
12. श्रीविष्णुपुराणम् - गीताप्रेस, गोरखपुरम्, सन् 1999
13. वाराहपुराणम् - गीताप्रेस, गोरखपुरम्, सन् 1992

---

1. संस्कृत के सन्देश काव्य - पृ. स. 87, कालिदास का भारत - पृ. स. 17
2. पूर्वमेघदूतम् - श्लो. 1
3. संस्कृत के सन्देश काव्य – पृ. 87, कालिदास का भारत - पृ. स. 16
4. पूर्वमेघदूतम् - श्लो. 17
5. संस्कृत के सन्देश काव्य - पृ. स. 87 कालिदास का भारत - पृ. स. 15
6. पूर्वमेघदूतम् - श्लो. 19
7. श्रीविष्णुपुराणम् - अ. 3. 3 वाराहपुराणम् - अ. 85.5
8. संस्कृत के सन्देश काव्य - कालिदास का भारत - पृ. स. 17
9. पूर्वमेघदूतम् - श्लो. 26

10. संस्कृत के सन्देश काव्य - कालिदास का भारत - पृ. स. 19
11. पूर्वमेघदूतम् - श्लो. 46
12. संस्कृत के सन्देश काव्य - पृ. स. 90 कालिदास का भारत - पृ. स. 13
13. पूर्वमेघदूतम् - श्लो. 61
14. संस्कृत के सन्देश काव्य - पृ. स. 90 कालिदास का भारत - पृ. स. 8
15. पूर्वमेघदूतम् - श्लो. 62
16. महाभारतम् - वनपर्व - अ. श्लो., भीष्मपर्व - अ.10. श्लो.
17. संस्कृत के सन्देश काव्य - पृ. स. 87
18. पूर्वमेघदूतम् - श्लो. 16
19. संस्कृत के सन्देश काव्य - पृ. स. 87 कालिदास का भारत - पृ. स. 106
20. पूर्वमेघदूतम् - श्लो. 24
21. संस्कृत के सन्देश काव्य - पृ. स. 88 कालिदास का भारत - पृ. स. 29
22. पूर्वमेघदूतम् - श्लो. 25
23. संस्कृत के सन्देश काव्य - पृ. स. 88 कालिदास का भारत - पृ. स. 19
24. पूर्वमेघदूतम् - श्लो. 28
25. संस्कृत के सन्देश काव्य - पृ. स. 88 कालिदास का भारत - पृ. स. 29, 98
26. पूर्वमेघदूतम् - श्लो. 31
27. संस्कृत के सन्देश काव्य - पृ. स. 89 कालिदास का भारत - पृ. स. 104-105
28. पूर्वमेघदूतम् - श्लो. 51
29. संस्कृत के सन्देश काव्य - पृ. स. 89 कालिदास का भारत - पृ. स. 105
30. मनुस्मृति- अ. 2.17
31. पूर्वमेघदूतम् - श्लो. 52
32. संस्कृत के सन्देश काव्य - पृ. स. 89 कालिदास का भारत - पृ. स. 105
33. पूर्वमेघदूतम् - श्लो. 52
34. संस्कृत के सन्देश काव्य - पृ. स. 89 कालिदास का भारत - पृ. स. 108
35. पूर्वमेघदूतम् - श्लो. 54
36. हरिवंशमहापुराणम् -
37. संस्कृत के सन्देश काव्य - पृ. स. 90 कालिदास का भारत - पृ. स. 108
38. पूर्वमेघदूतम् - श्लो. 59
39. संस्कृत के सन्देश काव्य - पृ. स. 90 कालिदास का भारत - पृ. स. 112
40. पू पूर्वमेघदूतम् - श्लो. 67
41. महाभारतम् - सभापर्व - अ. 10. श्लो. 2.4
42. संस्कृत के सन्देश काव्य - पृ. स. 87 कालिदास का भारत - पृ. स. 16, 22-23, 128

43. पूर्वमेघदूतम् - श्लो. 19
44. संस्कृत के सन्देश काव्य - पृ. स. 88 कालिदास का भारत - पृ. स. 15-16, 23, 29
45. पूर्वमेघदूतम् - श्लो. 25
46. संस्कृत के सन्देश काव्य - पृ. स. 88
47. पूर्वमेघदूतम् - श्लो. 27
48. संस्कृत के सन्देश काव्य - पृ. स. 88 कालिदास का भारत - पृ. स. 22-23, 29
49. पूर्वमेघदूतम् - श्लो. 29
50. संस्कृत के सन्देश काव्य - पृ. स. 88 कालिदास का भारत - पृ. स. 22
51. पूर्वमेघदूतम् - श्लो. 30
52. संस्कृत के सन्देश काव्य - पृ. 89 कालिदास का भारत - पृ. 23
53. पूर्वमेघदूतम् - श्लो. 32
54. रघुवंशमहाकाव्यम् – 6.35
55. संस्कृत के सन्देश काव्य - पृ. स. 88 कालिदास का भारत - पृ. स. 23, 29
56. पूर्वमेघदूतम् - श्लो. 37
57. संस्कृत के सन्देश काव्य - पृ. स. 89 कालिदास का भारत - पृ. स. 23
58. पूर्वमेघदूतम् - श्लो. 44
59. संस्कृत के सन्देश काव्य - पृ. 89 कालिदास का भारत - पृ. 23, 29
60. पूर्वमेघदूतम् - श्लो. 47
61. संस्कृत के सन्देश काव्य - पृ. स. 89 कालिदास का भारत - पृ. स. 29
62. पूर्वमेघदूतम् - श्लो. 49
63. संस्कृत के सन्देश काव्य - पृ. स. 89 कालिदास का भारत - पृ. स. 22
64. पूर्वमेघदूतम् - श्लो. 53
65. नर्मदा महात्म्यम् - श्लो. 5
66. संस्कृत के सन्देश काव्य - पृ. स. 89 कालिदास का भारत - पृ. स. 89
67. पूर्वमेघदूतम् - श्लो. 54
68. मत्स्यपुराणम् - अ.106.54 पद्मपुराणम्- अ. 5.60.120 गुरुणपुराणम्- अ. 81.1-2
69. संस्कृत के सन्देश काव्य - पृ. स. 90 कालिदास का भारत - पृ. स. 38
70. पूर्वमेघदूतम् - श्लो. 66
71. बाल्मीकिरामायणम् - बा. 24.8, 9

असिस्टेन्ट प्रोफेसर,
संस्कृतसाहित्यविद्याशाखा
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः
लखनऊपरिसरः, लखनऊ।

उत्तररामचरिते भवभूतेर्लोकाराधनपरिपुष्टं वर्णनकौशलम्

– डॉ. पवनकुमारपाण्डेयः

(संस्कृत नाट्याकाश के देदीप्यमान नक्षत्र महाकवि भवभूति अपने अद्भुत वर्णनकौशल के लिए सुविख्यात हैं। सूक्ष्म मानवीय मनोभावों के चित्रण में आपके समान कोई नहीं है। एक ही पद्य में अनेक मनोभावों का एक साथ वर्णन आपकी अनूठी विशेषता है। भाषा एवं भावों का अद्भुत सामंजस्य यद्यपि आपके सभी नाटकों में पदे पदे दृष्टिगोचर होता है, किन्तु उत्तररामचरित में यह सर्वोत्कृष्ट रूप में विद्यमान है। यह समन्वयवादी दृष्टिकोण आपको लोकाराधन व्रत से प्राप्त होता है। सचमुच भवभूति के लिए लोक ही सब कुछ है, उससे बढ़ कर कुछ भी नहीं है।

उत्तररामचरित में उनकी इसी लोकोपकारक दृष्टि से परिपुष्ट वर्णन कौशल का प्रतिपादन करना ही इस शोध पत्र का प्रतिपाद्य है।)

मानवहृदयस्य सूक्ष्मरहस्यान्वेषणपटुः सहृदयतासहकृतभावनाविशेषमहिम्ना जगत्तादात्म्यसंस्थापकः सुकुमारपरुषभावचित्रणचञ्चरीकः मनोभावानामावेगानाञ्च निरूपणे सर्वथा कुशलः संस्कृतनाट्यवाङ्मयनभसि देदीप्यमानः श्रीकण्ठाभिधः महाकविर्भवभूतिः उभयोरपि लोकशास्त्रयोर्मर्मज्ञोऽस्ति। तस्य यथा शास्त्रेष्वगाध-पाण्डित्यं तथैव लोकव्यवहारविदग्धताऽपि नितरामलौकिकत्वं भजते। लोकमङ्गलम्, लोकरञ्जनं किं वा लोकाराधनमेव उत्तररामचरितस्य मूलभावो विद्यते। यथोक्तं भगवता श्रीरामेण प्रथमेऽङ्के–

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि ।
आराधनाय लोकानां मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ।।[1]

अत्र श्रीराममुखेन भवभूतिः स्पष्टमुद्घोषयति यद् लोकाराधनाय सर्वाधिकं प्रियमपि जनं परित्यक्तुं सर्वथा सन्नद्धाः भवन्ति महान्तः पुरुषाः। क्रौञ्चवध-श्लोकादभिभूतो भवभूतिः लोकमङ्गलाय एव प्रवृत्तः। उत्तररामचरिते जीवलोकः, देवलोकः, मृत्युलोकः तथा च लोकान्तरम् अपि राजते। शोधपत्रेऽस्मिन् महाकवेर्भवभूतेः उत्तररामचरिते लोकाराधनचित्रणपरिपुष्टं वर्णकौशलम् उपवर्णितमस्ति। व्यवहारेण लोकजीवनं चलति भवभूतिः कर्त्तव्यानुसारं व्यवहारमुपदिशति। प्रथमेऽङ्के सूत्रधारमुखात् राज्ञः उपस्थानस्य सुपरिशुद्धां

परिपाटिं स्तोत्रपद्धतिं प्रस्तोतुं मारिषं लोकव्यवहारं शिक्षयन् वक्ति–

सर्वथा व्यवहर्त्तव्यं कुतो ह्यवचनीयता।
यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः ।।[2]

अर्थात् व्यवहारः त्यक्तव्यो नास्तीति भावः।

जनस्य एको विशिष्टो स्वभावो भवति। जनता स्वभावानुसारं विश्वासमविश्वासञ्च करोत्येव। सीताविषयकं जनापवादमादाय महाकविः जनतायाः स्वभावस्योच्छृंखलतामेव स्थापयति। कस्याप्यनुष्ठानस्य नित्यताऽथवा नियतकर्तव्यता स्वातन्त्र्यमपहृत्य नित्यकर्म-खण्डनभयमुत्पादयति। नियतं कर्म सम्पादनीयमेव। लोकशास्त्रयोर्नियतकर्मणः अनुष्ठानत्वं प्रतिपादितमेव प्रथमेऽङ्के। यत्र रामभद्रमुखाद् भवभूतिः लोकशास्त्रयोः प्रतिष्ठितस्य एतद्व्यवहारस्य धर्माचरणस्य वा स्थापनं करोति। तद्यथा–

किन्त्वनुष्ठाननित्यत्वं स्वातन्त्र्यमपकर्षति।
संकटा ह्याहिताग्नीनां प्रत्यवायैर्गृहस्थता ।।[3]

गृहस्थाश्रमो लोके प्रत्यवायैर्विहितान्याचरणजन्यपातकैः आवृतः। सद्गृहस्थै-र्धार्मिकैः प्रायशः इदानीमपि नित्यमाचरणीयान्यनुष्ठानानि सङ्कल्पितानि भवन्ति एव।

भारते साक्षरा निरक्षराश्च जना जन्मतो दार्शनिका भवन्ति। संसारविषये, जीवनविषये, क्षणभंगुरताविषयेसुखदुःखयोर्द्वन्द्वात्मकयोः जीवनविषये सहजतया एतत्सत्यं प्रवदन्ति। प्रथमेऽङ्के श्रीरामः सीतां तदेवोपदिशन् कथयति **"एवमेतत्। एते हि हृदयमर्मच्छिदः संसारभावा येभ्यो बीभत्समानाः सन्त्यज्य सर्वान् कामान् अरण्ये विश्राम्यन्ति मनीषिणः।"**[4]

अधुनाऽपि समाजे धारणाऽस्ति यद्गर्भिण्याः इच्छायाः पूर्तिः करणीया एव। तस्या इच्छाया अनिच्छायाः प्रभावो गर्भस्थे जीवेऽपि जायते इति विश्वासः लोके विशेषतः स्त्रीषु वर्तते। अष्टावक्रेण प्रस्तुते सन्देशे गर्भिण्याः सीतायाः इच्छापूर्त्यर्थं विशेषाग्रहो दर्शितः। अत्र विशेषः यदेष आग्रहः भगवत्यारुन्धत्या, शान्तया देवीभिः भूयो भूयः सन्दिष्टः। इच्छापूर्तिरनिवार्यतयाविलम्बेन च कर्त्तव्येति।[5]

राज्ञः कर्तव्यं प्रजारञ्जनमेव। वशिष्ठः उपदिशति राज्ञः कर्तव्यं भोगो नास्ति, स्वस्य रञ्जनमपि न, अपितु राज्ञः कर्तव्यमेकमेव प्रजारञ्जनम्–

जामातृयज्ञेन वयं निरुद्धास्त्वं बाल एवासि नवं च राज्यम्।
युक्तः प्रजानामनुरञ्जने स्यास्तस्माद्यशो यत्परमं धनं वः ।।[6]

श्रीरामोऽपि भगवतो वशिष्ठस्योपदेशं जीवने सर्वथा पालितवानेव। रामस्य

जीवनं प्रजारञ्जनाय एवार्पितम्। लोकाराधनार्थं तु स्वप्राणप्रियां जानकीमपि परित्यक्तुम् उद्यतोऽस्ति।

लोके विवाहावसरे गोदानस्य मङ्गलसूत्रधारणस्य च विशिष्टं महत्त्वं भवति। एतदपि परिलक्षितं भवति उत्तररामचरिते यत्र सीता वक्ति–

"एते खलु तत्कालकृतगोदानमङ्गलाश्चत्वारो भ्रातरः विवाहदीक्षिता यूयम्"
रामः–

समयः स वर्तत इवैष यत्र मां समनन्दयत् सुमुखि गौतमार्पितः ।
अयमागृहीतकमनीयकङ्कणस्तव मूर्तिमानिव महोत्सवः करः ।।[7]

विवाहात्पूर्वमेव केशान्तसंस्कारं सम्पाद्य चत्वारो भ्रातरः चित्रे दर्शिताः। 'गोदानमङ्गलाः इत्यस्य क्षौरकर्म इत्यर्थः वीरराघवेन कृतः। कालिदासोऽपि गोदानविधेश्चर्चां करोति। मल्लिनाथेन तत्र गोदानविधिरित्यर्थः कृतः। मनुर्याज्ञवल्क्यौ केशान्तः पुनः गोदानाख्यं कर्म इत्युक्तवन्तौ। विवाहावसरेऽधुनाऽपि गोदानं क्रियते लोके। 'आगृहीतकमनीयकङ्कणः 'गौतमशतानन्देन समर्पितेन सुन्दरमङ्गलसूत्रेण शोभितः करः। उभयत्रापि भवभूतिः लोकपरम्परां प्रकाशयति। लोकजीवनस्य रहस्यमेवोद्घाटयति। पुनश्च तृतीयेऽङ्के परिणयविधौ कङ्कणधरः"[8] इत्यत्र लोकपरम्परां स्मारयति महाकविः। जनापवादा अधुनाऽपि भवन्ति लोके। जनापवादेनैव देव्याः सीतायाः निर्वासः सञ्जातः। दार्लकविषमिव सर्वतः प्रसक्तं दूषणम्। इदानीमपि परपुरुषगृहवासः स्त्रीणां कृते दार्लकविषमिवेति। अन्यत्र कृतं प्रमाणीकरणं शुद्धीकरणं लोकेऽधुनाऽपि नाभिमतम्–

इक्ष्वाकुवंशोऽभिमतः प्रजानां जातं च दैवाद्वचनीयबीजम् ।
यच्चाद्भुतं कर्म विशुद्धिकाले प्रत्येतु कस्तद्यदि दूरवृत्तम् ।।[9]

यथा राजा भवति तथैव प्रजा भवति। राजा एव कालस्य कारणं भवतीति लोकविश्वासः। आत्रेयी द्वितीयेऽङ्के वासन्तीं तमेव विश्वासं ज्ञापयति "न राजापचारमन्तरेण प्रजानामकालमृत्युः।" इति।

प्रतिवर्षं जन्मतिथौ गणपतिं दिनपतिं सम्पूज्य मात्रादिभिः बालकानां मङ्गलाय करे सूत्रमभिबध्यते इति लोकाचारः, तच्च सूत्रं जन्मग्रन्थिरित्यभिधीयते। इदानीमपि भारते प्रायः पारम्परिकेषु परिवारेषु जन्मदिवसोत्सवः एवम्प्रकारेणैव सम्पाद्यते– **"अद्य खल्वायुष्मतोः कुशलवयोर्द्वादशस्य जन्मसंवत्सरस्य संख्यामङ्गलग्रन्थिरभि-वर्तते।"**[10]

एतदपि भवभूतेर्लोकचिन्तनस्यैव प्रमाणम्।

सम्प्रति लोके एकमाभाणकं प्रसिद्धमस्ति 'जले पर नमक छिड़कना'

तात्पर्यमस्ति यत्र घातः व्रणो वा तत्र लवणस्य पातनम्। अस्मिन् विषये महाकविः कथयति– **"क्षते क्षारमिवासह्यं जातं तस्यैव दर्शनम्"**[11]

कथमत्र उपर्युक्ताभाणकस्य 'क्षते क्षारम् इत्येकेनैव शब्देन मर्माविबोधितम् इति।

लोके जनापवादस्य सम्भावनायां भाग्येषु च जनाः बहु विश्वसन्ति। तदुक्तमत्राऽपि– **एतत्किल समन्ततः प्रवृत्तविभत्सकिंवदन्तीकाः पौराः, न चाग्निशुद्ध-मनल्पकाः प्रतियन्तीति दारुणमनुष्ठितं दैवम्।"**[12]

दैवस्य भवितव्यतायाश्च विश्वासो लोके प्रतिष्ठित एव। भाग्यस्य कारणत्वं योगे-दुर्योगे वा समाजे, लोकजीवने दृश्यते। लोकस्य एतस्यैव भाग्यवादस्य चिन्तनं प्रकृते सन्दर्भे स्पष्टमेव–

सुहृदिव प्रकटय्य सुखप्रदां प्रथममेकरसामनुकूलताम् ।
पुनरकाण्डविवर्तनदारुणः परिशिनष्टि विधिर्मनसो रुजम् ।।"[13]

अत्र दैवेन निरूपितयोः सुखदुःखयोः एकत्र संघटनाप्रदर्शितेति। यद्भवति, यत्फलति तद् भाग्यत एव इत्यस्य लोकविश्वासस्य निदर्शनमत्र कविना भवभूतिना कारितम्।

भवभूतिकालादेव कन्यायाः पितरः जामातुः आप्तं जनं पूजयन्ति इति सर्वत्र लोके दृश्यते। कन्यावरसम्बन्धे अनयोः परिवारस्य आचारः पूज्यपूजक-भावस्य भवति स्म। एतस्य लोकव्यवहारस्य उदाहरणमिदम् पद्यम्–
जनकः– **'कन्यायाः किल पूजयन्ति पितरो जामातुराप्तं जनम्'**

चुम्बक इत्यस्य कृते 'अयस्कान्तशकलशब्दः प्रयुक्तः। सौन्दर्यस्याकर्षणे चुम्बकीयाकर्षणस्य वाचिकी लाक्षणिकता लोके दृश्यतेऽनुभूयते च प्रायः। लवस्य सौन्दर्यपूर्णं स्वरूपं दृष्ट्वा जनकस्य मनः- चुम्बकीयाकर्षणस्योदाहरणं जातम्।

लोके पुत्र्यो विपत्तौ पितरं स्मरन्ति एव। विशेषतः श्वसुरालयपक्षतः पीड्यमानाः। जनकस्येदं कथनं तं स्वभावजं मार्मिकं भावं द्योतयति–

नूनं त्वया परिभवं च वनं च घोरं, तां च व्यथां प्रसवकालकृतामवाप्य ।
क्रव्याद्गणेषु परितः परिवारयत्सु, सन्त्रस्तया शरणमित्यसकृत् स्मृतोऽस्मि ।।[14]

लोके धारणाऽस्ति, यदहंकारयुक्ता निन्दायुक्ता च वाणी कलहस्य कारणं भवति। लोके तादृशी राक्षसी वाणी अनादरस्य कारणं भवत्येव। लवस्य कथने एतस्य सुन्दरं निरूपणम् कृतं महाकविना–

ऋषयो राक्षसीमाहुर्वाचमुन्मत्तदृप्तयोः ।
सा योनिः सर्ववैराणां सा हि लोकस्य निर्ऋतिः ।।[15]

सर्ववैराणां कारणभूतेयं वाणी, तद्विपरीतं सूनृता, मधुरा, दोषशून्या, कार्कश्यरहिता, अहङ्काररहिता च वाणी कामान् पूरयति, अलक्ष्मीं दूरीकरोति, कीर्तिं गुणवत्तां च जनयति। महाकविः भवभूतिः 'वाचं वदत भद्रया' इत्यादि वेदमन्तव्यमपि स्वकीये उत्तररामचरितनाटके प्रस्तौति।

उपर्युक्तविवेचनेनेदं स्पष्टं भवति यद् महाकविर्भवभूतिः लोकस्य विविधभावानां सूक्ष्मतया निरीक्षणेऽतीव कुशलोऽस्ति, तस्य सूक्ष्मेक्षिकया मत्या लोकस्य न कोऽपि भावो विषयो वा तिरोहितः। वयं वक्तुं शक्नुमो यद् सत्यमेव महाकविर्भवभूतिः लोकचित्तभूमेर्यथार्थवेत्तेति गोवर्धनाचार्यैरपि प्रमाणीकृतं तस्य कारुण्यवर्णनं प्रशंसयन्ननेन पद्येन–

भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति ।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा ।।[16]

स्वकीययाद्भुतया वर्णनशक्त्या पाषाणादीनपि रोदयितुं समर्थो महाकविर्भव-भूतिः संस्कृतसाहित्यस्य अनुपमं रत्नमस्ति। विविधानां मानसिकभावानां विश्लेषणे, प्रकृति-चित्रणे, कथानां शिल्पविधाने, कल्पनायाः उड्डयने, रसस्यावतारणायां, विशुद्धस्य प्रेम्णः चित्रणे च भवभूतेः उच्चतमं स्थानं विद्यते।

तेषां शैल्यां भाषाभावयो: अद्भुतं सामञ्जस्यमस्ति। भाषा विषयानुसारिणी अस्ति। महाकविरसौ भयोत्पादकानां दृश्याणां चित्रणे, समाससङ्कुलम् ओजोगुण-विशिष्टं पद्यं लिखितुं यादृशो समर्थस्तथैव कोमलप्रसंगेषु समासरहितां सरलां रचनामपि विधातुं समर्थः। गौडीरीतेः सम्राट् भूत्वापि वैदर्भेः उपासकोऽस्ति। स एकतः

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि ।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति ।।[17]

सदृशं सरलं पद्यं विलिखति अपरतश्च–

ज्याजिह्वया वलयितोत्कटकोटिदंष्ट्रमुद्गारिघोरघनघर्घरघोषमेतत् ।
ग्रासप्रसक्तहसदन्तकवक्त्रयन्त्रजृम्भाविडम्बिविकटोदरमस्तु चापम् ।।[18]

सदृशानां विकटाक्षरबन्धानां पद्यानां लेखनेऽपि समर्थोऽस्ति। तस्य रचनासु भाषायाः प्रौढता, शब्दविन्यासस्य प्राञ्जलता, अर्थगौरवस्य प्राधान्यञ्च प्राचुर्येण उपलभ्यते। तेन स्वयमेव संकेतितः स्वकीयशैल्याः विषये–

यत्प्रौढत्वमुदारतां च वचसां यच्चार्थतो गौरवम् ।
तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमकं पाण्डित्य-वैदग्धयोः ।।[19]

भवभूतेः भावपक्षस्य प्राबल्यम् अस्ति। विविधानां मनोभावानां यथानुरूपं वर्णने अद्वितीयोऽयं महाकविः। पञ्चवट्यां रामस्य दर्शनानन्तरं सीतायाः हृदयस्य का दशा समभवदित्यस्य वर्णनं तमसा एवं करोति–

तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवशाद्-
वियोगे दीर्घेऽस्मिन् झटिति घटनास्तम्भितमिव।
प्रसन्नं सौजन्याद्दयितकरुणैर्गाढकरुणं
द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन् क्षण इव।।[20]

पद्येऽस्मिन् सहैवानेकानां भावानां कीदृशं मनोहरं चित्रणमस्तीत्यवलोकनीयः।

भवभूतिः पात्रानुरूपामेव भाषां प्रयुङ्क्ते। अष्टावक्रस्य, वाल्मीकेः, ब्रह्मचारिवटूनाञ्च भाषा आश्रमानुरूपमेवास्ति। वशिष्ठस्य सन्देशम् अष्टावक्रः एवं श्रावयति–

जामातृयज्ञेन वयं निरुद्धास्त्वं बाल एवासि नवं च राज्यम्।
युक्तः प्रजानामनुरञ्जने स्यास्तस्माद्यशो यत् परमं धनं वः।।[21]

यथा जनकस्य अरुन्धत्याः वशिष्ठस्य च भाषा दार्शनिकचिन्तनेन ओतप्रोतमस्ति तथैव तमसा-मुरला-विद्याधराणाञ्च भाषितम् अलौकिकैः तत्त्वैः युक्तमिव विभाति। यथा तृतीयेऽङ्के तमसा वदति–

पूरोत्पीडे तटाकस्य परीवाहः प्रतिक्रिया।
शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते।।'[22]

उत्तररामचरितस्य प्रथमेऽङ्के कविः चित्रदर्शनयोजनां कल्पयति। सीतारामयोः अनुभूतभावनां चित्रयति। आपाततः चित्रदर्शनस्य कारणं सीतायाः मनोरञ्जनं प्रतिभाति। वस्तुतः सीतां प्रति स्नेहार्द्रतां प्रकटयितुमिच्छति रामः। सीता तु चित्रवीथिकायाम् अरण्यवासस्मरणेन स्वीयम् अचेतनं मनः पुनरपि अरण्यवासस्य अपेक्षातः अज्ञातरूपेण परावर्तयितुं न प्रभवति। परिणामतः पुनः वनदर्शनेच्छां प्रकटयति– **"जाने पुनरपि प्रसन्नगम्भीरासु वनराजिषु विहृत्य पवित्रनिर्मलशिशिर-सलिलां भगवतीं भागीरथीमवगाहिष्य इति।"**[23]

एवं श्रीरामस्य लोकैषणा-दारैषणयोः संघर्षः कविना सयुक्तिकं प्रत्यपादि। गुप्तचरमुखेन सीताविषयं लोकापवादं शृण्वन् श्रीरामः द्वयोः संघर्षमनुभवति। मनस्विजनः लौकिकदृष्ट्या चिन्तयति 'केनापि कर्मणा मे अपकीर्तिः न स्यादिति'। दुर्मुखमुखेन सीतां प्रत्यागताम् अपवादवाणीं परामृशन् रामः सीतापरित्यागं निश्चिनोति। स्वयं सीतायाः पातिव्रत्यं जानन्नपि लोके भवभूतिः लोकैषणामवलम्बते। यथा–

सतां केनापि कार्येण लोकस्याराधनं व्रतम् ।
यत्पूरितं हि तातेन मां च प्राणांश्च मुञ्चता ।।[24]

भवभूतेः श्रीरामः धीरोदात्तः प्रशासकः। प्रजातुष्टिः तस्य प्रधानं कर्तव्यं, वंशपरम्परा च वर्तते। अतः लोकापवादं निराकर्तुं कुलव्रतम् अनुसर्तुं सीतापरित्यागो अनिवार्यो जायते। तस्मात् वंशपरम्परायाः आदर्शं पालयन् स्वसुखं न्यक्कृत्य सीतापरित्यागं स्वीकरोति। यद्यपि भारतीयधर्मशास्त्रानुसारं विवाहानन्तरं परस्परं सुख-दुःखसंविभागः दम्पत्योः कर्त्तव्यं भवति। पत्न्याः संरक्षणमिच्छापूरणञ्च भर्तुः मुख्यं कर्तव्यं वर्तते। तथापि श्रीरामः निर्दुष्टां, गर्भवतीं च सीतां पर्यत्यजत्। एतत्तु मनोवैज्ञानिकं तथ्यं सूचयति। व्यक्तेः मनसि नैकाः अपेक्षाः पूर्ववासनाः समकालं जाग्रति, क्वचित् परिस्थितयः तदपेक्षया शक्तिशालिन्यः सत्यः प्रभावयन्ति। श्रीरामस्य लोकैषणापूर्तिः दारैषणापरित्यागेनैव सिध्यति–

"यत्साविषैः दीपितं भूमिपालैः लोकश्रेष्ठैः साधुचित्रं चरित्रम् ।
मत्सम्बन्धात् कश्मला किंवदन्ती स्याच्चेदस्मिन् हन्त ! धिग् मामधन्यम् ।।"[25]

अधिगमविषये लव-कुशयोः ग्रहणसामर्थ्यं तापस्याः आत्रेय्याः सामर्थ्यम् अतिशेते। तत्र अध्ययनस्य गाम्भीर्यं, साहचर्यं च प्रभावयतः। सत्यामपि ज्ञानपिपासायां तापसी आत्रेयी लव-कुशवत् विद्याग्रहणार्थं न प्रभवतः। तत्र अध्यापनं गुरोः बोधनं वा कारणं नास्ति। वयः साहचर्यम् इत्यादिकं कारणं विद्यते। यथा–

"वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां तथैव यथा जडे,
न तु खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहन्ति वा ।
भवति हि पुनर्भूयान् भेदः फलं प्रति तद्यथा
प्रभवति शुचिर्बिम्बग्राहे मणिर्न मृदादयः ।।"[26]

'अनुभवजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' इति शास्त्रवचनानुसारं प्रत्यभिज्ञानं जायते। तत्र स्मरणप्रक्रियायां प्रत्यभिज्ञा, उद्दीपकस्य स्फुटता, अनुभवस्य महत्त्वं कारणानि भवन्तीति मनोविज्ञानिनः प्रतिपादयन्ति। शम्बूकवधार्थं श्रीरामः दण्डकारण्यं प्रविशति। तदा सीतया सह व्यतीतदिनानि अभिसाक्षात्करोति–

एतत्पुनर्वनमहो कथमद्य दृष्टं यस्मिन्नभूम चिरमेव पुरा वसन्तः ।
आरण्यकाश्च गृहिणश्च रताः स्वधर्मे सांसारिकेषु च सुखेषु वयं रसज्ञाः ।।[27]

अपि च–

एते त एव गिरयो विरुवन्मयूरा-स्तान्येव मत्तहरिणानि वनस्थलानि ।
आमञ्जुवञ्जुललतानि च तान्यमूनि नीरन्ध्रनीलनिचुलानि सरित्तटानि ।।[28]

अन्यदपि– **मेघमालेव यश्चायमारादपि विभाव्यते ।**
गिरिः प्रस्रवणः सोऽयं यत्र गोदावरी नदी ।।[29]

पुनरपि– **अस्यैवासीन्महति शिखरे गृध्रराजस्य वास-**
स्तस्याधस्ताद्वयमपि रतास्तेषु पर्णोटजेषु ।
गोदावर्याः पयसि विततश्यामलानोकहश्री-
रन्तः कूजन्मुखरशकुनो यत्र रम्यो वनान्तः ।।[30]

पञ्चवटीस्थलस्य अवलोकनेन सीता-रामयोः व्यतीतदिनानां स्मरणं जायते। परिणामतः उभावपि परस्परं समागमाय व्याकुलौ भवतः। सोऽयं वियोगः दुःखग्रस्तः ततः पलायितुं प्रेरयति।

रामः (अश्रुतमभिनीय)–

करकमलवितीर्णैरम्बुनीवारशष्पैस्तरूशकुनिकुरङ्गान्मैथिली यानपुष्यत् ।
भवति मम विकारस्तेषु दृष्टेषु कोऽपि द्रव इव हृदयस्य प्रस्तरोद्भेदयोग्यः ।।[31]

अपवादवशात् सीतापरित्यागेन यद्यपि सीतायाः रामः दोषी आसीत्। पत्न्याः सुरक्षारूपं कर्तव्यमपरिगणय्य गर्भावस्थायां सूचनां विना उपायेन सीतापरित्यागेन सहजतः अन्तःकुपितापि सीता यदा धैर्यहीनः पुरुष इव वारं-वारं मूर्च्छितं श्रीरामं पश्यति तदा तं प्रति सहानुभूतिं भजते। तन्मनसः कालुष्यम् अपसरति। लोकैषणापरस्य श्रीरामस्य असहायकतां स्वयमवगच्छति। पतिविरहेण सह पुत्रयोः पार्थक्यमपि सोढव्यम् आपतितम्। तदा सीता उद्गिरति-

"ईदृश्यस्मि मन्दभागिनी, यस्या न केवलमार्यपुत्रविरहः पुत्रविरहोऽपि ।"

सीतापरित्यागजन्येन दुःखेन जनकः महती मानसिकपीडामनुभवति। दण्डायनस्य कथनसन्दर्भे कविः जनकस्य स्थितिं वर्णयति। स्वीकृतवानप्रस्थाश्रमो जनकः सीतापरित्यागवार्तया नितान्तं तप्तः दमनप्रवृत्या रामं न दण्डयति। यद्यपि स साक्षात् कोपं न दर्शयति, दुःखं सोढुं यतते तथापि अन्तरङ्गे मानसिकपीडामनुभवति। निरन्तरं तपश्चरन्नपि राजर्षिः जनकः यदा वाल्मीकिमहर्षेः आश्रमम्। उपगच्छति तदा सीतां स्मरन् दुःखेन समुद्गिरति–

अपत्ये यत्तादृग्दुरितमभवत् तेन महता,
विषक्तस्तीव्रेण व्रणितहृदयेन व्यथयता ।
पटुर्धारावाही नव इव चिरेणापि हि न मे
निकृन्तन्मर्माणि क्रकच इव मन्युर्विरमति ।।[32]

कठिनायां परिस्थितौ महारण्ये राक्षसानां मध्ये पुत्र्याः सीतायाः परित्याग-वार्ता जनकं भृशं पीडयति। वृद्धावस्थायां वानप्रस्थमाचरन् जनकः

दुःखनिवारणोपायम् अजानन् स्वमृत्युकामनां प्रकटयति, परम् आत्महत्यामार्गं नाश्रयति। जनकस्य अन्तःकरणवेदनां तमसापि न शाम्यति। सेयं पीडा जनकहृदयं दहत्येव। स्वपुत्र्याः मातरं भूमिं शपन् स्वात्मानं शमयति। यथा– भगवति वसुन्धरे ! सत्यमतिदृढासि–

त्वं वह्निर्मुनयो वसिष्ठगृहिणी गङ्गा च यस्या विदुः
माहात्म्यं यदि वा रघोः कुलगुरुर्देवः स्वयं भास्करः ।
विद्यां वागिव यामसूत भवती तद्वत्तु या दैवतं
तस्यास्त्वद्दुहितुस्तथा विशसनं किं दारुणेऽमृष्यथाः ।।[33]

उत्तररामचरिते एवं विविधासु परिस्थितिषु चित्रितैः नाटकपात्रैः भवभूतेः वाणी विलसति। मनसः विविधभावान् काले-काले यथोचितं नाटकपात्रद्वारा अभिव्यञ्जयन् कविः असाधारणीं काव्यशक्तिं प्रकटयति। भवभूतिः स्वनाटके करुणभावनाचित्रणे अतुलनीयः। अस्यैव काव्ये सामर्थ्यमिदं यत्श्रुत्वा–

"अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्"[34]

उत्तररामचरितस्य समस्तोऽपि तृतीयोऽङ्कः अनयैव करुणधारया आप्लावितोऽस्ति। रामं पूर्ववार्तां स्मारयन् वासन्त्या उक्तमिदं पद्यं कस्य सहृदयस्य हृदयं न विदारयति–

अस्मिन्नेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षणः
सा हंसैः कृतकौतुका चिरमभूद् गोदावरीसैकते ।
आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया
कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः ।।[35]

भवभूतिः आदर्शस्य प्रेम्णः व्याख्यातास्ति। वासनया कलुषितस्य प्रेम्णस्तु स्थानमेव नास्ति तस्य रचनासु। तस्य मते सत्यस्य प्रेम्णः सर्वदैव एकवत् स्थितिर्भवति, व्यतीतेष्वपि कालेषु न तस्मिन् ह्रासो अपितु उत्तरोत्तरं वृद्धिरेव समायाति। प्रेमी स्वकीयस्य प्रियस्य कृते किमप्यकुर्वन्नपि अमूल्यो निधिः भवति। सन्ततिस्तु दम्पत्योः प्रेम्णः वर्द्धनशक्तिरूपेण चित्रितो भवभूतिना–

न किञ्चिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति ।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः ।।[36]

अपि च– **अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात् ।**
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति बध्यते ।।[37]

विवेचनेनानेन स्पष्टं भवति यद महाकविर्भवभूतिः न केवलं संस्कृत-साहित्यस्य अपितु समग्रस्य विश्वसाहित्यस्य अग्रगण्येषु कविषु अन्यतमः, तस्य

अद्भुतवर्णनकौशलेन उत्तररामचरितञ्च श्रेष्ठतमं नाटकं सञ्जातमस्ति। सत्यमेवोक्तं भोजप्रबन्धे–

सुकविर्द्वितयं मन्ये निखिलेऽपि महीतले ।
भवभूतिः शुकश्चायं वाल्मीकिस्त्रितयोऽनयोः ।। इति ।।[38]

सन्दर्भग्रन्थः–

1. उत्तररामचरितम्, 1/12
2. तत्रैव, 1/5
3. तत्रैव, 1/8
4. तत्रैव, पृ.-16, सं. डॉ. रमाकान्त त्रिपाठी
5. तत्रैव, पृ. 21
6. तत्रैव, 1/11
7. तत्रैव, 1/18
8. तत्रैव- 3/40
9. तत्रैव, 1/44
10. तत्रैव, 3/
11. तत्रैव, 4/7
12. तत्रैव, चतुर्थेऽङ्के
13. तत्रैव, 4/15
14. तत्रैव, 4/23
15. तत्रैव, 5/30
16. गोवर्धनाचार्यः, आर्यासप्तशती, 1/36
17. उत्तररामचरितम्, 2/7, सं. डॉ. रमाकान्त त्रिपाठी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी
18. तत्रैव- 4/29
19. मालतीमाधवम्- 1/10
20. उत्तररामचरितम् 3/13
21. तत्रैव- 1/11
22. तत्रैव- 3/29
23. उत्तररामचरिते, प्रथमाङ्के, श्रीरामसीतासंवादः, पृ. सं. 56
24. उत्तररामचरिते 1/41
25. तत्रैव- 1/42
26. तत्रैव- 2/4
27. तत्रैव- 2/22
28. तत्रैव- 2/23

29. तत्रैव- 2/24
30. तत्रैव- 2/25
31. तत्रैव- 3/25
32. तत्रैव- 4/3
33. तत्रैव- 4/5
34. तत्रैव- 1/28
35. तत्रैव- 3/37
36. तत्रैव- 2/19
37. तत्रैव- 3/17
38. भोजप्रबन्धः /191, सं.पं. केदारनाथ शर्मा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ. सं. 86

सहायकाचार्यः, संस्कृतविभागः
नागरिकस्नातकोत्तरमहाविद्यालयः,
जंघई, जौनपुरम् ।
ईमेल - pkpande.28@gmail.com

भारतीयज्ञानपरम्परायामाचार्यसुधाकरावदानम्

– डॉ. मधुसूदनमिश्रः

(Acharya Sudhakar Dwivedi has a very special contribution towards the Indian knowledge tradition. His contribution in the tradition of astronomy is incomparable. Writing of new texts and interpretations of previously existing texts has been the specialty of Acharya Sudhakar Dwivedi. Along with astronomy, he is remarked as the propounder of mathematical principles and the coordination of modern and ancient mathematics. In the tradition of Indian planetary calculations, Acharya Sudhakar Dwivedi has specially nurtured the subjects of various mathematical aspects. Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi has published a series of works of Acharya Sudhakar Dwivedi and an observatory has also been developed in his memory in the premises. A wide series of disciples and study tradition has been presented by Acharya Sudhakar Dwivedi. His contributions in various domains are still needed to be enlightened. Through the presented research paper, an attempt has been made to throw light on the personality, work and contribution of the erudite scholar Acharya Sudhakar Dwivedi in the Indian knowledge tradition)

प्रास्ताविकम्–

भारतीयज्ञानपरम्परायामाधुनिकनिकज्योतिर्वित्सु महामहोपाध्याया: पं. सुधाकरद्विवेदिनः उन्नायकाः आसन्। सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयात् वाराणसीतः तेषां स्मृतौ पं. सुधाकरद्विवेदिलघुग्रन्थमालाक्रमे तैः विरचितानां ग्रन्थानां सम्पादन-पूर्वकं पुनः प्रकाशनं च क्रियते। येन प्रायशः तेषां कृतयः सम्प्रति समुपलभ्यन्ते। किञ्च तेषां कर्मभूमौ अद्यतनीये सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये तेषां स्मृतौ महामहोपाध्यायसुधाकरद्विवेदिवेधशालापि स्थापितास्ति। किञ्च विद्वद्वैभवपरम्परायां सुधकरद्विवेदिनमाश्रित्य विश्वविद्यालयद्वारा लघुवृत्तिचित्रमपि लोकार्पितमस्ति। इत्थं सुधावर्षिणीकारः महामहोपाध्यायः सुधाकरद्विवेदी ज्योतिषजगति मार्तण्ड इवासीत्। ग्रन्थलेखने सम्पादने अध्यापने, शास्त्रसंरक्षणे तेषामवदानं टंकयितुं न शक्यते।[1] एतै: ज्योतिषशास्त्रस्य लुप्तानां प्राचीनग्रन्थानां प्रकाशने स्वकीयव्याख्याप्रदानेन भाष्यानां पल्लवने उपपत्तौ च महान् श्रम: विहित:। न केवलं ज्योतिषशास्त्रे प्रत्युत हिन्दीसाहित्योन्नयनेऽपि तेषां महन्महत्त्वं वरीवर्ति । तद्धि–

विज्ञानवीथीपथिकैरूपास्य: सिद्धान्तसिंहासनसार्वभौम: ।
प्राचीप्रतीचीगणितज्ञवन्द्य: सुधाकरोऽयं महनीयकीर्ति: ।।[2]

आचार्यसुधाकरद्विवेदिमहोदयानां जन्म ईस्वीयसन् ख्रिस्ताब्दे 1860 तदनु वैक्रमाब्दे 1917 चैत्रशुक्लचतुर्थ्यां काश्यां वरूणातः उत्तरस्यां दिशि चौकाघाट-सेतुतोऽग्रे खजुरीनामके ग्रामेऽभवत्। अयं ग्राम अधुना वाराणसी "कचहरी" इत्याख्यस्थानात् उत्तरे विद्यते। एतेषां पूर्वजानां जन्म गोरक्षपुरे इदानींतने "गोरखपुरनगरे" आसीत्। कालान्तरे वृद्धप्रतिपामहाः काश्यां समागत्य स्वमातामहानां सविधे दत्तकरूपेण अनुगताः। वस्तुतः तदानीन्तने काले काश्यां प्रचलितैका मासिकपत्रिका सुधाकरनामिकासीत्। एकदा तत्पत्रवाहको यदैव चरित्रनायक-पितामहस्य हस्ते तत्पत्रं समर्पितवान् तदैव गृहान्तरतो दासी शुभसंवादमददात् तस्य पौत्रोऽभूदिति तदैवैतादृशशुभसंवादं श्रुत्वा युगपदेव पौत्ररत्नस्य तत्पत्रिकायाश्च प्राप्तिरभूत् तेन कथितं यदस्य बालकस्य नामकरणं सुधाकर इत्येव करणीयम्। अष्टमे वर्षे फाल्गुनशुक्लपञ्चम्यां 1925 (1868 ई.) एतेषामक्षरारम्भो जात:। स्वविरचिते दीर्घवृत्तलक्षणनामके ग्रन्थे लिखितं यत्–

काश्यां सौम्ये विश्वनाथाद्विभाति गव्यूत्यर्द्धे भव्यमूर्तिर्महेशः।
पृथ्वीशाख्यः तस्य पार्श्वे निवासो ग्रामे विद्वन् राजगेहार्चिते मे ।।[3]

(क) अध्ययनं गुरुपरम्परा च–

आदौ अयं किमपि ज्योतिषं व्याकरणञ्च पठेत् येनास्य जीवनयापनं चलेत् कर्मकाण्डादिकं जातकादिकं चायं पश्येदिति धिया तेषां काशीगमनेच्छाभवत्। एतेषां शिक्षा समीचीना स्यादयं महान् पण्डितो च भवत्विति पितृणामिच्छा आसीत्। तेषां वृत्ति: कर्मकाण्डेनैव प्राचलत्। अत: निश्चित्य स्वग्रामप्रान्ते तेषां पौरोहित्यमासीत् अतो यदेभि: प्रथमं व्याकरणं पुराणादिकञ्च पठनीयं पश्चात् ज्योतिषीयमध्ययनं येन पौरोहित्यकर्मणि सौलभ्यं सम्पद्येत। अत: तत्कालीने संस्कृतमहाविद्यालये इमे दुर्गादत्तशास्त्रिमहोदयानां सविधे व्याकरणशास्त्राध्ययनं प्रारब्धवन्त:। एकस्मिन् दिने पितृवर्यै: साकं कौमुदीमनोरमेत्यादिपुस्तकं सम्यक् समधीत्य काशिकराजकीय-संस्कृतमहाविद्यालये पं. श्रीदेवकृष्णमिश्रेभ्यो ज्यौतिषद्वितीयाध्यापकेभ्यो ज्योतिषा-ध्ययनं समारब्धम्। तदानीं तत्र प्रधानाध्यापका: स्वनामधन्याः ख्यातयशस्काः ज्योतिर्विदः महामहोपाध्यायाः पण्डिताः बापूदेवशास्त्रिण: आसन्। ज्यौतिषा-ध्यापनादिकं तदानीमेकस्मिन्नेव प्रकोष्ठे आसीत्। एषां पिता कृपालुदत्तद्विवेदी एतानादाय संस्कृतमहाविद्यालये गत्वा स्वयं दूरे एव स्थित्वा आदिष्टवान् यत् गच्छ तत्र शास्त्रिवर्यसमीपे उपविश यावदहमावश्यकं कार्यं सम्पाद्यागच्छामि। परन्त्वेभि: देवकृष्णमिश्रमेव शास्त्रिवर्यं बुद्ध्वा तस्य समीपे उपवेशनं कृतम्। किञ्चित्कालानन्तरं यदा पित्रा मिश्रसमीपे एषां स्थितिर्दृष्टा तदा एतान् आहूय भृशं भर्त्सितवान्। परञ्च एभिः उक्तः– "**पित:**

एष मिश्रो हृदयतो मम गुरूर्जातः अत्र परिवर्तनं केनापि प्रकारेण भवितुमशक्यम्।"[4] अत एभिः ज्योतिषं यत्किञ्चित्पठितं तद्देवकृष्णमिश्रादेवेति परम्परया ज्ञायते। अथ सुधाकरद्विवेदिनः अध्ययनकालस्यैका घटना विद्यते यस्याः उल्लेखकरणं महत्त्पूर्णं विद्यते। मं.म.प. बापूदेवशास्त्रिभिः व्यक्तगणितस्य प्रथमभागो मुद्रापितः। तस्यैकं पुस्तकं प्रतिरूपेण पं. देवकृष्णमिश्रमहोदयाय समर्पितम्। तदवलोक्यापूर्वमिदं पुस्तकमिति स्वगुरुवरतः आदरपूर्वकं गृहीत्वा एते स्वगृहमागताः। तत्र नैकाः अशुद्धीः संशोध्य प्रातरागत्यैभिरुक्तं यदत्र प्रायेणाशुद्धिर्दृश्यते। श्रुत्वेदं पं. मिश्रमहोदयस्तु सकम्पो जातः, मुहुर्मुहुः हस्तमुद्रया मौनमालम्ब्यतामिति संकेतितवान्। यतो हि तत्कालीनाः शास्त्रिवर्याः गणितक्षेत्रे अप्रतिहताः विद्वांसः आसन्। तत्रैवापरे भागे स्थिताः महामहोपाध्यायाः सर्वं कौतूहलं स्वयं प्रदृश्य तानाहूतवन्तः। तैश्च प्रतिभां गणितशास्त्रे कुशाग्रबुद्धिञ्च निभाल्य तदानीन्तनस्य संस्कृतपाठशालायाः अध्यक्षस्य "ग्रिफिथ" महोदयस्य समीपे लिखितं यत्–

"यदयं सुधाकरशर्मा गणिते बृहस्पतिसमः।"

एतेन शीघ्रमेव प्रसन्नेन अध्यक्षमहोदयेनैते महता पारितोषिकेण सम्मानिताः। घटनामिमामाश्रित्यैकदा गुरुभिः स्वयं कथितं यत् तस्मिन् दिने तेषां हृदये यादृशः आनन्दः सञ्जातो न पुनस्तादृशोऽस्मिन् जन्मनि कदाप्यनुभूतः। पारितोषिकमादाय अध्यक्षप्रकोष्ठात् स्वगुरुसमीपे प्रत्यागच्छन्न एते अन्यन्तं हर्षिता बभूवुः। अयं तेषां प्रतिभायाः प्रथमपुरस्कारः। स्वजीवनेऽस्य सम्मानस्य महन्महत्वमिति तैरपि सर्वदा ख्यापितम्।

(ख) अध्यापनपरम्परा–

1889 ईस्वीये यदा म.म.पं. बापूदेवशास्त्रिणः सेवानिवृत्तिकाः जाताः तदा पुनः राजकीयविद्यालये ज्यौतिषस्य स्थानं रिक्तं जातम्। तदा तत्राध्यापकत्वेन डॉ. थीबोमहोदयेन एषां नियुक्तिः कृता। ततः परं तत्रैवाध्यापनादिकं सम्पाद्य 1910 ईशवीयवर्षे जनवरीमासे पञ्चाशद्वर्षासन्ने वयसि एतैः काश्यां मुक्तिरवापि। केवलं एकोनत्रिंशद्वयसि इमे संस्कृतमहाविद्यालयस्य ज्योतिषविभागस्य प्रधानाध्यापकाः सञ्जाताः। अबाधम् एकविंशतिवर्षपर्यन्तमेभिरिदं दायित्वं निर्व्यूढम्। वस्तुतोऽयमेव कालः सुधाकरद्विवेदिमहोदयानां जीवने स्वर्णकालः वर्तते। अध्यापनकाले एकदा तत्र आङ्गलमहाविद्यालये छात्रेभ्यो गणिताध्ययनाय छात्राणामावाहनं कृतम्। तत्र द्वित्राणि वर्षाणि अध्याप्य पुनः स्वविभाग एवागमनं जातम्। परमदयालवः शतान् छात्रान् अध्यापयन्त इमे रामचन्द्रस्य परमभक्ताः

आसन्। गोस्वामितुलसीदासकृतरामायण-पाठकालेऽजस्रमश्रूणि एतेषां नयनाभ्यामपतन्। एतेषां महाभागानां यावन्तो ग्रन्था: स्वतन्त्रलिखिता: सम्पादिता: वा वर्त्तन्ते, सर्वत्र श्रीरामचन्द्रस्यैव मङ्गलाचरणमस्ति। एतेषां कीर्तिर्दिगन्तव्याप्ता आसीत्। यूरोपदेशीया अपि गणितज्ञा विद्वास एतेषां सम्मानं चक्रु:। एकदा सकलग्रासे सूर्यग्रहणे तदानीन्तनो भारतेश्वरप्रतिनिधि: कर्जनमहाशय: बक्सरनगरे एतान् समाह्वयत्। तत्र चैभ्यः सः सूर्यग्रहणविषयकं विशेषं ज्ञातवान्। एते न केवलं प्राचीनज्योतिसिद्धान्ताभिज्ञा आसन् प्रत्युत यूरोपीयगणित-सिद्धान्ततोऽप्यनेकानि मार्मिकवस्तूनि संगृहीतवन्तः तथापि न केनापि ज्ञातुं शक्यते यदेष विषयो यूरोपीयज्यौतिषसिद्धान्ततो गृहीतः। यथा मधुकरो भिन्नभिन्नपुष्पेभ्यः तेषां रसानादाय मधुसञ्चयं करोति तत्र यथा न केनापि जनेन आस्वादेन एतत् कथयितुं शक्यते यदेष रसोऽस्य निर्दिष्टपुष्पस्यैवेति, तथैव महामहोपाध्यायैः सुगृहीते एतद्गणितं अमुकस्य इति कथनं दु:शकम्। तेष्वेव तादृशी विलक्षणा शक्तिः।

भारतवर्षे गणिते तु इमे अत्यन्तं प्रतिभाशलिनो विद्वांसः अभवन्। अध्ययनानन्तरं जीविकाप्राप्त्यर्थं इमे चिन्तिता: आसन्। परन्तु इयं समस्यापि सरलेन दूरीकृता। स्वीयछात्रावस्थायामेव एषां बहवो मैथिलाश्छात्राः एषां विशिष्टां योग्यतां महाराजदरभंगानरेशश्रीलक्ष्मीश्वरसिंहबहादुरसमीपेप्रख्यापितवन्त:, तै: स्वपाठ-शालायां काशीस्थायामेतेषां सन्निवेश: कृत:। पश्चात् काशिकराजकीयमहाविद्यालस्य अध्यक्षेण श्रीमता थीबोमहाशयेनसह एभिः वराहमिहिररचितपञ्चसिद्धान्तिकायाः प्रकाशनं कृतं तदा तेनाध्यक्षेण राजकीयसंस्कृतपुस्तकालयस्याध्यक्षत्वेनैतेषां नियोगः तत्रैव विहितः । अस्मिन् पदे अनवरतं षड्वर्षाणि तैर्यापितानि। अस्मिन् काले सरस्वतीभवनस्य हस्तलिखितानां पुस्तकानां पांडुलिपीनान्च गभीरमध्ययनं विधाय बहव: ग्रन्था: रचिता:।

एभि: ज्योतिषशास्त्रपरम्परायामपूर्वं परिवर्तनं कृतम्। यद्यपि भारतीयज्यौतिषस्येतिहासे परिवर्तनस्यावसर: प्रयासश्च पूर्वमपि द्वित्राणि वाराणि अभवन। यथा वराहमिहिरस्य समये ग्रीकदेशीययवनै: साकं भारतीयज्यौतिषविदां समागमो जात:। एषां खलीफा अलमनसूरस्य समये रबदेशीयगणितिकै: सह भारतीयगणितज्ञानां समागमो जात:। पुन: मुहम्मदानां राज्यकाले पारसीयै: सह भारतीयगणितज्ञानां सम्मेलनं जातम्। परन्तु यादृशं दृढं सगूढं सम्मेलनं यूरोपीयगणितेन सह भारतीयगणितस्य सञ्जातं न तथा पूर्वम्। तत्रेदमेव विशेषकारणं यत् संयोजितारः परमयोग्याः इदानीं समुपलब्धाः। यद्यपि एतस्मिन्

विषये द्वारोद्घाटका: महामहोपाध्याया: बापूदेवशास्त्रिवर्या आसन् तथापि यथा पल्लवनं सुधाकरद्विवेदिभिः कृतं तत् श्लाघनीयम्। एतै: द्विवेदिवर्यैः गणेशदैवज्ञकृतस्य ग्रहलाघवस्य टीका सम्यक्तया विरचिता तत्र प्रथमतो मल्लारिकृतटीकां संरक्ष्य विश्वनाथोदाहरणं च प्रदाय तदनु स्वीया विशेषटीका निर्माय रक्षिता। एतत्कार्यं ज्योतिर्वित्सु सर्वथा प्रशंसितं जातम्। परन्तु प्राचीनब्रह्मगुप्तकृतब्रह्मस्फुटसिद्धान्तस्य मुद्राणावसरे लण्डननगरत: ब्राह्मस्फुटसिद्धान्तस्य चतुर्वेदाचार्यकृतां टीकामानाय्य तस्य एव बलेन स्वतिलक: प्रकाशित:। अत्र यदि भास्कराचार्यतोपि प्राचीनस्य चतुर्वेदाचार्यस्य टीका ग्रहलाघवे मल्लारिटीकावत् संरक्षिताऽभवत्तदाप्राचीनगणकस्य महानुपकार: समभविष्यत्। एवञ्च सूर्यसिद्धान्तस्य टीका वस्तुत: सुधावर्षिणीनाम्नी विरचिता, तत्रापि कमलाकरस्य सौरवासनाटीकाया: कमलाकरस्य पितुर्नृसिंहदैवज्ञस्य सौरभाष्यस्य च समालोचनमनेकेषु स्थानेषु कृतम् स्वनिधनसमयात् किञ्चित्प्रागेव एतै: नारायणपण्डितनिर्मिताया: गणितकौमुद्या: उपपत्तिरारब्धा। तेषां वचनञ्चासीद्यत् यदि–

“चत्वारि पञ्चवर्षाणि वा मम जीवन सुरक्षितं स्यात् तदा भास्करलीलावतीं भारतदेशान्निस्कास्य तत्स्थाने गणितकौमुदीं स्थापयिष्यामि।” गणिकौमुद्याः प्रकाशनं पश्चात् सरस्वतीभवनतः सञ्जातम्। तदैव गणितस्येतिहासः हिन्दीभाषायां लेखयितुम् एते बद्धा:।

(ग) परिवारः शिष्यपरम्परा च–

एतेषां परिवारोऽपि समृद्ध:। ईशकृपया एतेषां त्रय: पुत्रा: सञ्जाता: ते च–

1. श्रीअच्युताकरद्विवेदी
2. श्रीकमलाकरद्विवेदी
3. श्रीपद्माकरद्विवेदी

एतेषु कनिष्ठाश्च पुत्रा: श्री पद्माकरद्विवेदिन: राजकीयसंस्कृतमहाविद्यालये वाराणस्यां ज्योतिषविभागाध्यक्षा: आसन्। अत: ज्योतिषशास्त्रपारिवारिक परम्परा तैरेव संरक्षिता। शिष्यप्रशिष्येषु सूची दीर्घतमा विद्यते। इमे सफला: अध्यापका:। सरस्वतीभवनपुस्तकालये, राजकीयसंस्कृतमहाविद्यालये, दरभङ्गानरेश स्थापिते महाविद्यालये च एभि: अध्यापनं कारितम्। छात्रावस्थातः एव इमे अध्ययने प्रवीणा:। एतेषां शिष्याणां संख्या तु महती तथा अधिका: शिष्या प्रयेण मैथिला: आसन्। विशिष्टेन शिष्येषु इमे चत्वार: प्रसिद्धा:–

1. म.म. पं. मुरलीधरझा

2. पं. बलदेवमिश्र:
3. पं. बलदेवदत्तपाठक:

कालान्तरे या शिष्यपरम्परा द्विवेदिमहोदयै: प्रारब्धा सैव परम्परा एतेषां शिष्यैरपि संरक्षिता संपोषिता संवर्द्धिता च।

(घ) उपाधय: सम्मानानि कृतयश्च–

सुधाकरद्विवेदिनः संस्कृतसाहित्ये हिन्दी साहित्ये च महत्त्वपूर्णं योगदानं वर्तते। एतै: प्रायोऽष्टाविंशतिवर्षासन्ने वयसि महामहोपाध्यायपदवी लब्धा। वयसि परणिते अयं पुरस्कार: लभ्यते स्म परन्तु युवावस्थायमेभिरेवैतादृशी पदवी समुपलब्धा। एवमष्टादशवर्षे वयसि एतैर्दीर्घवृत्तं नाम्ना दुरूहपुस्तकं रचितम्। सुधाकरेण चक्रेऽष्टादशवर्षेण पुस्तकमिति ख्यात्या एवमेते अपूर्व विद्वांसोऽभवन्।

1. दीर्घवृत्तलक्षणम्
2. ग्रहणकरणम्
3. द्युचरचार:
4. यन्त्रराज:
5. वास्तवचन्द्रश्रृङ्गोन्नतिसाधनम्
6. करणकुतूहलम्
7. करणप्रकाश:
8. चलनकलनम्
9. पिण्डप्रभाकर:
10. छादकनिर्णय:
11. पञ्चाङ्गप्रपञ्च:
12. पञ्चाङ्गविचार:
13. शिष्यधीवृद्धिदटीका
14. पञ्चसिद्धान्तिकाटीका
15. बृहत्संहिताटीका
16. बृहत्स्फुटसिद्धान्तभाष्यम्
17. महासिद्धान्तभाष्यम्
18. चलराशिकलनम्
19. ग्रहलाघवटीका
20. दिङ्मीमांसा
21. गणकतरंगिणी
22. लीलावती (टीका)

23. बीजगणितम् (टीका)
24. सिद्धान्ततत्त्वविवेक: (टीका)
25. गणितेतिहास: (टीका)
26. समीकरणमीमांसा
27. भाभ्रमरेखानिरूपणम्
28. घराभ्रम:
29. गणितकौमुदी
30. सूर्यसिद्धान्त: (भाष्यम्)
31. वृत्तान्तर्गतसम - सप्तदशभुजक्षेत्ररचनाप्रकार:
32. तुलसीसुधाकर:
33. पद्मावती टीका
34. रामकहानी
35. हिन्दीव्याकरणम्
36. भाषाबोध:
37. ज्यौतिषवेदाङ्गम्
38. वर्गकोष्ठपूरणरीति:
39. सशल्यबाणनिर्णय:
40. हरिश्चन्द्रकुण्डली

हिन्दीभाषाया: अपि ते मार्मिका: कवय: आसन्। तैरनेकानि पुस्तकानि हिन्दीभाषायां लिखितानि। यावज्जीवनं त एव नागरी प्राचारिणीसभाया: सभापतय आसन्। एतै: प्रायोऽष्टाविंशतिवर्षासन्ने वयसि महामहोपाध्यायपदवीं लब्धा। एतेषां काव्यसौष्ठवनिरूपणे केचिच्छलोकाः अवलोकनीयाः सन्ति–

इति सुधाकरनिर्मितवासना सकलया कलया कलयासना ।
खचरमध्यगतौ परया गता भवलयाऽवलया वलयाऽऽसना ।।[5]

गणकतरङ्गिण्या: आदावेव प्रोक्तं तैस्सुन्दरछन्दसा–

जयतो जयतोषकेशरूपौ चरणाववधपते: सुधाकर: ।
तनुतेऽतनुतेजसा ययोस्तौ गणका गणकतरिङ्गणिमिमाम् ।।[6]

चलराशिकलनस्यादौ हि–

यल्लीला विमला विलोक्य विपुलप्रालेयवालालये
भूपालेन्द्रललाटलालनकलालेपाङ्कितक्ष्मातले ।
उल्लङ्घ्य स्वकुलालिकूलकलितां लज्जानदीमैथिली
यल्लोकाऽकुलिता चचाल चलवद्रामाय तस्मै नम: ।।[7]

(ङ) सुधाकरद्विवेदिनः ज्योतिषशास्त्रे अवदानम्–

ज्योतिषशास्त्रस्याध्ययनाध्यापनशोधपरम्परायां महामहोपाध्यायसुधाकरद्विवेदिन: महत्त्वपूर्णं योगदानं विद्यते। एतेषां प्रथमा कृति: एकविंशतिवयसि वर्तते दीर्घवृत्तलक्षणम्। अस्मिन् ग्रन्थे 60 प्रतिज्ञा: सन्ति। तत्र तेषां गभीरज्ञानस्य परिचायकोऽयं ग्रन्थः वर्तते। ग्रन्थेस्मिन् वैज्ञानिकरीत्या निम्नोक्ता: विषया: प्रथमतया ज्योतिषशास्त्राध्ययनपरम्परायां प्रतिपादिता: वर्तन्ते। यथा–

1. दीर्घवृत्तलक्षणम्
2. अक्षनाभिलक्षणम्
3. भुजकोटिलक्षणम्
4. लघुव्यासबृहद्व्याससाधनम्
5. दीर्घवृत्ते नाभिकेन्द्रान्तरज्ञानम्
6. वक्रक्षेत्रफलानयनम्
7. समाकलनम्
8. जीवाया: तात्कालिकगतिसाधनम्
9. लघुरिक्थगणना विधि:
10. स्थिरसंख्यया चलज्ञानम्
11. दीर्घवृत्तक्षेत्रफलानयनम्
12. दीर्घवृत्तपरिध्यानयनम्
13. पृष्ठफलानयनम्
14. केपलरीयसिद्धान्ता:
15. श्रेढीरूपगणितम्
16. चन्द्रविक्षेपज्ञानम्
17. मन्दफलदिगंशपाक्षिकादय: संस्कार:
18. ग्रहभ्रममसिद्धान्त:
19. सरलावर्तगतिनियमा:
20. न्यूटनगतिनियमा:

1. वास्तवचन्द्रश्रृङ्गोन्नतिः–

चन्द्रश्रृङ्गोन्नतिग्रन्थे चन्द्रश्रृङ्गादिविषये सर्वेषां पक्षानां स्वतंत्रतया व्याख्यानं ग्रन्थेऽस्मिन् विहितम्। चन्द्रश्रृङ्गविषये सिद्धान्तज्योतिषे ये ये विषया: प्रतिपादिता: सन्ति तेषां विषयाणां सत्यापनं कृतमाचार्येण। यथाहि ग्रन्थेऽस्मिन् क्रमश: प्रतिपादिता: सन्ति–

1. चंद्रदर्शनसिद्धान्त:
2. स्वदृश्यवृत्तकेन्द्रज्ञानम्
3. शुक्लवृत्तकेन्द्रज्ञानम्
4. शुक्लवृत्तव्यासार्धज्ञानम्
5. शुक्लांगुलसाधनम्
6. परिलेखनिर्माणम्
7. सितांशसाधनम्
8. भुजफलसाधनम्
9. सितांशे लल्लमतोपस्थापनम्
10. गणेशदैवज्ञमतोपस्थापनम्
11. ज्ञानराजमतोपस्थापनम्
12. कमलाकरमतोपस्थापनम्
13. बापूदेवमतोपस्थानम्
14. स्वमतोपस्थापनम्

इत्थं कस्याप्येकस्य विषयस्य सर्वान् पक्षान् विचार्य तदुपरि स्वतन्त्रमतनिर्माणे इमे दक्षा:।

2. गणकतरंगिणीः–

अस्मिन् ग्रन्थे 73 ज्योतिर्विदां जीवनवृत्तं निरूपितं वर्तते। ग्रन्थेऽस्मिन् 500 ई; त: समारभ्य 1890 ई. पर्यन्तानां ज्योतिर्विदां चर्चा प्राप्यते। तेषां सिद्धान्तानामपि दिग्दर्शनं कृतं विद्यते।

3. सुधाकरद्विवेदिकृतानि भाष्याणि–

न केवलं ग्रन्थलेखने प्रत्युत भाष्यपरम्परायामपि सुधाकरद्विवेदिन: महद्योगदानं वर्तते। अथ स्वकीयकुशललेखन्या वैज्ञानिकपद्धत्या विविधपाण्डुलिपीनां हस्तलेखानां ग्रन्थानाञ्च सम्पादनं एभिः कृतम्। एतेषां लेखनशैली बोधगम्या समधुरा विद्यते । सुसम्पादितेषु प्रमुखेषु मुख्या: सन्ति–

1. पञ्चसिद्धान्तिका
2. सिद्धान्ततत्त्वविवेक:
3. शिष्यधीवृद्धितन्त्रम्
4. करणकुतूहलवासना
5. बृहत्संहिता भटोत्पलभाष्यसंहिता
6. ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त:
7. ग्रहलाघवम्
8. त्रिंशतिका
9. बीजगणितम्
10. सिद्धान्तशिरोमणि:
11. सूर्यसिद्धान्त:
12. वेदाङ्गज्योतिष्

एतेषु बृहत्संहिताया: 1200 पृष्ठेषु महता श्रमेण सम्पादनं कृतमेभि:। तेषां सर्वेषां दोषाणामपाकरणं विधाय शुद्धतया प्रकाशनं ज्योतिषशास्त्रे महत्त्वपूर्णमवदानं विद्यते। ब्राह्मस्फुटसिद्धान्तस्य सम्पादनं (India office Library) पुस्तकालयतः तस्य ग्रन्थस्य हस्तलिखितां प्रतिं समानीय विहितम्। ग्रहलाघवेऽपि स्वकीयं भाष्यं रचितं किञ्च प्राचीने द्वे भाष्ये प्रकाशिते सम्पादिते च। सूर्यसिद्धान्ते तु "सुधावर्षिणी" नामधेया टीका विरचिता। अत्र एतै: कमलाकरभट्टस्य सौरवासनाया: टीका विहिता। प्रायेणोच्यते यदयं एतेषां प्रौढतमा सम्पादनरचना विद्यते। वेदांगज्योतिषस्यापि वाचिकद्वयं प्राप्यते। एकं यजुर्वेदीयम् द्वितीयं तु ऋग्वेदीयम्। उभयत्र बहवो भेदा: सन्ति। याजुषज्योतिषे सोभाकरशेषस्य व्याख्यानं विद्यत एव। पुन: सुधाकरद्विवेदिना तत्र समागतानां त्रुटीनां निराकरणाय याजुषज्योतिषेऽपि भाष्यं विरचितम्। भाष्यस्यास्य स्पष्टीकरणाय

एतेषां शिष्येण पं. मुरलीधरझामहोदयेन “लघुविवरणम्” नाम्नी टीका रचिता। अस्या: आङ्ग्लानुवादोऽपि जात: ।

ज्योतिषशास्त्रस्य सिद्धान्तपरम्परायां सुधावर्षिणीटीकाया: महन्महत्वं विद्यते। यथा अस्या: नाम सुधावर्षिणी विद्यते तथैव सुधा अर्थात् अमृतमिवेयं व्याख्या वर्तते। सुधाकरद्विवेदिनां प्रसिद्धतमेयं टीका सर्वेषां कृते उपकारिणी वर्तते। भाष्येऽस्मिन् पूर्ववर्तिनां प्रभाव: परवर्तिनां कृते च मार्गदर्शनं कृतमस्ति। भाष्यस्यास्य ज्योतिषशास्त्रीयमवदानं निम्नलिखितबिन्दुभि: मूल्याङ्कयितुं शक्यते तद्यथा–

1. भाष्यस्य भाषापद्धति:
2. भाष्यस्य लेखनशैली/प्रतिपादनशैली
3. पूर्वाचार्याणां प्रभाव:
4. समसामयिकोपस्थिति:
5. विवादस्थलेषु समाधानम्

एतेषु सर्वेषु सोपानेषु सुधावर्षिणी विलक्षणा वर्तते। सूर्यसिद्धान्तस्य सुप्रसिद्धायां सुधावर्षिणीटीकायां 19तमे शताब्देरवसानकालस्य 20 तमशताब्दे: आरम्भकालस्य च मध्ये, समुपलब्धानां खगोलविज्ञानस्य समस्तानां टीकानामुत्तमज्ञानं संगृहीतमस्ति। अस्य ग्रन्थस्य प्रकाशनं एशियाटिक सोसाईटी कालेकातात: 1885 मध्ये शताधिकवर्षपूर्वं कृतमासीत्। 1987 तमे इस्वीये पं. डॉ. कृष्णचन्द्रद्विवेदिना सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालस्य ज्योतिषविभागाध्यक्षेण भाष्यमिदं सुधाकरद्विवेदिग्रन्थमालाप्रकल्पे प्रकाशितम्। टीकायामस्यां प्रामुख्येन एतेषां पूर्वाचार्याणां मतानां निरूपणं दृश्यते सहैव अर्वाचीनविषयाणामपि चर्चा सर्वत्र यथाप्रकरणं प्राप्यते।

4. सुधाकरद्विवेदिन: मौलिकग्रन्थाः–

एतदतिरिच्यापि विशिष्टस्थलानामुद्बोधनाय बहवः ग्रन्थाः रचिताः द्विवेदिवर्यैः। तत्र प्रमुखाः सन्ति –

1. रेखागणितम् (1-12 अध्यायाः)
2. चलनकलनम् (1-6 अध्यायाः)
3. चराशिकलनम् (1-16 अध्यायाः)
4. धराभ्रमः
5. अंकगणित का इतिहास

अत्र रेखागणिते ज्योतिषशास्त्रेण साकं गणितेऽपि ये सिद्धान्ता: रेखागणितीया: सन्ति तेषां सन्निवेश: वर्तते। तत्र विशिष्टा: विषया: सन्ति यथा–

1. रेखयो: परस्परसम्बन्ध:
2. त्रिभुयो: परस्परसम्बन्ध:
3. त्रिभुजप्रमेया:
4. वृत्तप्रमेया:
5. त्रिभुजे साजात्यनिर्धारम्
6. समद्विबाहुत्रिभुजसिद्धान्ता:
7. रेखागणिते गोलीयसिद्धान्ता:
8. आनुपातिकसम्बन्धसाधनम्

अथ च चलनकलनेऽपि बहव: विषया: मुख्या: निरूपिता: सन्ति। तत्र प्रामुख्येन सन्ति–

1. चलराशीनां योगान्तरगुणनादिकम्
2. परस्परतात्कालिकसम्बन्धज्ञानम्
3. साधारणफलसम्बन्धा:
4. ज्याकोज्यादीनां फलनसम्बन्ध:
5. त्रैकोणमितिकानि विपरीतफलानि
6. गणितपरम्परानिरूपणक्रमे समीकरणविधि:
7. म्याक्लारिन् सिद्धान्त:
8. द्वियुक्पदसिद्धान्त:
9. डेमाइवर सिद्धान्त:
10. समानघातांक सिद्धान्त:
11. बर्नली संख्यासिद्धान्ता:
12. टेलर सिद्धान्त:
13. लेबनिजसिद्धान्त:
14. लुप्तभिन्नस्य मानज्ञानम्
15. स्वतन्त्रराशीनां फलादिसम्बन्धा:

अत्र प्रत्येकसूत्रस्य श्लोकबद्धे स्वरूपे हिन्दीभाषायां तस्य पद्यानुवादश्च विहितो वर्तते। तेन उभयो: भाषयो: तेषां दक्षता बोध्यते। अत्र सुधाकरद्विवेदिना सूत्रस्य श्लोकात्मकं रूपं तदनु पद्यात्मकं दोहारूपमपि प्रदर्शितम्। यथा–

राशिरूपोनघातघ्नो घाताङ्को भवतीह सः।
यः तात्कालिकसम्बन्धो राशिघातस्य सर्वदा ।।[8]

अस्य पद्यात्मकं स्वरूपं यथा–

राशिघातघाताङ्कको गुणन राशि सो भाग।
राशिघातसम्बन्ध सो ह्वै हैसदा आदाग ।।[9]

इत्थमेव सर्वेषां सूत्राणामुभयात्मकं स्वरूपं तेषां प्रखरपाण्डित्यस्य काव्यदक्षतायाश्च परिचायकं विद्यते। एवमेव चलराशिकलनेऽपि विविधाः गणितीयपक्षाः पल्लवितास्सन्ति। किञ्च धराभ्रमनामके ग्रन्थेऽपि विंशतिशताब्द्यामपि प्राच्यमतसमर्थने प्रोक्तं यत् इदानीं यावत् भूभ्रमणसन्दर्भे ये सिद्धान्ताः प्रतिपादिताः सन्ति ते सर्वेऽपि भ्रमात्मकाः। तत्र वैदिकपक्षपोषयित्रा सुधाकरेण भूमेः स्थिरत्वं प्रतिपादितम्। काव्यशैलीदृष्ट्या युक्त्या तर्कदृष्ट्या चेयं रचना श्लाघनीया विद्यते।

5. हिन्दीसाहित्ये सुधाकरद्विवेदिन अवदानम्–

सुधाकरद्विवेदिभिः हिन्दीसाहित्यस्यापि महती सेवा कृता। एतेषां हिन्दिसाहित्ये कृतानि कार्याणि सन्ति हि–

1. **जायसीकृतपद्मावमहाकाव्यस्य सम्पादनम्–** अत्र हि हस्तलिखिताः प्रतीः स्वीकृत्य अस्य महाकाव्यस्य संशोधितं संस्करणं डॉ. ग्रियर्सन् महोदयेन साकं स्वकीयया सुधाकरचन्द्रिकानाम्नीटीकया सह सम्पादनं विहितं यस्य प्रकाशनं बिब्लोथिका इण्डिया कोलकातातः जातम्।
2. द्वितीयः ग्रन्थः वर्तते **तुलसी सतसई–** अत्र तैः कुण्डलीनां निवेशः कृतः। एभिः गोस्वामितुसलीविरचितस्य रामचरितमानसग्रन्थस्य बालकाण्डस्य संस्कृतानु-वादोऽपि विहितः।
3. विनयपत्रिकायाः आंशिकरूपेण संस्कृतेऽनुवादं विधाय संस्कृतानुरागिणां महदुपकारः विहितः।

समीक्षणेनेदमपि बुध्यते यत् ज्योतिषशास्त्रस्य पुनः प्रतिष्ठापने एतेषां महान् सहयोगः आसीत्। हिन्दीसंस्कृतोभयोः भाषयोः तेषां समानाधिकारः आसीत्। राजघाटपुलनिर्माणकाले सद्य एव दोहाछन्दसि रचना विहिता यथा–

राजघाट पर बनत पुल जँह कुलीन की ढेरि।
आज गये कल देखिके, आजहि लौटे फेरि ।।[10]

संस्कृतकाव्यरचनायामपि इमे दक्षाः आसन् बृहत्संहिताया स्वटीकारम्भे भगवतो रामचन्द्रस्य स्तुतिः इत्थं प्रदर्शिता यथा–

जयति सहितशेषोऽशेषलीलाविशेषो जनकवचनधीरः सत्यसंकल्पवीरः।
सकलनिजजनानां शर्मदः सज्ञनानां दशरथनृपबालः कोशलेन्द्रो नृपालः।।[11]

निष्कर्षः–

अल्पवयस्येव वि.सं. 1967 मार्गशीर्षकृष्णद्वादश्यां तदनुसारं 28 नवम्बर 1910 ईस्वीये इमे अशेषकीर्त्तयः अभवन्। एतेषां विविधग्रन्थानां प्रथमप्रकाशनं 1881 ईस्वीये वाराणस्यां ब्रह्भूषणदास एण्डकम्पनी द्वारा कृतम्। तत्र "द्युचरचारः" इति नामधेयः ग्रन्थः प्रकाशितः। अस्य द्वितीयसंस्करणम् सरस्वतीभवनपुस्तकालयसम्बद्धेन पं. बलदेवमिश्रेण द्विघण्यादिभिः विभूष्य 1943 ईस्वीये मास्टर खेलारीलाल एण्ड सन्स द्वारा प्रकाशितम्। तृतीयं संस्करणञ्च 1981 ईस्वीये सम्पूर्णानन्दसंस्कृत-विश्वविद्यालयतः प्रकाशितम्।

सर्वेषु गणितीयग्रन्थेषु विषयाणां निरूपणक्रमे स्वपाण्डित्यवैभवं तैः प्रदर्शितम्। धराभ्रमे, वास्तवचन्द्रश्रृङ्गोन्नतौ बहवः श्लोकाः दक्षतया रचिताः सन्ति। चलनकलनादि ग्रन्थे तु सूत्रस्वरूपं एकस्मिन्नेव काले संस्कृतश्लोके हिन्दीपद्ये च अभिविरच्य स्वकीयं पाण्डित्यं प्रदर्शितवान्। सुधाकरद्विवेदिनः निस्संशयं ज्योतिर्गणितस्य अप्रतिहतगतयः विद्वांस आसन्। ते कुशलाः अध्यापकाः दक्षाः प्रशासकाः समीचीनाः सम्पादकाश्चासन्। तेषां गणितपाठनशैली भास्कराचार्यदक्षसमा। वस्तुतः निष्कर्षतया इदं वक्तुं शक्यते यत् इमे प्राच्यपाश्चात्यज्योतिषशास्त्रयोः सेतुरूपाः। अर्वाचीनसंवर्गेऽपि इमे लब्धयशस्काः। इत्थं भारतीयज्ञानपरम्परायां ज्योतिषशास्त्रस्य सुदीर्घपरम्परायामाचार्यम.म. सुधाकरद्विवेदिनामभूतपूर्वं योगदानं नितरामस्तीति दिक्। डॉ. गणेशप्रसादमहोदयेन डॉ. सम्पूर्णानन्दं प्रति प्रोक्तं यत् **"सुधाकरद्विवेदिनः मदपेक्षयापि श्रेष्ठाः गणितज्ञाः आसन्।"**

संदर्भग्रन्थः–

1. भारतीय गणित का इतिहास - विभूति भूषण दत्त, 1991
2. काशी की पांडित्य परम्परा - पं. बलदेव उपाध्याय, 1998
3. दीर्घवृत्तलक्षणम् - सुधाकर द्विवेदी, 1954
4. गणकतरंगिणी - सुधाकर द्विवेदी, 1965
5. काशी का इतिहास - डॉ. मोतीचन्द्र, 2001
6. ग्रहलाघव - पं. केदारदत्त जोशी, 1998
7. चलराशिकलन - सुधाकर द्विवेदी, 2001
8. चलन कलन - सुधाकर द्विवेदी, 2003
9. सरस्वती सुषमा - 1942

1. भारतीय गणित का इतिहास पृ. सं. 209
2. (उद्धृतम् काशी की पाण्डित्य परम्परा) पृ. सं. 311
3. दीर्घवृत्तलक्षणम् परिशिष्टे पृ. सं. 13
4. सारस्वती सुषमाविशिष्टांकः- 1942
5. ग्रहलाघवटीकायाम् प्रत्यधिकारान्ते
6. गणकतरंगिणी-परिशिष्टे
7. चलराशिकलने मङ्गलाचरणे
8. चलनकलनम् द्वितीयाध्याये (पृ.सं.- 5)

सहायकाचार्यः ज्योतिषविभागः
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
वाराणसी (उ.प्र.)-221005
दूरवाणी संख्या – 9005484655, 7008235584
ईमेल - msmishraastrobhu@gmail.com

उदात्तादिस्वराणां हस्तसञ्चालनविधिविचारः

– डॉ. राहुलकुमारझा

(विश्व का प्राचीनतम साहित्य वेद सनातन-धर्म और भारत के प्राचीन ज्ञान-विज्ञान का मूल स्रोत है। वेद के चार भाग हैं, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद। ये वे ग्रन्थ हैं जिनके मन्त्रों का प्रयोग आज भी विभिन्न कर्मकाण्डों में किया जाता है। वेदों का तात्पर्य संहिता-भाग से लिया जाता है, जिनमें लगभग 20 हजार मन्त्र हैं। सामान्यतः इन्हीं का पाठ अधिक प्रचलित है। इसलिए जनसामान्य यही समझता है कि इन्हीं ग्रन्थों के पाठ के विशिष्ट नियम निर्धारित हैं। जबकि ऐसा नहीं है। केवल संहिता-पाठ के ही नहीं, अपितु ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों के पाठ के भी पाठ और उच्चारण निर्धारित हैं। वेदपाठ करते समय वेदपाठी बटुक अपने दाहिने हाथ तथा सिर को ऊपर-नीचे, बायें-दायें संचालित करते हैं। कौन-सा मन्त्र किस प्रकार पढ़ा जायेगा, इसका निर्धारण ऋषिगणों द्वारा उसी समय हो गया था, जब ये मन्त्र प्रकाश में आये। स्वर के मुख्यरूप होते हैं– 1. उदात्त, 2. अनुदात्त 3. स्वरित। वेदोच्चारण की यही आर्ष परम्परा है। मन्त्रों के नीचे-ऊपर, आड़ी-टेड़ी जो लकीरें लगाई जाती हैं, उनमें उच्चारण के संकेत हैं। ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इनमें से उदात्त स्वर में कोई चिह्न नहीं लगाया जाता, अनुदात्त में वर्ण के नीचे तिरछी रेखा होती है तथा स्वरित वर्ण को ऊपर खड़ी रेखा से चिह्नित किया जाता है। उदात्त में हाथ मस्तक तक तथा स्वरित में नासिकाग्र या मुँह के पास में एवम् अनुदात्त में हृदय की सीध में हाथ जाना चाहिए। साधारणतया हाथ उदात्त में ऊपर कंधे के पास, स्वरित में मध्य में तथा अनुदात्त में नीचे रहना चाहिए। इस क्रिया को 'हस्तस्वर' कहा जाता है। हस्त संचालन मुख्यरूप से वेद में किया जाता है। स्वरों का वेदार्थ में भी बहुत योगदान है। स्वर के विना वेदार्थ करना असम्भव है। हस्त संचालन का महत्व भी वैसे ही है।)

ऋगादिवेदानां यथोच्चारणं नैकसमं श्रूयते, तथैव तेषां हस्तप्रदर्शनमपि नैकसदृशमुपलभ्यते। यथा वेदाध्यायिनः सन्ति बहवः शाखाः परम्पराश्च, तथैव तासामध्ययनरीतयो हि उच्चारणप्रकाराश्च विभिन्नाः प्राप्यन्ते। साम्प्रतमपि विविधासु शाखासु विभिन्नासु वैदिकपरम्परासु हस्तेन क्रियमाणं हि उदात्तादिस्वरप्रदर्शनं दृश्यते। विभिन्नासु शिक्षासु विभिन्नशाखाविशेषं परम्पराविशेषं वा अधिकृत्य हस्तस्वरप्रदर्शनप्रकाराः प्रोक्ताः सन्ति। अत्र तु केवलं माध्यन्दिनीयशाखाप्रयुक्तासु शिक्षासु समधिगतानां हस्तस्वरप्रदर्शनप्रकाराणां विमर्शः प्रस्तूयते। अत्र समुपलब्धासु

माध्यन्दिनीयशिक्षासु याज्ञवल्क्यशिक्षायां विशेषेण प्रचोदितो हस्तस्वरप्रदर्शनप्रकारः प्राथम्येन अत्र उपस्थाप्यते।

महर्षिणा याज्ञवल्क्येन स्वशिक्षायां स्वरप्रकरणे हस्तचालनविधौ प्रथमं हस्तसन्निवेशप्रकारः प्रोक्तः। तत्र सर्पफणाकारम् उत्तानम् उन्नतञ्च हस्तं कृत्वा स्वर प्रदर्शनाय प्रादेशदेशाभ्यन्तर एव तं चालयेदिति नियमः समुपन्यस्तः, तत्र कियान् प्रादेशिको भवतीति जिज्ञासायाः निराकरणमपि अनुपदश्लोकेनैव समुपदिष्टम् । यथा–

अङ्गुष्ठस्योत्तरं पर्वं तर्जन्युपरि यद्भवेद् ।
प्रादेशस्य तु सोद्देशः तन्मात्रं चालयेत्करम् ।।[1]

ततः हस्तस्वरूपनिरूपणे मनुष्यतीर्थादिलक्षणेन समन्वितं हस्तं विधाय तत्र हस्तचालनवेलायां कुत्र कियदन्तरं कर्तव्यमित्यस्यापि समुपदेशो विहितः। तदनुसारं मनुष्यतीर्थमुच्चं यथा स्यात्तथाकृत्वा पितृतीर्थेन यथोदकं दक्षिणं पतेत्, तथा विधाय हस्तस्य अधस्तलप्रदेशस्य अङ्गुलिमूलभागं निम्नं कृत्वा ऋज्वङ्गुलियुतपितृचुलुकवत् हस्तं निर्मापयेत् इति, प्रदेशसीमायां स्वरानुसारेण हस्तचालनस्य कर्तव्यतया तत्र उदात्तस्थानात् स्वरितस्थाने नीयमाने हस्ते उदात्तस्वरितयोः त्र्यङ्गुलमन्तरालं भवति। तथैव स्वरितस्थानात् मध्यतः वामपार्श्वे उदात्तस्थाने प्राप्तवते करे त्र्यङ्गुलमात्रमन्तरं जायते। एवमेव मध्यतः स्वरितस्थाने अनुदात्तस्थानं प्रति गच्छतो हस्तस्य षडङ्गुलमितमन्तरं भवति। एतेन उदात्ते हस्तस्योर्ध्वगमनमनुदात्ते च अधोगमनं स्वरिते च मध्ये स्थितिः प्राप्यते।[2]

अयं तु हस्तस्वरप्रदर्शनस्य सामान्यप्रकारः प्रोक्तः, परन्तु क्वचित् उदात्तस्य वामभागे प्रदर्शनम् अनुदात्तस्य च दक्षिणभागेऽपि प्रदर्शनं प्राप्यते, तदिह विमृश्यते। यत् संहितापाठकाले उदात्तस्वरात् परो यदा अनुदात्तस्वरः समायाति, तदानीमुदात्त-प्रदर्शनाय वामभागे हस्तो धर्तव्यः[3]। यथा– **"तस्मादश्वा आजायन्त"**[4] इत्यत्र तकारोच्चारणसमये हस्तस्य वामभागे स्थितिः, न तु दक्षिण भ्रुवप्रान्ते तस्य स्थितिः कर्तव्या उत्तरत्र मकारोत्तरवर्तिन आकारस्य अनुदात्तीभूतत्त्वात्। एवमेव अनुदात्तप्रदर्शनेऽपि यत्र अनुदात्ते अनुदात्तपरकोदात्तपरत्त्वं स्यात्, तत्र पूर्वानुदात्ते हस्तस्य दक्षिणतो न्यासः कर्तव्यः, यत्र तु अनुदात्ते स्वरितपरकोदात्तपरत्वं स्यात्, तत्र अनुदात्तो अधो हस्तस्य न्यासः कर्तव्यः। यथा– **"यस्मिन्नृचः सामयजूंषि"** [5] इत्यत्र यकारोत्तरोदात्ताकारस्य अनुदात्तत्वे, सकारमकारोत्तरवर्तिनि इकारे परे

ह्युच्चारणसमये हस्तस्य वामतो न्यासः कर्तव्यः, एवं सकारमकारोत्तरवर्तिनि अनुदात्तेकारस्योच्चारणकाले नकारद्वयोत्तरवर्तिन उदात्तस्य ऋकारस्य चकारोत्तर-वर्तिनः अनुदात्तस्य अकारस्य च सत्त्वात् दक्षिणतो हस्तस्य न्यासः कर्तव्यो भवति। पुनः उदात्तस्य ऋकारस्य उच्चारणकाले चकारोत्तराकारस्य अनुदात्तस्य सत्त्वात् दक्षिणतो हस्तस्य न्यासः कर्तव्यो भवति। उत्तरत्र अनुदात्तपरकोदात्तस्य सकारोत्तराकारस्य विद्यमानत्वात्।

पुनः सकारोत्तराकारस्य उच्चारणावसरे हस्तस्य वामे स्थितिः, उत्तरत्रानुदात्तस्य विद्यमानत्वात्। तत्र मकारोत्तराकारस्य अनुदात्तस्य तु उच्चारण-वेलायां परत्र अनुदात्तपरकोदात्तस्य अभावात् हस्तस्य अधोगमनं न दक्षिणतो गमनमिति नियमः। इत्थम् अनुदात्तप्रदर्शने हस्तस्य स्थानविमर्शः। पुनरत्र विचार्यते यत् यत्र क्वचन बहवः अनुदात्ताः स्वरान्यतराव्यवहिता आयान्ति, तत्र अनुदात्तस्य कुत्र प्रदर्शनं क्रियते? इति जिज्ञासायामुच्यते यत्र बहवो ह्यनुदात्ताः, तत्र अन्तिममनुदात्तं प्रतीक्षमाणाः पूर्वेऽनुदात्ताः हस्तेन मध्ये एव प्रदर्श्यमाणाः तिष्ठन्ति प्रचयवदिति। यतो हि माध्यन्दिनानामुच्चारणात् उदात्तात् उच्चतरम् एतन्नामकं भिन्नस्वरो नास्ति तथा नीचात् अनुदात्तात् नीचतरम् एतदाख्यम् अन्यः स्वरः कोऽपि नास्ति। एतावता ही अन्तिमम् अनुदात्तं यावत् पूर्वस्थितेषु हि अनुदात्तेषु उच्चार्यमाणेषु मध्ये एव हस्तः प्रदर्शनीयः नाधः, न च दक्षिणत इति वैदिकशिक्षासम्प्रदायतोऽवगम्यते। यथा– **"बलविज्ञायस्त्थविरः"** [6] इत्यत्र बलवि इति अक्षरत्रयम् अनुदात्तविशिष्टं हस्तेन प्रदर्श्यमाणं मध्ये तिष्ठति, अन्त्यो "ज्ञा" इति अनुदात्तोऽनुदात्तः परत्वाभावात् मध्ये न तिष्ठति, किन्तु नीचैः क्रियते, इति माध्यन्दिनानाम् अनेकेषु अव्यवहितेषु अनुदात्तेषु शिक्षासम्मतेयं स्वरव्यवस्था दृश्यते।

एवमेव प्रचयस्वरस्य उच्चारणे हस्तस्य मध्ये एव स्थितिर्भवति। स च प्रचयः स्वरितात्परः उदात्तमयः। तथाहि प्रातिशाख्यम् स्वरितात्परमनुदात्तमुदात्तमयम्। अत एव स्वरितवत् प्रचयस्यापि हस्तप्रदर्शनं **प्रचयं नासिकाग्रतः** इत्यनेन मध्ये नासिकाग्रे क्रियते। शिक्षान्तरेषु बहुत्र **प्रचितः, प्रचयः, प्रचः, निचितः, निचयः, तानः, एकश्रुतिः, एकस्वरः** इति नामान्तरेणापि उदात्तमयस्य प्रचितस्य अवबोधः कारितः शिक्षाचार्यैः।

प्रचये तावदयं विशेषः, यत् वैदिकैः स्वरितात् परे दृश्यमाने प्रचये स्वरितस्वरं वेगेन मुख्यतः हस्ततश्च पात्यते, यत्र तु स्वरितात् परो न भवेत् प्रचयः, तत्र स्वरितं स्वरं मृदूच्चारणीयं न वेगेन पातनीयम् इति। एवं रीत्या उदात्तादित्रयाणां स्वराणां हस्तेन प्रदर्शनं निरूप्य जात्यादीनां स्वरिताविशेषाणां

तिर्यक्प्रतिपादनविधौ सोदाहरणं हस्तप्रदर्शनं मया प्रस्तूयते। तत्र जात्याभिनिहितक्षैप्रप्रश्लिष्टाः स्वरिताः यदा पितृपिण्डप्रदानमुद्रावत् दक्षिणतोऽर्धन्युब्जं हस्तं कृत्वा प्रदर्शनीया भवन्ति। यदा च उदात्तः परो भवति, तदा मनुष्यदानमुद्रावत् वामतः पूर्णन्युब्जं हस्तं कृत्वा ते स्वरणीया भवन्ति। यथा हि उदात्तपरत्त्वाभावानाम् अर्धन्युब्जानाम् उदाहरणम्। **"वैष्णव्यौ"** [7] इत्यत्र वकारयकारयोः सन्धिस्थले त्रिर्यक् स्वरः दृश्यते, अयमेव जात्यस्वरः। **"वेदोऽसि"**[8] इत्यत्र दकाराधोऽभिनिहितः स्वरः। **"अभ्यर्षत"**[9] इत्यत्र यकाराधः क्षैप्रः स्वरः। **"अभीन्धतामुखे"**[10] इत्यत्र भीकाराधः प्रश्लिष्टः स्वरः। अतः परम् उदात्तपराणाम् अनुदात्तपूर्वाणां पूर्णन्युब्जजात्यादीनाम् उदाहरणम्। यथा– **"भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव"**[11] इत्यत्र स्व पदात् अधः उत्तानशयितः षष्ठाङ्कसदृशः जात्यस्वरः। **"प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्याम्"**[12]इत्यत्र वेकारस्याधोऽभिनिहितः स्वरः। **"विश्वंन्यत्रिणम्"**[13] इत्यत्र यकाराधः क्षैप्रः। **"स्रुचीवेति"** [14] इत्यत्र चीकाराधः प्रश्लिष्टः। एषाम् अर्धन्युब्जपूर्णन्युब्जजात्यादिस्वरितानां तिर्यक् हस्तचालने किञ्चिदन्तरं करणीयं भवति। तत् कियद् अन्तरमिति जिज्ञासायाम् उच्यते–

षडङ्गुलं तु जात्यस्य हस्तस्यानुपथस्य च।
तच्चतुर्भागमात्रं तु हस्तं तेनैव वर्तयेत्॥[15]

अत्रैवं प्रत्येतव्यम्, यदर्धन्युब्जस्थले मूलस्थानस्थितं हस्तं पितृतीर्थतः, सार्धाङ्गुलान्तरालं नामनेन जातमर्धन्युब्जं ततो हृदयं यावत् षडङ्गुलान्तरं मण्डलाकारं संचाल्य पुनः मूलस्थानं प्रापयेत्। यदि एतेभ्यः परो ह्यनुदात्तो भवेत्, तदा तु तिर्यङ् निहननं पितृतीर्थनिम्नीकरणात्मकमपोह्य **"ऋजुं निहत्य प्रणिहन्यते उदात्ते"** [16] इति ऋजुनिघातविधायकप्रातिशाख्यसूत्रादुत्तानमेव पूर्वं मूलस्थानतो हृत्सन्निकृष्टम् अवतार्य, पुनः षडङ्गुलान्तरालात्मके मध्ये प्रत्यावृत्य च प्रणिहन्यते।

इदानीं वर्णविशेषोच्चारणे हस्ताकृतिविषये मया उच्यते– वैदिकमन्त्रोच्चारणे मकारव्यञ्जनस्य सूचनाय तदुच्चारणे हस्तस्य मुष्ट्याकृतिः भवति। एवमेव आवसानगतस्य नकारस्य उच्चारणे तर्जन्या नखस्य अंगुष्ठेन स्पर्शः कार्यः। एवमेव यदा ककारः, टकारः, ङकारः, णकारः वा मन्त्रार्धावसाने पूर्णमन्त्रावसाने वा समायाति, तदानीं तत्र तर्जनीं नमयित्वा प्रदर्शनं कार्यम्। पुनः पकारविशिष्टोऽवसानगते स्वरे पञ्चाङ्गुल्यमेकीकृत्य प्रदर्शयेत्। तथा तकारविशिष्टावसाने स्वरे कुण्डलाकृतिः अङ्गुष्ठेन तर्जनी उत्तमपर्वसर्गात्मिका दर्शयितव्या भवति[17]। मल्लशर्मकृतायां शिक्षायां तथा प्रातिशाख्यप्रदीपशिक्षायां सम्प्रदायप्रबोधिनीशिक्षायाञ्च अपि प्रोक्तवर्णविशेषो-च्चारणे तादृशी एव

हस्ताकृतिः निरूपिता प्राप्यते, इति तु अवसानगतानां व्यञ्जनविशेषाणामुच्चारणे हस्तावयवः प्रतिपादितः। अतः परमुष्मविशेषोच्चारणे हस्ताङ्गुलिप्रक्षेपविधिः निरूप्यते। उष्माणः इति प्रत्याहार वृत्या श ष स ह इति चत्त्वारो वर्णाः उष्म पदाभिधेया भवन्ति। एतेषु परभूतेषु विसर्गोच्चारणे तर्जनी कनिष्ठिका वा एकाङ्गुलिः निस्सारणीया भवति, तत्रोदात्तात् परो यदि विसर्गः स्यात् तदा तदुच्चारणे तर्जनी निस्सारणीया भवति। तथा च यदा अनुदात्तात् परो विसर्गः स्यात् तदा तदुच्चारणे कनिष्ठिकाङ्गुलिः निस्सारणीया भवति, एवमेव यदा स्वरितात् परो विसर्गोच्चारणं क्रियते, तदा तर्जनीकनिष्ठिके उभे गोवत्सश्रृंगवत् निस्सारणीये भवतः।[18] मल्लशर्मकृतशिक्षायामपि वाच्यान्तरेण उपर्युक्ततथ्यमेव पुष्टीक्रियते। यथा–

स्वरितेभ्यः क्रमेणैव दक्षिणोत्तरगामिनी।
कनिष्ठा तर्जनी चैव त्याज्या तूर्ध्वे हि देशिनी।।
अनुदात्तयुते ह्रस्वे सस्वराच्च परेऽपि वै।
सुज्ञैः कनिष्ठिका त्याज्या सविसर्गे द्विजोत्तमैः।।[19]

एवमनुस्वारोच्चारणे द्विविधं तर्जन्या प्रदर्शनं भवति। अयमनुस्वारः उष्मवर्णपरः लघुदीर्घभेदेन द्विविधः। अस्य लक्षणं सामान्यतः सर्वशिक्षासु एकसदृशमेव। यथा ह्रस्वात्परो दीर्घः दीर्घात्परो ह्रस्वः। एतदनुसारं ह्रस्ववर्णात्परो-ऽनुस्वारः दीर्घसंज्ञकः दीर्घवर्णात्परोऽनुस्वारः ह्रस्वः अर्थात् लघुसंज्ञकः इति। उच्चारणवेलायां यदा लघुः अनुस्वारः समायाति, तदा तत्र अङ्गुष्ठाङ्गुल्या तर्जन्या आकुञ्चनं भवति। अर्थात् तर्जनीपृष्ठभागे अङ्गुष्ठस्य स्पर्शः क्रियते। दीर्घानुस्वारोच्चारणे तु केवलं तर्जन्याः प्रदर्शनं क्रियते। **"स्वरिते तूभयं क्षिपेदिति"**[20] शिक्षावचनेन सामान्येन स्वरित उष्मवर्णपरस्य विसर्गस्य उच्चारणे तर्जनी कनिष्ठिके प्रदर्शनीये भवतः, परन्तु क्वचित् उष्मपरत्त्वाभावेऽपि वकारविशिष्टेन विसर्गोच्चारणे तर्जनीकनिष्ठिकयोः निक्षेपः सम्भवति। यथा– **"अतिविश्वाः परिष्ठा"**[21] यद्यपि अत्र विसर्गो न उष्मवर्णपरः, तथापि वकारविशिष्टविसर्गोच्चारणे विशेष विधिश्रवणात् अत्र उभयप्रक्षेपो विहितः। पुनः वकाररहित सोष्मस्वरिततत्वविशिष्ट दीर्घ-विसर्गोच्चारणे एकां कनिष्ठिकाम् एव केवलां निस्सारयेद् इति विशेषविधिः। तथा च वकाररहितसोष्म–स्वरितविशिष्टह्रस्वविसर्गोच्चारणे तर्जनीकनिष्ठिके उभयेऽपि क्षिपेत् इति विधिः। यथा– **"वसोः पवित्रमसि"**[22] अत्र स्वरितात्परस्यापि विसर्गोच्चारणे केवलं कनिष्ठिका निस्सारणीया भवति। **"तन्मे मनः शिव-सङ्कल्पमस्तु"**[23] अत्र उभयमपि निस्सारणीयं भवति। एवमेव अन्यदपि ज्ञातव्यं, यत् यदि

जात्यस्वरितः वकारयुक्तः स्यात्, तद् तद्भूतस्य विसर्गस्योच्चारणे तर्जनी कनिष्ठिके उभेऽपि निस्सारणीये भवतः। यथा– **"व्वांयव्व्याः"**।

एषः एवार्थः उभयोरपि ह्रस्वे च वकारे स्वरिते सति।
दीर्घेऽपि चोभयोः क्षेपः इति शास्त्रव्यवस्थितिः ।।[24]

इति निष्कर्षमभिवदतो लघुमाध्यन्दिनशिक्षाकारस्य अस्य अभिप्रेतः। एतेन इदं निष्कृष्यते, यदुभयक्षेपस्य स्थलद्वयं शास्त्रनियतम्, तत्र प्रथमं विसर्गयुक्तं ह्रस्वविशिष्टस्वरितस्थलम्, द्वितीयं वकारसहितं दीर्घस्वरितात्परं विसर्गोच्चारण-परमिति। याज्ञवल्क्यशिक्षायामुभयक्षेपस्य स्वरस्थलं निष्कृष्य निदर्शितम्। यथा–

विसर्गान्तः स्वरो ह्रस्वः स्वरितो यत्र दृश्यते।
दीर्घस्तु स वकारश्च तत्रोभक्षेप उच्यते ।।[25]

एवं प्रकारेण उदात्तादि स्वराणाम् हस्तसञ्चालनविधिः संक्षेपेण वर्तते।

इति शम्

सन्दर्भग्रन्थाः–

1. याज्ञवल्क्यशिक्षा - डॉ. नरेश झा चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन - सन् - 2014
2. शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनशाखा - डॉ. रामकृष्ण शास्त्री, सन् - 2015
3. लोमशीशिक्षा - पीताम्बरापीठ दतीया - 1987
4. माध्यन्दिनीयशिक्षा - मोतीलाल बनारसी दास प्रकाशन, सन् - 1997
5. वाजसनेयप्रातिशाख्यम् - डॉ. विरेन्द्र वर्मा, चौखम्भा संस्कृत संस्थान काशी, सन् - 2021

---

1. याज्ञवल्क्यशिक्षा - 5.2
2. याज्ञवल्क्यशिक्षा स्वरप्रक्रिया - 55
3. याज्ञवल्क्यशिक्षा स्वरप्रक्रिया - 57
4. शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनीयशाखा - 31.8
5. शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनीयशाखा - 31.5
6. शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनशाखा - 17.37
7. शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनीयशाखा - 1.12
8. शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनीयशाखा - 2.21
9. शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनीयशाखा - 17.98
10. शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनीयशाखा - 11.61
11. शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनीयशाखा - 3.5
12. शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनीयशाखा - 1.10
13. शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनीयशाखा - 17.16
14. शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनीयशाखा - 29.69
15. याज्ञवल्क्यशिक्षा स्वरप्रक्रिया - 56
16. वाजसनेयप्रातिशाख्यम् - 1.124

17. याज्ञवल्क्यशिक्षा स्वरप्रक्रिया - 61-62
18. याज्ञवल्क्यशिक्षा स्वरप्रक्रिया - 63
19. मल्लशर्मकृतमाध्यन्दिनीयशिक्षा - 24.325
20. याज्ञवल्क्यशिक्षा - 3.63
21. शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनीयशाखा - 12.84
22. शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनीयशाखा - 1.2
23. शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनीयशाखा - 34.1
24. लोमशीशिक्षा - 25-26
25. याज्ञवल्क्यशिक्षा - 69

सहायकाचार्यः, वेदविभागः
श्रीसोमनाथसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
वेरावलम् ।

भारतीयवैज्ञानिकपरम्परेतिहासः

– डॉ. अखिलेशकुमारमिश्रः

(प्रस्तुत शोधपत्र में भारतीय वैज्ञानिक– परम्परा विषयक चर्चा की गई है। इस वैज्ञानिकपरम्परा में अथर्वा ऋषि, विश्वामित्र, अत्रि, गृत्समद, वामदेव, भरद्वाज, वशिष्ठ, चरक, सुश्रुत, वाग्भट, वराहमिहिर आदि उल्लेखनीय हैं। अवान्तर काल में भी कई स्वनाम धन्य मनीषी हुए हैं। यथा– माधवकर, लगध, ब्रह्मगुप्त, भास्कराचार्य, महावीराचार्य, बोधायन, नारायणपण्डित आदि स्मरणीय हैं। पदार्थविषयक चिन्तनकर्ताओं की भी कमी नहीं रही है। यथा– आचार्य कणाद, महर्षि गौतम वात्स्यायन, प्रशस्तपादाचार्य, उद्योतकराचार्य, कपिल, महर्षि पतञ्जलि आदि इस परम्परा के प्रशस्त आचार्य हैं।

इन सारे ऋषियों एवम् आचार्यों के द्वारा किये गये योगदान की चर्चा इस शोधपत्र में किया गया है। जिसमें महर्षि अथर्वा ने अग्नि की खोज की। गृत्समद रूपपरिवर्तन क्रिया में निपुण थे। वर्तमान में इसे ट्रांसफोर्मेशन आफ बॉडी कहा जाता है। चरकसंहिता और सुश्रुतसंहिता प्रसिद्ध है ही। परमाणुवाद के जनक ऋषिकणाद है। भौतिक उन्नति में भी प्राचीन आचार्यों का योगदान अत्यन्त सराहनीय योगदान रहा है। कालान्तर में इन्ही मनीषियों के विचारों नें भारतीय संस्कृति एवं वैदिक परम्परा को पुष्पित पल्लवित करते हुए अत्यन्त समृद्धि प्रदान किया।)

अस्ति भारतीयज्ञानपरम्परा सुदृढा अनादितमा अविच्छिन्ना। अस्यां परम्परायाम् एतादृशाः ऋषयः महर्षयः अभूवन् ये विविधानि पदार्थजटिल-तमतत्त्वानि स्पष्टीकृत्य, मानवजीवनस्य तमः अपहृत्य प्रकाशं प्रकटीचक्रुः। अत्र भवतु आत्मतत्त्वम् उत आणविकी संरचना। सर्वत्र तेषां गतिः अत्युद्भुता आसीत् ते मृत्युमपि तीर्त्वा अमृततत्त्वम् अधिगतवन्तः तत्र उपनिषदः प्रामाण्यम् अनुशीलनीयम्–

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।।[1] – ईशावाश्योपनिषद्

अत्र भारते आवैदिककालम् अमृततत्त्वोपासनाः समादृताः दृश्यन्ते। तत्र न कोपि परिधिः उत प्रतिबन्धकपदार्थः आसीत् अत एव श्रुतिः निर्दिशति– **आनो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः**[2] अस्यां परम्परायां वेदः, आयुर्वेदः, नक्षत्रवेदः, क्षत्रवेदः, व्याकरणम्, भाषिकतत्त्वम्, तर्कः, खगोलशास्त्रम्, गणितपरम्परादयः सर्वेऽपि विषयाः मानवस्य उन्नतये योगदानम् अयच्छन्। प्राचीनकालादेव अस्माकं देशः मानवीयमूल्यानां संग्रहणे वैज्ञानिकपरम्परायाः परिपालनाय सन्नद्धः दृश्यते।

एतादृशीं प्रतिज्ञामत्र श्रुतिरेव निरूपयति यत् सर्वे जनाः निरामयाः भवन्तु, सुखिनः भवन्तु। वस्तुतः इयं विज्ञानपरम्परा पदार्थस्य याथातथ्यं सम्मुखीकरोति तेन स्पष्टपदार्थवतां दृष्टि: स्पष्टा स्वच्छा च भवति। अनेन सर्वे व्यवहाराः सरलतया निष्पन्नाः भवन्ति। एतदर्थं भारतीयवैज्ञानिकाः सदा स्मरणीयाः एव सन्ति, एषाम् अनुसन्धानम् अपि च प्रज्ञा सर्वान् पुष्णाति। सुचरितानि तथ्यानि अङ्गीकृत्य एते शिक्षेरन्। के इमे महाभागाः तेषां कीदृशं योगदानं यस्य भावं, निर्णीतं तत्त्वम् अनुकरणाय अधिगमाय च पाश्चात्यचिन्तकाः चिन्तनशीलाः दृश्यते इति विषयविमर्शाय अयं विषयः सम्मुखीभवति सः तु– **भारतीयवैज्ञानिकपरम्परेतिहासः** वर्तते। अनेन भारतीय वैज्ञानिकानां विशिष्य प्राचीनानां योगदानस्य उल्लेखपुरस्सरम् अनुसन्धित-विषयस्यापि विमर्शः सम्मुखीभविष्यति। अस्य शोधप्रपत्रस्य अधोलिखितानि उद्देश्यानि सन्ति–

1. भारतीयप्राचीनानुसन्धानक्षेत्रस्य स्वरूपोपस्थापनम्।
2. भारतीयानुसन्धानवैशिष्ट्योपस्थापनम्।
3. भारतीयवैज्ञानिकानां कीर्तनपुरस्सरं तदीयकृतिवर्णनम्।
4. पारम्परिकानुसन्धानप्रक्रियायाः स्वरूपसमुद्भावनम्।
5. वैश्विकज्ञानपरम्परायां सामरस्यस्थापनम्।
6. प्राचीनज्ञानपरम्परायाः समुपस्थापनम्।
7. आधुनिकशिक्षापद्धतौ तादृशचिन्तनतत्त्वसमन्वयाय प्रयत्नः।
8. पिहितज्ञानपरम्परायाः निर्मलीकरणम्।
9. तेषां नामकीर्तनम् अत्र येषां विषये बहवः अश्रुताः एव सन्ति।
10. अद्यतनीयशिक्षाव्यवस्थायां तदीयचिन्तनस्य समन्वयीकरणम्।
11. अनुसन्धानप्रक्रियायाः वैशिष्ट्योद्भावनम् अनेन प्राचीनवैज्ञानिकानां चिन्तनशैली संगता भवति।

अत्र उपरितानि उद्देश्यानि आश्रित्य अयं शोधप्रकल्पः अग्रेसरति यत्र भारतीयज्ञानविज्ञानपरम्परायाः समुन्नायकानाम् अत्र ऋषीणां यथाक्रमं क्रमिकं स्वरूपं विशिष्य विषयानुगुणम् उपस्थाप्यते येन इतिहासपदार्थोऽपि अन्वयतां यास्यतीति। अनेन छात्राः शिक्षकाः अनुसन्धानरताः अपि सम्बन्धसाहित्यम् अवाप्य उपकृताः भविष्यन्ति। भारतीयभावचिन्तनपरम्परायाः समुत्थानाय अयं प्रयत्नः युक्तिश: इति कृत्वा परम्परेतिहासः उपन्यस्यते।

1. **वैदिकपरम्परायां वैज्ञानिकाः–** ज्ञानार्थकविद्धातोः निष्पन्नः अयं वेदः इष्टं प्रापयति अनिष्टं च निवारयति। एतदर्थः अत्र प्रयोगः यज्ञात्मकः अन्यो वा दृश्यते।

अयं हि सर्वज्ञानमयः वर्तते[3]। अस्य चिन्तकाः ऋषयः अधिगतयाथातथ्याः आसन् तमेव भावं भाषया यास्कः प्राकटयत्– **न ह्येषु प्रत्यक्षमस्ति अन्तषेरतपसो वा[4]** इति। अतः ज्ञानविदग्धानां विदितवेदितव्यानां समुल्लेखः सम्पाद्यते–

क. **ऋषिः अथर्वा–** अग्न्युत्पत्तौ ऋषिरयं सादरं स्मर्यते। अनेन अग्न्युत्पत्तिप्रकारः त्रिधा अनुसंधितः यस्योल्लेखः वेदेषु प्राप्यते। अग्निः ऊर्जायाः श्रोतः अस्तीति। अत एव श्रीकृष्णोऽप्याह गीतायाम् यत् पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।[5] अथ प्रयोगः–

i. **वृक्षादग्न्युत्पत्तिः– अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्यद् अग्ने इति।[6]**

ii. **जलादग्निः–** जले अग्नितत्त्वं भवति इत्यस्य अन्वेषणम् अयमेव ऋषिरकरोत्। अत्र मानम् **- त्वामग्ने पुष्करादधि-अथर्वा निरमन्यत। [7]**

iii. **पुरीष्याग्निः–** धरायाः अन्तर्भागे अग्नेः विविधानि स्वरूपाणि सन्ति तेषाम् उद्भावनम् अनेन ऋषिणा एव विहितम्। एवञ्च अग्न्युत्पत्तौ एतेषां योगदानम् अस्माभिरनुकीर्तनीयम् एव।

ख. **विश्वामित्रमहर्षयः–** ऋषिरयं स्वानुसन्धानेन मन्त्राणां दर्शनं चकार। अपि वंशानुक्रमतथ्यानि तेन परिवर्तितानि अनेन आदौ सः राजर्षिरासीत् अनन्तरं ब्रह्मर्षिपदम् अवाप। हरिश्चन्द्राख्याने रोहिता जीवनम् अयच्छत्। इति तु तेषां अनुसन्धानफलम् एव।

ग. **अत्रिमर्षयः–** ऋग्वेदीयसूक्तानुशीलनेन ज्ञायते यत् अयं ऋषिः सामाजिक-दोषाणामपाकरणे सदा सन्नद्धाः भवन्ति स्म। तस्मिन् प्रयोगे ते स्वस्तिसूक्तम् असृजन्। तेन समाजे स्वस्त्ययनम् एव भवति। एते वृद्धत्वम् उत्सृज्य यौवनम् अवाप अत्रापि विज्ञानपरम्परा एव अनुस्यूता वर्तते। अद्यत्वे यदि इदं ज्ञानम् आविर्भूतं भविष्यति तर्हि कियान् उपकारः स्यात् इति वक्तुमपि न पारयामि।

घ. **गृत्समदः–** ऋषिरयम् ऋग्वेदीयद्वितीयमण्डलस्य द्रष्टा वर्तते। बृहद्देवतायाः अनुशीलनेन ज्ञायते यदयं रूपपरिवर्तने अतीव कुशलः आसीत्। यस्य चर्चा धुनिचामुरी दैत्ययोः प्रसङ्गे वर्तते। तत्र असौ इन्द्ररूपम् अधारयत्। एतत्तु अद्यत्वेऽप्यनुसन्धेयम्। **ट्रांसफोर्मेशन आफ बॉडी** इत्यस्मिन् तस्य नैपुण्यम् आसीत्।

ङ. **ऋषिः वामदेवः–** अयं हि सूर्यतत्त्वचिन्तनाय सदा स्मर्यते। ऋग्वेदस्य चतुर्थे मण्डले **सौरी ऋचा** अस्ति यत्र अनेन सूर्यस्थितानां विविधभावानाम् आधारः उपस्थापितः।[8]

च. **भरद्वाजर्षिः–** अयं हि ऋषिः स्वकीयानुसन्धानात्मके ऋग्वेदीयषष्ठे मण्डले वैश्वानराग्नेः स्वरूपम् उपास्थापयत्।[9] अग्निमरुद्गणप्रभृतीनां कार्याणि अपि

अवर्णयत्। अत्र भूत्पत्तिः आकाशोत्पत्तिः प्राक्कल्पनास्वरूपेण परिगण्यते इति।[10]

छ. **वशिष्ठः ऋषिः–** अयं हि वृष्टिविज्ञानस्य प्रवर्तकः अनुशील्यते **मण्डूक्सूक्तम्** अस्ति मानम्।[11] इत्यञ्च वैदिकपरम्परायां बहवः ज्ञानिकाः सन्ति ये विविधानि अनुसन्धानकल्पानि अकल्पयन्। अनेन प्रकल्पेन मानवाः शतायुष्ट्वम् अवाप्य निर्भयाः भवन्ति। यदि एतेषां वैज्ञानिकानां यत् कार्यम् अस्ति तस्य समीक्षणम् क्रियते तर्हि नूनम् एव अनुसन्धानपक्षे वयम् अग्रेसराः भविष्यामः। वस्तुतः पाश्चात्याः अत्रागत्य वेदम् अधीत्य तस्य सारभागम् अनुशील्य स्वानुसन्धानम् उपस्थापितवन्तः। भारतीयास्तु केवलं तस्य उच्चारणे एव स्वसमयं अददन् इत्येव वैशिष्ट्यम् अतः पूर्वोक्तानां महर्षीणां यत् कार्यम् तदनुसन्धेयम् इति।

2. **आयुर्वेदपरम्परायां वैज्ञानिकाः–** आयुर्वेदस्य क्षेत्रे अस्माकं भारतीयानाम् महद्योगदानम् वर्तते। ऋषयः चिकित्सायै देवपद्धतिम् स्वीकृत्य मानवीयरोगाणां निदानव्यवस्थाः समुपस्थापितवन्तः। तेषु प्रमुखाः अनुसन्धानतत्पराः ऋषयः अधोल्लिखितास्सन्ति–

क. **ऋषिः चरकः–** भारतीयपरम्परायामयम् औषधिविज्ञानस्य प्रवर्तकत्वेन अनुस्मर्यते। अनेन रचिता चरकसंहिता मानवीयरोगोपशमने प्राशस्त्यम् आवहति। अत्र भोजनव्यवस्था, रोगादिलक्षणं, तन्निदानं च परिकल्पितं दृश्यते।

ख. **ऋषिः सुश्रुतः–** अयमपि ऋषिः भारतीयचिकित्सकेषु अग्रगण्यः वर्तते। अयं हि **प्लास्टिकसर्जरी** इत्यस्य जनकत्वेन स्मर्यते। **कॉस्मेरिसर्जरी** मध्ये अयं विशमदः आसीत्। एतद्प्रणीता सुश्रुतसंहिता रोगनाशने समर्था वर्तते। इयम् अद्यत्वेऽपि अध्ययन-परम्परायाम् अनुशील्यते।

ग. **वाग्भटः–** अष्टाङ्गसङ्ग्रहस्य - अपि च अष्टाङ्गहृदयस्य प्रणेता वाग्भटः अतीव प्रसिद्धः चिकित्सकः आसीत्। चिकित्साक्षेत्रे तेषाम् अनुसन्धानम् अतीवादर्तव्यम् अस्ति। अनेन दिनचर्या, ऋतुचर्या उपस्थापिता यया मानवीयस्वास्थ्यपरम्परा अक्षुण्णा समेधिता च भवति। अयं हि **मानसिकरोगप्रकारम्** अपि अवर्णयत्।

घ. **वाराहमिहिरः–** आचार्यवाराहमिहिरः वृक्षायुर्वेदं विरच्य वृक्षेषु संज्ञानात्मकं भावम् उपस्थापितवान्। अत्र वृक्षाणां वृद्धिः तदीयरोगः तन्नाशाय प्रयत्नः सम्यग्रूपेण वर्तते। अनेन हस्त्यायुर्वेदः अश्वायुर्वेदः अपि सम्यग्रीत्या विमृष्टः।

ङ. **माधवकरः–** माधवनिदानम् अस्य गन्थस्य कर्ता माधवकरः वर्तते। अयमेव रोगविनिश्चयः पदेन ज्ञायते। अत्र पूर्वोक्तरोगाणां निदानात्मकम् अनुशीलनं दृश्यते यत्र तत्त्वत्रयं प्रामुख्यं भतजे–

i. **हेतुज्ञानम्-** अत्र रोगोत्पतिव्यवस्था अनुशील्यते।

ii. **लिङ्गज्ञानम्-** अत्र रोगस्वरूपं ज्ञायते।

iii. **औषधज्ञानम्-** अत्र हेतुलिङ्गद्वारा औषधस्वरूपं निर्दिश्यते इति। अतएव निदाने माधवः श्रेष्ठः उद्गीयते।

एते ऋषयः वैदिकपरम्परायां निदानात्मकानां भावानां वैस्तीर्यम् उपस्थापयामासुः। वस्तुतः वेदे विविधाः भावाः आयुष्यसम्मताः समुद्गीताः सन्ति। रोगः पुरुषार्थप्रतिबन्धकत्वेन परिकल्प्यते तन्नाशाय अयं हि अत्यावश्यकः एव अत एव चरकः प्राह–

धर्मार्थकाममोक्षाणाणामारोग्यामृतमुत्तमम् ।
रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च ।।[12]

अद्यत्वे रोगनाशाय यादृशी परम्परा प्रचलिता वर्तते सा तु मानवस्य आयुष्यं नाशयति। एकं रोगं नाशयति तर्हि अपरं समुत्पादयति। इयं प्रचाल्यमाना पद्धतिः तु राक्षसीपदेन उच्यते। अतः अत्रानुसन्धानस्य अतीव आवश्यकता वर्तते येन मानवानाम् आयुष्यं संरक्षितं भूयादिति। अपि च वैदिकी भावनापि संगता भवेत् - **सर्वे सन्तु निरामयाः** इति ।।

3. **गणितपरम्परायां वैज्ञानिकाः–** गम् धातोः क्त प्रत्यये कृते सति निष्पन्नं गणितपदम् अस्माकं विविधशास्त्राणाम् आधारः वर्तते। संख्यातम् एव गणितम् इति कोशकारः वदति। अस्याः परम्परायाः प्रमुखः आधारः वर्तते वेदः यत्र गणनायाः विशिष्टं स्वरूपं दृश्यते–

एका च मे तिस्रश्च मे तिस्रश्च मे पञ्च च मे पञ्च च मे सप्त च मे सप्त च मे नव च मे नव च मे एकादश च मे एकादश च मे त्रयोदश च मे त्रयोदश च मे पञ्चदश च मे पञ्चदश च मे सप्तदश च मे सप्तदश च मे नवदश च म नवदश च म एकविंशतिश्च म एकविंशतिश्च मे त्रयोविंशतिश्च में त्रयोविंशतिश्च में पञ्चविंशतिश्च मे पञ्चविंशतिश्च मे सप्तविंशतिश्च मे सप्तविंशतिश्च मे नवविंशतिश्च मे नवविंशतिश्च मे एकत्रिंशच्च मे एकत्रिंशच्च मे इति तर्हि चतस्रश्च मेऽष्टौ च मेऽष्टौ च मे द्वादश च मे द्वादश च मे ....इति[13] अग्रे गत्वा इयं परम्परा आर्यभट्टादिभिः सम्पोषिता इयमपि संसाध्यते इति। वस्तुतः

अस्मिन् क्षेत्रे एतादृशाः बहवः वैज्ञानिकाः सन्ति ये स्वकीयावदानं प्रदाय उपकृतवन्तः संक्षेपेण तेषां चर्चा उपस्थाप्यते–

क. **आचार्यलगधः–** एषः आचार्यः वेदाङ्गीयं गणितं स्वीकृत्य वेदाङ्गज्योतिषनामकं ग्रन्थम् अलिखत्। अत्र योगः**(+)** वियोगः**(-)** गुणितम्**(×)** तिथिमानम् नक्षत्रगत्यादयः वर्णिताः सन्ति। यमाश्रित्य यज्ञादयः प्रवर्तन्ते।

ख. **आर्यभट्टप्रथमः–** अयं हि गणितशास्त्रस्य मूर्धन्यः विद्वान् आसीत्। अनेन रचितम् आर्यभट्टीयम् इत्याख्यः ग्रन्थः अङ्कगणितस्य, ज्यामितेः, त्रिकोणमितेः मौलिकीम् अवधारणाम् उपस्थापयति। अयं हि गणितीयभाषिकं स्वरूपम् **कटपयादिपद्धतिः** निर्मितवान्। तम् आश्रित्य IIT कानपुरतः सम्प्रत्येव अनुसन्धानम् अभवत् यत्र एक एप इत्यपि समागतः।

ग. **ब्रह्मगुप्तः–** भारतीयगणितपरम्परायाम् अयम् ऋषिः ब्रह्मस्फुटसिद्धान्तं विलिख्य ख्यातिम् अवाप। अत्र वर्ग-वर्गमूलघन-घनामूल-त्रैराशिक-पञ्चराशिकप्रभृति प्रमेयबहुल-विषयाणां विविधसमाधानस्वरूपम् अनेन निरूपितम्।

घ. **भास्कराचार्यः–** सिद्धान्तशिरोमणिः, खगोलगणितम्, लीलावती, बीजगणितम् इति चतुर्विधग्रन्थस्य लेखकः भास्कराचार्यः भारतीयगणितपरम्परायाः महान् आचार्यः वर्तते। अनेन शून्यमानस्वरूपम् उपपादितं तथा च खयोगे वियोगे धनवर्णं तथैव च्युतं शून्यतस्तद्विपर्यासमेति[14] अनेन उपस्थापितम् चलन-कलनं स्वरूपम् अद्यत्वेऽपि विविधक्षेत्रेषु पाठ्यतत्त्वं भजति।

ङ. **महावीराचार्यः–** अयं हि जैनपरम्परायाम् उपनीतः महान् ज्योतिर्विद् आसीत्। गणितक्षेत्रे आचार्याणाम् अवदानम् अत्युद्भुतम् वर्तते। तत्र लघुत्तमसमापवर्त्य-महत्तमसमावर्त्य (LCM-HCF) विषयस्य एते एव प्रतिपादकाः आसन्।

च. **बोधायनः–** गणितक्षेत्रे प्रसिद्धस्य पाइथागोरसप्रमेयस्य प्रथमः प्रमाता बोधायनः वर्तते। यद्यपि आपस्तम्बोऽपि अस्मिन् सन्दर्भे स्वकीयं सिद्धान्तं प्रकटीचकार। परमत्र एतेषां योगदानम् अपि अत्यद्भुतम् अस्ति।

छ. **नारायणपण्डितः–** अयं हि गणितकौमुद्याः लेखकः वर्तते। अत्र त्रिभुजात्मकस्य अङ्गस्य योगमाश्रित्य अभिनवः प्रयोगः सम्पादितः। अत्र

बीजगणितीयभावानां मानम् अपि च अवर्गात्मकसंख्यायाः वर्गमूलव्यवस्था वर्णिता वर्तते।

एवञ्च गणितशास्त्रे प्रयुज्यमानाः विविधाः विषयाः वर्तन्ते तेषाम् आधारः अस्माकं भारतीयवैज्ञानिकाः एव सन्ति। अत्र आवैदिककालम् गणितीयपरम्परा दृश्यते। भवतु शून्यतत्त्वोपस्थापनाय–पूर्णमदः पूर्णमिदं इत्यस्य आङ्गिकी व्याख्या उत त्रिभुज-चतुर्भुजविषयस्य याज्ञिकी व्याख्या सर्वे विषयाः अत्रान्तर्निहिताः वर्तन्ते। अङ्कलेखन-प्रकारः दशमलवोपयोगः, शून्यप्रयोगसिद्धान्तः, घनमूलविस्तारः, कुट्टक-समीकरणम् लघूत्तमसमापवर्त्यप्रभृति-विषयाम् उपादानेन जगति विविधाः व्यापाराः प्रवर्तन्ते। अतः वेदेषु निहिता विद्या शूल्बेषु परिवर्धिता। योगे चाङ्गे प्रमेये च सर्वत्र गणितं स्मृतम्।।

4. पदार्थपरम्परायां वैज्ञानिकाः– इह जगति कति पदार्थाः के च ते इत्यस्मिन् सन्दर्भे महान् विचारः महतीयं परम्परा च दृग्गोचरी भवति। भारतीयाः आचार्याः भावपक्षम् अभावपक्षम् आश्रित्य पदार्थानां वैस्तीर्यम् अलिखन्। अस्यां परम्परायाम् अनेके वैज्ञानिकाः ऋषयः आसन् तेषां सांक्षिप्तमैतिह्यम् अत्र वितन्यते।

क. **कणादः–** ऋषिः कणादः वैशेषिकसूत्रम् अस्य ग्रन्थस्य प्रणेता वर्तते। अयं हि गतिवादं, गुरुत्ववादं, परमाणुसंरचनाः, परमाणुपाकम् प्रतिपाद्य अद्यतन-वैज्ञानिकेभ्यः सुदृढतमम् आधारम् अयच्छत्।

ख. **गौतमः–** ऋषिरयं न्यायसूत्रम् विलिख्य भावानां विशिष्य मूर्तामूर्तानां समीचीनं स्वरूपम् अददत्। अत्र षोडशसंख्याकाः पदार्थाः परिष्कृताः सन्ति। अनेनाध्ययनेन तर्कशक्तेः विकासः भवति।

ग. **वात्स्यायनः–** ऋषिरयं न्यायसूत्रोपरि भाष्यम् अकरोत् तत्र स्थितानां भावानां मीमांसाः उपस्थाप्य तेषां वैशिष्ट्यानि आह। केषुचित् स्थलेषु सूत्रकारीयभावानां परीक्षणम् अप्ययं चकार।

घ. **प्रशस्तपादाचार्यः–** ऋषिरयं पदार्थधर्मसंग्रहं विलिख्य पदार्थानां न केवलं स्वरूपम् प्रतिपादितवान् अपि तत्र स्थितानां गुणदोषाणां समुद्भावनम् अपि चकार। अत्र कणादचिन्तनापेक्षया अभिनवाः सिद्धान्ताः अपि वर्णिताः वर्तन्ते।[15] तत्र सृष्टिप्रक्रिया नाशविमर्शः दूरत्वसमीपत्वसिद्धान्तः, गतिदशायाः स्वरूपम् विशिष्य वर्णिताः सन्ति।

ङ. **उद्योतकराचार्यः–** न्यायवार्तिकस्य प्रतिष्ठापकोऽयमाचार्यः उद्योतकराचार्यः वर्तते। अनेन न्यायशास्त्रीय-पदार्थं प्रति-जायमानाक्षेपस्य खण्डनं कृतम्। अपि पदार्थविश्लेषमद्वारा प्रतिष्ठाः अवाप। अयं हि निःश्रेयस-दुःख-संशयहेत्वाभासभेदं प्रतिपाद्य पदार्थजगति स्वपक्षं स्थापयामास।

च. कपिलः– सांख्यशास्त्रप्रवर्तकत्वेन कपिलः सदा स्तूयते। अयं हि आचार्यः पञ्चविंशतिपदार्थानां स्वरूपं प्रतिपाद्य पदार्थजगति स्वप्रतिभां प्रदर्शयामास। तथा च–

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ।।[16]

अस्यां परम्परायां प्रसिद्धाः वैज्ञानिकाः ईश्वरकृष्ण - वाचस्पतिमिश्र - विज्ञानभिक्षुप्रभृतयः विराजन्ते।

एवञ्च पदजन्यप्रतीतिविषयत्वेन प्रसिद्धाः पदार्थाः संस्कृतवाङ्मये सन्ति। पञ्चविंशतिसंख्याकाः पदार्थाः यदि सांख्यस्य वर्तते सिद्धान्तास्तर्हि षड्विंशतिपदार्थाः योगस्य स्मर्तव्याः भवन्ति। तत्र न्यायनये षोडशपदार्थाः सन्ति तर्हि वैशेषिकनये सप्तविधपदार्थाः वर्तन्ते। वेदान्तिनः पदार्थद्वयमङ्गीचक्रुः तर्हि केचन तस्य त्रित्वम् उपस्थापयामासुः। एतावता पदार्थवर्गीकरणसन्दर्भेऽस्माकं ये वैज्ञानिकाः महर्षयः सन्ति तेषां एकमत्यं न दृश्यते इति।

5. परमाणुपरम्परा– वैशेषिकाद्याचार्यास्तत्र कणादाः सन्दर्भेस्मिन् नैजं पक्षम् अलिखन् यत् **सूर्यप्रकाशसत्त्वे गवाक्षे यत् सूक्ष्मं रजः दृश्यते तस्य षष्ठतमः भागः परमाणुः उच्यते।**[17] अपि च स च अयम् अल्पतरप्रसङ्गः **यस्मात् न अल्पतरमस्ति स परमोऽल्पः तत्र निवर्तते यतः च नाल्पीयोऽस्ति तं प्रचक्ष्महे इति**[18] एवञ्च एतत्सम्बन्धिपाकोऽपि पीलूपाकः पीठरपाकः इति भावेनात्र विमृश्यते।

6. खगोलपरम्परा– अद्यत्वे सर्वत्र विज्ञानाध्ययनकेन्द्रे एस्ट्रोफिजिक्स इत्यस्या-ध्ययनमुपस्थाप्यते। तत्र खगोलीयपिण्डानामध्ययनं क्रियते परमस्य विषयस्य यदि आद्यावस्थानुशील्यते चेत् खभागस्य सप्तविंशतिभागविभाजनम् उपस्थाप्य तत्र नक्षत्रसूचकं तथ्यं सम्पादयामासुः भारतीयाः ऋषयः। अपि च सूर्योदयम् अस्तञ्च आश्रित्य ग्रहगणितादिकम् आविश्चक्रुरिति।

7. चिकित्सापरम्पराः– आयुर्वेदः आयुराश्रित्य प्रवर्तते। अत्र विविधरोगाणां निदानं लक्षणादिकं स्पष्टतया समुपवर्णितम् अस्ति। प्रतिवेदम् अस्य भावः अवगम्यते। अनेन वैदिकभावनाः संगताः भवन्ति - पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः श्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतादिति [19]। अस्यादि परम्परा सुदीर्घा विशाला वर्तते।

8. पर्यावरणपरम्पराः– भारतीयाः पर्यावरणरक्षणे सदा तत्पराः आसन् अत एव-शतपुत्रसमो द्रुमः उच्यते। अश्वत्थपूजा, तुलसीजलदानम् वटवृक्षसेवा भारतीयानाम् अनिवार्यक्रियासु संगता वर्तते। अत्रस्थं विज्ञानं मानवीयवैज्ञानिकभावं सम्पोषयति।

9. प्रविधिपरम्पराः– खलु वेदेषु प्रविधेः स्वरूपं स्पष्टतया अवगम्यते। अत्र धनुर्वेदे विविधास्त्रादीनां स्वरूपं प्राप्यते तर्हि भरद्वाजप्रणीते ग्रन्थे वायुयानस्य प्रमितिः संसाधितावगम्यतेऽतः इयं परम्परातीव सुदीर्घा आसीत्।

10.योगपरम्पराः– योगं योगासनं सम्पाद्य महर्षयः पतञ्जलयः शारीरिकं विज्ञानं प्रवर्धयामासुः यस्य पल्लवनमद्यत्वे सर्वत्र आचार्यरामदेवद्वारा सम्पाद्यते इत्युत्सविषयः इयमपि परम्परोपादेया वर्तते।

11.आत्मविज्ञानपरम्पराः– आत्मविज्ञानपरम्परायां भारतीयानाम् अनुसन्धानम् अतीव अद्भुतम् अस्ति। आत्मसम्बन्धिचिन्तनम् एतादृशम् न भूतो न भविष्यतीति मे मतिरिति कृत्वा इयमप्युपादेयेति।

एवञ्च भारतीयवैज्ञानिकपरम्परायाः ऐतिह्ये पूर्वोक्तानां विषयाणाम् उपादानम् अस्ति यद्यनिवार्यं तर्हि तमाश्रित्य प्रवर्धितानां भावानाम् उपादानमपि सापेक्ष्यमतोऽयं विषयः अस्त्युपादेयः। तमाश्रित्य प्रवर्तते मदीयानुसन्धानभावः इति।

सन्दर्भग्रन्थाः–

1. शुक्लयजुर्वेदः- 40.11 श्रीमद्वाजसनेयि-माध्यन्दिन-शुक्लयजुर्वेदः, सम्पादकः- डॉ. रामकृष्ण-शास्त्री, प्रकाशकः- चौखम्बा-विद्याभवनम्, पो. बा. नं. 1069, वाराणसी-221001, पुनर्मुद्रितसंस्करणम्-2005 ई.।
2. शुक्लयजुर्वेदः- 25.14 श्रीमद्वाजसनेयि-माध्यन्दिन-शुक्लयजुर्वेदः, सम्पादकः- डॉ. रामकृष्ण-शास्त्री, प्रकाशकः- चौखम्बा-विद्याभवनम्, पो. बा. नं. 1069, वाराणसी-221001, पुनर्मुद्रितसंस्करणम्-2005 ई.।
3. मनुस्मृतिः-2.7, सम्पादकः- गङ्गानाथझाः, प्रथमो भागः, प्रकाशकः- परिमल पब्लिकेशन्स दिल्ली-11007, संस्करण-2004 ई.।
4. श्रीयास्कमुनिप्रणीतं निरुक्तम्-13.12, सम्पादकः- म.म.पण्डित श्रीमुकुन्दझाशर्मणा, प्रकाशकः- चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, पो.बा.नं. 2113, दिल्ली-110007, पुनर्मुद्रित संस्करण-2008 ई.।
5. गीता-15.14 भगवद्गीता शाङ्करभाष्यसहित, अनुवादकः- श्रीहरिकृष्णदास गोयन्दका, प्रकाशकः- गीताप्रेस, गोरखपुर-273005, संस्करण-तैंतीसवाँ पुनर्मुद्रण, सं. 2071
6. शुक्लयजुर्वेदः- 11.32 श्रीमद्वाजसनेयि-माध्यन्दिन-शुक्लयजुर्वेदः, सम्पादकः- डॉ. रामकृष्ण-शास्त्री, प्रकाशकः- चौखम्बा-विद्याभवनम्, पो. बा. नं. 1069, वाराणसी-221001, पुनर्मुद्रितसंस्करणम्-2005 ई.।
7. सायणभाष्यकृत-ऋग्वेदसंहिता-6.16.13,सम्पादकः-पण्डित-रामगोविन्द-त्रिवेदी, प्रकाशकः- चौखम्बा-विद्याभवन-वाराणसी, पो.बा. नं. 1069, वाराणसी-221001, पुनर्मुद्रितसंस्करणम्-2011, भागः- 1-5 पर्यन्तम्।

8. सायणभाष्यकृत-ऋग्वेदसंहिता-4.40.5-6, सम्पादकः- पण्डित रामगोविन्द-त्रिवेदी, प्रकाशकः-चौखम्बा-विद्याभवन-वाराणसी, पो.बा. नं. 1069, वाराणसी-221001, पुनर्मुद्रितसंस्करणम्-2011, भागः- 1-5 पर्यन्तम्।
9. सायणभाष्यकृत-ऋग्वेदसंहिता-6.1.7-9, सम्पादकः-पण्डित-रामगोविन्द-त्रिवेदी, प्रकाशकः- चौखम्बा-विद्याभवन-वाराणसी, पो.बा. नं. 1069, वाराणसी-221001, पुनर्मुद्रित-संस्करणम्-2011, भागः-1-5 पर्यन्तम्।
10. सायणभाष्यकृत-ऋग्वेदसंहिता-6.48.22, सम्पादकः-पण्डित-रामगोविन्द-त्रिवेदी, प्रकाशकः- चौखम्बा-विद्याभवन-वाराणसी, पो.बा. नं. 1069, वाराणसी-221001, पुनर्मुद्रितसंस्करणम्-2011, भागः-1-5 पर्यन्तम्।
11. सायणभाष्यकृत-ऋग्वेदसंहिता-7.10.3, सम्पादकः-पण्डित-रामगोविन्द-त्रिवेदी, प्रकाशकः-चौखम्बा-विद्याभवन-वाराणसी, पो.बा. नं. 1069, वाराणसी-221001, पुनर्मुद्रित-संस्करणम्-2011, भागः-1-5 पर्यन्तम्।
12. संस्कृतवाङ्मय का बृहद् इतिहास - (17खण्ड) 2006, पृष्ठसंख्या - 36, सम्पादकः-प्रो. वलदेव उपाध्याय, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान।
13. शुक्लयजुर्वेदः-36.24 श्रीमद्वाजसनेयि-माध्यन्दिन-शुक्लयजुर्वेदः, सम्पादकः- डॉ. रामकृष्ण-शास्त्री, प्रकाशकः- चौखम्बा-विद्याभवनम्, पो. बा. नं. 1069, वाराणसी-221001, पुनर्मुद्रितसंस्करणम्-2005 ई.।
14. संस्कृत वाङ्मयमें विज्ञान का इतिहास (2018), प्रकाशक - राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् NCERT पृष्ठ संख्या - 15
15. वैशेषिक दर्शन में पदार्थ - निरूपण (1992), राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान नई दिल्ली, डॉ. शशिप्रभा कुमार पृष्ठ संख्या - 31
16. सांख्यकारिका - 3 सम्पादकः- डॉ. विमला कर्णाटकः , चौखम्बा ओरियन्टालिया, दिल्ली।
17. वैशेषिक दर्शन में पदार्थ निरूपण, सम्पादकः- कुमार शशिप्रभा, प्रकाशक-दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, प्रकाशनवर्ष-1992, पृष्ठ - 612
18. वैशेषिक दर्शन में पदार्थ निरूपण, सम्पादकः- कुमार शशिप्रभा, प्रकाशकः- दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-1992, पृष्ठ - 613
19. शुक्लयजुर्वेदः- 18.24-25 श्रीमद्वाजसनेयि-माध्यन्दिन-शुक्लयजुर्वेदः, सम्पादकः-डॉ. रामकृष्ण-शास्त्री, प्रकाशकः-चौखम्बा-विद्याभवनम्, पो. बा. नं. 1069, वाराणसी-221001, पुनर्मुद्रितसंस्करणम्-2005 ई.।

सहायकाचार्यः, वेदविभागः
महर्षिवाल्मीकिसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
कपिष्ठलम्, हरियाणा-136027
दूरवाणी संख्या - 7631274367
ईमेल – akhimishra111@gmail.com

भारतीयभाषासु तेलुगुसाहित्यस्य विशिष्टता

– डॉ. जी. नरसिंहुलु
– डॉ. बि.वि. लक्ष्मीनारायणः

(भारतीय भाषाओं में तेलुगु भाषा का एक विशेष स्थान है। यह भारत के संविधान द्वारा आधिकारिक भाषाओं के रूप में मान्यता प्राप्त 22 भाषाओं में से एक है। तथा 2008 में केंद्र सरकार के द्वारा इसे प्राचीन भाषा के रूप में घोषित किया गया था। यह आंध्र प्रदेश और तेलंगाना की आधिकारिक भाषा है। तीन महान मन्दिरों-द्राक्षाराम (पूर्वी गोदावरी जिला), कालेश्वरम् (करीमनगर जिला) और श्रीशैलम् के तीन लिंगों से चिह्नित यह क्षेत्र मध्यकालीन समय में तेलुगु क्षेत्र का विशिष्ट वर्णन था। पुरातत्व शोध से पता चला है कि तेलुगु भाषा की प्राचीनता 2,400 वर्ष पुरानी है। तेलुगु भाषा के इतिहास का आकलन छठी शताब्दी ई. से प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर किया जा सकता है। तेलुगु में पाया गया पहला सुस्पष्ट प्राचीन शिलालेख सातवीं शताब्दी ई.पू. का है। हमने सीखा है कि तेलुगु, जिसका जन्म ईसा से पहले एक द्रविड़ भाषा के रूप में हुआ था, ग्यारहवीं शताब्दी तक एक काव्यात्मक और साहित्यिक भाषा में अवतरित हुई। संस्कृत भाषा के साथ तेलुगु भाषा का सम्बन्ध अटूट है। श्री नन्नया भट्ट से लेकर हज़ारों वर्षों तक जो कविताएँ फली-फूलीं, उनमें तेलुगु कविताओं की तुलना में संस्कृत कविताएँ अधिक हैं। इससे पता चलता है कि तेलुगु भाषा के ऊपर संस्कृत का प्रभाव अन्य भाषाओं की तुलना में अधिक है। मूल कवि नन्नय्या द्वारा रचित आंध्र शब्द चिंतामणि, तेलुगु व्याकरण पर पहली कृति के रूप में प्रसिद्ध हुई। भाषा के अंग, समास, समुच्चय और अलंकार का विभाजन सभी संस्कृत पर आधारित है। पद्य रचनाओं में प्रयुक्त छन्दों का मूल संस्कृत है। तेलुगु साहित्य नन्नय्या, तिक्कना, श्रीनाथ, अल्लासानी पेद्दाना, तेनाली रामकृष्ण, अन्नामय्या, त्यागराजु आदि कवियों की रचनाओं से बहुत परिपूर्ण है। तेलुगु साहित्य प्राचीन और आधुनिक साहित्य से बहुत मजबूत है।)

भाषा–

भाषा मानवसमाजेन विनिर्मितम् एकं प्रबलं साधनम्। भाषा व्यक्तीनां विचारान् भावांश्च व्यक्तीकर्तुं न केवलं सहायिका अपि तु जनेषु मैत्रीं तथा सांस्कृतिकबन्धान् आर्थिकान् संबन्धांश्च व्यवस्थापयति। यदि भाषारूपेण किञ्चित् साधनं न स्यात्, तर्हि मानवसमाजस्य सांस्कृतिक-वैज्ञानिकोत्तराधिकारः परवर्तिनां कृते प्रसरितः न भवेत्, मानवसमाजेतिहासोऽपि न ज्ञातः स्यात्। व्यक्तिविकासे भाषा प्रमुखं स्थानमावहति। भाषेयम् अभ्यसनाय अभ्युत्थानाय च सहकारिणी भवति।

मनुजः संघजीवी भवति। अतः सामाजिकैस्सह स्वकीयसंबन्धं स्थापयितुं सततं प्रयतते। अन्येषां भावान् ग्रहीतुं स्वाभिप्रायान् प्रकटयितुं च भाषासृष्टेरपेक्षा आसीत्। भावप्रसरणाभिलाषैव भाषोत्पत्तेः मूलकारणं भवति। भाषा काचित् सामाजिकी सृष्टिर्भवति।

भाषायाः विकासः काचित् निरन्तरप्रक्रिया भवति। समाजस्थानाम् अभ्यासान् परिस्थितींश्च समाश्रित्य भाषेयं परिणमते। अस्याः परिणामः कदापि स्थगितो न भवति, जीवनमिव निरन्तरमनुवर्तते। भाषायाः आविर्भावः न एकेन जनेन वा एकस्मिन् काले वा जातः। आबहोः कालात् नैकेषां भाषाविदां सततपरिश्रमेण समूद्भूता काचिद् व्यवस्था। मानवजीनविकासे भाषा कश्चन मुख्य: अंशः भवति। पशुव्यवहारात् श्रेष्ठजनव्यवहारं प्रति यात्रां कर्तुं साधनं भवति भाषा। अद्यत्वे भाषा विद्यालयविषयत्वेन प्रामुख्यं भजते। शिशोः सर्वतोमुखाभिवृद्धये मातृभाषा प्रधाना भवति।

भारतीयभाषाणां विभाजनम्–

भारतदेशे द्विशताधिकाः भाषाः विलसन्ति। मुख्यतया भारतदेशस्थानां भाषाणां विभागः चतुर्धा कृतः वर्तते। तद्यथा–

1. आर्यभाषा-परिवारः
2. द्राविडभाषा-परिवारः
3. निषादभाषा-परिवारः
4. सैनो-टिबेटन्-परिवारः

देशेऽस्मिन् प्रायः 73% जनाः आर्य-भाषापरिवारस्थाः भाषा एव संभाषन्ते। 20% जनाः द्राविडभाषाः संभाषन्ते। अन्यभाषाभाषिणां तु संख्या दशसहस्रादपि अल्पीयसी वर्तते।

आर्यभाषाः– संस्कृतं, हिन्दी, बंगाली, पंजाबी, गुजराती, राजस्थानी, सिन्धी, कच्ची, मराठी, ओडिया, अस्सामी, उर्दू, काश्मीरी इत्याद्याः।

द्राविडभाषाः– द्राविडभाषाः उत्तरद्राविडभाषाः दक्षिणद्राविडभाषाश्चेति शाखाद्वयेन विभज्यन्ते।

उत्तरद्राविडभाषासु– तेलुगुभाषा अत्यन्तं प्राधान्यं भजते। द्राविडभाषासु सुसम्पन्नसाहित्येन विराजमाना तेलुगुभाषेयं अत्यधिकजनैः सम्भाषमाणा च वर्तते। गोंडु, कुरुत्, कोलामीति इत्याद्याः काश्चन प्राचीनभाषाः अपि अस्यामेव शाखायामन्तर्भवन्ति।

दक्षिणद्राविडभाषासु– कन्नड, तेलुगु, तमिल, मलयालम् इति चतस्रः प्रमुखाः। तुलु, कोडगु, टोड इत्याद्याः काश्चन भाषाः अस्यां शाखायामन्तर्भवन्ति।

अतिप्राचीनसाहित्येन सुसंयुक्ता भाषान्तरप्रभावरहिता सहजरूपा च भवति तमिलभाषा। प्रथमसहस्राब्दौ समुत्पन्ना कन्नडभाषा स्तरत्रये परिणाममवाप्य अधुना होस-कन्नडरूपेण प्राचुर्ये वर्तते। मलयालम्-भाषा 1500 वर्षेभ्यः पूर्वं प्राचीनतमिल-भाषातः पृथक् संजाता इति कथ्यते।

तेलुगुभाषाः– तेलुगुभाषा भारतदेशे जनबाहुल्येन भाषमाणा द्राविडभाषा अस्ति। आन्ध्रप्रदेश-तेलंगाणाप्रदेशयोः राजभाषा च भवति तेलुगुभाषेयम्। भारतसंविधानेन अधिकारभाषात्वेन स्वीकृतासु 22 भाषासु अन्यतमा। 2008 तमे वर्षे केन्द्रसर्वकारेण प्राचीनभाषात्वेन चोद्घोषिता।[1]

“त्रिलिङ्ग” इति पदात् तेलुगुपदं समागतमिति समामनन्ति केचन पण्डिताः। ई०पू० 200 वर्षेभ्यः शिलाखण्डेषु उपलभ्यमानत्वात् अस्याः भाषायाः प्राचीनतां ज्ञातुमर्हामः। ईशवीयपूर्वं प्रथमशताब्द्यां **गाथासप्तशती** इति नाम्ना शातवाहनराजभिः विनिर्मिते महाराष्ट्री-प्राकृतपद्यसङ्कलने तेलुगुभाषा-पदानि प्रप्रथमतया दृष्टिगो-चाराण्यभूवन्। अतः तेलुगुभाषाभाषिणः शातवाहनवंशजानां राज्ञामागमनात्पूर्वं कृष्णागोदावरीनद्योः मध्यभूप्रदेशे निवसन्ति स्मेति निर्णेतुं शक्यते।

पुरातत्त्वपरिशोधनानुसारं तेलुगुभाषायाः प्राचीनता 2,400 वर्षकालीनेति ज्ञायते। तेलुगभाषेतिहासः ईशवीय-षष्ठशताब्दादारभ्य प्राप्ताधारानाश्रित्य निर्णेतुं शक्यते। तेलुगुभाषायां समुपलब्धं सुस्पष्टं प्रप्रथमं प्राचीनं शिलाशासनं ईशवीय-सप्तमशताब्दकालीनं भवति। ग्रन्थनिबद्धम् उत्कृष्टतेलुगुभाषेतिहासम् ईशवीयएका-दशशताब्द्यादारभ्य अवलोकयितुं शक्नुमः।

तेलुगुभाषायां प्रथमतया संस्कृतमहाभारतस्य आदि-सभा-अरण्यपर्वाणां पद्यानुवादं कृत्वा महाकविः नन्नयभट्टः तेलुगुसाहित्ये आदिकवि नाम्ना विख्यातो जातः। तेलुगुभाषा द्राविडजन्या उत संस्कृतप्राकृतजन्या वेत्यत्र विदुषां भिन्नमतानि सन्ति। काल्डवेल् इत्यादीनां वादानुसारं तमिल-मलयाल-कन्नडभाषा इव तेलुगुभाषापि द्राविडभाषाकुटुम्बसम्बद्धा एवेति। चिलुकूरु नारायणराव्-मतानुसारं तेलुगुभाषा संस्कृतप्राकृतजन्येति।

तेलुगुलिपि– लिपिः लिखितसङ्केतानां समुच्चयोऽस्ति यश्च भाषायाः मूलभूतध्वनिसङ्केतानां स्थायिरूपं कल्पयति। पुरा आदिवासिभिः गुहाभित्तिषु शिलाफलकेषु उत्कीर्णैः चिह्नैः चित्रैश्च लिपिः समुद्भूतेति शास्त्रज्ञानां मतम्।

इमानि आद्यलिपिसङ्केतान्येव कालक्रमेण सहस्रवर्षाणां कालावधौ बहूनि परिवर्तनानि सम्प्राप्य अक्षररूपेण विकसितानि सन्ति।

तेलुगुभाषा आद्यद्राविडभाषातः ई. पू. 1500-1000 काले पृथक्भूताऽभूत्। तमिलदेशे साहित्यप्रक्रियायाः आरम्भात् प्रागेव तेलुगुभाषा आविर्भूता आसीत्। ई.पू. 1400-1100 काले तेलुगु-कन्नडलिपी आद्यकन्नड अथवा बट्टिप्रोलुलिपितः पृथक् स्वतन्त्रलिपिरूपेण समुद्भूते आस्ताम्। अत एव तेलुगुकन्नडलिप्योः बहुधा साम्यं दृश्यते। तेलुगुलिपिः गोलाकारेण सुन्दरी अस्ति, यतः तेलुगु अक्षराणि वृत्तैः, अर्धवृत्तैःरेखाभिश्च निर्मितानि सन्ति।

लिपिरियम् उच्चारणयोग्यैः एकाक्षरैर्युक्ता वामतः दक्षिणं लिख्यमाना सरलैः संक्लिष्टैश्चाक्षरैः समन्विताऽस्ति। अस्यां लिप्याम् उच्चारणयोग्यानां नैकेषाम् एकाक्षराणां विद्यमानत्वात् अच्-वर्णाः हल्-वर्णा इति भेदेन विभक्ताः सन्ति। हल्-वर्णानां स्वरूपं तेषां प्रयोगानुसारं सन्दर्भानुसारं च विपरिवर्तते। अच्-वर्णध्वनिः हल्-वर्णेषु न भवति चेत्, तदा ते परिशुद्धा इति परिगण्यन्ते। किन्तु हल्-वर्णानां लेखन-पठनावसरे अच्-वर्णस्य अकारस्य संयोजनं तु सम्प्रदाय इत्युच्यते। हल्-वर्णाः यदा विभिन्नैः अच्-वर्णैः संयुक्ताः भवन्ति तदातन्निष्ठः अच्-वर्णांशः वर्णपरिच्छेदेन **मात्रा** इति संकेतेन व्यवह्रियते। इयम् अजन्तभाषा भवति। प्रत्येकं पदम् अच्-वर्णेन पूर्तिमेति। एतदवलोक्य पञ्चदशशताब्द्याम् इटालियन्-यात्रिकः निकोलो-डा-कान्टि भाषामिमां प्रच्य-इटालियन् (Italian of the East) इत्यवर्णयत्। एकेन पदेन सह पदान्तरस्य मेलनं सहजतया भवतीति अस्याः भाषायाः वैशिष्ट्यम्। तेलुगुभाषायाः वाक्यनिर्माणे कर्ता कर्म क्रिया च क्रमशः भवन्ति। वाक्यमत्र पूर्णविरामेन दीर्घविरामेन वा पूर्णतामेति। भाषायामस्यां संख्यासूचकसंकेताः यद्यपि सन्ति तथापि इण्डो-अरबिक् संख्यानामेव बहुलप्रयोगः परिदृश्यते।

तेलुगुभाषायाम्- स्वरवर्णाः-16, व्यञ्जनवर्णाः-41, उभयवर्णाः-03 आहत्य 60 वर्णाः सन्ति। तेषु वर्तमाने काले उपयुज्यमानानां वर्णानां परिचयः यथा–

तेलुगु-अक्षराणि स्वराः एवं विशिष्ट स्वराः	అ	ఆ	ఇ	ఈ	ఉ	ఊ	ఋ	ౠ	ఌ	ౡ	ఎ	ఏ	ఐ	ఒ	ఓ	ఔ	అం	అః	అఁ
देवनागरि-	अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ऋ	ॠ	लृ	लॄ	ए	ऐ	ऐ	ओ	ओ	औ	अं	अः	

लिपिः																			-
तेलुगु-अक्षराणि (व्यञ्जनानि)	క	ఖ	గ	ఘ	ఙ	చ	ఛ	జ	ఝ	ఞ	ట	ఠ	డ	ఢ	ణ	త	థ	ద	ధ
देवनागरि-लिपिः	क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ	ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध
तेलुगु-अक्षराणि (व्यञ्जनानि)	న	ప	ఫ	బ	భ	మ	య	ర	ల	వ	శ	ష	స	హ	ళ	క్ష	ఱ		
देवनागरि-लिपिः	न	प	फ	ब	भ	म	य	र	ल	व	श	ष	स	ह	-	क्ष	-		

तेलुगुभाषायाः उपरि संस्कृतस्य प्रभावः–

ईशवीयपूर्वमेव द्राविडभाषारूपेण लब्धजन्मा इयं तेलुगुभाषा एकादशशताब्दीं यावत् काव्यभाषारूपेण साहित्यभाषारूपेण च अवतीर्णेति ज्ञातमस्माभिः। तस्मिन् काले सामान्यजनैः भाषमाणायां भाषायां संस्कृतपदानि अधिकतया नासन् इति कारणेन काल्देवल् महोदयः तेलुगुभाषायाः मूलं संस्कृतं न इति प्रत्यपादयत्। परन्तु नन्नयभट्टादारभ्य सहस्रवर्षेभ्यः विलसत्सु काव्येषु तेलुगुपदान्यपेक्षया संस्कृतपदान्येव अधिकानि सन्ति। अनेनेदम् अवगम्यते यत् अन्यभाषापेक्षया संस्कृतभाषाप्रभाव एव अधिकः अस्तीति।

संस्कृतेन तेलुगुभाषायाः निर्माणसरणिरेव परिवर्तिता। यदा तेलुगु–द्राविडभाषारूपेणासीत्तदा 10 अच्-वर्णाः 21 हल्-वर्णाश्च आसन्। संस्कृतभाषा-सम्पर्कात्परं बहूनि संस्कृताक्षराणि तेलुगुभाषायां सम्मिलितानीति भाषाविदां निर्णयः।

तेलुगुव्याकरणं संस्कृतव्याकरणादेव समुत्पन्नमस्ति। आदिकविना नन्नय्येन विरचितः “आन्ध्रशब्दचिन्तामणिः” इति ग्रन्थः एव तेलुगुव्याकरणे प्रथमग्रन्थत्वेन कीर्तिमवाप्नोत्। भाषाभागानां विभागः, समासाः, सन्धयः, अलङ्काराश्चेति सर्वेऽपि अंशाः संस्कृतभाषाधारितास्सन्ति। पद्यरचनेषु उपयुज्यमानानां छन्दसां

मूलं संस्कृतमेव। संस्कृतपदैस्सह नैके संस्कृतपदबन्धाः तेलुगुभाषायां सम्मिलितास्सन्तः तेलुगुपदरूपेण स्थिताः। उदाहरणार्थं यथा–

तेलुगुपदम्	संस्कृतपदम्
नदी (నదీ)	नदी
वाहनं (వాహనం)	वाहनम्
विद्यालयमु(విద్యాలయము)	विद्यालयः
अन्नमु(అన్నము)	अन्नम्
नील्लु(నీళ్ళు)	नीरम्
समुद्रमु (సముద్రము)	समुद्रः
पर्वतमु(పర్వతము)	पर्वतः

आधुनिकसाहित्ये प्रफुल्लितासु रचनाप्रक्रियास्वपि अधिकांशशब्दाः संस्कृतात् संगृहीता एव दृश्यन्ते। अपि च शास्त्ररचनासु आंग्लपरिभाषां तेलुगुभाषायाम् अनूदितुं विनिर्मितानि पारिभाषिकपदानि संस्कृतपदाधारितानि एव सन्ति।

तेलुगुभाषासाहित्यम्–

ई. पू. 1020 पर्यन्तं नन्नयकवेः पूर्वकालः–

कथ्यते यत् 11 शताब्द्यां नन्नय्येन रचितं महाभारतं तेलुगुभाषायां प्रथमं साहित्यिकं काव्यम् आसीत्। एतादृशं विशालं परिपक्वं काव्यं सत्वरमेव निर्मितुं शक्यतेति अचिन्त्यम्। अतः तस्मात् पूर्वमुल्लेखार्हं साहित्यम् अवश्यमासीदिति अनुमीयते। परन्तु तत् सम्भवतः ग्रन्थस्थं नाभवत्, अथवा नोपलब्धं स्यात्। सम्भवति यत् पूर्वसाहित्यमाधिक्येन लोककथारूपेण आसीदिति। किन्तु अधुना एतद्विषये प्रमाणं किञ्चित् नोपलभ्यते। ईशवीय 575 कालीनः रेनातिचोडस्य शिलालेखः प्रथमः सम्पूर्णश्च तेलुगुशिलालेखः आसीत्। अयं कडपमण्डलान्तर्गतायां कमलापुरम्-तालुकायाम् एर्रगुडिपाडुग्रामे उपलब्ध आसीत्। तत्पूर्वकालसम्बद्धअमरावति-शिलालेखे “नागबु” इति पदमवलोक्यते।

पुराणयुगः (नन्नययुगः-1020-1400)–

अयं युगः नन्नय्ययुग इति वक्तुं शक्यः। तेलुगुभाषायां नन्नय्य आदिकविः भवति। कविरयं तेलुगुभाषायां संस्कृतमहाभारतस्य आदिसभेति प्रथम-द्वितीय-पर्वणोः तथा अरण्यपर्वार्धभागस्य वैदुष्यपूर्णैः पद्यैः रचनानुवादं कृत्वा दिवङ्गतोऽभूत्। महाभारतरचनाकार्ये तन्मित्रं नारायणभट्टः साहाय्यमाचरत्।

नारायणभट्टः वाङ्मय-धुरन्धरः अष्टभाषासु कविशेखरश्च आसीत्। महाभारतयुद्धार्थं सन्नद्धौ कृष्णार्जुनाविव महाभारतं तेलुगुभाषायां रचयितुं सन्नद्धौ विज्ञानसर्वस्वरूपेण तत्कार्यं समाजस्य पुरतः समानेतुं प्रयत्नशीलौ सञ्जातौ। तेलुगुभाषाकाव्यस्वरूपस्य पूर्णत्वं संसाध्य पण्डितपा-मराणां प्रशंसार्हां शैलीं परिकल्प्य परवर्तिकविभ्यः मार्गदर्शकौ समभवताम्।

गद्यपद्यात्मिकायां चम्पूकाव्यप्रक्रियायां मार्गपद्धतौ प्रप्रथमतया तेलुगुभाषायां विरचिता रचना भवति नन्नय्यस्य भारतान्ध्रीकरणम्। अनया रचनया एव तेलुगुसाहित्येतिहासः समारब्ध इति वक्तुं शक्यते। संस्कृतभाषालक्षणप्रभावप्रकाशिका या प्रौढकविता, सा एव "मर्गकविता" इत्युच्यते। उभयभाषाकाव्यरचनाभिशोभितः नन्नय्यः पञ्चमवेदं महाभारतं स्वतन्त्रकाव्यत्वेन व्यरचयत्। एवं च व्यासभारतस्य आशयान् तन्निरूपितार्थान् तेलुगुजनेभ्यः स्पष्टीचकार।

राजराजनरेन्द्रस्य आस्थाने अयम् आस्थानकविरासीत्। अस्य आदिकविः आगमशासकश्चेति बिरुदानि सन्ति। एकादशशताब्दीयोऽयं न केवलं महाभारतम् अपि च चामुण्डिकाविलासः इन्द्रविजयश्चेति काव्यद्वयं आन्ध्रशब्दचिन्तामणिः इति व्याकरणग्रन्थञ्च रचयामास।

तिक्कनयुगः (13 शताब्दी)–

तिक्कनयुगे प्रसिद्धकविषु तिक्कनसोमयाजी अग्रगण्य आसीत्। अभिनवदण्डीति बिरुदान्वितः केतनः दशकुमारचरितम् रचितवान्। तिक्कनशिष्यः मारनः मार्कण्डेय-पुराणं व्यरचयत्। संस्कृतस्थ-विद्धसालभञ्जिकामाश्रित्य केयूरबाहुचरितम् इति ग्रन्थमरचयत् मांचनः। सिंहगिरि-नरहरिवचनानि इति ग्रन्थरचयिता कृष्णमाचार्यः अस्मिन्नेव काले आसीत्।

तिक्कनसोमयाजी ई० 1210-1290 मध्यकालीय इति इतिहासकाराणाम् आशयः। अस्य कवेः कविब्रह्मा उभयकविमित्रम् इति बिरुदानि सन्ति। अयं महाभारतस्य विराटपर्वण आरभ्य स्वर्गारोहणपर्व यावत् पञ्चदशसर्गाणि रचितवान्। अपि च अनेन कविना विजयसेनम्, कविसार्वभौमच्छन्दः कृष्णशतकमिति ग्रन्थाः रचिताः।

एर्रनयुगः (चतुर्दशशताब्दी)–

ई. 1300-1350 मध्यकालः एर्रनयुगः इति आमनन्ति । अयं शिवभक्तस्सन् शम्भुदासः प्रबन्धपरमेश्वरश्चेति बिरुदद्वयमवाप। कविरयं

प्रोलयवेमारेड्डिआस्थाने आसीत्। अयं महाभारतस्य अरण्यपर्वणः अवशिष्टभागं रामायणम्, हरिवंशम् नृसिंहपुराणमिति ग्रन्थान् व्यरचयत्। ई. 1344 कालीनः नाचन सोमनः एर्रनकवेः समकालीनश्चासीत्। उत्तरहरिवंशम्, वसन्तविलासः हरिविलासश्चेति सोमनस्य ग्रन्थाः इति कथयन्ति।

श्रीनाथयुगः (1400-1510)–

श्रीनाथयुगः काव्ययुगत्वेनापि प्रसिद्धः। पुराणेषु प्रसिद्धां कथामेकां स्वीकृत्य विविधवर्णनालङ्कारपात्रचित्रणैः रसभावप्राधान्येन कृता रचना एव कव्यपद्धतौ अन्तर्भवति। युगेऽस्मिन् श्रीनाथः, पोतनः, जक्कनः, गौरनः, ताल्लपाकतिम्मक्का, गोनबुद्धारेड्डी इत्येते प्रसिद्धाः कवयः। एतेषु च श्रीनाथः पोतनश्च लब्धप्रतिष्ठौ भवतः। श्रीनाथः प्रायः 1380-1470 कालीन इति विदुषामभिमतम्। कोन्डवीटिराज्य-परिपालकस्य पेदकोमटि वेमारेड्डि-आस्थाने विद्याधिकारीकविसार्वभौमबिरुदान्वितः श्रीनाथ आसीत्। रेड्डिराजनामास्थाने आस्थानकविरयम् आसीत्। विजयनगरसम्राजा प्रौढदेवरायेन कनाकाभिषिक्तोऽयं कविः। कविना अनेन मरुत्तराट्चरितम्, शालिवाहनसप्तशती, शृङ्गारनैषधम्, भीमेश्वरपुराणम्, काशीखण्डश्चेति ग्रन्थाः रचिताः। श्रीनाथः स्वकीयरचनाभिः तेलुगुभाषावैभवमवर्धयत्। सीसपद्यरचनावैभवम् अस्य कवितावैशिष्ट्यस्य निदर्शनं भवति।

एवं च श्रीनाथस्य शृङ्गारनैषधम्, पोतनस्य भागवतम्, जक्कनस्य विक्रमार्कचरितम्, तिम्मक्कायाः सुभद्राकल्याणम्, तेलुगुभाषायां प्रथमं गोनबुद्धारेड्डेः रङ्गनाथरामायणम् इत्यादयः ग्रन्थाः मुख्याः भवन्ति।

प्रबन्धयुगः (1510-1600)–

विजयनगरसाम्राज्यस्य ऐतिहासिकयुगस्य सम्राट्-श्रीकृष्णदेवरायस्य समाश्रये षोडशतमे शताब्दे तेलुगुसाहित्यस्य स्वर्णयुगः समवलोक्यते। स्वतःकविरयं महाराजः आमुक्तमाल्यग्रन्थरचनेन प्रबन्धकवित्वमिति नवीनप्रक्रियां प्रावेशयत्। युगेऽस्मिन् अष्टदिग्गजैः श्रीकृष्णदेवरायस्यास्थानं सुशोभितमासीत्। अष्टदिग्गजेषु अल्लसानि पेद्दन-मनुचरितं, नन्दि तिम्मन-पारिजातापहरणम्, पिंगलि सूरनकलापूर्णोदयम्, मादयगारि मल्लन-राजशेखरचरितम्, धूर्जटिः– श्रीकालहस्तिमाहात्म्यम्, अय्यलराज-रामभद्रः– रामाभ्युदयम्, तेनालिरामकृष्णः– पाण्डुरङ्गमाहात्म्यम्, रामराजभूषणः– वसुचरितम् इत्यादीनि काव्यानि व्यरचयन्।

दाक्षिणात्ययुगः (1600-1820)–

अनेके प्रसिद्धाः कर्नाटकसङ्गीतकाराः तेलुगुभाषायां स्वगीतानि रचयामासुः। युगेऽस्मिन् त्यागराजः, अन्नमाचार्यः, क्षेत्रय्य रामदासश्चेति कवयः प्रसिद्धाः। मैसूरुवासुदेवाचारादयः आधुनिकरचयितारोऽपि तेलुगुभाषामेव स्वरचना-माध्यमेन चितवन्तः ।

आधुनिकयुगः (1820 पश्चात्)–

यद्यपि प्रथमं तेलुगु-मुद्रितपुस्तकं 1796 तमे वर्षे प्रकाशितम्, तथापि तेलुगु-साहित्यस्य पुनरुत्थानम् 19 शताब्द्यारम्भे एव सम्भवम् आसीत्। 19 शताब्द्याः मध्यभागे षेल्ली, कीट्स्, वड्र्सवर्थ् इत्यादीनां कवीनां काव्येन अत्यन्तं प्रभाविताः युवानः कवयः "भावकवित्वम्" इति नवीनतमस्य प्रणयकवित्वस्य सृष्टिमकुर्वन्।

ग्रान्थिक-व्यावहारिकभाषावादाः–

नन्नयपूर्वकालादारभ्य ग्रान्थिकभाषा व्यावहारिकभाषा च स्वातन्त्र्येणैव विकासशीले भवतः। परन्तु 20 शताब्द्यारम्भे तयोः मध्ये मतभेदाः तीव्रविवादरूपेण परिणता अभवन्। ग्रान्थिकभाषैव प्रामाणिकभाषा स्थिरभाषा च भवतीत्यतः तस्याः परिवर्तनं न कर्तव्यमिति ग्रान्थिकभाषावर्गः, जनव्यवहारे उपयुज्यमाना भाषैव ग्रन्थेषु भवेदिति व्यावहारिकभाषावर्गः इति तेलुगुपण्डितलोकः द्विधा विभक्तः।

तेलुगुसाहित्यस्य पुनरुत्थानं कन्दुकूरि वीरेशलिङ्गम्-पण्डितेन विरचितेन राजशेखरचरितेन समभवत्, यच्च तेलुगुसाहित्यस्य प्रथमोपन्यास इति गण्यते। ग्रान्थिकभाषोपयोगं तीव्रस्वरेण निरासयता गिडुगुराम्मूर्तिमहोदयेन प्रकटितस्य- "आन्ध्रपण्डितभिषजां भाषाभेषजम्" इत्यस्य प्रभावेन नवयुगवैतालिकाः कवयः गुरजाड अप्पाराव्, कट्टमंचि रामलिङ्गारेड्डी, रायिप्रोलु सुब्बाराव् क्रमशः मुत्यालसरालु, मुसलम्ममरणम्, तृणकंकणम् इति ग्रन्थान् विरच्य व्यावहारिकभाषा-प्रयोगमकुर्वन्। इदमेव व्यावहारिकभाषावादस्य प्रोत्साहकमभूत्। ततः पश्चात् समागतासु रचनासु, पत्रिकासु, रेडियो-दूरदर्शन-चलनचित्रादिषु व्यावहारिकभाषैव प्रयुज्यमानेति परिलक्ष्यते।

सन्दर्भग्रन्थः–

1. आन्ध्रवाङ्मयचरुत्रमु - दिवाकर्ल वेङ्कट अवधानि, आन्ध्रसारस्वतपरित्तु, हैदरावाद, 1961
2. आन्ध्र साहित्य चरित्र - पिंगलि लक्ष्मीकान्तं, विशालान्ध्र पब्लिषिंग् हौस्, हैदराबाद्, 2005

3. तेलुगु - बोधन - अभ्यसन - शास्त्रम् - तेलुगु अकाडमी, 2018, हैदराबाद्
4. तेलुगु शासनालु - जि. परब्रह्मशास्त्रि, आन्ध्रप्रदेश साहित्य अकाडमी, हैदराबाद्, 1975
5. तेलुगु भाषा चरित्र - भद्रिराजु कृष्णमूर्ति, आन्ध्रप्रदेश साहित्य अकाडमी, हैदराबाद्, 1979
6. आन्ध्रुल चरित्र - बि.एस्.एल्.हनुमन्तरावः, विशालान्ध्र पब्लिषिंग् हौस्, हैदराबाद्

सहायकाचार्यः, दर्शनविद्याशाखा,
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, भोपालपरिसरः, भोपालम् ।

सहायकाचार्यः, शिक्षाशास्त्रविद्याशाखा,
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, एकलव्यपरिसरः, अगरतला ।

न्यायवैशेषिकदर्शनयोरवयवतत्त्वम्

– डॉ. केशवशरणोऽर्यालः

(In the present research paper, Avayava (members of syllogism) has been considered from the point of view of ancient logic and Vaisheshika philosophy. In this article, an attempt has been made to elucidate what is the Avayava used in extrapolation and what are the views of various philosophers on its forms and differences in Eastern thought. Syntactic group is used to make the other person aware of the assumption made for the other. At that context there are used members of syllogism. those members are called Avayavas. The Avayavs (short sentences) of the group are small. In Buddhist thought, two Avayavas (members of syllogism) are accepted, while Jains also accept two Avayavas (members of syllogism). But there is a difference in the names of the two Avayavas (members of syllogism) considered by Buddhists and Jains. There is another thing also that in Jainism even one Avayava is considered to be effective for an intelligent person whereas for layman it is considered that many Avayavas (members of syllogism) are needed. In Sankhya, Mimamsa and Advaita Vedanta all three Avayavas (members of syllogism) are accepted. In Vishishtadvait contemplation all the five Avayavas (members of syllogism) are accepted. Similarly, despite the difference in names, Nyaya and Vaisheshika are considered to be the five Avayavas (members of syllogism). According to Gautama, avayavas are – pratijñā (proposition), hetu (reason), udāharaṇa (example), upanaya (application) and nigamana (conclusion). Some philosophers continue to assert that inquiry and other things are also Avayavas (members of syllogism). Because they are non-words, express the assumption of others, or use the assumptions of others, and are devoid of the characteristics of Avayavas (members of syllogism), they are not Avayavas.)

(न्यायो नाम प्रमाणैरर्थपरीक्षणमिति। नीयते = प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिरनेनेति न्यायः। एतावता विवक्षितार्थसिद्ध्यर्थं प्रमाणैरर्थानां समवेक्षणमेव न्याय इति। न्यायशास्त्रे प्रमाणानां मूर्ध्र्यभिषिक्तत्वात् प्रमाणशास्त्राऽपरपर्यायो न्यायः। न्यायशास्त्राऽभिमतायां ज्ञानप्रक्रियायां तर्कस्य प्रमाणानुग्राहकत्वान्निर्णयार्थं तस्याऽनितरसाधारणकारणत्वादुत्त-राङ्गत्वं प्रथितम्। प्रमाणञ्च न्यायशास्त्रे प्रत्यक्षादिभेदेन चतुर्विधमुरीक्रियते। तेष्वनुमानस्य प्राधान्यमिति तु प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्य अनु = पश्चाद् ईक्षणीयत्वादपि सिद्ध्यति। अनुमानञ्च पुनः स्वार्थपरार्थभेदेन द्विविधम्। स्वार्थं नाम स्वाऽनुमितिहेतुः। परार्थञ्च परार्थानुमितिहेतुरिति। तत्र परार्थानुमाने परप्रतिपत्त्यर्थं वाक्यात्मकसमूहः प्रयुज्यते। तद्घटकानि लघुवाक्यान्यवयवत्वेन व्यवह्रियन्ते। ते च प्रतिज्ञादयः। एतावता प्रतिज्ञाद्यन्यत-मत्वमवयवत्वमिति फलितार्थः। प्रायो बौद्धा उदाहरणोपनयरूपमवयवद्वयमुरीकुर्वन्ति। जैनहृदयमपि प्रतिज्ञा हेतुश्चेत्यवयवद्वयेनाऽलम्। इदमत्राऽवधेयं यद् वस्तुतस्तु सुमेधावतां

न्यूनेनाप्यवयवेनानुमितिर्जायते, सामान्यानां जनानान्त्वधिका अवयवा अपेक्ष्यन्ते। तदेव हृदि निधायाऽऽर्हतचिन्तने मन्दमतीनां व्युत्पत्त्यर्थं दृष्टान्तादयोऽप्यपेक्ष्यन्त इत्युक्तं लभ्यते। वस्तुतस्तु न खलु केवलमार्हतानामथ चाऽखिलानामपि दार्शनिकानां स एव पन्था अभिमतः। सङ्ख्यानिर्धारणन्तु विशिष्यैवेत्यस्मद्धृदि निधेयम्। तदेवाऽऽदाय लेखनव्यापारेऽस्मिन् विचाराः प्रवर्तमाना इत्यपि ज्ञेयम्। मीमांसकाः साङ्ख्या मायावादिनोऽप्यवयवत्रयमातिष्ठन्ते। गौतमीयाः काणादाश्च प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनभेदेनाऽवयवपञ्चकं प्रतिपादयन्ति। विशिष्टाद्वैतिनश्चेदमेव मतमनुसरन्ति। तत्र वैशेषिकाभिमता अवयवा नाम्नि भिद्यन्ते। वैशेषिकाश्च प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनाऽनुसन्धानप्रत्याम्नायनाम्नाऽवयवानुद्दिशन्ति। पञ्चाऽवयवात्म-केन वाक्येन प्रतिपादितेन हेतुनाऽनुमितेर्जायमानत्वात्तत्समूहस्यैव परमन्यायत्वमित्युद्घोषयति नैयायिकप्रवरो वात्स्यायनः। एतावता परप्रतिपत्त्यर्थं प्रयुक्तस्य वाक्यस्य घटकत्वेनाऽऽगतानां लघुवाक्यानामवयवत्वं चेत्तेषामभावे परप्रतिपत्त्यसम्भवात् परार्थानुमानपर्याये न्याये एतेषामनितरसाधारणवैशिष्ट्यं सुतरां सिद्ध्यति। केचनैकदेशिदार्शनिका जिज्ञासादीनाम-प्यवयवत्वं प्रतिपद्यमानाः सन्तिष्ठन्ते। तेषामशब्दत्वात् परप्रतिपत्त्यप्रतिपादकत्वात् किंवा परप्रतिपत्त्यप्रयोजकत्वादवयवलक्षणरहितत्वाच्च नाऽवयवत्वमिति।)

1. विषयपरिचयः– प्रमाणादिषु षोडशपदार्थेषु प्रमाणस्यैव प्रामुख्याद् गौतमीयं न्यायशास्त्रं प्रमाणशास्त्रत्वेन प्रथितं वर्त्तते। तत्र स्वाभिमतस्य तर्काभिधस्याष्टम-पदार्थस्य प्रमाणानुग्राहकत्वान्न्यायप्रक्रियाया उत्तराङ्गत्त्वाच्चैतच्छास्त्रं तर्कशास्त्रत्वे-नाऽपि सुविदितं विदुषाम्। अत्र च प्रमाणस्य तत्राप्यनुमानप्रमाणस्य प्रामुख्यमिति तु भाष्यकारेणाऽभिहितेन प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा तया प्रवर्त्तते इत्यान्वीक्षिकी = न्यायविद्या = न्यायशास्त्रम् इत्यादिवचनरचनेनाऽपि पुष्यति। अनुमानं पुनः स्वार्थपरार्थभेदेन द्विविधम्। तत्रापि परार्थानुमानस्याऽनितरसाधारणं वैशिष्ट्यं वरीवर्त्तीति तु 'न्यायस्य परार्थानुमानपर्यायस्य' इत्याद्यभिधानेनाऽपि पुष्यति। तत्र परार्थानुमानञ्च प्रतिज्ञादिवाक्यात्मकसमूह इति। तमेव समूहमपेक्ष्य प्रतिज्ञादयोऽवयवा उच्यन्ते। तेषु प्रमाणसमवाय इत्यप्याहुर्न्यायचञ्चवः। अस्मिँश्च लेखनव्यापारे परार्थानुमाने प्रयुक्तमवयवतत्त्वं न्यायवैशेषिकदर्शनदृष्ट्या समीक्ष्यते। तत्रादौ कालक्रमानुसारेण सङ्क्षेपेण पूर्वकार्यसमीक्षणादिकं वितन्यतेन्यायवैशेषिक-दर्शनानुसारेण महामहोपाध्यायफणिभूषणतर्कवागीशमहोदयेन **न्याय-परिचय** (1968) इति नामके न्यायदर्शनपरिचयात्मके ग्रन्थे न्यायदर्शनाऽभिमतमवयवतत्त्वं किञ्चन विवृतं लभ्यते। एवमेव ब्रजनारायणशर्म्ममहोदयेन **"भारतीय दर्शन में अनुमान"** (1973) इति ग्रन्थेऽवयवविषयकं विवेचनं कृतमस्ति। अभेदानन्दमहाभागेन

न्यायप्रमाणसमीक्षा (1988) इत्याख्ये ग्रन्थे न्यायदर्शनदृष्ट्या प्रमाणं समालोचित-मस्ति। बी.एन. सिंहमहोदयेन **"प्रमाणपरिचय: वैदिक और बौद्धन्याय"** (1994) इत्यस्मिन् ग्रन्थे न्यायबौद्धदर्शनप्रतिपादितप्रमाणविषयकविवेचनक्रमे न्यायाऽभिमता-नुमानं विश्लेषितमेव। तत्रावयववर्णनमपि विद्यते। एवमेव अन्यैरपि कतिपयैर्विद्वद्भिर-वयवविषयकं चिन्तनं विहितं लभ्यते। अत्र तावत्प्रतिनिधित्वेन किञ्चन विवृतम्। एतावता तत्राऽनेकैर्विद्वद्भिः साक्षात् परम्परया वा न्यायदर्शनाऽभिमताऽवयव-विषयकाणि कानिचन चिन्तनानि विश्लेषणानि वा व्यक्तीकृतानीति स्पष्टीभवति। तथा सत्यप्युपर्युक्तानां चिन्तनानां सामान्यप्रसङ्गतया जृम्भितत्वादनुसन्धानदृशाऽपर्याप्तत्वं निर्बलत्वञ्च। किञ्च तथा कृतानि तानि चिन्तनानि तद्विषयिणीमैतिहासिकीं स्थितिमादाय तुलनात्मकदृष्टिं पुरस्कृत्य च नैव प्रवृत्तानि। अतस्तथा प्रवृत्त्यभाव एव विषयेऽस्मिन् समस्यात्वेन दृग्गोचरीभवति। अतोऽत्र लेखे तद्गतनैयूनप्रतिपूर्तिरेवोद्दे-श्यत्वेन वर्तते। तदर्थमयं यत्नो विहितः। सम्पादिते चास्मिन् शोधलेखे न्यायदर्शनस्य वैशेषकदर्शनस्य च प्राचीनाऽर्वाचीनाऽऽधुनिकाऽऽचार्याणामवयवसम्बद्धं विचारमादृत्य यथासम्भवमाकरग्रन्थस्थान् प्रसङ्गाँश्च क्रोडीकृत्य न्यायवैशेषिकदर्शनाऽभिमतावयव-तत्त्वविषयिणी मीमांसा प्रस्तुता वर्त्तते। एवमत्र कथनेन, शोधमध्ये तत्करणेन च शोधान्तरालमपि सिद्धं भवति।

अस्मिन् लघुप्रबन्धे पौरस्त्यदार्शनिकचिन्तनं विशेषतो न्यायवैशेषिकदृष्टिं पुरस्कृत्यावयवतत्त्वस्य विश्लेष्यत्वादवयवतत्त्वमादायाग्रेऽनुसन्धानायाऽध्ययनायाऽध्या-पनाय च सहाय्यं भजमानत्वादस्य शोधकार्यस्यौचित्यमपि पुष्यति। अत्र लेखे विशेषतो न्यायवैशेषिकदर्शनानुसारेणाऽवयवतत्त्वस्य विमृष्टत्वान्न्यायवैशेषिकदर्शनस-म्बद्धमवयवपदार्थविमर्शनमेव प्रस्तुतस्याऽऽलेखस्य क्षेत्रं सीमा च वर्त्तते।

प्रस्तुतशोधलेखसज्जीकरणार्थमावश्यकसामग्रीणां सङ्कलनाय विशेषतः पुस्तकालयाः प्रयुक्ताः। तत्रावयवसम्बद्धा ग्रन्थ-अनुसन्धानप्रबन्ध-लेखादय एतच्छो-धसामग्रीत्वेन गृहीताः। एवमेव एतद्विद्याविशारदैः सह संवादादिकमपि विधाय सामग्रीसङ्कलनं विहितमस्ति। अथ चैतद्विश्लेषादिक्रमे गुणात्मको विधिरवलम्ब्यत इति। अत्र यथावश्यकं निगमनात्मकविधिं प्रयुज्य समीक्षणात्मकविधिश्च न न्यक्क्रियते। अत्र तावन्न्यायः, परमो न्यायः, प्रमाणम्, अवयव इत्यादय पारिभाषिक-शब्दाः प्रयुक्ताः सन्ति।

2. अवयवतत्त्वम्– महर्षिणा गौतमेन न्यायसूत्रे नाऽवयवसामान्यलक्षणं विहितं विभजनन्तु जृम्भितमेव। वस्तुतस्तु गौतमेन प्रमाणानां लक्षणमन्तरा यथा विभजनं विहितं किंवा लक्षणं विभजनञ्चैकेनैव सूत्रेण विहितं तथैवाऽत्रापि ज्ञेयम् **–विभागपर-मप्येतदर्थादवयवसामान्यलक्षणं सूचयतीति सूत्रम्।.... तत्रावयवपदादेव सामान्य-लक्षणमवगम्यते।.... तस्मात्तथाविधार्थप्रत्यायनमेव प्रतिज्ञादीनामवयवसामान्यलक्षणं सिद्धमिति।** [1] प्रसङ्गेऽस्मिन् भट्टजयन्तस्य वाक्यमिदं गाढमवधेयम्–**एतच्च सूत्रमेकमेव सामान्यलक्षणमवयवानामभिधत्ते विभागञ्च प्रमाणानामिव प्रत्यक्षानुमानोपमान-शब्दाः।** [2] अवयवशब्दस्य व्युत्पत्तिश्चेयम्अवोपसर्ग-पूर्व्वकाद् **यु मिश्रणेऽमिश्रणे च** [3] इत्यस्माद्धातोः 'साध्यस्यावधारणाय युवन्ति = मिश्रीभवन्ति यूयन्ते = मिश्रीक्रियन्ते वेत्यवयवाः' इत्यर्थेऽच्यवयवपदं निष्पद्यते। एतावता यानि वाक्यानि परस्परं सम्बद्धानि सन्ति साध्यं साधयन्ति तान्येवाऽवयवत्वेन व्यवहारं भजन्ते। सामान्य-तोऽवयवो नामाऽङ्गम्। परार्थानुमाने परप्रतिपत्त्यर्थं वाक्यानि प्रयुज्यन्ते। किंवा स्वनिश्चितविषयप्रतिपादनपूर्व्वकं परेषां प्रतिपत्त्यर्थं वाक्यात्मकसमूहः प्रयुज्यते। स च वाक्यसमूहः पञ्चावयवात्मकः। तेन पञ्चावयवात्मकेन वाक्येन सन्देहवतां विपर्यय-ग्रस्तानामव्युत्पन्नानाञ्च जनानां स्वनिश्चितार्थः प्रतिपाद्यते। तदेव परार्थानुमानमुच्यते। **पञ्चाऽवयवेन वाक्येन स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानम्। पञ्चावयवेनैव वाक्येन संशयितविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां परेषां स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानं विज्ञेयम्।** [4] तथा च स्वनिश्चितविषयाणां परप्रतिपत्त्यर्थं यावन्ति वाक्यानि प्रयुज्यन्ते, तानि वाक्यान्यवयवत्वेन व्यवह्रियन्ते। एतावता वाक्यात्मक-समूहमपेक्ष्य तद्धटकवाक्या-न्यवयवा इति– **साधनीयस्यार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते तस्य पञ्चावयवाः प्रतिज्ञादयः समूहमपेक्ष्यावयवा उच्यन्ते।** [5] प्रसङ्गेऽत्र श्रीधरीयामिमाम-भिव्यक्तिञ्चाऽवधारयामः– **प्रतिपादनीयस्यार्थस्य यावति शब्दसमूहे प्रतीतिः पर्यवस्यति, तस्य पञ्चभागाः समूहापेक्षयाऽवयवा इत्युच्यन्ते।** [6] अनेन किं ज्ञायत इति चेद् यावद्भिर्वाक्यैरप्रतिपन्नस्याऽप्रतिपत्तिं निवार्याऽनुमितिर्जायेततमाम्, तान्येव वाक्यानि न्यायादिशास्त्रेष्ववयवत्वेन प्रथितानीति। तेषां समूहो न्यायः किंवा परमो न्याय इत्युच्यते। तेषु प्रमाणानां समवायश्च। तत्र प्रतिज्ञा तावदागमत्वेन गृह्यते। हेतुश्च पुनरनुमानम्। उदाहरणस्य लौकिकैः परीक्षकैश्चाऽवगम्यमानत्वात् प्रत्यक्षम्। 'तथा न तथा वे' त्यादिरूपेणोपमेयत्वादुपनयस्योपमानत्वम्। निगमने तु चतुर्णामेव

समाविष्टत्वात्तेषु प्रमाणसमवायः सुतरां सिद्ध्यति। वस्तुतस्तु तैरेव विप्रतिपन्नानाम-प्रतिपत्तेः सन्दिहमानानां सन्देहस्य विपर्यस्तानां विपर्ययस्य च निवृत्तिसम्भवात्तेषां परमन्यायत्वं सिद्धम्। विप्रतिपन्नपुरुषप्रतिपादकत्वमेव परमत्वमिति। स्वातन्त्र्येण नैकोऽवयवो विप्रतिपन्नपुरुषप्रतिपादकोऽपितु समुदितत्वेनेति– **कः पुनः परमार्थः? विप्रतिपन्नपुरुषप्रतिपादकत्वम्। एकैकशः प्रमाणानि प्रवृत्तानि न विप्रतिपन्नं पुरुषं प्रतिपादयन्ति वाक्यभावापन्नानि पुनर्विप्रतिपन्नमतोऽयं परम इति।** [7] अतः समुदितत्व एव परमन्यायत्वमिति। यथाह वात्स्यायनः– **तेषु प्रमाणसमवायः। आगमः प्रतिज्ञा। हेतुरनुमानम्। उदाहरणं प्रत्यक्षम्। उपनयनमुपमानम्। सर्वेषामेकार्थसमवाये सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनमिति। सोऽयं परमो न्यायः।** [8] न केवलं नैयायिका अथ चाऽन्येऽपि दार्शनिका अवयवसमूहस्यैव न्यायत्वमाचक्षिरे–**न्यायो नामावयव-समुदायः।** [9] नैयायिकास्तु तत्समूहस्य परमन्यायत्वमातस्थिर इत्येतावान् विशेषः। कोऽयमवयवः? इत्यत्र न्यायभाष्यकारो वात्स्यायनस्तत्त्वार्थसाधकवाक्यस्यैकदेशीभूताः प्रतिज्ञादयोऽवयवा इत्यप्यवोचत्–**तत्त्वार्थसाधकभावात्तु प्रतिज्ञादयः साधकवाक्यस्य भागाः = एकदेशाः = अवयवा इति।** [10] वार्त्तिककारश्च तदेवाऽवालम्बत–**परप्रतिपादका ये वाक्याङ्गभूता इतरेतराः प्रत्यायितेनार्थेनार्थवन्तो वाक्याङ्गतामुपयान्ति तेऽवयवाः।** [11] सर्वतन्त्रस्वतन्त्रो वाचस्पतिरपि वाक्यानामेकदेशीभूतानि लघुवाक्यान्ये-वाऽवयवत्वेन व्यवहारपथमायान्तीत्याचष्टे– **वाक्यैकदेशाः, अवयवा इव अवयवाः।** [12] विषयेऽस्मिन् भट्टजयन्तः साधनीयार्थस्य प्रतिपत्त्यर्थं प्रयुक्तानां वचनानां कलापस्यै-कदेशत्वमेवाऽवयवत्वमिति निरदिशत्– **इह हि स्वयमवगतमर्थमनुमानेन परस्मै प्रतिपादयता साधनीयस्यार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते तावान्प्र-योक्तव्यः, तमेव परार्थानुमानमाचक्षते नीतिविदः।... साधनीयार्थप्रतिपत्तिपर्यन्त-वचनकलापैकदेशत्वमवयवानां सामान्यलक्षणमाचष्टे।** [13] नव्यन्यायप्रवर्त्तको गङ्गेश-भक्ता 'नुमितेश्चरमकारणीभूतो यो लिङ्गपरामर्शः, तस्य प्रयोजकं यच्छाब्दज्ञानम्, तज्जनकं यत् प्रतिज्ञाद्यवयवविषयकं शाब्दज्ञानम्, तज्ज्ञानजनकवाक्यमवयवः' इत्यभिव्यनक्ति – **अनुमितिचरमकारणलिङ्गपरामर्शप्रयोजक – शाब्दज्ञानजनक – शाब्दज्ञान – जनकवाक्यत्वमवयवत्वम्।** [14] एतन्नाम प्रतिज्ञादिवाक्यात्तत्तदर्थज्ञानं जायते, तत्तदर्थज्ञानाच्च पञ्चावयवार्थविषयकं महावाक्यार्थज्ञानमिति। तस्माच्चा-ऽनुमितेः करणस्य लिङ्गपरामर्शस्य जायमानत्वात् प्रतिज्ञादीनामवयवत्वं सिद्ध्यति। रघुनाथस्तु मणिकारोक्तलक्षणे किञ्चनाऽस्वारस्यं समनुभूय तत्परिजिहीर्षया

लक्षणं परिष्कुर्वन् **न्यायान्तर्गतत्वे सति प्रतिज्ञाद्यन्यतमत्वम्** [15] इत्याह। केशवमिश्रो ह्युपरितनं भाष्यकारादिकथनमेवान्वकरोत्– **अनुमानवाक्यस्यैकदेशा अवयवाः।** [16] गोवर्द्धनाचार्यस्तु भाष्यकारस्य परमन्यायत्वविषयकं चिन्तनमवलम्ब्य **प्रतिज्ञादीनां समुदायत्वं न्यायत्वम्** [17] इत्याचष्टे। तत्प्रयोज्यानुमानमेव परार्थानुमानमिति भाषमाणो गोवर्द्धनाचार्योऽवयवतत्त्वं लक्षयन् **प्रतिज्ञाद्यन्यतमत्वमवयवत्वम्**[18]इत्यवोचत्। चन्द्रजसिंहोऽपि तदेवाऽनुसरन् **प्रतिज्ञाद्यन्यतमत्वमवयवत्वम्** [19] इत्याह। वस्तुतस्तु नेदमवयवलक्षणमपितु प्रतिज्ञादिभिन्नभिन्नत्वं किंवा तद्भिन्नभिन्नत्वमित्येव। तत्तु जगति सर्वमेव। वस्तुमात्रस्य लक्षणे तद्भिन्नभेदेन बौद्धैर्बहुधा बहुत्र व्याख्यातं लभ्यते। तथा व्याख्यानस्य न्यायविद्भिरान्तं निराकृतत्वेऽपि प्रकृतप्रसङ्गे तु न्यायशास्त्र-विचक्षणैरपि तथैव चिन्तनमनुसृतमिति समनुभूयते। एतावता निष्कर्षे प्रकृतमव-यवतत्त्वं पृथगर्थवत्त्वेन नितरां पारिभाषिकत्वमावहते। परिभाषा च प्रत्येकस्य पृथक् पृथगिति तु न्यायसिद्धमेव। तच्च पुनः परमर्षिणाऽक्षपादेन स्वशास्त्रकृत्यसाधनार्थं परिकल्पितमिति। स्वनिश्चितार्थपरप्रतिपत्त्यर्थं प्रयुज्यमानस्य महावाक्यस्य घटकत्वे-नाऽवयवपदस्य प्रयोगो गौतमात् प्राक् केनापि चिन्तकेन व्यधायि न वेतीदमित्थन्तया नाभिधातुं सुशकमथ च पौरस्त्यचिन्तने प्रथमः प्रयोगकर्ता गौतम इत्येवाऽऽपाततः प्रतीमहि। स च प्रयोगः पारिभाषिक इत्यभिदध्मः। एतावता निष्कर्षेऽवयवतत्त्वञ्च **न्यायान्तर्गतत्वे सति प्रतिज्ञाद्यन्यतमत्वम्** [20] इति रघुनाथवाक्यमवधेयम्। एतेषां परार्थानुमाने प्रयुज्यमानत्वान्न्यायप्रयोज्यानुमानं परार्थानुमानमिति फलितार्थः।

न्यायवैशेषिकदर्शनाभिमतपदार्थप्रतिपादिकायां तदध्ययनाऽध्यापनजगति नितरां प्रथितायां कारिकावल्यां तद् व्याख्यानीभूते भाषापरिच्छेदेऽनुमानाङ्गीभूताया व्याप्तेरथ च हेत्वाभासस्य चान्तं विश्लेषितत्वेऽप्यवयवानामनुद्देशस्तु विस्मयावहः। तदनुद्देशे विवरणाभावश्च स्वाभाविक एव। तदनुल्लेखे किमपि रहस्यं समनुभूयते। किञ्चाऽवयवविवेचने ग्रन्थकर्त्रा न तावद् ध्यातमिति वाच्यम्। 'निरङ्कुशाः कवयः' इत्युक्तिमादृत्य तद्वक्तुं सुशकम्।

न्यायचिन्तनेऽवयवावयविनोः समवायसम्बन्धः स्वीक्रियते– **अवयवावयविनो-र्गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोर्जातिव्यक्त्योर्नित्यद्रव्यविशेषयोश्च यः सम्बन्धः स समवायः।**[21]एतन्नामाऽवयविनः समवायिकारणमवयवः। ननु तर्हि परार्थाऽनुमाने प्रयुज्यमाना अवयवा परप्रतिपत्त्यर्थं प्रयुज्यमानस्य महावाक्यस्य समवायिकारणत्वेन स्युरिति चेन्न, वाक्यस्य शब्दरूपत्वाच्छब्दस्य चाऽऽकाशस्यैव समवायिकारणत्वात्। तर्हि कथमवयवत्वेन व्यवहारं भजमाना इमे सन्तिष्ठन्त

इति चेत्, सत्यम्, परं यथा घटादयोऽवयविनस्तदवयवेषु कपालादिष्वाश्रयन्ते, तथैव प्रतिज्ञादिवाक्यात्मके समूहे समुदायित्वेनावस्थितानां परप्रतिपत्तिहेतुभूतस्य महावाक्यस्य घटकानां प्रतिज्ञादीनां गौणमवयवत्वमिति। एतन्नाम यद्यप्यवयवाऽवयवित्वं द्रव्यस्यैव, न गुणस्य तथापि शब्दसमूहमपेक्ष्य तद्घटकेषु लघुवाक्येष्ववयवत्वव्यवहारस्त्वौपचारिकः। प्रसङ्गेऽस्मिन् सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य वाचस्पतिमिश्रस्याथ च न्यायशास्त्रविचक्षणस्य भट्टजयन्तस्य वचनरचनमिदमान्तमवधार्यम्–

ननु यथा तन्तवः पटस्य समवायिकारणं किन्तथैवैते प्रतिज्ञादयो वाक्यस्य। न खलु गगनगुणा वर्णाः समवायिकारणतां प्रतिपद्यन्त इति अत आह– वाक्यैकदेशा इति। अवयवा इव अवयवाः। न पुनः समवायिकारणम्। यथा ह्यवयवाः समुदायिन एकस्मिन्नवयविनि कार्ये धारयितव्ये एवमेकस्मिन् विवक्षितार्थे प्रतिज्ञादयोऽवयवा वाक्यस्य समुदायस्य समुदायिन इति[22]....तस्मात् परार्थानुमानवाक्योपपत्तेस्तदेकदेशा अवयवा युक्ता इति लक्ष्यन्ते।[23]

चन्द्रजसिंहेनाऽभिव्यक्तादस्माद् वाक्यादपि तदेव स्पष्टीभवति– **अवयवत्वं नाम द्रव्यसमवायिकारणत्वम्, प्रतिज्ञादिषु तदसम्भवात्कथमेतेऽवयवाः स्युरिति चेद्! अनुमानवाक्यैकदेशत्वात्त अवयवा इत्युचर्यत इति गृहाण।**[24] वस्तु-तस्तु साध्यनिरूपितव्याप्तियुक्तहेतुविषयकबोधजनकवाक्यस्य घटकान्येव प्रकृतप्रसङ्ग-गर्भिता अवयवाः।

उपरिष्टाद् उद्धृते न्यायभाष्यवाक्ये घटकीभूतः 'यावति शब्दसमूहे' इत्येतत्स्वरूपको वाक्यांशो न यथेच्छं वाक्यमित्याशेते, अथापि परप्रतिपत्त्यर्थं प्रयुक्तस्य महावाक्यस्य घटकानि पञ्च लघुवाक्यान्येवाऽवयवा इत्यर्थमभिव्यनक्ति। एतन्नामैतावद्भिरेव वाक्यैरज्ञेनाऽपि ज्ञायमानत्वात्तान्येव वाक्यानि किंवा तद्घटकत्वे-नाऽऽगतानि वाक्यान्येवाऽवयवत्वेन व्यवहारपथमायान्तीति। न तन्न्यूनेन कार्यं सिद्ध्यति न वाऽधिकमपेक्ष्यते– **विभागोऽपि प्रतिज्ञादिपदसन्निधाववयवश्रुतेरेवाव-गम्यते प्रतिज्ञादयः पञ्चावयवा न न्यूना नातिरिक्ता इति।[25]**

ननु परार्थानुमानं नास्ति कश्चिच्छब्दतो भिद्यमानोऽनुमानविशेषस्तस्य तु शब्दस्य प्रयुज्यमानत्वाच्छब्दत्वापत्तिरिति चेन्न, स्वज्ञानानन्तरं परोऽपि प्रतिपद्येत इत्यवधार्य तदुपदेशवाक्यमाख्यायते तदेव परार्थाऽनुमानमित्युच्यते–

ननु नैव परार्थमनुमानं नाम किञ्चिदस्ति, वक्त्रपेक्षया श्रोत्रपेक्षया वा तदनुपपत्तेः।... सत्यम्, न परमार्थतः परार्थमनुमानमुपपद्यते। किन्तु द्विविधः प्रतिपत्ता– स्वयमवगतयथाप्रकृतलिङ्गव्याप्तिकः, तद्विपरीतश्च। तत्र स्वयमवधृत-

प्रतिबन्धं प्रति नोपदिश्यत एवमनुमानं स्वत एव तस्य प्रतीत्युत्पत्तेः। अनवधृत-व्याप्तिकस्य तु व्याप्तिरेव व्युत्पाद्यते इति तं प्रति परार्थानुमानं तदुपदेशकं वाक्यमेवाख्यायते। तथा हि–

वक्त्रा स्वप्रत्ययेनेदं न हि वाक्यं प्रयुज्यते।
परो मद्वचनादेव तमर्थं बुद्ध्यतामिति।
किन्त्वेनमनुमानेन बोधयामीति मन्यते।
सोऽपि तद्वचनान्नैव तमर्थमवबुध्यते।
किन्तु व्याप्तिमतो लिङ्गात् स्वयं तत्तु न पश्यति।
तत्प्रतीत्यभ्युपायत्वात् परार्थमिदमुच्यते।[26]

किञ्चाऽप्रतिपन्नस्य श्रोतुस्तु स्वार्थानुमानमेवेदं वक्तुस्तु परप्रतिपत्त्यर्थं प्रतिपाद्यमानत्वात् परार्थानुमानमिदमिति विवेकः– **अतश्च श्रोतुः स्वार्थानुमानमेवेदं वक्ता तु तथा परं प्रतिपादयन् परार्थमनुमानं प्रयुङ्क्त इत्युच्यते।**[27]

वस्तुतस्तु प्रतिज्ञादिसमुदायस्तु शब्द एव। ततोऽप्रतिपन्नस्य कश्चनाऽनु-मितिकारणीभूतः परामर्शविशेष उत्पद्यते। यतस्तस्यानुमितिविशेषः सञ्जायते। अतः प्रतिज्ञादीनां प्रयोगेणाऽप्रतिपन्नाय विपर्यस्ताय सन्दिह्मानाय वा परस्मै पुरुषाय जायमानः परामर्शविशेषः किंवा मानसपरामर्शविशेष एव परार्थानुमानम्। तत्प्रयोज-कीभूतत्वात् प्रतिज्ञादिसमूहस्यैव परार्थानुमानत्वेन गौणो व्यवहारः सम्पद्यत इत्येव वस्तुतत्त्वम्। किञ्च परस्मै मानसपरामर्शस्य व्यापारस्य जायमानत्वात्तत्करणीभूतस्य प्रतिज्ञादिसमुदायस्य 'व्यापारवदसाधारणं कारणं करणमि' ति लक्षणं पुरस्कृत्या-ऽनुमानत्वकथनं ज्याय एवेति न्यायहृदयम्।

प्रसङ्गेऽत्र श्रीधराचार्यस्य 'पञ्चावयववाक्येन प्रतिपादितस्य हेतोर-नुमितिजनकत्वेऽपि न खलु पञ्चभिर्वाक्यैः साक्षादनुमितिर्जायते। तथा सति शाब्दत्वापत्तेः' इत्यभिधानं गाढमस्मत्स्मृतिपथे आनेयम्– **पञ्चावयवं हि वाक्यं यावत्सु रूपेषु लिङ्गस्य साध्याविनाभावः परिसमाप्यते तावद्रूपं लिङ्गं प्रतिपादयति। तत्प्रतिपादिताच्च लिङ्गात् साध्यसिद्धिः। न वाक्यमेव साध्यं बोधयति, तस्य शाब्दत्वप्रसङ्गात्।** [28] अपि च श्रीधराचार्यस्यैव वचसाऽमुना पञ्चावयववाक्य-प्रयोगस्य परार्थानुमानत्वन्तु गौणमित्येवावगम्यते– **तस्मादविनाभूतलिङ्गाभिधाय-कवाक्यप्रयोग एव परार्थानुमानमुच्यते।**[29]

ननु प्रमाया जनकत्वे एव प्रमाणत्वम्। परार्थानुमानन्तावत् स्वनिश्चितार्थज्ञापनार्थं प्रयुज्यमानत्वेऽनुवादत्वान्नेदं प्रामाण्यं भजत इति चेन्न,

वक्तुः प्रामाण्याभावेऽपि श्रोतुस्तु साध्यसाधनयोर्व्याप्तिसाधनपूर्वकं परामर्शस्य जायमानत्वात् प्रामाण्यमेवेति–

न चानुवादमात्रं तद् वक्तुरित्युपपद्यते।
यतो व्याप्रियते सम्यक् परस्य प्रतिपत्तये।।

तेनाऽनधिगतार्थोपदेशकत्वान्नानुवादमात्रम्। स्वावगमापेक्षया त्वनुवादत्वे नेदानीमाप्तवचनम् अनुवादरूपं किञ्चिद्भवेत्, सर्वस्य स्वोपलब्धिपूर्वकत्वादिति।[30]

3. अवयवसङ्ख्याविचारः– पौरस्त्यचिन्तने केचन दार्शनिका एकमवयवं स्वीकुर्वन्ति। कतिचन पुनरवयवद्वयमवलम्बन्ते। एवमेव क्वचित्त्ववयवत्रयं प्रतिपादितं लभ्यते। कुत्रचन पुनरवयवानां चतुष्टयमभिमतमित्यपि श्रूयते। अथ च केचन पञ्चावयववादिनः। कतिचित्तु दशावयववादिन इत्यपि भाष्यकारवात्स्यायनादिभिः सङ्केतितमेव।

बौद्धपरम्परायां न्यायप्रवेशकारेण मीमांसकपन्था अनुसृत इति समनुभूयते। तेन च बौद्धचिन्तनेऽपि पक्षहेतुदृष्टान्तरूपा (प्रतिज्ञाहेतूदाहरणरूपा) त्र्यवयवपरम्परैव ज्यायसीति सिद्ध्यति। अथ च दिङ्नागेनाऽपि त्र्यवयववादमेवाऽऽत्मसात्करोति स्मेत्यवगम्यत इत्येतदसूचयद् व्रजनारायणशर्म्ममहाभागः।[31] धर्मकीर्त्तिरुत्तरवर्त्तिनश्च बौद्धाः पुनरुदाहरणोपनयरूपमवयवद्वयमुरीकुर्वन्ति। तन्मते प्रतिज्ञा नावश्यकीति– **अदृश्यस्य विशिष्टस्य प्रतिज्ञा निष्प्रयोजना।**[32] वस्तुतस्तु मन्दमतीनामवयवाऽऽधिक्य-मपेक्ष्यते, प्रेक्षावतान्तु तन्नैयूनेनाऽप्यनुमितिर्जायत इत्येव वस्तुतत्त्वम्। एतदेव रहस्यं हृदि निधाय धर्मकीर्त्तिरप्येकेनैवाऽवयवेनाऽपि कार्यं सञ्चलतीत्याचष्ट इत्यपि श्रुतिपथे आयाति। नेदं सार्वदिकं सार्वत्रिकं वाथ च बुभुत्सुबुद्धेरौत्कृष्ट्यमादृत्यैव तथोक्तमिति फलितार्थः। पञ्चावयवकथा तु सर्वजनसामान्येनेति रहस्यविदः।

अथ च जैना अपि प्रतिज्ञा हेतुश्चेत्यवयवद्वयमेवोरीकुर्वन्ति– **पक्षहेतुवचन-लक्षणमवयवद्वयमेव परप्रतिपत्तेरङ्गम्, न दृष्टान्तादिवचनम्।**[33] जैनचिन्तने मन्दमतीनां प्रतिपत्त्यर्थन्तु दृष्टान्तादीनां प्रयोगोऽपेक्षित इति वचनात्तत्रोदाहरणादेरपि स्वीकारो दृश्यते– **मन्दमतींस्तु व्युत्पादयितुं दृष्टान्तोपनयनिगमनान्यपि प्रयोज्यानीति।**[34] एवमेव साङ्ख्यमीमांसाऽद्वैतवेदान्तेष्ववयवत्रयमुरीक्रियते। केचनैक-देशिमीमांसका अवयवचतुष्टयमुरीकुर्वन्तीत्यपि श्रूयते। वस्तुतस्तु तथा मीमांसा-शास्त्रसिद्धा परम्परा तु न लभ्यते, अथाप्यनन्तवीर्यहेमचन्द्रादिभिर्जैनैरवयवचतुष्ट-

यमवलम्बमाना मीमांसकपरम्परेति संसूचितं लभ्यते। वस्तुतस्तु त्रिष्वपि मीमांसा-प्रस्थानेषु त्रयाणामेवाऽवयवानामुल्लखो लभ्यते। मीमांसाशास्त्रे सूत्रेऽथ च शाबर-भाष्येऽप्यवयवचर्चा नैव दृग्गोचरीभवति। तदनन्तरकालिकैर्व्याख्यातृभिस्त्ववयवतत्त्वं व्याख्यातमेव। एतच्च पुनर्वस्तुतो न्यायप्रभावादेवेति प्रतीमहि। तत्र मीमांसायां प्रतिज्ञाहेतूदाहरणरूपाः किंवोदाहरणोपनयनिगमनरूपास्त्रयोऽवयवा उरीकृता इति–

तस्मात् त्र्यवयवं ब्रूमः पौनरुक्त्या सदा वयम्।
उदाहरणपर्यन्तं यद्वोदाहरणादिकम्।।54।।[35]

तत्र तावत् केचित् पञ्च केचिच्च पुनर्द्वौ वयन्तु त्रीन् अवयवान् स्वीकुर्म इत्युद्घोषयति पार्थसारथिमिश्रः–

तच्च पञ्चतयं केचिद् द्वयमन्ये वयं त्रयम्।
उदाहरणपर्यन्तं यद्वोदाहरणादिकम्।।[36]

वस्तुतस्तु प्रतिज्ञया निगमनस्याऽथ च हेतुनोपनयस्य गतार्थत्वादवयव-पञ्चकत्वं नाऽपेक्षितमिति मीमांसकहृदयम्–

प्रतिज्ञया निगमनं हेतुनोपनयस्तथा।
गतार्थ इति कः कुर्यात्पञ्चावयवघोषणम्।।53।।[37]

साङ्ख्यशास्त्रे माठरवृत्ताववयवचर्चा समुपलभ्यते। तत्राऽवयवत्रयं स्पष्टीकृत-मस्ति–**.... त्रिसाधनम् = त्र्यवयवम्... पक्षहेतुदृष्टान्ता इति त्र्यवयवम्।**[38] तेन च साङ्ख्यचिन्तने प्रतिज्ञाहेतूदाहरणानामवयवत्वं सिद्धं भवति।

अथ चाऽद्वैतवेदान्तेऽपि मीमांसकैरिवाऽवयवत्रयमेवोरीक्रियते– **अवयवाश्च त्रय एव प्रतिज्ञाहेतूदाहरणरूपाः, उदाहरणोपनयनिगमनरूपा वा।**[39]

विशिष्टाद्वैतिनस्तु नैयायिकानां साम्यं भजमाना अवयवपञ्चकपथमङ्गी-कुर्वन्ति– **तदनुमानबोधकवाक्यं प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनरूपपञ्चावयवसं-युक्तम्।** [40] केचन दार्शनिका दशावयवान् स्वीकुर्वन्तीति वात्स्यायनेन सूचितं लभ्यते– **दशावयवानेके नैयायिका वाक्ये सञ्चक्षते– जिज्ञासा संशयः शक्यप्राप्तिः प्रयोजनं संशयव्युदास इति।** [41] के ते दशावयववादिन इति स्पष्टतया वक्तुं न शक्यते। परन्तु भद्रबाहुस्वामिपादा दशावयवविषये संसूचयन्ति**– पञ्चावयवं दसहा वा सव्वहाण पडिकुट्ठन्ति।**[42] अतस्त एव दशावयववादिन इति प्रतीमहि। विद्याभूषणस्य विचारेऽपि 'दशावयवानेके नैयायिकाः' इत्यभिधानेन वात्स्यायनो जैनतार्किकं भद्रबाहुं तन्मता-ऽवलम्बिनश्च प्रति सङ्केतितवान् इति। न्यायमञ्जर्यां न्यायसौरभाख्यटिप्पणीकारेण के.एस.वरदाचार्येण 'अन्ये' इति पदस्य टिप्पणत्वेन

मीमांसका[43] इत्यभ्यधायि। अनेन केचनैकदेशिनो मीमांसका दशावयववादिन इति भावयामः। परं के ते मीमांसका इत्यत्र सौरभकारस्तुष्णीमास्ते। वस्तुतस्तु जिज्ञासादीनामवयवत्वाभावे स्पष्टीकुर्वन् तेषां कथोत्थापकत्वात् प्रकरणे समर्थितत्वेऽपि परप्रतिपत्त्यप्रतिपादकत्वान्नाऽवयवत्व-मित्याहोद्योतकरो भारद्वाजः–

> **जिज्ञासादय उत्पत्तिमात्रेण न्यायप्रवृत्तेरङ्गम्। न तु ज्ञप्तिमपेक्ष्यन्ते। अतो नैषां ज्ञापकचिन्ता क्रियते। प्रतिज्ञादयस्तु ज्ञाता एव न्यायमुपकुर्वन्तः फलसिद्धावुपयुज्यन्ते। ...जिज्ञासादीनन्तरेण प्रकरणस्योत्थापनमस्तीति प्रकर-णोत्थापका नावयवा जिज्ञासादय इति। परप्रतिपादकत्वात्तु प्रतिज्ञादी-नामयमधिकार इति ते उपदिश्यन्ते.... कथं पुनर्जिज्ञासादयोऽवयवा न भवन्ति? पराप्रतिपादकत्वात्।**[44]

प्रसङ्गेऽत्र पुनर्भट्टजयन्तो जिज्ञासादीनामशब्दत्वाद् वाक्यावयवत्वाभाव इति व्याकुरुते**–** ...**आधिक्यमप्ययुक्तं जिज्ञासादीनामशब्दस्वभावत्वेन वाक्यावयवत्वा-योगात्।** [45] गङ्गेशश्च पुनः 'संशयप्रयोजनादिष्ववयवलक्षणरहितत्वान्नावयवाः, तथा सत्त्वेऽपि तेषां न्यायाङ्गत्वान्न्यायान्तर्गतत्वेनोपयुज्यन्ते' इत्याह– **संशयप्रयोजनादय-स्त्ववयवलक्षणाभावादेव नावयवाः किन्तु न्यायाङ्गतयोपयुज्यन्त इति नाधिक्यम्।**[46] एतावताऽवयवविषयके चिन्तने दार्शनिकानां नैकमत्यं स्फुटीभवति। नैयायिका वैशिषिकाश्चाऽवयवपञ्चकत्वं निरदिशताम्।

4. न्यायवैशेषिकयोरवयवाः– न्यायसूत्रेऽवयवस्य लक्षणाभावेऽप्यवयवोद्देशपूर्वकं तेषां परिगणनं विहितं लभ्यते । यथाह मुनिर्गौतमः– **प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगम-नान्यवयवाः।** [47] वैशेषिकसूत्रेऽवयवपदस्य प्रयोगेऽपि[48] तत्राऽवयवलक्षणं न च तद्गणना लभ्यते। नेदमपि न्यायदर्शनेनोद्दिष्टस्य प्रतिपादितस्य चाऽवयवस्य बोधनार्थमपितू-दाहरणाभिधानार्थं प्रयुक्तम्– **अवयवाद् एकदेशाद् उदाहरणमात्रात्।** [49] प्रशस्तदेवस्तु परार्थानुमानोल्लेखपूर्वकमवयवविश्लेषणं वितनुते। क्रमेऽस्मिन् तत्रभवान् प्रशस्तदेव आदावेवावयवपञ्चकत्वं द्रढयति– **अवयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धान-प्रत्याम्नायाः।**[50] तत्र प्रशस्तदेवेनोद्दिष्टेषु पञ्चावयवेषु वैशेषिकसूत्रेऽपदेशस्यैव नामग्राहं लभ्यते– **हेतुरपदेशो लिङ्गं प्रमाणं करणमित्यनर्थान्तरम्, प्रसिद्धिपूर्वकत्वादप-देशस्य।** [51] परन्तु नान्येषामुद्देशः समुपलभ्यते। वस्तुतस्तु वैशेषिकसूत्रे पञ्चावयवान्त-र्गतत्वेन नापदेशो गृहीतः।

तत्र तु केवलं हेतुत्वेनैवाऽपदेशशब्दः प्रयुक्त इत्यवगच्छामः। वैशेषिकचिन्तने इदानीं लब्धेषु ग्रन्थेषु .... **अपदेश ...., लिङ्गवचनमपदेशः**[52] इत्याद्यभिदधानेन प्रशस्तदेवेनैव सर्वप्रथममवयवत्वेनाऽपदेश उद्दिष्टः। एतदेव पुनर्दृढीकृतं शङ्करमिश्रेण **अपदेशो हेतुवचनम्**[53] इत्यनेन वचनरचनेन। एतत्सर्वं न्यायचिन्तनप्रभावजन्यमिति प्रतीमहि।

अत्रेदं गाढं चिन्तनीयम्– वस्तुतस्तु ज्ञानप्रक्रियाविश्लेषणस्यैव न्यायशास्त्रस्य कृत्यत्वाद् वैशेषिकस्य च तद्वैपरीत्यादस्मिन् शास्त्रेऽवयवस्याऽनपेक्षितत्वान्नात्रा-ऽवयवा उद्दिष्टा न वा विवृताः। अर्वाचीनैराधुनिकैश्च वैशेषिकैस्तु न्यायप्रभावात्त-च्चिन्तनं विततमेव। तदत्रैदम्प्राथम्येन प्रशस्तदेवेनाऽऽरब्धम्। ततोऽन्यैर्वैशेषिकैरपि तदनुसृतम्। तत्र विद्वद्वरेण मिश्रशङ्करेणाऽऽन्तं व्याख्यातम्। परं तत्रभवता मिश्रमहाभागेन नैयायिकी दृष्टिरेव वितता न तु वैशेषिकीति तु विवेकः। ननु मिश्रमहाभागेन नैयायिकी दृष्टिरेव वितता इत्यत्र किं प्रमाणमिति चेदवधार्यतां शाङ्करमदो वाक्यम्– **तत्रावयवत्वं तृतीयलिङ्गपरामर्शप्रयोजकशाब्दज्ञानजनक-शाब्दज्ञानजनकवाक्यत्वम्। तानि च प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि।**[54] तद्विवरणे च नव्यशैल्येवावलम्बितेति।

न्यायवैशेषिकयोरवयवोद्देशभेदविषयकं विवरणं प्रस्तूयते– प्रतिज्ञाभिधाने न्यायवैशेषिकयोरुभयत्रापि साम्यमेव। न्यायशास्त्रे हेतुत्वेनोद्दिष्टमवयवं प्रशस्तपादो हि 'अपदेशः' इत्याचष्टे। एवमेवोदाहरणञ्च निदर्शनपदेन व्यवहरति चेद् उपनयञ्चानु-सन्धाननाम्नेति। एवमेव निगमनं पुनः प्रत्याम्नायपदेन। एतावता चतुर्णामभिधाने भेदो लभ्यते। तत्राक्षपादोद्दिष्टेभ्यः स्वोद्दिष्टावयवेषु किञ्चन वैलक्षण्यं दर्शयितुकामः प्रशस्तदेव तथाऽकरोदिति भावयामः।

5. उपसंहृतिः– न्यायशास्त्रं तावत् प्रमाणशास्त्रमिति। प्रत्यक्षादिषु प्रमाणेष्वनु-मानप्रमाणस्य मूर्धाभिषेक इति नाविदितं प्रेक्षावताम्। तत्र स्वप्रतिपत्त्यर्थं स्वार्थानुमानञ्चेत्परप्रतिपत्त्यर्थं परार्थानुमानं प्रयुञ्ज्महे। अतस्तावत् परार्थानुमान-स्याऽनितरसाधारणवैशिष्ट्यं प्रतिपाद्यते न्यायशास्त्रे। परार्थानुमानञ्च न्यायसाध्यम्। न्यायश्च प्रतिज्ञादिवाक्यसमुदायः। तत्समुदायस्य न्यायत्वेनैव न सन्तुष्यन्ति नैयायिका अपितु परमन्यायत्वमित्यातिष्ठन्त इत्येतद्भाष्यकारादिवचनादवगम्यते। न केवलं न्यायशास्त्रेऽपि च वेदान्तादिष्वप्यवयवसमुदायस्यैव न्यायत्वमास्थीयते। न्यायशास्त्रे परमन्यायत्वेन व्यवह्रियते चेत्तदितरशास्त्रेषु न्यायत्वेनेत्येतावान् विशेषः। परार्थानुमानं परप्रतिपत्तिहेतुरित्युक्तपूर्वमेव। परप्रतिपत्त्यर्थं प्रतिज्ञादिवाक्यात्मकः समूहः

प्रयुज्यते। तद्घटकत्वेन लघुवाक्यानि विलसन्ति, तानि चाऽवयवत्वेन व्यवह्रियन्ते। तथा च परार्थानुमानप्रयोजकीभूतवाक्यस्यैकदेशीभूताः प्रतिज्ञादयोऽवयवाः। निष्कृष्टौ तावन्न्या-यान्तर्गतत्वे सति प्रतिज्ञाद्यन्यतमत्वमवयवत्वमिति।

ननु प्रतिज्ञादीनां परप्रतिपत्तिहेतुभूतमहावाक्यघटकानाम् आकाशसमवेत-त्वान्महावाक्यसमवायित्वाभावात्तेषाङ्कथमवयवत्वमिति चेच्छ्रूयताम्– घटाद्यवय-विनामवयवेष्वाश्रयणमिव वाक्यात्मके समूहे समुदायित्वेन वर्त्तमानानां महावाक्यस्य घटकानां प्रतिज्ञादीनामौपचारिकमवयवत्वमिति। एतन्नाम न्यायादिशास्त्रेष्ववयवा-वयविनोः समवायित्वेऽपि प्रकृतप्रसङ्गे परप्रतिपत्त्यर्थं प्रयुज्यमानस्य महावाक्यस्य घटकत्वेन भाक्तोऽवयवप्रयोगः।

अवयवविषयके चिन्तने पौरस्त्यदार्शनिकेषु नैकमत्यं दृग्गोचरीभवति। धर्मकीर्त्तितः प्राक्तनानां तथागतानां त्रिष्ववयवेष्वभिमतिः प्रतीयते। धर्मकीर्त्तिस्त-दवलम्बिनश्चोदाहरणोपनयरूपमवयवद्वयमुररीकुर्वन्ति। आर्हताश्च पुनः प्रतिज्ञाहेत्विति। साङ्ख्या मीमांसकाः शाङ्कराश्चाऽवयवत्रयं समामनन्ति। नैयायिका वैशेषिकाश्चाऽव-यवपञ्चकत्वं द्रढयन्ति। तदेवानुसरन्ति रामानुजीयाः।

तत्र न्यायसूत्रेऽवयवस्योद्देशपूर्वकं विभजनं लभ्यते। परं वैशेषिकसूत्रे तथाऽलब्धत्वेऽपि भाष्यकारेण प्रशस्तपादेन तदुद्देशपूर्वकं विभजनपुरस्सरं विवेचनं सन्दृब्धम्। तदेवाऽनुसृतमानन्तरकालिकैर्वैशेषिकैश्च। सर्वमिदं न्यायप्रभावजन्यमिति तु सप्रमाणमभिधातुं सुशकम्। तत्र न्यायेऽवयवाः प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमन-संज्ञाभिः सङ्कीर्त्तिताश्चेद् वैशेषिके पुनः प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नाय-संज्ञाभिरिति। केचन पुनर्जिज्ञासादीनामप्यवयवत्वं प्रतिपादयन्तः सन्तिष्ठन्ते। पराप्रति-पादकत्वाज्जिज्ञासादीनां नावयवत्वमित्येव न्यायराद्धान्तः। निष्कर्षे सुप्रतिपन्नेन परप्रत्ययमभिप्रेत्य स्वप्रतिपत्तिमनुसरताऽप्रतिपन्नः सन्दिग्धो विपर्यस्तो वा परः प्रत्याय्यः। न्यायवैशेषिकदृष्ट्याऽप्रतिपन्नः सन्दिहानो विपर्यस्तोऽपि पुरुषोऽवय-वपञ्चकेन वस्तुतत्त्वं प्रतिपद्यत इत्यवयवपञ्चकत्वमलं न न्यूनेनाभीष्टसिद्धिर्नाधिकम-पेक्ष्यमिति तु निष्कृष्टिः।

सन्दर्भग्रन्थः–

अवयवः– गङ्गेशोपाध्यायः, रघुनाथशिरोमणिकृतदीधिति– गदाधराचार्यकृतदीधितिप्रकाशिका– एन. एस. रामानुजताताचार्यकृतभावदीपिकाभिर्युतः, तिरूपतिः : राष्ट्रिय-संस्कृतसंस्थानम्, 1996

तत्त्वचिन्तामणिः– गङ्गेशोपाध्यायः, अनुमानखण्डम् (अनुमित्यादिबाधान्तम्), श्रीमथुरानाथ-तर्कवागीशकृत 'रहस्य' नामटीकासहितम्, दिल्ली : चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 1990

तर्कभाषाः– केशवमिश्रः, माधुरी हिन्दीव्याख्योपेता, तृतीयं संस्करणम्, वाराणसी : चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 1995
तर्कसङ्ग्रहः– अन्नम्भट्टः, गोवर्द्धनाचार्यकृतन्यायबोधिनी – चन्द्रजसिंहकृतपदकृत्यअन्नम्भट्टकृतदीपिका-श्रीकृष्णवल्लभाचार्यकृतकिरणावलीव्याख्योपेतः, पुनर्मुद्रित संस्करण, वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत संस्थान, 2003।
दशवैकालिकसूत्रम्ः– शय्यम्भवश्रुतकेवली, वृत्तियुतम्, वृत्तिकारः– सुमतिसाधुः, धोलका : दिव्यदर्शन ट्रस्ट, वै. 2069।
धातुपाठः– पाणिनिः, सम्पा. नरेश झा, वाराणसी : चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2000।
न्यायदर्शनम्ः– गौतमः, वात्स्यायनभाष्यसहितम्, विश्वनाथवृत्तियुतञ्च, श्रीमज्जीवानन्दविद्यासागर-भट्टाचार्यात्मजाभ्यां पण्डित-श्रीआशुबोध-विद्याभूषण-पण्डितश्रीनित्यबोधविद्यारत्नाभ्यां सम्पादितम्, दिल्ली : चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 1986
न्यायपरिचयः– फणिभूषण तर्कवागीश, अनुवादक– डॉ. किशोरनाथ झा, वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन, 1968।
न्यायप्रमाणसमीक्षाः– अभेदानन्दभट्टाचार्यः, दिल्ली : परिमल पब्लिकेसन, 1987
न्यायभाष्यम्ः– वात्स्यायनः, प्रसन्नपदापरिभूषितम्, व्याख्याता सुदर्शनाचार्यः, अभिनव-संस्करणम्, वाराणसी : बौद्धभारती, 1998
न्यायमञ्जरीः– जयन्तो भट्टः, ग्रन्थिभङ्गव्याख्यया संवलिता, व्याख्याता– चक्रधरः, तृतीयो भागः, 9-12 आह्निकयुतः, वाराणसी : सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1984
न्यायमञ्जरीः– जयन्तभट्टः, न्यायसौरभाख्यटिप्पणीसमन्विता, टिप्पणीकर्ता– के.एस.वरदाचार्यः, द्वितीयो भागः, 5-12 आह्निकयुतः, मैसूरु : प्राच्यविद्यासंशोधनालयः मैसूरुविश्वविद्यालयः, 1983
न्यायवार्त्तिकम्ः– भारद्वोजोद्योतकरः, अनन्तलालठक्कुरेण संस्कृतम्, दिल्ली : भारतीयदार्शनिकानु-सन्धानपरिषद्, 1997
न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीकाः– वाचस्पतिमिश्रः, पुनर्मुद्रण, वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत संस्थान, 1990
न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीः– विश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यः, श्रीकृष्णवल्लभाचार्यकृत–किरणावलीव्याख्योपेता, पञ्चम संस्करण, वाराणसी : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वै. 2052
न्यायसूत्रम्ः– गौतमः, षड्दर्शनसूत्रसङ्ग्रहे सङ्गृहीतम्, सम्पा. जे.एल.गुप्तः, वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 2004
प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारः– तद्व्याख्या स्याद्वादरत्नाकरः, भागद्वयम्, वादिदेवसूरिः, दिल्ली : भारतीय बुक कार्पोरेसन, 1988
प्रमाण परिचयः– बी.एन.सिंह, वाराणसी : आशा प्रकाशन, 1994
वैदिक और बौद्धन्याय प्रमाणवार्त्तिकम्ः– धर्मकीर्त्तिः, मनोरथनन्दिवृत्तियुतम्, तृतीयं संस्करणम्, सम्पादको द्वारिकादासशास्त्री, वाराणसी : बौद्धभारती, वै. 2050
प्रशस्तपादभाष्यम्ः– प्रशस्तपादाचार्यः, न्यायकन्दलीयुतम्, सम्पादकः, हिन्दीव्याख्याकारश्च– श्रीदुर्गानन्द झा, वाराणसी : सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1997
मानमेयोदयः– नारायणद्वयी, द्वितीय संस्करण, वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन, 1996

यतीन्द्रमतदीपिका:– श्रीनिवासाचार्यः, श्रीयोगिराजमुखोल्लासिनी-नेपालीव्याख्यायुता, व्याख्याता– केशवाचार्यः, सम्पादकः– माधवघिमिरेः, अमेरिका : अन्ताराष्ट्रियश्रीसम्प्रदायमञ्चः, वै. 2077

वेदान्तपरिभाषा:– धर्मराजाध्वरीन्द्रः, उदासीनस्वामिश्रीमदमरदास-विरचितमणिप्रभाख्यटीकया संवलिता तदात्मजरामकृष्णाध्वरिकृत-शिखामणिटीकया च विभूषिता, बम्बई : खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन, वै. 2054।

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी:– भट्टोजिदीक्षितः, पुनर्मुद्रित संस्करण, वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन, 1989

वैशेषिकसूत्रम्:– कणादः, षड्दर्शनसूत्रसङ्ग्रहे सङ्गृहीतम्, सम्पा. जे.एल.गुप्तः, वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 2004

वैशेषिकसूत्रोपस्कारः– शङ्करमिश्रः, ढुण्ढिराजशास्त्रिकृतया 'प्रकाशिका' हिन्दीव्याख्ययोपेतः, वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वै. 2026

व्योमवती, द्वितीयो भागः– व्योमशिवाचार्यः, वाराणसी : सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1984

शास्त्रदीपिका:– पार्थसारथिमिश्रः, मयूखमालिकाव्याख्यासहिता, वाराणसी : कृष्णदास अकादमी, 1988

सर्वदर्शनसङ्ग्रहः– माधवाचार्यः, सपरिशिष्ट-'प्रकाश'-हिन्दीभाष्योपेतः, सम्पा. हिन्दीव्याख्या-कारश्चोमाशङ्करशर्म्मा, पुनर्मुद्रण संस्करण, वाराणसी - चौखम्बा विद्याभवन, 2014

साङ्ख्यकारिका:– ईश्वरकृष्णः, माठरवृत्तिसंवलिता तथा च प्रबोधिनी हिन्दीव्याख्योपेता, व्याख्याता- पं. थानेशचन्द्र उप्रेती, वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 2001।

---

1. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका 1।1।32।
2. न्ययमञ्जरी, तृतीयो भागः, दशममाह्निकम्, पृ. सं. 84।
3. धातुपाठः 1107।
4. प्रशस्तपादभाष्यम्, पृ. सं. 560।
5. न्यायभाष्यम् 1।1।1।
6. प्रशस्तपादभाष्यम्, न्यायकन्दली, पृ. सं. 558।
7. न्यायवार्तिकम् 1।1।1।
8. न्यायभाष्यम् 1।1।1।
9. वेदान्तपरिभाषा, पृ. सं. 210।
10. न्यायभाष्यम् 1।1।32।
11. न्यायवार्तिकम् 1।1।32।
12. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका 1।1।32।
13. न्यायमञ्जरी, तृतीयो भागः, दशमाह्निकम्, पृ. सं. 83, 84 ।
14. तत्त्वचिन्तामणिः, अनुमानखण्डम्, पृ. सं. 698।
15. अवयवः, दीधितिः, पृ. सं. 41।

16. तर्कभाषा, पृ. सं. 578।
17. तर्कसङ्ग्रहः, न्यायबोधिनी, पृ. सं. 97।
18. पूर्ववत्, 97।
19. तर्कसङ्ग्रहः, पदकृत्यम्, पृ. सं. 98।
20. अवयवः, दीधितिः, पृ. सं. 41।
21. न्यायसिन्तान्तमुक्तावली, पृ. सं. 54।
22. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, पृ. सं. 54।
23. न्यायमञ्जरी, तृतीयो भागः, दशममाह्निकम्, पृ. सं. 84।
24. तर्कसङ्ग्रहः, पदकृत्यम्, पृ. सं. 97।
25. न्यायमञ्जरी, तृतीयो भागः, दशममाह्निकम्, पृ. सं. 84।
26. पूर्ववत् ।
27. पूर्ववत् ।
28. प्रशस्तपादभाष्यम्, न्यायकन्दली, पृ. सं. 559।
29. पूर्ववत् ।
30. न्यायमञ्जरी, तृतीयो भागः, दशममाह्निकम्, पृ. सं. 84।
31. भारतीय दर्शन में अनुमान, पृ. सं. 291।
32. प्रमाणवार्त्तिकम् 4।153।
33. प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारः 3।28।
34. पूर्ववत् 3।42।
35. मानमेयोदयः, प्रमाणानि ।
36. शास्त्रदीपिका 1।1।5 – पृ. सं. 64।
37. मानमेयोदयः, प्रमाणानि ।
38. साङ्ख्यकारिका, 5 ।
39. वेदान्तपरिभाषा, पृ. सं. 211।
40. यतीन्द्रमतदीपिका, पृ. सं. 57।
41. न्यायभाष्यम् 1।1।32।
42. दशवैकालिकसूत्रम्– 50।
43. न्यायमञ्जरी, द्वितीयो भागः, दशममाह्निकम्, पृ. सं. 553।
44. न्यायवार्त्तिकम् 1।1।32।
45. न्यायमञ्जरी, तृतीयो भागः, दशममाह्निकम्, पृ. सं. 84।
46. तत्त्वचिन्तामणिः, अनुमानखण्डम्, पृ. सं. 761।
47. न्यायसूत्रम् 1।1।32।
48. अस्येदं कार्यकारणसम्बन्धश्चावयवाद्भवति (वैशेषिकसूत्रम् 9।2।2)।

49. वैशेषिकसूत्रोपस्कारः 9।2।2।
50. प्रशस्तपादभाष्यम्, पृ. सं. 565।
51. वैशेषिकसूत्रम् 9।2।4, 3।1।14।
52. प्रशस्तपादभाष्यम्, पृ. सं. 565, 575।
53. वैशेषिकसूत्रोपस्कारः 3।1।14।
54. पूर्ववत् 9।2।2।

सहप्रा., न्यायविभागः,
नेपालसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
वाल्मीकिविद्यापीठम्, काष्ठमण्डपस्थम्।
ईमेल - keshavsharanarya188@gmail.com

बृहच्छब्देन्दुशेखरदिशा अचः परस्मिन् पूर्वविधौ इति सूत्रविमर्शः

– नीरजकुमारभार्गवः

(महर्षि पाणिनि द्वारा प्रणीत अष्टाध्यायी में **"अचः परस्मिन् पूर्वविधौ"** यह सूत्र है। यह अतिदेश सूत्र है। इस सूत्र का अर्थ है परनिमित्तक अजादेश स्थानिवत् होता है। स्थानिभूत अच् से पूर्वत्त्वेन दृष्ट के स्थान पर कार्य करना हो तो। वव्रश्च इत्यादि इस सूत्र का उदाहरण है। **"स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ"** सूत्र अल्विधि में स्थानिवद्भाव नहीं करता किन्तु **"अचः परस्मिन् पूर्वविधौ"** सूत्र अल्विधि में भी स्थानिवद्भाव करता है। यह सूत्र भाव और अभाव दोनों का अतिदेश करता है। इस सूत्र में विद्यमान सभी पदों का प्रयोजन है कोई भी पद प्रयोजन रहित नहीं है। प्रकृत प्रबन्ध में सूत्र में प्रयुक्त पदो के प्रयोजन का वर्णन किया गया है।)

उपोद्घातः–

अधिसंस्कृतवाङ्मयं विद्यमानेषु विविधेषु शास्त्रेषु विद्वन्मूर्धनि शोभायमानं वर्तते वेदपुरुषस्य मुखस्थानीयं शब्दानुशासनम्। शास्त्रस्यास्य बहुविधग्रन्थेषु अन्यतमो विद्यते महामुनिपाणिनिप्रणीता अष्टाध्यायी। तत्र प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादस्य सप्तपञ्चाशत्तमं सूत्रं वर्तते **'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ'** (अष्टा. 1.1.57) इति। यद्यपि **स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ** इति सूत्रमपि स्थानिवद्भावविधायकं विद्यते। किन्तु अनेन सूत्रेण अनल्विधौ एव स्थानिवद्भावः क्रियते। अल्विधौ तु तेन स्थानिवद्भावः नैव भवति। अतः अल्विधौ स्थानिवद्भावविधानाय अचः परस्मिन्पूर्वविधौ इति सूत्रं रचितम्। अत्र प्रबन्धे सूत्रस्यार्थं प्रतिपाद्य सूत्रेऽस्मिन् प्रयुक्तानां पदानां किं प्रयोजनमित्ययं विषयः बृहच्छब्देन्दुशेखरदिशा प्रस्तूयते।

सूत्रार्थः–

अचः इति षष्ठ्यन्तं पदम्। परस्मिन् इति सप्तम्यन्तं पदम्। पूर्वविधौ इति सप्तम्यन्तं पदम्। अतः स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ इति सूत्रात् स्थानिवद् इति पदमनुवर्तते, अपि च आदेशः इति पदमनुवर्तते। एवं च सूत्रस्यार्थो भवति पूर्वविधौ कर्तव्ये परस्मिन् अचः आदेशः स्थानिवद् भवति। परस्मिन् इत्यत्र निमित्तसप्तमी वर्तते एवं च परस्मिन् इत्यस्य परनिमित्तकः इत्यर्थः। एवं च पूर्वस्य विधौ कर्तव्ये परनिमित्तकः अचः आदेशः स्थानिवृत्तिधर्मवान् भवति इति सूत्रार्थो भवति। पूर्वत्वं अवध्यंशे नित्यसापेक्षं भवति तस्मात् किमपक्षेया पूर्वत्वं ग्राह्यमिति भवति जिज्ञासा, तदा उच्यते स्थानिभूताजपेक्षया एवात्र पूर्वत्वं विवक्षितमस्ति। एवं च

स्थानिभूताजवधिकपूर्वस्य स्थाने कार्ये कर्तव्ये परनिमित्तकः अचः आदेशः स्वस्थानिवृत्तिधर्मवान् भवति इत्यर्थः प्रतिफलति। अथ स्थानिवद्भावस्तु आदेशकरणानन्तरम् अपेक्षितं भवति। ततश्च आदेशानन्तरं स्थान्यभावात् कथं तदवधिकपूर्वत्वं वक्तुं शक्यते इति तु नैव शङ्कनीयम्, कारणं हि अस्ति तावत् परिभाषा साम्प्रतिकाभावे भूतपूर्वगतिः आश्रीयते। अतः आदेशकरणात् पूर्वं स्थानिसद्भावे यः स्थानिभूताजवधिकपूर्वत्वविशिष्टः आसीत्, तदेव आदेशकरणात् परमपि भूतपूर्वगत्या गृह्यते अतो न दोषः इति भावः।

अस्य सूत्रस्योदाहरणं तावत् सु ध् य् उपास्यः इति परनिमित्तकः अचः आदेशः ईकारस्य स्थाने जायमानः यण्रूपः आदेशः, सः स्थानिवद्भवति स्थानिभूतः यः अच् ईकारः तदवधिकपूर्वत्वेन दृष्टस्य धकारस्य स्थाने द्वित्त्वविधौ कर्तव्ये। एवं च अनचि इति सूत्रेण द्वित्वे कर्तव्ये अत्र स्थानिवद्भावो भविष्यति, ततश्च यकारः स्थानिवृत्त्यच्त्व-धर्मवान् स्यात् ततश्च नैवात्र द्वित्वं भवितुमर्हति अच्परकत्त्वात्।

सूत्रस्य अस्योदाहरणं तावत् वव्रश्चेति। ओ व्रश्चू छेदने इति धातोः लिटि, तिपि, णलादेशे धातोः द्वित्वे व्रश्च् व्रश्च् अ इति स्थिते 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इत्यनेन सूत्रेण अभ्यासरेफस्य सम्प्रसारणे ऋकारे 'सम्प्रसारणाच्च' इत्यनेन पूर्वरूपे व् ऋश्च् व्रश्च् अ इति जाते 'उरत्' इति सूत्रेण ऋकारस्य अत्वे रपरत्वे च व् अर्श्च् व्रश्च् अ इति जाते हलादिशेषे व व्रश्च इति जाते अत्र प्रस्तुतसूत्रेण ऋकारस्थानिकस्य उरदत्वस्य स्थानिवद्भावेन सम्प्रसारणतया 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' इति निषेधात् वकारस्य पुनः सम्प्रसारणं न भवति। तेन वव्रश्चेति रूपं सिद्ध्यति। स्थानिवत्सूत्रेण तु स्थानिवद्भावो न भवेत्, 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणमि'ति निषेधस्य अल्विधित्वात्।

अचः इति पदविमर्शः–

सूत्रेऽस्मिन् अचः इति पदं प्रयुक्तम् अस्ति। अस्य पदस्य किं प्रयोजनमित्युक्तं बृहच्छब्देन्दुशेखरकृन्नागेशाचार्येण "अच इति किम्? द्यूत्वा। वस्थानिकोठः स्थानिवत्त्वे यण्न स्यात्। स्वाऽऽश्रयनिवृत्तेरप्यत्र सूत्रे सिद्धान्तितत्वात्"[1] इति। अस्य आशयः ननु सूत्रे अचः इति पदं किमर्थमित्यत उच्यते अच इति पदाभावे आदेशमात्रस्य अर्थात् अचः स्थाने हलः स्थाने वा यः आदेशः तस्य स्थानिवद्भावः स्यात्। तेन द्यूत्वा इत्यत्र वकारस्थानिकस्य ऊठः स्थानिवत्त्वे यण् न भविष्यति। तत्रापि यथा यण् भवेत् तदर्थं सूत्रे अचः इति पदम् उपात्तम्। तथाहि दिव्-धातोः क्त्वाप्रत्यये अनुबन्धलोपे दिव् त्वा इति जाते 'च्छ्वोः शूडननुनासिके च' इत्यनेन सूत्रेण ऊठादेशे अनुबन्धलोपे दि ऊ त्वा इति जाते 'इको यणचि' इति यणादेशे द्यूत्वा इति भवति। अत्र क्त्वाप्रत्ययं निमित्तीकृत्य 'च्छ्वोः

शूडनुनासिके च' इत्यनेन सूत्रेण वकारस्य ऊठ् इत्यादेशः परनिमित्तकः। तेन वस्थानिकस्य ऊठः स्थानिवद्भावेन अचि परे 'इको यणचि' इत्यनेन सूत्रे यण् न भविष्यति। यतो हि स्थानिवत्त्वेन वकार एव भवति। तत्र यण् यथा स्यात् तदर्थं सूत्रे अचः इति पदम्। तेन च वकारस्थानिकस्य ऊठः स्थानिवद्भावो न भवति, वकारस्य अच्त्वाभावात् तस्य हल्त्वात्। ततः स्थानिवद्भावनिषेधाद् अचि परे दि ऊ त्वा इत्यत्र यणादेशे द्यूत्वा इति रूपं सिद्ध्यति। ननु इदं न प्रयोजनम्। यतो हि स्वाश्रयम् इह अच्त्वं भविष्यति, अतिदेशानां स्वाश्रयकार्यानिवर्तकत्वात्। अत्र ऊ इति स्वयमच् वर्तते। तस्मात् यणि न क्लेशः इत्युच्यते चेन्न, विधिग्रहणप्रयोजनकथनावसरे अस्मिन् सूत्रे स्वाश्रयनिवृत्तेरपि सिद्धान्तितत्वात्।

समीक्षाः–

प्रकृते सूत्रे काशिकाकारः अचः इति पदस्य प्रश्नः, आक्राष्टाम्, आगत्य इति प्रत्युदाहरणानि प्रदत्तवान्। तथा हि प्रश्नः इत्यत्र प्रच्छधातोः 'यजयाचयतविच्छ-प्रच्छरक्षो नङ्' इत्यनेन सूत्रेण नङ्प्रत्यये 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इति छकारस्य शकारः परनिमित्तको वर्तते। अतः तस्य स्थानिवद्भावात् 'छे च' इति तुगागमः प्राप्नोति। परन्तु सूत्रे अचः इति वचनाद् अत्र तुगागमे कर्तव्ये स्थानिवद्भावो न जायते, शकारस्य हलादेशत्वाद् अजादेशत्वाभावात्। आङ्पूर्वकात् कृष विलेखने इति धातोः लुङि च्लौ च्लेः सिचि आ कृष् स् ताम् इति जाते 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्' इत्यनेन आमागमे 'इको यणचि' इत्यनेन यणि आक्राष् स् ताम् इति जाते 'झलो झलि' इति परनिमित्तकः सिचो लोपः, तस्य स्थानिवद्भावेन कृषेः षकारस्य 'षढोः कः सि' इत्यनेन कत्वं प्राप्नोति। तत्र अचः इति वचनात् स्थानिवद्भावो न भवति। तेन आक्राष्टाम् इति भवति। पुनः आङ्पूर्वकात् गम्-धातोः क्त्वाप्रत्यये तस्य ल्यबादेशे 'वा ल्यपि' इति अनुनासिकलोपः परनिमित्तकः तस्य स्थानिवद्भावेन 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इति तुक् न प्राप्नोति। तस्मात् अचः इति पदम्। तेन च तुकि कर्तव्ये स्थानिवद्भावो न भवति, अनुनासिकलोपस्य अजादेशत्वाभावात्।

काशिकायाम् अचः इत्यस्य यानि प्रत्युदाहरणानि दत्तानि तेषु प्रत्युदाहरणेषु प्रश्नः, आक्राष्टाम् इति च उदाहरणं पदमञ्जरीकारः प्रत्याख्यातवान्। ततः आगत्य इति अचः इत्यस्य प्रत्युदाहरणमिति प्रत्यपादि।

महर्षिणा पतञ्जलिनापि प्रकृतसूत्रस्य भाष्ये अचः इत्यस्य विश्नः, प्रश्नः, द्यूत्वा, स्यूत्वा, अक्राष्टाम्, आगत्य इति प्रत्युदाहरणानि उक्तानि। ततः अन्तिमे सिद्धान्तरूपेण आगत्य, अभिगत्य इति प्रत्युदाहरणं प्रोक्तम्।

शब्दकौस्तुभकारः प्रकृतसूत्रव्याख्याने अचः इति पदस्य प्रयोजनं प्रतिपादितवान्। तथाहि द्यूत्वा, स्यूत्वा इत्यत्र ऊठः स्थानिवद्भावात् यण् न भवति। तन्माभूत्तदर्थम् अचः इति पदग्रहणम्। ननु स्वाश्रयमच्त्वम् अत्र भविष्यति, अतिदेशानां स्वाश्रयकार्यानिवर्तकत्वादिति चेत्? न, विधिग्रहणप्रयोजनकथनावसरे अस्मिन् सूत्रे स्वाश्रयनिवृत्तेः सिद्धान्तयिष्यमाणत्वात्। नन्वेवमपि योऽत्र यण्विधौ अच् आश्रीयते नासौ आदेशः, यश्च आदेशः समुदायरूप ऊठ् इति, नासौ यण्विधौ निमित्तमिति चेत्? न, अनुबन्धानामनेकान्ततया एकान्तत्वेऽपि उच्चरितप्रध्वंसितया ऊकारस्यैव आदेशत्वात्, वतिनिर्देशाद् अभावोऽपि अतिदिश्यते इति वक्ष्यमाणत्वाच्च इति। पुनः अचः इत्यस्य प्रत्युदाहरणत्वेन अभिगत्य इत्यपि प्रदत्तम्। अत्र तावत् अनुनासिकलोपः परनिमित्तकः वर्तते अतः तस्य स्थानिवद्भावात् 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इति सूत्रेण तुक् न प्राप्नोति इति।

तत्त्वबोधिनीकारेणापि अस्य सूत्रस्य व्याख्याने आगत्य इति अचः इत्यस्य प्रत्युदाहरणत्वेन प्रोक्तम्। पुनः अस्मिन्सूत्रे सिद्धान्तरत्नाकरकारोऽपि अकथयत् यद् आगत्य इत्यत्र 'वा ल्यपि' इत्यनेन अनुनासिकलोपस्य स्थानिवद्भावेन तुक् न भवेत्। अतः तत्र यथा तुक् स्यात्तदर्थम् अचः इति पदोपादानम् इति।

वस्तुतः आगत्य, अभिगत्य इत्यादीनि यथा अचः इत्यस्य प्रत्युदाहरणानि भवन्ति, तथैव द्यूत्वा इत्यपि सम्भवति। तस्मात् कारणादेव तत्र स्वाश्रयमच्त्वं भविष्यति इत्यतः अचः इत्येतस्य प्रयोजनं न भवति इति शङ्कामुत्थाप्य नागेशः स्वाश्रयनिवृत्तेरपि सूत्रे सिद्धान्तितत्वात् इत्यनेन तन्निराकृतवान्। तेन स्वाश्रयनिवृत्तेः सिद्धान्तितत्वात् स्वाश्रयमच्त्वं न भविष्यति। अतः द्यूत्वा इति प्रत्युदाहरणं सङ्गच्छते। एतच्च शब्दकौस्तुभेऽपि प्रतिपादितं वर्तते। तच्चोक्तमेव।

पुनः अत्र यः समुदायरूपः ऊठादेशो नासावाश्रीयते, यश्च यण्विधौ अच् आश्रीयते नासावादेशः, समुदायस्य आदेशत्वात्। यतोहि आदेशस्य यः अवयवो भवति सः आदेशत्वेन न गृह्यते। इत्येवं भाष्ये यत् परिहारान्तरमुक्तं, तेन द्यूत्वा इति प्रत्युदाहरणं न भविष्यति इत्यपि न वक्तव्यम्, यतोहि तस्य समाधानं तु शब्दकौस्तुभे प्रतिपादितम्। तच्च पूर्वमुक्तमेव। तेन द्यूत्वा इति नागेशोक्तं प्रत्युदाहरणं साधु इति। एतेन यद्यपि लघुशब्देन्दुशेखरे आगत्य इति, बृहच्छब्देन्दुशेखरे च द्यूत्वा इति प्रत्युदाहरणं वर्तते, तथापि उभयोः प्रत्युदाहरणयोः साधुत्वात् क्वचित् दोषः नास्ति। तेन अचः इत्यस्य प्रत्युदाहरणं द्यूत्वा, स्यूत्वा, आगत्य, अभिगत्य इत्येतानि भवन्ति।

परस्मिन्निति पदविमर्शः

अस्मिन् सूत्रे परस्मिन् इति पदस्य प्रयोजनं किमस्तीति नागेशः प्रोक्तवान्। तथाहि "परस्मिन्निति किम्? युवजानिः। निङः स्थानिवत्त्वे हि यलोपो न स्यात्"[2] इति। ननु परस्मिन्निति पदस्य किं प्रयोजनम् इत्याशङ्कायाम् उच्यते युवजानिः इत्यत्र 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपो न प्राप्नोति। सः यलोपः यथा स्यात् तदर्थं सूत्रे परस्मिन्निति पदं प्रदत्तम्। तथाहि युवतिः जाया यस्य सः इति विग्रहे 'अनेकमन्यपदार्थे' इत्यनेन बहुव्रीहिसमासे सुब्लुकि युवतिशब्दस्य पुंवद्भावे च युवन् जाया इति जाते 'जायाया निङ्' इत्यनेन जायाशब्दस्य अन्त्यस्याकारस्य निङ् इत्यादेशे अनुबन्धलोपे युवन् जाय् नि इति जाते 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति पूर्वपदस्यान्त्यस्य नकारस्य लोपे उत्तरपदस्य य् इत्यस्य 'लोपो व्योर्वलि' इति सूत्रेण लोपे युवजानि इति जाते विभक्तिकार्ये च युवजानिः इति रूपं सिद्ध्यति। अत्र 'जायाया निङ्' इत्यनेन अच आकारस्य स्थाने विधीयमानो निङादेशः परनिमित्तको नास्ति। सूत्रे यदि परस्मिन् इति आदेशविशेषणं न दीयते तर्हि इहापि स्थानिवद्भावेन आकारस्य सत्त्वात् वल्परत्वाभावात् यलोपो न स्यात्। तत्र यलोपो यथा स्यात् तदर्थं सूत्रे परस्मिन्निति पदोपादानम्। तद्विशेषणोपादाने च 'जायाया निङ्' इति निङादेशस्य परनिमित्त-कत्वाभावात् स्थानिवत्त्वप्रसक्तिर्न भवति। तेन यलोपे स्थानिवद्भावो न जायते। ततश्च यलोपे युवजानिः इति भवति।

समीक्षाः–

काशिकायाम् अस्मिन्सूत्रे परस्मिन्नित्यस्य युवजानिः, वधूटीजानिः, वैयाघ्रपद्यः, आदीध्ये इति प्रत्युदाहरणानि प्रदत्तानि। तथाहि युवजानिः, वधूटीजानिः इत्यत्र 'जायाया निङ्' इति परनिमित्तकः नास्ति, अतः अत्र स्थानिवद्भावे 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपो न भवति। सूत्रे परस्मिन् इति वचनात् स्थानिवद्भावो न भवतीत्यतः यलोपो भवति। व्याघ्रस्येव पादावस्येत्यर्थे 'पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः' इत्यनेन अन्त्यस्य अकारस्य लोपे व्याघ्रपादिति स्थिते तस्य अपत्यार्थे 'गर्गादिभ्यो यञ्' इत्यनेन यञ्प्रत्यये 'पादः पत्' इति पद्भावे 'न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्' इति ऐजागमे विभक्तिकार्ये वैयाघ्रपद्यः इति रूपं जायते। अत्र 'पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः' इत्यनेन अन्त्यस्य अकारस्य लोपः परनिमित्तकः नास्ति। तस्मात् सूत्रे परस्मिन्निति वचनात् 'पादः पत्' इति पदादेशे स्थानिवद्भावो न जायते। तेन च वैयाघ्रपद्यः इति रूपं जायते। किञ्च आपूर्वकात् दीधीङो लटि उत्तमपुरुषैकवचने आदीधी इट् इति जाते 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इत्यनेन टेः एत्वं परनिमित्तकं नास्ति। तस्मात् स्थानिवद्भावो न भवतीत्यतः 'यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः' इति अन्त्यस्य लोपः न जायते। अन्यथा परस्मिन्निति

पदाभावे स्थानिवद्भावात् लोपः प्रसज्येत। काशिकायां परस्मिन्नित्यस्य यानि प्रत्युदाहरणानि प्रदत्तानि सन्ति तेषु युवजानिः, वधूटीजानिः इति चोदाहरणं प्रत्याख्याय हरदत्तः वैयाघ्रपद्यः इति, आदीध्ये इति च परस्मिन् इत्यस्य प्रत्युदाहरणमिति प्रकृतसूत्रव्याख्याने पदमञ्जर्यां प्रोक्तवान्। महाभाष्ये परस्मिन्नित्यस्य युवजानिः, द्विपदिका, वैयाघ्रपद्यः, आदीध्ये इत्युदाहरणानि उक्त्वा अन्तिमे सिद्धान्तपक्षरूपेण वैयाघ्रपद्यः, आदीध्ये इति च प्रत्युदाहरणमुपस्थापितवान्।

वैयाकरणसिद्धान्तरत्नाकरकारः अपि अस्मिन्सूत्रे उक्तवान् वैयाघ्रपद्यः इत्यत्र 'पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः' इति विधीयमानलोपस्य परनिमित्तकत्वाभावात् तस्य स्थानिवद्भावे पद्भावो न भवेत्। किञ्च आदीध्ये, आवेव्ये इत्यत्र इटः 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इत्यस्य परनिमित्तकत्वाभावात् एत्वस्य स्थानिवद्भावे सति 'यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः' इत्यनेन ईकारलोपः प्रसज्येत। तद्वारणाय परस्मिन्निति पदम् प्रदत्तम्।

परस्मिन्नित्यस्य प्रत्युदाहरणं युवजानिः, वैयाघ्रपद्यः इति शब्दकौस्तुभे दीक्षितेन कथितम्। किञ्च प्रकृतसूत्रव्याख्याने तत्त्वबोधिनीकारः ज्ञानेन्द्रसरस्वती आदीध्ये इति प्रत्युदाहरणं प्रदत्तवान्। तत्र नित्यत्वात् इटः एत्वे, एत्वस्य परनिमित्तकत्वं नास्त्यतः 'यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः' इति लोपे कर्तव्ये स्थानिवद्भावो न जायते।

वस्तुतः नागेशः स्वग्रन्थे युवजानिः इति यत् प्रत्युदाहरणं प्रदत्तवान्, तत् समुचितं न भाति। यतोहि युवजानिः इत्यत्र 'न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोप-स्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधिषु' इति निषेधात् यलोपविधिं प्रति स्थानिवद्भावो न भवतीति। अतः स्थानिवद्भावस्य प्रतिषेधात् परस्मिन् इत्यस्य अभावेऽपि युवजानिः इत्यादौ दोषो नास्ति। किञ्च 'योऽत्रादेशो नासावाश्रीयते, यश्चाश्रीयते नासावादेशः' इति भाष्योक्तरीत्या यो निङिति समुदायः आदेशः, नासौ वलि लोपे आश्रीयते। यश्च नकारो वलि लोपे आश्रीयते नासावादेशः। तेन च वलि लोपस्य आदेशनिमित्तकत्वं नास्त्यतः स्थानिवद्भावो न भवति। ततश्च स्थानिवद्भावस्य अप्रसक्त्या परस्मिन् इत्यस्य अभावेऽपि युवजानिः इत्यादौ दोषो नास्ति। तेन युवजानिः इति प्रयोजनं न साधु। तथा चाचष्ट चिदस्थिमालायां "ननु युवजानिरित्यत्र न फलं, यलोपे निषेधात् प्रकारान्तरेण भाष्ये दूषितत्वाच्च, अत आह– वैयाघ्रेति" [3] इति। किञ्चोक्तं चन्द्रकलायां "ननु युवजानिः इत्यत्र यलोपविधिम्प्रति न स्थानिवदित्यनेनापि गतार्थमत आह– वैयाघ्रपद्य इति"[4] इति।

तत्र यद्यपि 'प्रतिषेधे स्वरदीर्घयलोपेषु लोपाजादेशो न स्थानिवत्' इति भाष्यवार्तिकेन 'न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधिषु' इति सूत्रेण लोपाजादेशस्यैव स्थानिवत्त्वप्रतिषेधात् निङादेशस्य लोपरूपत्वाभावेन युवजानिः इत्यत्र 'न पदान्ते'ति स्थानिवत्त्वनिषेधशङ्का नास्ति इति उच्यते[5], तथापि 'योऽत्रादेशो नासावाश्रीयते। यश्चाश्रीयते नासावादेशः' इति भाष्योक्तरीत्या तु वलि लोपस्य आदेशनिमित्तकत्वाभावेन स्थानिवत्त्वाप्रसक्त्या परस्मिन्नित्यस्य अभावेऽपि युवजानिः इत्यादौ दोषः नास्ति। अतः युवजानिः इति प्रत्युदाहरणं साधु नास्ति। तस्मादेव सर्वे वैयाघ्रपद्यः इति प्रत्युदाहरणं प्रदत्तवन्तः, न तु युवजानिः इति। एतेन वैयाघ्रपद्यः, आदीध्ये इति परस्मिन्नित्यस्य प्रत्युदाहरणम्।

पूर्वविधाविति पदविमर्शः–

योगेऽस्मिन् पूर्वविधाविति पदस्य किं प्रयोजनमित्युक्तवान् नागेशः "पूर्वविधाविति किम्? हे गौः। सम्बुद्धिलोपे कर्त्तव्ये वृद्धेः स्थानिवत्त्वं मा भूत्"[6] इति। ननु पूर्वविधाविति पदं किमर्थमित्यत उच्यते हे गौः इत्यत्र सम्बुद्धिलोपे कर्तव्ये वृद्धेः स्थानिवद्भावो मा भूत् इत्येतदर्थं सूत्रे पूर्वविधाविति पदं प्रदत्तम्। तथाहि गोशब्दात् सम्बुद्ध्येकवचने हे गो स् इति स्थिते 'गोतो णित्' इत्यनेन सर्वनामस्थानस्य णिद्वद्भावे 'अचो ञ्णिति' इत्यनेन वृद्धौ हे गौ स् इति जाते सस्य रुत्वे विसर्गे च हे गौः इति रूपं भवति। अत्र 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धिरूपौकारः अजादेशः परनिमित्तकश्चास्ति। सूत्रे पूर्वविधाविति पदाभावे तु अत्रापि 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' इत्यनेन सम्बुद्धिलोपे कर्तव्ये वृद्धेः स्थानिवत्त्वं प्रसज्येत। ततश्च सम्बुद्धिलोपे कृते अनिष्टापत्तिः भवेत्। अतः तस्याः अनिष्टापत्तेः वारणाय सूत्रे पूर्वविधाविति पदोपादानं कृतम्। पूर्वविधाविति पदोपादानेन चात्र सम्बुद्धिलोपस्य परविधित्वात् पूर्वविधित्वाभावात् स्थानिवद्भावो न भवति।

समीक्षाः–

काशिकाकृद्भ्यामत्र सूत्रे हे गौः, बाभ्रवीयाः, नैधेयः इत्येतानि प्रत्युदाहृतानि। तथाहि हे गौः इत्यत्र पूर्वविधाविति कथनात् सम्बुद्धिलोपे कर्तव्ये स्थानिवद्भावो न भवति। अतः सम्बुद्धिलोपो न भवति। किञ्च बभ्रोः अपत्यम् इत्यर्थे 'मधुबभ्रोर्ब्राह्मणकौशिकयोः' इति यञ्प्रत्यये आदिवृद्धौ 'ओर्गुणः' इति उकारस्य ओकारादेशे तस्य च अवादेशे बाभ्रव्यः इति जाते तस्य च्छात्राः इत्यर्थे 'वृद्धाच्छः' इति छस्य ईयादेशे 'यस्येति च' इति अकारलोपे, 'हलस्तद्धितस्य' इति यकारलोपे बाभ्रवीयाः इति रूपं जायते। तत्र वान्तादेशः परनिमित्तकः अस्ति अतः तस्य स्थानिवद्भावात् 'हलस्तद्धितस्य' इति यलोपो न प्राप्नोति। पूर्वविधाविति कथनात् 'हलस्तद्धितस्य' इति यकारलोपे कर्तव्ये अवादेशः स्थानिवत् न भवति।

तेन यलोपो जायते। नैधेयः इत्यत्र निपूर्वकात् धाधातोः 'उपसर्गे घोः किः' इति किप्रत्यये 'आतो लोप इटि चे'ति आलोपे निष्पन्नात् निधिशब्दात् 'द्व्यचः' इत्यनुवृत्तेन 'इतश्चानिञः' इत्यनेन ढक्प्रत्यये ढस्य एयादेशे आदिवृद्धौ भसंज्ञायां 'यस्येति चे'ति इकारलोपे नैधेयः इति भवति। तत्र पूर्वविधाविति पदाभावे आलोपस्य परनिमित्तत्वात् तस्य स्थानिवद्भावात् 'इतश्चानिञः' इति द्व्यज्लक्षणो ढक् न प्राप्नोति। अतः पूर्वविधाविति कथनम्। पूर्वविधाविति कथने च द्व्यज्लक्षणे ढकि कर्तव्ये स्थानिवद्भावो न भवति।

भाष्यकारः अस्मिन्सूत्रे पूर्वविधावित्यस्य हे गौः, बाभ्रवीयाः, नैधेयः इत्येतानि प्रत्युदाहरणानि उक्त्वा अन्तिमे नैधेयः इत्येतत् प्रत्युदाहरणं राद्धान्तत्वेन स्वीकृतवान्।

शब्दकौस्तुभकारेणापि प्रस्तुतसूत्रे पूर्वविधाविति पदस्य नैधेयः इति प्रत्युदाहरणं प्रोक्तम्। तथाहि नैधेयः इत्यत्र आकारस्य स्थानिवद्भावे तु सति त्र्यच्कत्वव्यपदेशेन द्व्यच्कत्वं विरुद्धत्वाद् बाध्येत। नहि त्रिपुत्रो द्विपुत्रव्यपदेशं लभते। तस्मात् पूर्वविधाविति पदोपादानम्। एतत् कौस्तुभमतमेव तत्त्वबोधिनीकृता ज्ञानेन्द्रसरस्वतिनापि प्रोक्तम्। वैयाकरणसिद्धान्तरत्नाकरकृता प्रकृतसूत्रे हे गौः इति प्रत्युदाहरणं प्रोक्तम्। हे गौः इत्यत्र सम्बुद्धिलोपे कर्तव्ये वृद्धेः स्थानिवद्भावो मा भूत्तदर्थं पूर्वविधाविति पदम्।

वस्तुतः हे गौः इति बृहच्छब्देन्दुशेखरकारोक्तं प्रत्युदाहरणं समुचितं नास्तीति प्रतिभाति। तत्र कारणं हि हे गौः इति प्रत्युदाहरणम् अस्मिन्नेव सूत्रे भाष्यकारेण प्रत्याख्यातम्। तत्र प्रत्याख्यानप्रकारः एवं वर्तते– हे गौः इत्यत्र स्थानिवद्भावेन 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' इति सम्बुद्धिलोपः प्राप्नोति। तन्निवृत्त्यर्थं पूर्वविधौ इति वचनम्। तेनेह न सम्बुद्धिलोपः। वस्तुतः एतत्प्रयोजनं न भवति। यतोहि 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' इति सूत्रे यत् एङ्ग्रहणं करोति, तेन आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति– सम्बुद्धिलोपे स्थानिवद्भावो न भवति इति। ननु नैतदस्ति ज्ञापकम्, यतोहि गोऽर्थम् एतत् स्यात् इति चेन्न, तथा सति ओह्रस्वात्सम्बुद्धेः इत्येव ब्रूयात्। परन्तु एङ्प्रत्याहारग्रहणं कृतम्। तेन सम्बुद्धिलोपे स्थानिवद्भावो न भवति इति। एतेन पूर्वविधावित्यस्य हे गौः इति प्रत्युदाहरणं न सम्भवति, पूर्वविधौ इत्यस्याभावेऽपि तत्र दोषाभावात्। एवञ्च पूर्वविधावित्यस्य निष्कृष्टं प्रत्युदाहरणं नैधेयः इति।

उपसंहारः–

एवं रीत्या 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' इति सूत्रे प्रयुक्तानि यानि पदानि सन्ति, तेषां सर्वेषामपि पदानां प्रयोजनं प्रदर्शितम्। तत्र नागेशेन अचः इत्यस्य द्यूत्वा इति यत् प्रत्युदाहरणं प्रदत्तं, तत्साधु। पुनः तेन सह स्यूत्वा, आगत्य, अभिगत्य इत्यादीनि प्रत्युदाहरणान्यपि सम्भवन्ति। किञ्च नागेशेन परस्मिन्नित्यस्य युवजानिः इति यत्प्रत्युदाहरणं प्रदर्शितम् आसीत्, तदसाधु। तत्र वैयाघ्रपद्यः, आदीध्ये इत्येतानि परस्मिन्नित्यस्य प्रत्युदाहरणत्वेन बोध्यानि। किञ्च पूर्वविधौ इत्यस्य हे गौः इति यत्प्रत्युदाहरणं प्रदत्तं, तदपि असाधु। तत्र नैधेयः इति निष्कृष्टं प्रत्युदाहरणं बोध्यम् इति शिवम्।

सन्दर्भग्रन्थः–

1. बृहच्छब्देन्दुशेखरः (प्रथमो भागः); नागेशभट्टः; सीतारामशास्त्री (सम्पादकः); वाराणसी- सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः; 1996
2. लघुशब्देन्दुशेखरः (अव्ययीभावान्तो भागः) (षट्टीकोपेतः); नागेशभट्टः; प्रो. नन्दकिशोरशास्त्री (सम्पादकः); काशी-भार्गवपुस्तकालयः; 1992

---

1. बृहच्छब्देन्दुशेखरः (प्रथमभागः), पृ. सं.- 151।
2. बृहच्छब्देन्दुशेखरः (प्रथमभागः), पृ. सं.- 151।
3. लघुशब्देन्दुशेखरः [चिदस्थिमाला] (प्रथमभागः), पृ. सं.- 241।
4. लघुशब्देन्दुशेखरः [चन्द्रकला] (प्रथमभागः), पृ. सं.- 110।
5. 'यलोपे न स्थानिव'दिति निषेधस्तु न, 'स्वरदीर्घयलोपेषु लोपाजादेश एव न स्थानिवदि'त्युक्तेः। (लघुशब्देन्दुशेखरः [विषमपदविवृत्तिः] (प्रथमभागः), पृ. सं.- 241।
6. बृहच्छब्देन्दुशेखरः (प्रथमभागः), पृ. सं.- 151।

सहायकाचार्यः, संस्कृतदर्शनविभागः,
रामकृष्णमिशन्विवेकानन्दशैक्षणिकशोधसंस्थानं,
बेलुडमठः, हाबडा ।

दूरवाणी संख्या - 6290886062

ईमेल – neerajbhu85@gmail.com

प्रमाणानां प्रामाण्यं स्वत एवोत्पद्यते ज्ञायते च

– डॉ. धीरजकुमारपाण्डेयः

(वेदान्त सम्प्रदाय में प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है तथा स्वतः ज्ञात होता है। उसके उत्पत्ति अथवा ज्ञप्ति के लिए किसी भी प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं होती। दूसरे शब्द में कहें तो उसकी उत्पत्ति ज्ञानसामान्यसामग्री प्रयोज्य है, और वह साक्षी से ही ज्ञात भी होता है। किन्तु नैयायिकों के यहाँ यह बात नहीं है। नैयायिक लोग प्रामाण्य को परतः=गुणों के माध्यम से उत्पन्न और अनुमानादि के द्वारा ज्ञात मानते है। इस आलेख में मैंने नैयायिकाभिमत परतः प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति का वेदान्त सम्प्रदाय के अनुसार खण्डन किया है। इसके अलावा अप्रामाण्य जो दोनों के यहाँ परतः है उसके विषय में कोई भी परस्पर विवाद नहीं है, उसका भी इस आलेख में उल्लेख किया है।)

प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः साङ्ख्याः समाश्रिताः।
नैयायिकास्ते परतः, सौगताश्चरमं स्वतः॥
प्रथमं परतः प्राहुः प्रामाण्यं वेदवादिनः।
प्रमात्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम्॥[1] इति।

साङ्ख्यनये ज्ञानस्य प्रामाण्यं स्वतः अप्रामाण्यञ्च परत इति। योगेऽपि तथैव समानतन्त्रत्वात्। न्यायनये उभेऽपि परत एवेति। वैशेषिकेऽपि तथैव प्रायः समानतन्त्रत्वात्। बौद्धे परतः स्वत इति। जैनमतेऽपि तथैवेति। मीमांसानये स्वतः परत इति। वेदान्तेऽपि तथैव। वेदान्तनये प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थापत्त्यनुपलब्धिरूपाणि षट्प्रमाणानि सन्ति। तैश्च प्रत्यक्षानुमितिसादृश्यशाब्दोपपादकाभावरूपाः प्रमा जायन्ते। ताश्च प्रमा यथार्था अयथार्था वा? इति प्रामाण्यग्राहकेषु सन्ति विप्रतिपत्तयः। प्रकृते न्यायवेदान्तयोः विप्रतिपत्तिः प्रदर्श्यते– वेदान्तमते प्रामाण्यं स्वत एवोत्पद्यते ज्ञायते चेति। तत्र स्वतोग्राह्यत्वं नाम यया सामग्र्या ज्ञानं भवति तयैव तद्गतं प्रामाण्यमपि गृह्यते। यथा चोक्तं परिभाषाकारेण– **'स्वतोग्राह्यत्वं च दोषाभावे सति यावत्स्वाश्रयग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वम्'** [2] इति। स्वाश्रयो वृत्तिज्ञानं तद्ग्राहकं साक्षिज्ञानं तेन हि साक्षिणा वृत्तिज्ञानं गृह्यमाणे वृत्तिज्ञानगतं यत्प्रामाण्यं तदपि तेनैव साक्षिणा गृह्यत इत्यर्थः। तदर्थं कस्यचिदपरस्य अनुमानादेः नास्त्यावश्यकतेति। एवं वेदान्तनये प्रामाण्यं स्वत एव ज्ञायते। न्यायनये त्वेवं नास्ति, नैयायिका ज्ञानस्य प्रामाण्यं स्वतो न गृह्यते अपितु परतोऽनुमादिना इति। यथा चोक्तम्– **'प्रमात्वं न स्वतोग्राह्यं संशयानुपपत्तितः'**[3] इति। नाम

ज्ञाननिष्ठं यत् प्रमात्वं=तद्वद्विशेष्यकत्वावच्छिन्नतत्प्रकारकत्वम्, तत् स्वतः = स्वस्माद् ज्ञानाद् न ग्राह्यं, किन्तु परतः = अनुमानादिना ग्राह्यमित्यर्थः। तस्य स्वतोग्राह्यत्वे दोषः संशयाऽनुपपत्तिरिति। यदि प्रामाण्यं स्वतोग्राह्यं स्यात् तदा अनभ्यासदशायां (प्रथमजलज्ञानोत्तरदशायाम्) दूरालोकवति जले सति 'जलज्ञानं प्रमा न वा' इति अनुभवसिद्धः प्रमात्वसंशयः नोपपद्येत, अनुव्यवसायेन प्रामाण्यस्य निश्चितत्वात्, तस्मात् ज्ञानप्रामाण्यमनुमेयमिति। तथा चानुमानम्– 'इदं ज्ञानं प्रमा संवादिप्रवृत्तिजनकत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथाऽप्रमा' इति। अस्मिन्ननुमानस्वरूपे अन्वयव्यतिरेकयोः स्वरूपं प्रदर्शितं विद्यते। तत्रान्वयस्तु 'इदं जलं प्रमा संवादिप्रवृत्तिजनकत्वात्' यथा कश्चन पिपासुः बालो दूरावलोकवति तडागे जलं दृष्ट्वा तत्पातुं प्रवृत्तः, अनन्तरं कम्बुग्रीवादिमत्पदार्थं नीत्वा जलाहरणञ्च विधाय जलमपिबत्, ततः सन्तुष्टो जातः, तत्र हि जलप्राप्तिरेव तस्य सफलप्रवृत्तिं बोधयति। अत इदं ज्ञानं प्रमेति। व्यतिरेकस्तु 'इदं रजतमप्रमा विसंवादिप्रवृत्तिजनकत्वात्' यथा कश्चन रजतार्थी रजतं ग्रहीतुं शुक्तिरूप्यं दृष्ट्वा प्रवृत्तः, समीपमागत्य हस्तमग्रेसारयति, अनन्तरं तस्य हस्ते केवलं शुक्तिरेव प्राप्ता भवति रजतस्य तत्राविद्यमानत्वात्। इत्थं रजताप्राप्तिरेव तस्य विफलप्रवृत्तिं बोधयति। अत इदं ज्ञानमप्रमेति। विस्तराय मुक्तावली तट्टीका च द्रष्टव्या। एवं नैयायिका अनुमानरूपपरप्रमाणेन ज्ञानस्य प्रामाण्यं गृह्णन्ति। तन्मते ज्ञानग्राहिका या हि सामग्री तयैव प्रमात्वस्य ग्रहणं न भवति, अपितु तदर्थमनुमानरूपपर-प्रमाणस्य आवश्यकतेति। एवमेव प्रामाण्यस्योत्पत्तिविषयेऽपि न्यायवेदान्तयोरस्ति मतभेदः। वेदान्तिनाम्मते यया सामग्र्या ज्ञानमुत्पद्यते तयैव तद्गतं प्रामाण्यमपि उपद्यत इति। अत्र हि नैयायिका आहुः यत् प्रामाण्यं परतो गुणादिना जायते। यतो हि यया सामग्र्या ज्ञानमुत्पद्यते तयैव तद्गतं प्रामाण्यमप्युत्पद्यत इति स्वीकारे भ्रमज्ञानमपि प्रमा स्यात्? तस्मात् प्रामाण्यं परतः गुणादिना जायत इति स्वीक्रियताम्। इत्याशङ्कायां प्रामाण्यस्य उत्पत्तौ ज्ञप्तौ च स्वाभिमतं सिद्धान्तं प्रतिपादयत्यद्वैती– **एवमुक्तानां प्रमाणानां प्रामाण्यं स्वत एवोत्पद्यते ज्ञायते च।**[4] इत्यादिना

प्रामाण्यस्य स्वत एवोत्पत्तिः– तत्र च प्रथमतः प्रामाण्यस्य स्वत एवोत्पत्तिरुच्यतेप्रत्यक्षादिषु षट्सु परिच्छेदेषूक्तानां प्रतिपादितानां प्रत्यक्षानुमि-त्युपमित्यादीनां षण्णां प्रमाणानां प्रामाण्यं स्वत एवोत्पद्यते ज्ञायते च। प्रमाणानामित्यत्र प्रमाणशब्दो न तावत्करणसाधनः किन्तु प्रमीयते तत् प्रमाणमिति भावसाधनः। अतः प्रमाणानामित्यस्य प्रमाणामित्यर्थो ज्ञेयः। प्रामाण्यं नाम प्रमाणस्य भावइत्यर्थः। प्रामाण्यं प्रमात्वं यथार्थत्वं सत्यत्वं चेति

अपरपर्यायम्। 'स्मृत्यनुभव-साधारणं संवादिप्रवृत्त्यनुकूलं तद्वति तत्प्रकारकज्ञानत्वं प्रामाण्यम्' इति। परिभाषायाः प्रत्यक्षपरिच्छेदे प्रमात्वं नाम 'अबाधितविषयज्ञानत्वम्' इत्युक्तम्। तेन स्मृत्यनुभवयोः भवति प्रमापदेन ग्रहणम्। तादृशस्य स्मृत्यनुभवसाधारणस्य ज्ञानस्य (प्रमायाः) प्रामाण्यं 'तद्वति तत्प्रकारकज्ञानत्वम्' इति। लक्षणेऽस्मिन् तत्पदेन प्रकारीभूतो धर्मो धर्तव्यः। यथा हि 'अयं घटः' इदं विशेष्यकघटत्वप्रकारकं ज्ञानमित्यर्थः। अत्र लक्षणसमन्वयस्तु– तद् = घटत्वं, तद्वति = घटत्ववति घटे, तत्प्रकारकं = घटत्वप्रकारकं, ज्ञानत्वं = प्रामाण्यमिति। एवं घटत्ववति घटे घटत्वप्रकारकं ज्ञानत्वं प्रामाण्यमित्यर्थः। एवमेव 'इदं रजतम्' इदं विशेष्यकरजतत्वप्रकारकं ज्ञानमित्यर्थः। अत्राऽपि रजतत्ववति रजते रजतत्वप्रकारकं ज्ञानत्वं प्रामाण्यमित्यर्थः। लक्षणेऽस्मिन् ज्ञानत्वमिति पदमिच्छायामतिप्रसक्तिवारणाय। नाम 'अयं घटो मत्कृते स्यात्' इत्येवं रूपायामिच्छायां घटत्ववति घटे घटत्वप्रकारकस्य सत्त्वादतिप्रसक्तिः। अतः तद्वारणाय ज्ञानत्वमिति पदम्, तेन न भवतीच्छयामतिव्याप्तिः। यतो हीच्छाया-मिच्छात्वं तिष्ठति न तु ज्ञानत्वमिति। एवमेव भ्रमज्ञानेऽतिप्रसक्तिवारणाय तद्वतीति पदम्। नाम तत्प्रकारकज्ञानत्वम् इत्येतावदेव लक्षणस्वीकारे 'इदं रजतम्' इति शुक्तिरूप्यादौ भ्रमस्थलेऽपि रजतत्वप्रकारकस्य ज्ञानस्य सत्त्वादतिप्रसक्तिः। अतः तद्वारणाय तद्वतीति पदं, तेनात्र न भवत्यतिप्रसक्तिः। यतो ह्यत्र रजतत्वाभाववत्यां नाम शुक्तिकात्ववत्यां शुक्तौ रजतत्वप्रकारकं ज्ञानं क्रियते न तु रजतत्ववति रजते रजतत्वप्रकारकं ज्ञानमिति। एतावता समीचीनज्ञाने तद्वति तत्प्रकारकज्ञानत्वस्य सत्त्वात् तदीयेच्छया प्रवृत्तस्य पुरुषस्य या हि प्रवृत्तिः सा संवादिप्रवृत्तिरिति। तस्मादेतत् प्रामाण्यं संवादिप्रवृत्त्यनुकूलमिति। अतः 'स्मृत्यनुभवसाधारणं संवादिप्रवृत्त्यनुकूलं तद्वति तत्प्रकारकज्ञानत्वं प्रामाण्यं' इति निष्कृष्टं लक्षणं प्रामाण्यस्य पर्यवस्यति। तद्धि स्वत एवोत्पद्यते। ननु प्रामाण्यं स्वत एव स्वस्य उत्पादकमिति स्वीकारे आत्माश्रय इत्याशङ्कायामाह– 'स्वतः प्रामाण्यम्' इत्यत्र स्वत इति पदं स्वोत्पादकमित्येतत्परं नास्ति। अपितु यया सामग्र्या ज्ञानमुत्पद्यते तयैव तद्गतं प्रामाण्यमपि जायत इत्येतत्परमित्यतो नास्ति आत्माश्रय इति। नैयायिकाः प्रामाण्यस्योत्पत्तिं परतो गुणादिना आहुः। तन्मते ज्ञानजनिका या हि सामग्री तदपेक्षया प्रामाण्यजनिका सामग्री भिन्नेति। एवं सामग्र्यन्तरं गुणं खण्डयति सिद्धान्ती– 'तच्च प्रामाण्यं ज्ञानसामान्यसामग्रीप्रयोज्यम्' इति। नाम यया समग्र्या ज्ञानमुत्पद्यते तयैव तद्गतं प्रामाण्यमपि जायत इत्यर्थः। न तु प्रामाण्योत्पत्तौ अधिकस्य सन्निकर्षादेः गुणस्य अपेक्षा प्रमामात्रेऽनुगतगुणाभावाद्। नाम प्रत्यक्षादिषु षट्सु प्रमासु कोऽप्यव्यभिचारी समानगुणो न तिष्ठति येन तद्महिम्ना

प्रामाण्यस्य परत उत्पत्तिः स्यादित्यर्थः। ननु प्रत्यक्षादिषण्णां प्रामाणां प्रामाण्यजनकस्य कस्यचिदेकस्य समानगुणस्याभावेऽपि विशेषप्रमाया जनको विशेषगुणोऽस्तीति स्वीक्रियताम्। यथा प्रत्यक्षप्रमायां भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षरूपो विशेषगुणः, अनुमितौ सल्लिङ्गपरामर्शः, उपमितौ सादृश्यज्ञानम्, शाब्दे योग्यता, इत्यादिः। अतः प्रामामात्रेऽनुगतगुणाभावादपि तत्र हि विशेषगुणमादाय प्रामाण्यमुत्पद्यताम्। एतावता प्रामाण्यं न स्वत उत्पद्यते किन्तु परतो गुणादिना इत्याशङ्कायामाह सिद्धान्ती– तत्र प्रत्यक्षप्रमायां भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षरूपं विशेषगुणमादाय प्रामाण्यस्योत्पत्तिः परत इति नैव वक्तुं शक्यते व्यभिचारात्। तथाहि– यत्र भूयोऽव-येन्द्रियसन्निकर्षः तत्र प्रत्यक्षप्रमात्वमित्यन्वयः, यत्र भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षाभावः तत्र प्रत्यक्षप्रमात्वाभाव इति व्यतिरेकः। एवं रूपादिप्रत्यक्षे आत्मप्रत्यक्षे च रूपादेः आत्मनश्च निरवयवत्वाद् भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षाभावेऽपि प्रत्यक्षप्रमात्वम् इत्यतो व्यतिरेकव्यभिचारः। शब्दान्तरेण रूपादिप्रत्यक्षे आत्मप्रत्यक्षे च भूयोऽवयवेन्द्रियसन्नि-कर्षस्याव्याप्तिरिति। 'पीतः शङ्ख' इत्यत्र तु शङ्खस्य सावयवत्वाद् भूयोऽवयवेन्द्रिय-सन्निकर्षसम्भवेऽपि प्रत्यक्षप्रमात्वाभावो नाम भ्रमत्वनिश्चय इत्यतः अन्वयव्यभिचारः। शब्दान्तरेण 'पीतः शङ्ख' इत्यादौ भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षस्यातिव्याप्तिरिति। एवमेव सल्लिङ्गपरामर्शादेरपि गुणत्वं निरस्यति सिद्धान्ती–सल्लिङ्गपरामर्शादिः नास्ति अनुमित्यादिप्रमायां गुणः। तथाहि– यत्र सल्लिङ्गपरामर्शः तत्रानुमितिप्रमा-त्वमित्यन्वयः, यत्र सल्लिङ्गपरामर्शाभावः तत्रानुमितिप्रमात्वाभाव इति व्यतिरेकः। एवमुत्पत्तिक्षणावच्छिन्नघटादौ गन्धव्याप्यपृथिवीत्ववानयमिति सल्लिङ्गपरामर्शे सत्यपि 'गन्धवानयम्' इत्यनुमितेरप्रमात्वादन्वयव्यभिचारः। इममन्वयव्यभिचारं मनसि निधाय व्यतिरेकव्यभिचारं प्रदर्शयति वेदान्ती– यत्र सल्लिङ्गपरामर्शो नास्ति तत्र यदि भवत्यनुमितिप्रमात्वनिश्चयः तर्हि व्यतिरेकव्यभिचार इति। यथा 'वह्निमान् प्रमेयत्वात्' इत्यादावसल्लिङ्गपरामर्शस्थले विषयस्य वह्न्यादेरबाधितत्वेन प्रमात्वाद् व्यतिरेकव्यभिचार इति। तस्मात् प्रामाण्यस्योत्पत्तिः परतो गुणादिना भवतीति न वक्तुं शक्यते। एतावता ज्ञानजनिका सामग्र्येव तद्गतप्रामाण्यस्यापि जनिका इति स्वीक्रियताम्। एवं प्रामाण्यं स्वत एवोत्पद्यत इति सिद्धम्। ननु ज्ञानजनिका सामग्र्येव तद्गतप्रामाण्यस्यापि जनिका इति स्वीकारे भ्रमज्ञानमपि प्रमा स्यात्? ज्ञानसामान्यसामग्र्या अविशेषात्। एतावता भ्रमज्ञानस्यापि प्रमात्वापत्तौ ज्ञानजनिकासामग्र्यपेक्षया तद्गतप्रामाण्यजनिका सामग्री भिन्नेति स्वीक्रियताम् इत्याशङ्कायामाह– 'दोषाभावस्यापि हेतुत्वाङ्गीकारात्' इति।

प्रतिबन्धकाभावस्य कार्योत्पत्तिं प्रति हेतुत्वेन क्लृप्ततया दोषाभावस्यापि हेतुत्वेनाङ्गीकारादित्यर्थः। इत्थं ज्ञाननिश्चयाय यथा इन्द्रियादिः हेतुः सामग्री, तथैव इन्द्रियादिना सह दोषाभावोऽपि हेतुरिति। तस्माद् वेदान्तमते अप्रमा प्रमा नैव भवतुमर्हति, अप्रमाया दोषाभावा-भावाद् नाम दोषसहकृतत्वादित्यर्थः। पुनरपि नैयायिकः शङ्कते यद् दोषाभावस्यापि ज्ञानोत्पत्तौ हेतुत्वेन अपसिद्धान्त इति। नाम ज्ञानजनिकासामग्र्यपेक्षया भिन्नस्य परस्य दोषाभावस्यापि कारणत्वाभुपगमे परतस्त्वापत्तिरित्यर्थः। इत्याशङ्कायामाह– 'आगन्तुकभावकारणापेक्षायामेव परतस्त्वात्' इति। आगन्तुकं भावकारणमेव परतस्त्वस्य हेतुः न तु अभावकारणमित्यर्थः। यथा च भवता नैयायिकेनापि 'आगन्तुकभावकारणसामग्र्यपेक्षितत्वं परतस्त्वम्' इत्यङ्गीकृतम्। इत्थमागन्तुकं गुणरूपं भावकारणमेव परतस्त्वस्य हेतुः, न तु अभावकारणमिति फलति। अतो ज्ञाननिश्चयाय इन्द्रियादिना सह दोषाभावस्यापि हेतुत्वेन तस्य च दोषाभावस्य अभावरूपत्वान्न परतस्त्वापत्तिः। एवं वेदान्तमते 'आगन्तुकभावकारणानपेक्षज्ञान-सामान्यसामग्रीप्रयोज्यत्वं स्वतस्त्वम्' इति स्वतस्त्वस्य निष्कृष्टं लक्षणं पर्यवस्यति। अत्र अदृष्टादिव्यावृत्तये आगन्तुकमिति पदम्। दोषाभावरूपहेतुना परतस्त्वं न स्यात्तदर्थं भाव इति पदम्। एतावता प्रामाण्यं स्वत एवोत्पद्यत इति पुष्कलम्। एतदेवोक्तं परिभाषाकारेण– **न चैवमप्रमाऽपि प्रमा स्यात्, ज्ञानसामान्यसामग्र्या अविशेषादिति वाच्यम्। दोषाभावस्यापि हेतुत्वाङ्गीकारात्। न चैवं परतस्त्वमिति वाच्यम्। आगन्तुकभावकारणापेक्षायामेव परतस्त्वात्।**[5] इति।

प्रामाण्यस्य स्वतो ग्राह्यत्वम्–

नैयायिकाः परतस्त्ववादिनः, तेषाम्मते संशयानुपपत्तेः ज्ञानं न स्वतो गृह्यते अपितु परतोऽनुमानादिना इति। तन्मते प्रामाण्यस्य परतोऽनुमानादिना ग्राह्यत्वं सविस्तृतं पूर्वं चर्चितं विस्तरभयान्नेह प्रतन्यते। वेदान्तमते 'स्मृत्यनुभवसाधारणं संवादिप्रवृत्त्यनुकूलं तद्वति तत्प्रकारकज्ञानत्वं प्रामाण्यम्' इति। तच्च प्रामाण्यं स्वत एवोत्पद्यते ज्ञायते च। तत्र प्रामाण्यस्य स्वत एवोत्पत्तिं सविस्तृतं प्रतिपाद्य सम्प्रति 'प्रामाण्यं स्वत एव ज्ञायते' इति प्रतिपाद्यते– तथा चोक्तं परिभाषायाम्– **ज्ञायते च प्रामाण्यं स्वतः। स्वतोग्राह्यत्वं च दोषाभावे सति यावत्स्वाश्रयग्राहकसामग्री-ग्राह्यत्वम्। स्वाश्रयो वृत्तिज्ञानं तद् ग्राहकं साक्षिज्ञानं तेनापि वृत्तिज्ञाने गृह्यमाणे तद्गतं प्रामाण्यं गृह्यते।**[6] इति।

ज्ञायते नाम गृह्यते अवभास्यते वेत्यर्थः। वेदान्तमते प्रामाण्यं स्वत एव गृह्यते। तत्र प्रामाण्यस्य स्वतोग्राह्यत्वञ्च 'दोषाभावे सति यावत्स्वाश्रयग्राहक-

सामग्रीग्राह्यत्वम्' इति। स्वाश्रय इत्यत्र स्वं प्रामाण्यं, तस्याश्रय आधारो नामाधिकरणं प्रमेति, सैव वृत्तिज्ञानमित्युच्यते, तद्ग्राहकं नाम वृत्तिज्ञानग्राहकं साक्षिज्ञानं प्रमातृचैतन्यमिति, तदेव सामग्रीति, ग्राह्यत्वं = प्रामाण्यम्, नाम तेन हि साक्षिणा वृत्तिज्ञानं गृह्यमाणे वृत्तिज्ञानगतं यत्प्रामाण्यं तदपि तैनैव गृह्यत इत्यर्थः। परतस्त्ववादिना नैयायिकेन अनुमानादिना प्रामाण्यं गृह्यते, अतोऽनुमानादिव्यावृत्तये लक्षणेऽस्मिन् स्वाश्रयग्राहकस्य यावदिति विशेषणम्। एवमनुमानादौ स्वाश्रयग्राहक-त्वसम्भवेऽपि यावत्स्वाश्रयग्राहकत्वाभावाद् नातिप्रसक्तिः नाम तद्व्यावृत्तिरित्यर्थः। शब्दान्तरेण नैयायिकेन यावत्स्वाश्रयग्राहकसामग्रीजन्यग्रहणगोचरत्वं न स्वीक्रियत इत्यर्थः। ननु 'दोषाभावे सति यावत्स्वाश्रयग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वं स्वतोग्राह्यत्वम्' इत्यनया रीत्या प्रामाण्यस्य स्वतोग्राह्यत्वे संशयानुपपत्तिः। तथाहि– भ्रमज्ञानं प्रमा वोभयत्र वृत्तिज्ञानं तिष्ठति, तस्य च वृत्तिज्ञानस्य ग्राहकं साक्षिज्ञानं तदपि उभयत्र समानमेव नाम भ्रमज्ञाने प्रमायां वोभयत्रैकमेवेत्यर्थः। अतः तेन हि साक्षिणा कस्यचिदपि ज्ञानस्य भ्रमज्ञानस्य प्रमाया वा भास्यत्वे तत्प्रामाण्यनिश्चयः स्यात्। तथा सति 'इदं ज्ञानं प्रमा न वेति' इत्याकारकः संशयो ज्ञानप्रामाण्यविषये कथमपि नैव सम्भवः। किन्तु तत्र संशयस्तु भवत्येव स चानुभवसिद्धः। अतः संशयानुपपत्तेः 'प्रामाण्यं स्वतोग्राह्यम्' इति भवन्मतं नैव समीचीनम् इति भावः। इत्याशङ्कायामाह– **न चैवं प्रामाण्यसंशयानुपपत्तिः, तत्र संशयानुरोधेन दोषस्यापि सत्त्वेन दोषाभावघटितस्वाश्रयग्राहकाभावेन तत्र प्रामाण्यस्यैवाग्रहात्।**[7] इति। तत्र हि प्रामाण्ये संशयानुरोधेन नाम संशयो हि दोषजन्यो दोषं विनाऽनुपपद्यमानो दोषसत्त्वमवगमयतीत्यर्थः। दोषस्यापि सत्त्वेन विद्यमानत्वेन निश्चितत्वेन इत्यर्थः। दोषाभावघटितस्वाश्रयग्राहकाभावेन = दोषाभावसहकृतप्रामाण्याश्रयवृत्तिज्ञानग्राह कसाक्षिणोऽभावेन इत्यर्थः। तत्र = प्रमायां, तद्गतं यत्प्रामाण्यं तस्य अग्रहात् = प्रामाण्यनिश्चयकारणाभावादित्यर्थः। प्रमात्वनिश्चयो नोत्पद्यत इति। अतो संशयानुपपत्तिः नास्ति। अयमाशयः– वयं वेदान्तिनः स्वाश्रयग्राहकं दोषाभाव-घटितमिति स्वीकुर्मः। अतो भ्रमज्ञाने दोषाभावघटितस्य स्वाश्रयग्राहकत्वस्यानुपलब्धेः नास्ति कोऽपि दोष इति। ननु यदि एकस्यैव ज्ञानग्राहकत्वं प्रमात्वग्राहकत्वमित्युभयं कल्प्यते तर्हि तेनैव ज्ञाने गृहीते तत्प्रमात्वमपि गृहीतमेवेति कुतस्तत्संशय इत्याशङ्कायामाह– **यद्वा यावत्स्वाश्रयग्राहकग्राह्यत्वयोग्यत्वं स्वतस्त्वम्। संशयस्थले प्रामाण्यस्योक्त-योग्यतासत्त्वेऽपि दोषवशेनाग्रहाद् न संशयानुपपत्तिः।**[8] इति। 'यावत्स्वाश्रयग्राहक-ग्राह्यत्वयोग्यत्वं स्वतस्त्वम्' इत्येवं योग्यताघटितलक्षणस्वीकारे स्वतोग्राह्यत्वस्य पूर्वोक्तलक्षणे 'दोषाभावे' इति यद्विशेषणं दत्तमस्ति तस्य नास्ति आवश्यकता।

अपि च– तादृशयोग्यताघटितलक्षणेन संशयोपपत्तिरपि सम्भवा। तथाहि– संशयस्थले प्रामाण्यस्य ग्राह्यत्वाभावेऽपि न प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वहानिः, तत्रापि प्रामाण्यग्राहकस्य साक्षिणो विद्यमानत्वात्। नाम ज्ञानस्य ग्राह्यत्वयोग्यता-सत्त्वादित्यर्थः। योग्यता च बीजाङ्कुरोत्पत्तिवत्। नाम जलाभावे बीजादङ्कुरोत्पत्त्य-भावेऽपि यथा तत्र बीजेऽङ्कुरोत्पत्तियोग्यता तथैव इत्यर्थः। ननु संशयस्थले तादृशयोग्यतासद्भावे कथन्न प्रामाण्यग्रह इत्याशङ्कायामाह– संशयस्थले दोषरूप-प्रतिबन्धकवशात् प्रामाण्यस्याग्रहात्। शब्दान्तरेण प्रमात्वग्रहस्य पुष्कलकारणे सत्यपि प्रबलप्रतिबन्धकदोषवशान्न प्रामाण्यनिश्चय इत्यर्थः। अतो न संशयानुपपत्तिः सामग्र्यास्तत्र सद्भावादिति। एतावता प्रामाण्यं स्वत एवोत्पद्यते ज्ञायते च।

सन्दर्भग्रन्थाः–

1. वेदान्तपरिभाषा - श्रीधर्मराजदीक्षितः, चौखम्बासंस्कृतसीरीज - आफिस, वाराणसी, सप्तमं संस्करणम्, 2010, स्वामी प्रज्ञानभिक्षुः
2. कारिकावली - श्रीविश्वनाथतर्कपञ्चाननः, श्रीबालमनोरमा - प्रेस, मैलापुरम् - मद्रासः- सी. शङ्कररामशास्त्री
3. भारतीयदर्शनम्-आचार्यबलदेव-उपाध्यायः, शारदामन्दिरम्, वाराणसी, 1971
4. लघुसिद्धान्तकौमुदी-आचार्यवरदराजः, मोतीलालबनारसीदासप्रकाशनम् 2006, श्रीधरानन्द-शास्त्री
5. वेदान्तसारः- श्रीसदानन्दयतिः, मोतीलालबनारसीदासप्रकाशनम्, आचार्यबदरीनाथ-शुक्लः, वाराणसी 2009, चौखम्बापब्लिशर्स, वारणसी, 2005, श्रीरामाशङ्कर-त्रिपाठी
6. अद्वैतवेदान्त का इतिहास तथा सिद्धान्त-शर्मा राममूर्त्तिः, ईस्टर्नबुकलिंकर्स, दिल्ली, तृतीयसंस्करणम्

---

1. स.द.प्रा.वि.पृ. 476
2. वे.प.पृ. 162
3. का. 136
4. वे.प.पृ. 159
5. वे.प.पृ. 161
6. वे.प.पृ. 162
7. वे.प.पृ. 162
8. वे.प.पृ. 162

सहायकाचार्यः, दर्शनविभागः,
का.सिं.द.सं.वि.वि., दरभङ्गा ।

पदान्तविधौ न स्थानिवत्

– डॉ. सुखदेवभट्टः

(**न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधिषु**। भगवान् पाणिनि ने परिनिष्ठित रूपों की निष्पत्ति के लिए स्थान्यादेशभावों की परिकल्पना की है। अर्थात् किसी वर्ण या वर्णसमुदाय के स्थान पर जो वर्ण या वर्णसमुदाय आते हैं यही स्थान्यादेशभाव है। जैसे सुधी उपास्य में ई के स्थान पर यकारादेश होकर सुध्युपास्य इस परिनिष्ठित रूप की निष्पति होती है। कहीं कहीं आदेश हो जाने के बाद भी स्थानी के धर्म को निमित्त करके फिर आदेश होते हैं। इसलिए भागवान् पाणिनि ने आदेश में स्थानी बुद्धि लाने के लिए स्थानिवद् आदेश के लिए अष्टाध्यायी में चार सूत्र बनायें है। 1. स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ। 2. अचः परस्मिन् पूर्वविधौ। 3. न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोप-स्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधिषु। 4. द्विर्वचनेऽचि। इस प्रबन्ध में न पदान्त सूत्र के पदान्त अंश पर महाभाष्य के अनुसार विचार प्रस्तुत किया है। इसके मुख्य विषय पदान्त शब्द भावसाधन है या कर्मसाधन और षडिकः तथा पाचिकः तथा वेतस्वान् इत्यादि रूपों की निष्पत्ति है।)

संकेताक्षराः–

वाचिकः, षडिकः, गोचा, एषो यन् हसति, महिष्मान्, ब्रह्मबन्ध्वा, वेतस्वान्।

अवतरणम् न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधिषु[1] इति सूत्रे नेति, पदान्तेति च पदे वर्तेते। स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ इत्यस्मात् सूत्रात् स्थानिवदादेश इति पदम्, तथा अचः परस्मिन् पूर्वविधौ इति सम्पूर्णं सूत्रञ्च अनुवर्तते। तदा सामान्यतः सूत्रार्थ एवं भवति– पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घ-जश्चर्विधिषु परनिमित्तो अजादेशो न स्थानिवदिति। पदान्तश्च द्विर्वचनञ्च वरे च यलोपश्च स्वरश्च सवर्णश्च अनुस्वारश्च दीर्घश्च जश्च चर्च इति इतरेतरयोगद्वन्द्वः। तेषां विधयः, तेषु पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधिषु इति। न च वरे इत्यस्य अजादेश इत्यत्रैव अन्वयेन एकार्थीभावाभावेन द्वन्द्वो न प्राप्नोति इति वाच्यम्, निपातनाद् इष्टसिद्धेः। एवम् एव तत्र सप्तम्या अलुक् अपि इत्यपि बोध्यम्।

अत्र दश घटकवाक्यानि वर्तन्ते। तत्र परनिमित्तः अजादेशः पदान्तविधौ न स्थानिवत् इति प्रथमं वाक्यम्। पदस्य अन्तः पदान्तः। अन्तशब्दः चरमावयववाची। पदचरमावयव इत्यर्थः। पदान्तस्य विधिः पदान्तविधिः तस्मिन् पदान्तविधौ। विपूर्वकाद् धाञः उपसर्गे घोः किः इति सूत्रेण किप्रत्यये आतो लोप इटि च इत्यनेन

आलोपे सति विधिशब्दः सम्पद्यते। तत्र यदि क्विप्रत्ययः कर्मणि तर्हि कर्मणः क्विप्रत्ययेनैव उक्तत्वाद् उक्तार्थानाम् अप्रयोग इति न्यायेन पदान्तस्य इति षष्ठी कर्तृकर्मणोः कृति इत्यनेन न स्यात्, किन्तु शेषे षष्ठ्येव स्यात्। तस्मिन् सति पदचरमावयवसम्बन्धिनि विधेये स्थानिवद्भावो न इत्यर्थः स्यात्। अथ च यदि क्विप्रत्ययः भावे इति स्वीक्रियेत तर्हि कर्मणः क्विप्रत्ययेन अनुक्तेः पदान्तस्य इति षष्ठी कर्तृकर्मणोः कृति इत्यनेन कर्मणि भवेत्। तस्मिंश्च सति पदचरमावयवकर्मकविधाने स्थानिवद्भावो न इत्यर्थः भवति। अनयोः मध्ये कतरः पक्षः स्वीकर्तव्यः?

भावसाधनपक्षः—

ननु प्रथमः पक्षः स्वीक्रियताम्। तस्मिन् सति पदचरमावयवसम्बन्धिनि विधेये परनिमित्तः अजादेशो न स्थानिवत् इत्यर्थः स्यात्। तस्मिन् सति वृक्षव् इत्यत्र दोषः। तथा हि वृक्षं वेति वाति इति वा विग्रहे वृक्षशब्दे कर्मण्युपपदे वी इति धातोः वा इति धातोः वा कर्तरि क्विपि, तस्मात् णिचि विचि णिलोपटिलोपयोः कृतयोः वृक्षव् इत्यत्र पदचरमावयवसम्बन्धिनि विधेये लोपो व्योर्वलि इति वकारस्य लोपे कर्तव्ये स्थानिवद्भावस्य निषेधेन वलोपापत्तिः। भावे क्विप्रत्यय इति स्वीकारे तु लोपस्य पदचरमावयवरूपत्वाभावेन निषेधस्य अप्राप्त्या णिलोपस्य टिलोपस्य वा स्थानिवद्भावेन वल्परकत्वाभावेन वृक्षव् इत्यस्य सिद्धिः। ननु अत्र पदत्वाभावात् न पदान्त.......इत्यस्य कथं प्रवृत्तिः इति चेत्, न सुबन्तात् णिच् भवति इति हरदत्तमते अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिम् आश्रित्य पदस्य सत्त्वात्। यदि तु सुबन्तात् णिच् इति पक्षो न भाष्यसम्मतः, किन्तु प्रातिपदिकात् णिच् इत्येव पक्षः, अतः प्रकृतेः न पदत्वम्, अतः इदं भावसाधनस्य विधिशब्दस्य उपादाने फलं न इत्युच्येत तदा एषो यन् हसति इति प्रयोजनम् अस्तु। तथा हि इणः शतृ प्रत्यये यन् इति रूपम्। एषो यन् हसति इत्यत्र एतत्तदोः....इति सुलोपे कर्तव्ये यणः स्थानिवद्भावस्य निषेधाभावेन स्थानिवद्भावे सति हल्परकत्वाभावात् सुलोपो न भवति। हशि च इत्युत्वस्य तु पदचरमावयवत्वेन तस्मिन् कर्तव्ये स्थानिवद्भावस्य निषेधेन हश्परकत्वात् उत्वं भवति च इति फलम्।

ननु इदं फलं वाक्यसंस्कारपक्षे एव। पदसंस्कारपक्षे किं फलम् इति चेत्, षडिकः अस्ति। तथा हि षडङ्गुलिदत्तशब्दात् बह्वचो मनुष्यनाम्नष्ठज्वा इति ठचि ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः इति ङ्गुलिदत्तशब्दस्य लोपे षष्शब्दप्रकृतिकविभक्ति-निमित्तकपदत्वात् जश्त्वे षडिक इति रूपं सिध्यति। तत्र समानावधिकया इकनिमित्तया भसंज्ञया पदसंज्ञाया बाधेन जश्त्वाभावस्तु न शङ्क्यः, भत्वे कर्तव्ये यस्येतिलोपस्य स्थानिवद्भावात्। अनेन निषेधस्तु न, भसंज्ञायाः पदस्य

चरमावयवत्वाभावात्। कर्मसाधनस्य विधिशब्दस्य उपादाने तु भसंज्ञायाः पदान्तोद्देश्यककार्यत्वेन स्थानिवद्भावस्य निषेधे सति भत्वेन जश्त्वं न स्यात्।

ननु एवं भावसाधनस्य विधिशब्दस्य उपादाने षडिक इत्यस्य सिद्धौ अपि वाचिक इत्यस्य सिद्धिः न स्यात्। तथा हि वागाशीर्दत्तशब्दात् ठचि ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः इति शीर्दत्तशब्दस्य लोपे यस्येति च इत्यनेन आकारस्य लोपे आकारान्ते भसंज्ञायाः प्रवृत्त्या चान्ते पदत्वस्य निर्बाधेन षडिक इव जश्त्वस्य दुर्वारत्वेन वागिक इत्येवम् अनिष्टं रूपं स्यात् इति चेत्, न, **एकाक्षरपूर्वपदानामुत्तरपदलोपो वक्तव्यः**[2] इति वार्तिकेन वाक्छब्दस्य एकाक्षरत्वेन तत्र आशीर्दत्त शब्दस्यैव लोपेन अजादेशत्वाभावेन स्थानिवद्भावस्य अप्रवृत्त्या भत्वेन वाचिक इत्यस्य सिद्धेः। षडिक इत्यर्थं च **षषष्ठाजादिवचनात्सिद्धम्**[3] इति स्वीकारेण न कश्चित् दोषः।

तस्मात् भावसाधनस्य विधिशब्दस्य उपादाने पदसंस्कारपक्षे किं फलम् इति चेत्, उच्यते– गोचा इति भवति। गाम् अञ्चति इति विग्रहे ऋत्विगित्यादिना क्विनि गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक्सुबुत्पत्तेः इत्यस्य अनित्यत्वेन सुबुत्पत्यनन्तरं समासे सति अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिम् आश्रित्य पदत्वेन ओकारस्य अवङापत्तिः, अचः इति सूत्रेण विधीयमानस्य लोपस्य स्थानिवद्भावात्। अनेन तु पदान्तविधौ निषेधात् न दोषः। ननु उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ प्रत्ययलक्षणप्रतिषेध इत्यनेन प्रत्ययलक्षणस्य निषेधात् कथम् अत्र प्रत्ययलक्षणम् इति चेत्, माषकुम्भवापेन इत्यादीनां प्रयोगाणां सिद्धये उत्तरपदस्य यत्र कार्यित्वं तत्रैव तेन निषेधस्य प्रवृत्तेः स्वीकारेण प्रकृते उत्तरपदस्य कार्यित्वाभावेन निषेधस्य अप्रवृत्या प्रत्ययलक्षणेन दोषाभावात्।

कर्मसाधनपक्षः–

ननु एवम् अपि पदचरमावयवकर्मकविधाने स्थानिवद्भावो न भवति इत्यर्थस्य अङ्गीकारे वेतस्वान् इत्यत्र दोषः। तथा हि वेतसाः सन्त्यस्मिन् देश इत्यर्थे प्रथमान्तात् वेतसशब्दात् कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप् इति ड्मतुपि डित्वात् टिलोपे वेतस्वच्छब्दात् विभक्त्यादिकार्ये वेतस्वान् इति रूपम्। तत्र टिलोपे कृते तसौ मत्वर्थे इति भसंज्ञायां कर्तव्यायां स्थानिवद्भावेऽपि स्वादिषु....इति पदत्वे कर्तव्ये स्थानिवद्भावस्य निषेधे सति सान्तस्य पदत्वेन ससजुषो रुः इति रुत्वापत्तिः। मैवम्, पदे अन्तः इति सप्तमीसमासस्य आश्रयणेन प्रत्यासत्त्या पदे परतः यः परपदस्थः अजादेशः, स एव स्थानिवत् न भवति इत्यर्थस्य स्वीकारेण ड्मतुप्प्रत्ययस्य पदत्वाभावेन प्रकृते रुत्वाप्रवृत्तेः।

ननु उक्तरीत्या न पदान्तेत्यस्य अप्रवृत्तौ अपि पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत् इति वार्तिकस्य प्रवृत्त्या स्थानिवद्भावस्य निषेधे सति वेतस्वान् इत्यत्र रुत्वं दुर्वारम् एव इति चेत्, न पदे अन्त इति विगृह्य तत्र दोषवारणपरभाष्यप्रामाण्येन उक्तवार्तिके पूर्वत्रासिद्धे इत्यनेन पदचरमावयवविधायकातिरिक्तस्यैव त्रैपादिकस्य ग्रहणेन दोषाभावात्। अत एव महिष्मान् इति रूपं सिध्यति। महिषाः सन्त्यस्मिन् देश इति विग्रहे महिषशब्दात् प्रथमान्तात् महिषाच्चेति वक्तव्यम् इति वार्तिकेन ड्मतुपि डित्वात् टिलोपे महिष्मच्छब्दात् विभक्त्यादिकार्ये महिष्मान् इति रूपम्। अत्र टिलोपे कृते षकारस्य झलां जशोऽन्ते इति जश्त्वापत्तौ रूपस्य सिद्धिः न स्यात्। न ह्यत्र टिलोपस्य स्थानिवत्त्वं, पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत् इति निषेधात्। तस्य च वार्तिकस्य पूर्वरीत्या सङ्कोचे तु अत्र पदस्य चरमावयवे जश्त्वे कर्तव्ये तदप्राप्त्या दोषाभावः। ननु तथापि सङ्कोचो निरर्थक एव, जश्त्वे कर्तव्ये स्थानिवद्भावनिषेधस्य सूत्रेणैव सिद्धेः इति चेत् न, सूत्रे जश्-पदेन झलां जश् झशि इत्यस्यैव ग्रहणात्। एवञ्च तस्मिन् कर्तव्ये एव सूत्रेण स्थानिवद्भावस्य निषेधः, न तु झलां जशोऽन्ते इति जश्त्वे कर्तव्येऽपि तत्र पूर्वत्रासिद्धे न इति वार्तिकस्य अतिव्याप्तौ तद्वारणाय सङ्कोचस्य आवश्यकत्वात्। अत्रार्थे मानन्तु पदान्तविधौ इत्यस्याभावे ब्रह्मबन्ध्वा इत्यत्र धकारस्य जश्त्वापादनपरं भाष्यम् एव। यदि सूत्रे जश्-पदेन झलां जशोऽन्ते इत्यस्यापि ग्रहणं स्यात्, तर्हि जश्त्वे कर्तव्ये स्थानिवद्भावस्य निषेधेनैव तत्र दोषाभावे सिद्धे तत्र दोषकथनपरभाष्यस्य आसाङ्गत्यापत्तिः स्पष्टैव। तस्मात् महिष्मान् इत्यादौ दोषवारणाय पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत् इत्यस्य सङ्कोच आवश्यक एव। एवञ्च वेतस्वान् इत्यत्र दोषो नास्त्येव। न च अन्तरङ्गे जश्त्वे कर्तव्ये बहिरङ्गस्य टिलोपस्य असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे इति परिभाषयैव असिद्धत्वस्य प्रतिपादनसम्भवे वेतस्वान्, महिष्मान् इत्यादौ दोषवारणसम्भव इति वाच्यम्, कार्यकालपक्षेऽपि तस्याः त्रिपाद्याम् अप्रवृत्तेः सिद्धान्तितत्त्वात्।

स्थानिवद्भावः चतुर्विधः भवति। पदचरमावयवस्य साक्षात् साधकः, परम्परया साधकः, साक्षात् प्रतिबन्धकः, परम्परया प्रतिबन्धकश्च इति। तत्र परम्परया पदचरमावयवस्य साधकं स्थानिवद्भावं विना सर्वोऽपि स्थानिवद्भावः अनेन निषिध्यते। अन्यथा तसौ मत्वर्थे इति भसंज्ञायां टिलोपस्थानिवद्भावस्य वेतस्वान् इत्यत्र सान्ते भत्वप्रतिबन्धद्वारा पदत्वस्य सम्पादकत्वेन परम्परया पदचरमावयव-रुत्वसम्पादकत्वेन स्थानिवत्त्वनिषेधात् भत्वेन पदत्वस्य बाधात् रुत्वाशङ्का भाष्योक्ता असङ्गता स्यात्। पदसंज्ञाप्रतिबन्धार्थं स्थानिवत्त्वं तु न भवति, उक्तभाष्यात् एव पदचरमावयवप्रतिबन्धकस्य अपि निषेधस्य अङ्गीकारात्।

तत्र साक्षात्पदचरमावयवसाधकस्थानिवद्भावनिषेधस्य उदाहरणं तु वाक्यसंस्कारपक्षे कानि सन्ति इति, पदसंस्कारपक्षे तु गोचा इति बोध्यम्। तत्र अल्लोपस्य स्थानिवद्भावस्य साक्षात् एव अवङ्साधकत्वात्। साक्षात्प्रतिबन्धकस्य उदाहरणम् एषो यन् हसति इति। अत्र इणो यण् इति यणादेशस्य स्थानिवत्त्वं साक्षात्पदचरमावयवस्य उत्वस्य प्रतिबन्धकं भवति। परम्परया पदचरमावयव–प्रतिबन्धकस्थानिवद्भावनिषेधस्य दध्यार इत्युदाहरणम्। तत्र दध्युपपदात् ऋधातोः अणि वृद्धौ वृद्धिस्थानिवद्भावस्य प्रकृतिभावस्य सम्पादनद्वारा परम्परया यणः प्रतिबन्धकत्वात् स्थानिवत्त्वं न भवति इति बोध्यम्। इति अस्मिन् सूत्रे प्रथमवाक्यार्थविचारः।

परिशीलितग्रन्थपञ्जिः–

1. नागेशभट्टः। लघुशब्देन्दुशेखरः (षट्टीकोपेतः अव्ययीभावान्तो भागः)। काशीः भार्गव पुस्तकालयः, 1992
2. भट्टोजिदीक्षितः। प्रौढमनोरमा (शब्दरत्न-भैरवी-भावप्रकाश-सहिता)। सम्पा. पं. गोपालशास्त्री नेने। वाराणसी: चौखम्भा संस्कृत भवन, 2018
3. भट्टोजिदीक्षितः। वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (मूलमात्रम्)। सम्पा. गोविन्दाचार्यः। वाराणसी: चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2017
4. महर्षिपतञ्जलिः। महाभाष्यम् (तृतीयं खण्डम्, प्रदीपोद्योतसहितम्)। सम्पा. श्रीभार्गवशास्त्री। दिल्ली: चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 2014
5. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (प्रथमो भागः)। सम्पा. गिरिधरशर्मा, परमेश्वरानन्दशर्मा। वाराणसी: मोतीलाल बनारसीदास, 2014
6. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (द्वितीयो भागः)। सम्पा. गिरिधरशर्मा, परमेश्वरानन्दशर्मा। वाराणसी: मोतीलाल बनारसीदास, 2014
7. प्रदीपोद्योतसहितं महाभाष्यम्, चौखम्बा सुरभारतीप्रकाशनम्, 2021

---

1. पा.सू. 1/1/58
2. म.भा 5/3/84
3. म.भा 5/3/84

सहायकाचार्यः,
संस्कृत एवं दर्शनविभागः,
रामकृष्णमिशन विवेकानन्दशैक्षणिक एवं शोधसंस्थानम्,
हावरा, बेलुर मठ ।

कर्मत्वविचारः

– डॉ. चिरञ्जीवीअधिकारी

(भगवान् पाणिनि ने अष्टाध्यायी में छः प्रकार के सूत्रों को पढ़ा है– संज्ञासूत्र, परिभाषासूत्र, नियमसूत्र, विधिसूत्र, अतिदेशसूत्र और अधिकारसूत्र। इनमें संज्ञासूत्र प्रयोजनानुसार भिन्न-भिन्न संज्ञा करते हैं, जिससे तत्तत् कार्य सिद्धि होती है। संज्ञाओं के विवेचन के प्रसङ्ग में कर्मसंज्ञा एक विवेचनीय है। कर्मसंज्ञा करने का फल कर्मसंज्ञक पद में 'कर्मणि द्वितीया' इस सूत्र से द्वितीया विभक्ति विधान करना है। कर्म के तीन भेद हैं– ईप्सित, अनीप्सित, और संज्ञैरनाख्यात। कर्ता क्रिया के द्वारा जिसको चाहता है, वह ईप्सित कर्म होता है और इस स्थिति में 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इस सूत्र से कर्मसंज्ञा होती है। पुनः ईप्सित कर्म तीन प्रकार का होता है– निर्वर्त्य, विकार्य, और प्राप्य। जैसे– कुम्भकारः घटं करोति (निर्वर्त्य कर्म), पयो दधि करोति (विकार्य कर्म) और रामः गृहं गच्छति (प्राप्य कर्म)। कर्ता क्रिया के द्वारा जिसको नहीं चाहता है, वह अनीप्सित कर्म और 'तथायुक्तं चानीप्सितम्' इस सूत्र से कर्मसंज्ञा होती है। अनीप्सीत कर्म के दो भेद हैं– उपेक्ष्य और द्वेष्य। जैसे– ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति (उपेक्ष्य कर्म) और ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते (द्वेष्य कर्म)। 'अकथितञ्च', 'गतिबुद्धि...' इन सूत्रों के द्वारा किया जाने वाला कर्म संज्ञैरनाख्यात कहलाता है। जैसे– गां दोग्धि पयः, शत्रून् अगमयत् स्वर्गम्, इत्यादि।)

भगवान् पाणिनिरष्टाध्याय्यां कर्मसंज्ञाविधायकं सूत्रं **"कर्तुरीप्सिततमं कर्म"**[1] इत्यलिखत्। अस्य सूत्रस्यार्थः 'कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यादि'ति वृत्तिकारेण भट्टोजिदीक्षितेनोक्तम्। परन्तु किन्नाम कर्मत्वमिति जिज्ञासा समागच्छति व्याकरणशास्त्रस्याध्येतॄणां मनसि।

"कर्तुरीप्सिततमं कर्म" इत्यत्र पदत्रयं वर्तते– कर्तुरिति षष्ठ्यन्तं पदम्, ईप्सिततममिति प्रथमान्तं पदम्, कर्म इति प्रथमान्तं पदञ्चेति। **"कर्तुः"** इत्यत्र कर्त्रर्थे षष्ठी **"क्तस्य च वर्तमाने"**[2] इति सूत्रेण विहितेति मनोरमाकारो वदति। अत्र कर्तृकर्त्रोः **"घटो घटः"** इतिवन्न शाब्दबोधः, प्रत्ययार्थः प्रकृत्यर्थश्च कर्तृत्वात्। आचार्येण नागेशेन शाब्दबोधे कार्यकारणभाव: निरूपित:। यथा– **"तद्धर्मावच्छिन्नविषयकशाब्दबुद्धि-त्वावच्छिन्नं प्रति तद्धर्मावच्छिन्ननिरूपितवृत्तिविशिष्टज्ञानं हेतुः"**[3] इति। एवं प्रकारेण कार्यकारणभावे स्वीकारे सति प्रकृत्यर्थस्य कर्तुः इति पदस्य प्रत्ययार्थेन कर्त्रा सह शाब्दबोधानुपपत्तिः, तद्धर्मभेदापत्त्या। अत एवात्र कर्तृशब्दः प्रकृतधातूपात्तप्रधानीभूत-व्यापाराश्रयरूपः स्वतन्त्रपरकः, न तु कर्तृसंज्ञापरकः। कर्तृसंज्ञापरके सति **'शत्रून् अगमयत् स्वर्गम्'** इत्यस्मिन् वाक्ये शत्रुरित्यस्य पदस्य

कर्तृसंज्ञाभावात्तद्वृत्तिव्यापा-रजन्यफलाश्रयस्य स्वर्गस्य कर्मसंज्ञा न स्यात्, कर्तृवृत्तिव्यापारजन्यफलाश्रयस्यैव कर्मसंज्ञा विधीयते।

एतदेव कथयति लक्ष्मीटीकाकारः– **"कर्तृशब्दोऽत्र यद्वाक्यघटककारकस्य कर्मसंज्ञा चिकीर्षिता तद्वाक्योपात्तधातुवाच्यप्रधानीभूतव्यापाराश्रयरूप-स्वतन्त्रपरः। कर्तृसंज्ञकपरस्तु न, अन्यथा 'शत्रून् अगमयत् स्वर्गम्' इत्यत्र शत्रुवृत्तिव्यापार-जन्यफलाश्रयतया स्वर्गस्य कर्तुरित्यनेन कर्मत्वानापत्तेः"**[4] इति। सूत्रे कर्तुरित्यत्र प्रकृत्यर्थः कर्तृशब्दः प्रधानीभूतव्यापाराश्रयपरकः, प्रत्ययार्थः कर्तृशब्द आश्रयपरक एव। यतोहि **"अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः"** इति न्यायेन व्यापाराश्रयरूपे कर्तरि षष्ठ्यामपि व्यापारधातुलभ्यत्वाद् आश्रयमात्रं प्रत्ययार्थः। उक्तञ्च सभापतिशर्मोपाध्यायेन यथा– **"कर्तृषष्ठ्या आश्रयमात्रमर्थः, 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' इति न्यायेन व्यापारस्य धातुलभ्यत्वेन लाघवाच्च तन्मात्रे शक्तिः, लघुभूतस्य धर्मस्य शक्यतावच्छेदकत्वे सम्भवति सति गुरुभूतस्य व्यापाराश्रयत्वस्य शक्यतावच्छेदकत्वे गौरवेण अत्राश्रय-त्वमात्रं शक्यतावच्छेदकत्वमुचितम् इति। अत एव 'कम्बुग्रीवादिमान् नास्ति' इत्यत्र घटत्वमेव लाघवाद् अभावीयप्रतियोगितावच्छेदकत्वमिति"**[5] इति।

"ईप्सिततमम्" इत्यत्र आप्धातोः सन्, ईत्वे, इडागमे च **"ईप्सि"** इत्यस्मात् सन्नन्तत्वात् **"मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च"**[6] इति सूत्रेण वर्तमानार्थे क्तप्रत्ययः। अतिशयेन ईप्सितम् इति विग्रहे **"अतिशायने तमब्बिष्ठनौ"**[7] इति तमप्प्रत्ययश्च। **"मतिबुद्धि-पूजार्थेभ्यश्च"** इत्यत्र मतिशब्दस्यार्थ इच्छा। उक्तञ्च भट्टोजिदीक्षितेन यथा– **"मतिरिच्छा, न तु बुद्धिः, पुनर्बुद्धिग्रहणात्"**[8] इति।

ईप्सिततमम् इत्यत्र विद्यमानस्याप्धातोरर्थः कर्तृवृत्तिव्यापारविशिष्ट-फलवत्त्वरूपः सम्बन्धः। वैशिष्ट्यञ्चास्ति – स्वप्रयोज्यत्वस्ववाचकधातुवाच्यत्वाभ्याम्। सम्बन्धघटकफलवत्त्वञ्च फलतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नं बोध्यम्। अत्र विद्यमानस्य सनः इच्छा अर्थः। तमप्प्रत्ययस्यार्थः प्रकर्षः। तेन प्रयोज्यत्वलाभः। साक्षात् परम्परया जन्यत्वं प्रयोज्यत्वम्। तथा च प्रकृतधात्वर्थप्रधानीभूतव्यापाराश्रयवृत्तिव्यापारविशिष्ट-फलतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नफलाश्रयत्वसम्बन्धविशिष्टेच्छानिरूपितोद्देश्यताश्रयः संकेतसम्बन्धेन कर्मपदवान् इति सूत्रार्थः सम्पन्नो भवतीति लक्ष्मीटीकायामुक्तम्।[9]

लक्ष्मीटीकायाम् अग्रे लिख्यते– **अत्र क्तप्रत्ययार्थवर्तमानत्वमविवक्षितम्। "क्तस्य च वर्तमाने" इति षष्ठीविधायके वर्तमानपदं कर्मपदशक्यतावच्छेदककोटि-प्रविष्टेच्छाविशेषणतया वर्तमानत्वन्न विवक्षितमिति षष्ठ्यनापत्तिशङ्का निरस्ता।**

एवञ्च **"नष्टं घटं जानामि", "भविष्यत्कालिकं घटं जानामि", "कटं कृतवान्", "कटं करिष्यति"** इत्यत्र कर्मसंज्ञा भवत्येव। **एवञ्च कर्तृवृत्तिव्यापारप्रयोज्यफलाश्रयत्व-प्रकारकेच्छोद्देश्यः कर्म इत्यर्थः इति सारः।**[10] इति

"ईप्सितशब्दः क्रियापरः, न तु अभिप्रेतपरो रुढः"[11] इति शेखरकारो नागेशोऽपि वक्ति। **"वारणार्थानामीप्सितः"**[12] इत्यस्मिन् सूत्रे भाष्यकैयटयोः स्पष्टं कृतम्।

सकलशब्दमूलमस्ति धातुः। धातोरर्थद्वयं स्वीकुर्वन्ति वैयाकरणाः– फलं व्यापारश्चेति। व्यापाराश्रयः कर्ता, फलाश्रयः कर्म इति सामान्यनियमः। कर्तृकर्मणोरेकत्र सम्बन्धः **"कर्तुरीप्सिततमं कर्म"** इत्यस्मिन्सूत्रे प्रतिपादितम्। कर्मणो लक्षणं शेखरे नागेशेनोपस्थापितं यथा– **"कर्त्रा स्वनिष्ठव्यापारप्रयोज्यफलेन सम्बद्धुमिष्यमाणं यत् तत्कर्म"**[13] इति। यथा– **रामः पुस्तकं पठति** इत्यत्र पुस्तकं कर्म। यतोहि रामः कर्ता, पठति क्रियया पुस्तकं प्राप्तुमतिशयेन इच्छति, अतः पुस्तकम् इति कर्म।

कर्मलक्षणविषये परमलघुमञ्जूषायां नागेशो वदति यथा– **"कर्मत्वञ्च प्रकृत-धात्वर्थप्रधानीभूतव्यापारप्रयोज्यप्रकृतधात्वर्थफलाश्रयत्वेनोद्देश्यत्वम्। इदमेव कर्मलक्षणे ईप्सिततमत्वम्। "गां दोग्धि पयः" इत्यादौ पयोवृत्तिर्यो विभागस्तदनुकूलो व्यापारो गोवृत्तिः। तदनुकूलश्च गोपवृत्तिः। अत्र पयसः कर्मत्वसिद्धये प्रयोज्यत्वनिवेशो जन्यत्वनिवेशे तन्न स्यात्। "प्रयागात्काशीं गच्छति" इत्यत्र प्रयागस्य कर्मत्ववारणाय प्रकृतधात्वर्थफलमिति। न हि विभागः प्रकृतधात्वर्थः। किन्तु नान्तरीयकतया गमने उत्पद्यते। प्रयागस्य फलतावच्छेदकसम्बन्धेन फलाश्रयत्वेनानुद्देश्यत्वाच्च।"**[14] इति।

कर्मणो भेदविषये चर्चां कुर्मश्चेद् वैयाकरणाः ईप्सितम्, अनीप्सितम्, संज्ञान्त-रैरनाख्यातञ्चेति कर्मणो भेदत्रयं स्वीकुर्वन्ति। किन्नाम **ईप्सितकर्मत्वमिति** जिज्ञासायां **प्रकृतधात्वर्थप्रधानीभूतव्यापार – विशिष्टफलाश्रयत्वेनोद्देश्यत्वमिति।** प्रतियोगिज्ञान-मुद्रया अनीप्सितस्यापि स्वतो ज्ञानं भविष्यति। फले व्यापारवैशिष्ट्यं सम्बन्धद्वयेन दृश्यते– स्ववाचकधातुवाच्यत्वं स्वप्रयोज्यत्वञ्चेति। स्ववाचकधातुवाच्यत्वमिति सम्बन्धस्य फलं **"माषेषु अश्वं बध्नाति"** इत्यत्र **"माष"** इत्यस्य कर्मसंज्ञावारणार्थम्। यतोहि पुष्ट्यर्थमाषभक्षणाय अश्वं बध्नाति, तदा बन्धनप्रयोज्यभक्षणं भवति। अतः स्वप्रयोज्यत्वसम्बन्धेन भक्षणाश्रयस्य माषस्यापि कर्मसंज्ञा भवितुमर्हति। अत्र स्ववाचकधातुवाच्यत्वमिति प्रथमे सम्बन्धे स्वीकृते सति बन्धनव्यापारवाचकसम्बन्धो धातुवाच्ये भक्षणे नास्ति। अतो माषस्य कर्मसंज्ञा न।

स्वप्रयोज्यत्वमिति द्वितीयस्य सम्बन्धस्य प्रयोजनम् अग्नेर्माणवकं वारयति इति वाक्ये वर्तमानस्य अग्नि इत्यस्य कर्मसंज्ञावारणम्, यतोहि "वारि" इति धातोरर्थः संयोगानुकूलव्यापाराभावानुकूलव्यापारत्वमिति।

स्ववाचकधातुवाच्यमात्रं स्वीक्रियते चेत्प्रथमव्यापारवाचकं वारिपदं धातुवाच्यत्वसंयोगो व्यापाराभावश्चोभयोर्मध्ये सत्वात्संयोगाश्रयः अग्निः, व्यापाराश्रयो **"माणवकः"** इत्यस्यापि कर्मसंज्ञा स्यात्तस्माद् **"वारणार्थानामीप्सितः"** इति निरवकाश-त्वेनापवादापत्तिः। अतः कर्मत्वं प्रबाध्य पञ्चमी भवति, तदा **"अग्नेर्माणवकात् वारयति"** इत्यापत्तिः। अतः स्वप्रयोज्यत्वमिति द्वितीयसम्बन्धस्यावश्यकत्वम्। अयं द्वितीय-सम्बन्धस्तमप्प्रत्ययलभ्यः, तस्मात् "ईप्सिततमम्" इत्यत्र कर्मसंज्ञा, "ईप्सित" इत्यत्र अपादानसंज्ञा।

ईप्सितं कर्म त्रिविधा विभक्तम्– **निर्वर्त्यम्, विकार्यम्, प्राप्यञ्चे**ति। निर्वर्त्यकर्मणो लक्षणं भर्तृहरिरवदद्यथा– **"यदसद् जायते सद्वा जन्मना यत् प्रकाशते"**[15] इति। अर्थात् यत्र सर्वदा नवीनम् आविष्क्रियते तदेव निर्वर्त्यकर्म। यथा– **"घटं करोति"** इति। अत्र घटात्प्राक् तस्याभाव आसीत्, घटस्य नूतनं निर्माणं जातम्। अत एव निर्वर्त्यं कर्म "घटम्" इति। वाक्यपदीये **"प्रकृत्युच्छेदसम्भूतं किञ्चित् काष्ठादिभस्मवत्"**[16] इति विकार्यकर्मणो लक्षणमुपस्थापितम्। अर्थात् पूर्वं विद्यमानस्य पश्चाद्विकाररूपेण परिवर्तनमेव। यथा– पयो दधि करोति, इति। अत्र पयस् पूर्वविद्यमानम्, तस्य विकारो दधि, नतु नूतननिर्माणम्। तत्रैव भर्तहरिणा **"क्रियाकृतविशेषणां सिद्धिर्यत्र न विद्यते"**[17] इति प्राप्यकर्मणो लक्षणमुक्तम्। अर्थाद् व्याप्तिव्यतिरेकाभ्यां क्रियाकृतविशेषता न, तत्र प्राप्यकर्म। यथा– **"घटं पश्यति"** इति। अत्र "घटम्" इति नूतननिर्माणन्न, नहि पूर्वविद्यमानस्य विकारः, इति। घटस्यावलोकनेऽपि घटस्य विकारो न दृश्यते, घटं दृष्टवान् इति ज्ञानमात्रम्।

प्रकृतधात्वर्थप्रधानव्यापारविशिष्टफलाश्रयत्वम् **अनीप्सितत्वमि**ति लक्षणम्। अनीप्सितस्य कर्मसंज्ञाविधायकं सूत्रं **"तथायुक्तं चानीप्सितम्"**[18] इति। सूत्रस्यार्थो यथा– **"कर्तृवृत्तिप्रकृतधात्वर्थप्रधानव्यापारविशिष्टफलाश्रयत्वेन वक्त्रा विवक्षितोऽर्थः कर्मसंज्ञको भवति"** इति। अनीप्सितमपि द्वेष्यम् उपेक्ष्यञ्चेति भेदेन द्विधा भवति। **"ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते"** इति द्वेष्यकर्मणः उदाहरणम्। अत्र ईप्सितकर्म **"ओदनम्"**, अनीप्सितं कर्म **"विषम्"** इति। यतोहि कर्ता भुज्धातुमाध्यमेन ओदनम् इच्छति, विषन्न। **"ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति"** इत्युपेक्ष्यं कर्म। अत्रापि तृणमिति अनीप्सितं कर्म, ईप्सितन्तु ग्रामम् इति।

अपादानादिविशेषैरविवक्षितं **संज्ञैरनाख्यातमिति**। अर्थात् यत्र संज्ञायाः अविवक्षितं कृत्वा विशेषधातूनां योगे वा कर्मविधानं क्रियते तत्संज्ञान्तरैरना-

ख्यातमिति। यथा– **"अकथितञ्च"**[19]**, "गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणा-मणिकर्ता स णौ"** [20] इति सूत्राभ्यां कृतं कर्मविधानं संज्ञान्तरैरनाख्यातं कर्म इत्युच्यते।

वाक्यपदीयकारो भर्तृहरिः कर्मणो भेदविषये स्पष्टतया वक्ति। यथा–

निर्वर्त्यश्च विकार्यश्च प्राप्यश्चेति त्रिधा मतम् ।
तच्चेप्सिततमं कर्म चतुर्द्धाऽन्यत्तु कल्पितम् ।।1।।
औदासीन्येन यत्प्राप्यं यच्च कर्तुरनीप्सितम् ।
संज्ञान्तरैरनाख्यातं यद् यच्चाप्यन्यपूर्वकम् ।।2।।[21] इति।

वस्तुतो वाक्यपदीयकारेण एकमेव कर्म सप्तविधं दर्शितम्। कर्मभेदे सत्त्वेऽपि एकमेव कर्म इति। अत एव वाक्यपदीय उक्तम्–

यथैवैकम् अपादानं शास्त्रे भेदेन दर्शितम् ।
तथैकम् एव कर्मापि भेदेन प्रतिपादितम् ।।[22] इति।

"प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते" इति लोकश्रुतिरनुसारमत्रापि कर्मसंज्ञायाः किं फलमिति प्रश्नं समुदेति। अत एव पाणिनिना **"कर्मणि द्वितीया"**[23] इति सूत्रं प्रणीतम्। अनुक्ते कर्मणि द्वितीया भवत्यर्थकाद् द्वितीयाविभक्तिविधानार्थमेव कर्मसंज्ञायाः फलमिति। उक्ते कर्मणि तु प्रथमैव भवतीति।

सन्दर्भग्रन्थाः–

1. अष्टाध्यायी (सूत्रपाठः) – प्रो. गोपालदत्तपाण्डेयः, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशनम्, वाराणसी।
2. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी- द्वितीयभागः, श्रीगोविन्दाचार्यः, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशनम्, वाराणसी।
3. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी- कारकम्, लक्ष्मीटीका
4. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी- प्रथमभागः, बालमनोरमा टीका, डॉ. शिवप्रसादशर्मा, चौखम्बा विद्याभवनम्, वाराणसी।
5. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी- प्रथमभागः, श्रीरामचन्द्रझा,चौखम्बा श्रीकृष्णदास अकादमी, वाराणसी।
6. परमलघुमञ्जूषा- आचार्यः लोकमणिदाहालः, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशनम्, वाराणसी।
7. परमलघुमञ्जूषा- डॉ. जयशङ्करलालत्रिपाठी, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी।
8. लघुशब्देन्दुशेखरः, डॉ. शिवप्रसादशर्मा, चौखम्बा विद्याभवनम्, वाराणसी।
9. लघुशब्देन्दुशेखरः(षट्टीकोपेतम्) डॉ. बालशास्त्री, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशनम्, वाराणसी।
10. लघुशब्देन्दुशेखरः(कारकम्) डॉ. तेजःपालशर्मा, सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः, वाराणसी।

11. वाक्यपदीयम् (पदकाण्डम्) - सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः, वाराणसी।
12. प्रौढमनोरमा (कारकम्) - डॉ. रमाकान्तपाण्डेयः, चौखम्बा विद्याभवनम्, वाराणसी

---

1. अष्टाध्यायी 1.4.49.
2. अष्टाध्यायी 2.3.67.
3. परमलघुमञ्जूषा, शक्तिनिरूपणम्।
4. अष्टाध्यायी 1.4.49. इत्यत्र लक्ष्मीटीका।
5. अष्टाध्यायी 1.4.49. इत्यत्र लक्ष्मीटीका।
6. अष्टाध्यायी 3.2.188.
7. अष्टाध्यायी 5.3.55.
8. प्रौढमनोरमा (कारकम्), 1.4.49. इत्यत्र।
9. अष्टाध्यायी 1.4.49. इत्यत्र लक्ष्मीटीका।
10. अष्टाध्यायी 1.4.49. इत्यत्र लक्ष्मीटीका।
11. लघुशब्देन्दुशेखरः (कारकम्), 1.4.49. इत्यत्र।
12. अष्टाध्यायी 1.4.27.
13. लघुशब्देन्दुशेखरः (कारकम्), 1.4.49. इत्यत्र।
14. परमलघुमञ्जूषा, कारकार्थनिरूपणम्।
15. वाक्यपदीयम्(पदकाण्डम्) – 49.
16. वाक्यपदीयम्(पदकाण्डम्) – 50.
17. वाक्यपदीयम्(पदकाण्डम्) – 51.
18. अष्टाध्यायी 1.4.50.
19. अष्टाध्यायी 1.4.51.
20. अष्टाध्यायी 1.4.52.
21. वाक्यपदीयम्(पदकाण्डम्) – 45-46.
22. वाक्यपदीयम्(पदकाण्डम्) – 78.
23. अष्टाध्यायी 2.3.2.

सहायकाचार्यः, व्याकरणविभागः,
कुमारभास्करवर्मसंस्कृतपुरातनाध्ययनविश्वविद्यालयः
नलबारी, असमप्रदेश।

ध्वनिविमर्शः

– डॉ. प्रवीणकुमारचौधरी

(व्याकरण दर्शन में शब्द दो प्रकार के हैं। ध्वन्यात्मक शब्द एवं स्फोटात्मक शब्द, वाणी चार प्रकार की है– परा, पश्यन्ती, मध्यमा, और वैखरी। परावाणी मूलचक्र में स्थित है। पश्यन्ती वाणी नाभिचक्र में स्थित है। मध्यमा वाणी हृदयदेशस्थ है। वैखरी वाणी मुखस्थानीय है। हृदयदेशस्थ जो मध्यमा वाक्य है। वही स्फोट है। वह स्फोट वैखरी ध्वनि से अभिव्यक्त होता है, वैखरी ध्वनि स्फोट की व्यञ्जक है एवं स्फोट व्यङ्ग्य है। इसलिए स्फोट एवं वैखरी ध्वनि के मध्य व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव सम्बन्ध है। प्रकाश्य-प्रकाशक भाव सम्बन्ध है। ध्वनि भी दो प्रकार की है। प्राकृतध्वनि एवं वैकृत ध्वनि, प्राकृत ध्वनि उसे कहते है जो कण्ठताल्वादि अभिघात जन्य प्रथम ध्वनि है। वैकृत ध्वनि वह है जो उच्चारण स्थानजन्य द्वितीय ध्वनि से आरम्भ होकर यावत् ध्वनि पर्यन्त जो ध्वनि है उसे वैकृत ध्वनि कहते हैं। प्राकृत ध्वनि में ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत का भेद होता है। एवं वैकृत ध्वनि में द्रुतमध्यमविलम्बित ध्वनि का भेद होता है। इसी ध्वनि का विशद विवेचन प्रस्तुत निबन्ध में वर्णित है।)

ध्वनेः महत्त्वम् साहित्यशास्त्रे अमूल्यं वर्तते। निर्वचनानुसारं चास्य बहवोऽर्था गृह्यन्ते। पञ्चधा निर्वचनेन ध्वनेर्व्युत्पत्तिः कृता। तद्यथा 1. ध्वनति यः स व्यञ्जकः शब्दो ध्वनिः 2. ध्वनति, ध्वनयति वा यः स व्यञ्जकोऽर्थः ध्वनिः 3. ध्वन्यते इति ध्वनिः। यत् ध्वन्यते इत्यनेन रसालंकारवस्तुरूपं व्यंग्यार्थत्रयम् उपतिष्ठते। 4. ध्वन्यते अनेन ध्वनिः इत्यनेन व्यञ्जनादिसातिशयं ग्रहणम् 5. ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः इत्यनेन व्यंग्यार्थ-प्रधानं काव्यमपि संगृह्यते। अत्र तु ध्वनिशब्दस्य व्यवहारः व्यङ्ग्यव्यञ्जकव्यजना इति त्रिष्वर्थेषु क्रियते। न्यायशास्त्रे ध्वनिरेव शब्दः व्याकरणशास्त्रे ध्वनिस्फोटव्यञ्जकध्वनेः नाम वैखरी वर्तते। चतस्रः वाचः वर्तन्ते। परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी इति मूलचक्रस्था परावाग्, नाभिदेशे पश्यन्ती वाग् विद्यते, हृदये मध्यमा वाग्, कण्ठताल्वादिषु उच्चारणस्थानेषु अथवा मुखप्रदेशे वैखरी वाग् वर्तते। इयं वैखरी वाग् एव ध्वनिः वर्तते। अत एव उक्तम्–

परावाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा।।[1]
वैखर्या हि कृतो नादः परश्रवणगोचरः।
मध्ममया कृतो नादः स्फोटव्यञ्जक उच्यते।।[2]

ध्वनिः द्विविधः प्राकृतध्वनिः वैकृतध्वनिश्च प्राकृतध्वनिः स्फोटस्वरूपं न परिच्छिनत्ति प्राकृतध्वनिना स्फोटस्वरूपम् अभिव्यज्यते। अत एव संग्रहकारेण

उक्तम् शब्दस्य अभिव्यक्तौ प्राकृतध्वनेः कारणता विद्यते। अनेन प्राकृतध्वनिना सह स्फोटस्वरूपं संश्लिष्टेण अभिव्यक्तं भवति। प्राकृतध्वनेरेव ह्रस्वदीर्घप्लुतभेदाः भवन्ति। ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु यो हि भेदः वर्तते स भेदः कालकृतभेदः वर्तते। प्राकृतध्वनेः यो हि कालः स स्फोटकालः इति व्यवह्रियते। अत एव वाक्यपदीयकारेण श्रीमता भर्तृहरिणा उक्तम्–

स्वभावभेदान्नित्यत्वे ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु ।
प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते ।।[3]

प्राकृतध्वनेः अनन्तरं यो ध्वनिः जायते स ध्वनिः वैकृतध्वनिः वर्तते। वैकृतध्वनौ द्रुतमध्यमविलम्बितभेदाः जायन्ते। कण्ठताल्वाद्यभिघातजन्यः यः प्रथमः ध्वनिः सः ध्वनिः प्रकृतध्वनिः तेन ध्वनिना जायमानः यः ध्वनिः सः ध्वनि: वैकृतध्वनिः। यथा–

घण्टानादः क्रियते तत्र अभिघाते सति प्रथमः ध्वनिः यो हि वर्तते स एव प्राकृतध्वनिः तदनन्तरं जायमानध्वनिः वैकृतध्वनिः भवति। अत एव वाक्यपदीकारेण लिखितं ब्रह्मकाण्डे–

द्रव्याभिघातात् प्रचितौ भिन्नौ दीर्घप्लुतावपि ।
कम्पे तूपरते जाता नादा वृत्तेर्विशेषकाः ।।[4]

वक्तुः उच्चरितध्वनिः श्रोतृहृदयस्थितस्य शब्दस्य मध्यमावाग्रूपशब्दस्य प्रकाशको भवति। तस्माद् वक्तुः ध्वनिः प्रकाशकः वर्तते। श्रोतृहृदयस्थितः शब्दः यो हि शब्दः स्फोटपदवाच्यः सः शब्दः प्रकाश्यो भवति। तस्मात् वक्तृश्रोतृमध्ये यो हि स्फोटध्वन्योः सम्बन्धः सः प्रकाश्यप्रकाशकभावसम्बन्धः, व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावसम्बन्धः। वैकृतध्वनेः द्रुतमध्यमविलम्बितभेदाः भवन्ति। तस्य भेदेन स्फोटे स्वस्वरूपेण न कश्चन भेदः दृश्यते। स्फोटध्वन्योः यः प्रकाश्यप्रकाशकभावसम्बन्धः, अभिव्यङ्ग्यअभिव्यञ्जक-भावसम्बन्धः सः सम्बन्धः प्राकृतध्वनिस्फोटयोर्मध्ये वर्तते। न तु वैकृतध्वनिस्फोट-योर्मध्ये ध्वनयः कुत्रचित् इन्द्रियस्य संस्कारम् कुर्वन्ति, कुत्रचित् शब्दस्य संस्कारम् कुर्वन्ति, कुत्रचिद् इन्द्रियस्य, उभयोः वा संस्कारं कुर्वन्ति। इति ध्वनिविषये त्रयः पक्षा वर्तन्ते।

इन्द्रियस्यैव संस्कारः शब्दस्यैवोभयस्य वा ।
क्रियते ध्वनिभिर्वादास्त्रयोऽभिव्यक्तिवादिनाम् ।।[5]

ध्वनिः इन्द्रियं संस्करोति यथा– चक्षुरिन्द्रयं चेद् वस्तु न गृह्णाति तदा अञ्जनादिभिः इन्द्रियस्य संस्कारः क्रियते तथैव ध्वनिः श्रोत्रेन्द्रियं संस्करोति। ध्वनिः शब्दं संस्करोति यथा मृत्तिकादिषु गन्धः विद्यते गन्धेषु सत्स्वपि घ्राणेन्द्रियं तद्गन्धं ग्रहीतुम् असमर्थं भवति। तदा जलसिञ्चनेन मृत्तिकातः गन्धस्य अभिव्यक्तिर्भवति।

तदा घ्राणेन्द्रियं गन्धं गृह्णाति। अत्र जलेन मृत्तिकाविशेषस्य संस्कारः जातः। तथैव ध्वनिः शब्दविषयं संस्करोति? तृतीयपक्षः वर्तते– ध्वनिः इन्द्रियस्य शब्दस्य चोभयोः संस्कारं करोति यथा– तेजः चक्षुरपि संस्करोति घटविषयमपि संस्करोति। तदानीमेव घटं प्राप्य घटरूपं गृह्णाति तथैव ध्वनिरपि शब्दम् इन्द्रियं संस्करोति। यथा भर्तृहरिणा उक्तम्–

इन्द्रियस्यैव संस्कारः समाधानाञ्जनादिभिः ।
विषयस्य तु संस्कारस्तद्गन्धप्रतिपत्तये ।।[6]
चक्षुषः प्राप्यकारित्वे तेजसा तु द्वयोरपि ।
विषयेन्द्रिययोरिष्टः संस्कारः सः क्रमो ध्वनेः ।।[7]

ध्वनिः शब्दः इति व्यवहारः सर्वशास्त्रप्रसिद्धो वर्तते। नैयायिकैरपि ध्वनिः शब्दः इति स्वीक्रियते। किञ्च भाष्यकारैः उच्यते यत् ध्वनिशब्दगुणः वर्तते। तदा प्रश्नो भवति यत् शब्दः कश्चन अन्यो वर्तते। यस्य गुणः ध्वनिः वर्तते। तदा भाष्यकारैः उच्यते यत् स्फोटशब्दः ध्वनि तस्य गुणः अत्र गुणशब्देन अभिव्यञ्जकः इत्यर्थः दृश्यते। अत एव भाष्यकारेण महाभाष्ये **पस्पशाह्निके 'अथ शब्दानुशासनम्** इत्युक्त्वा तद्घटकशब्दस्वरूपं वर्णयता अनेके पूर्वोत्तरपक्षाः उद्धृताः। अत्र अन्तिमे शब्दः द्विविधः। एकः स्फोटात्मकः शब्दः अपरश्च ध्वन्यात्मकः शब्दः इति प्रत्यपादि। तत्र स्फोटात्मकपरिभाषा अकारि– **येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः**[8] इयं स्फोटात्मकशब्दस्य परिभाषा वर्तते। किञ्च लोकव्यवहारे सर्वैः ध्वनिरेव शब्दः ज्ञायते। ततः एव सर्वेषां प्रवृत्तिः दृश्यते। इति दृष्ट्या ध्वन्यात्मकशब्दस्यापि तेन परिभाषा कृता अथवा– **प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः 'शब्दः' इत्युच्यते। तद्यथा– 'शब्दं कुरु' मा शब्दं कार्षीः "शब्दकार्ययंमाणवकः इति ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते। तस्माद् ध्वनिः शब्दः"**[9] ध्वनिशब्दः नादस्य पर्यायवाचकः अत एव वाक्यपदीकारेण भर्तृहरिणा लिख्यते यत्–

नादस्य क्रमजन्मत्वान्न पूर्वो न परश्च सः ।
अक्रमः क्रमरूपेण भेदवानिव जायते ।।[10]

नादः ध्वनिः क्रमेण उत्पद्यते। अयं सक्रमः वर्तते। सक्रियः वर्तते। कालकृतभेदयुक्तः वर्तते। स्फोटशब्दस्य अभिव्यञ्जको वर्तते। अयं ध्वनिः क्रमेण उत्पद्यते इति विषये पाणिनीयशिक्षायां लिखितं यत्–

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थात्मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।।[11]

अस्यैव ध्वनेः **"तुल्यास्यप्रयत्नं सर्वणम्"**[12] इति सूत्रेण सर्वणसंज्ञा विधीयते। कण्ठताल्वाद्यभिघातजन्यध्वनिषु येषां ध्वनिनम् उच्चारणं स्थानम् आभ्यन्तरप्रयत्नश्च तुल्यं भवति। तस्य सवर्णसंज्ञा विधीयते। अयमेव ध्वनिर्बाह्यप्रयत्नवान् आभ्यन्तर-प्रयत्नवांश्च भवति।

व्याकरणशास्त्रस्य आहोस्वित् सम्पूर्णवाङ्मयस्य आधारभूतः ध्वनिः वर्तते। ध्वनिः ब्रह्मभूतः वर्तते। अयमेव सर्वव्यवहारसाधको वर्तते। तस्य महत्त्वं सर्वैः उररीक्रियते।

निष्कर्षः–

वक्त्रा समुच्चारितो ध्वनिः श्रोतुः हृदयप्रदेशं यावद् गत्वा तत्र स्फोटं चाभिव्यनक्ति। अत एव स्फोटव्यञ्जकत्वं ध्वनेः उच्यते। अस्य ध्वनेर्विषये बहवः पक्षाः सन्ति। अयं शब्दं संस्करोति, इन्द्रियं वा संस्करोतीत्यादयः इमे सर्वेपि विचाराः यथाशास्त्रमत्र निरूपिताः सन्ति। पूर्वं प्राकृतो ध्वनिः ततो वैकृतः, शब्देन्द्रियादीनां च संस्कारकत्वं ध्वनेः। ध्वनिशब्दयोः च भेदः, शब्दपदेन च ध्वनेः, अर्थवाचकपदस्य च ग्रहणमित्याद्या विषया अत्र निष्कर्षरूपेण बोध्याः।

सन्दर्भग्रन्थः–

1. **परमलघुमञ्जुषा**– व्याख्याकारः- आचार्य लोकमणिदाहालः, प्रकाशनः- चौखम्भा सुरभारत प्रकाशन, वाराणसी-221001
2. **वाक्यपदीयम्**– व्याख्याकारः- सूर्यनारायणशुक्ल, रामगोविन्दशुक्ल, हिन्दी-संस्कृत व्याख्योपेतम्, चौ.सं. संस्थान वाराणसी-221001
3. **महाभाष्यम्**– सम्पादकः- डॉ. आत्मदेवमिश्रः (मूलमात्रम्) प्रथमभागः- द्वितीयाध्यायात्मकम्, प्रकाशनः- चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथमसंस्करण-2016 ई.।
4. **पाणिनीयशिक्षा**– व्याख्याकारः- शिवराज आचार्यः, कौण्डिन्न्यायनः, सम्पादकः- आमोदवर्धन कौण्डिन्न्यायनः, प्रमोदवर्धन कौण्डिन्न्यायनः, सुमोदवर्धन कौण्डिन्न्यायनः, प्रकाशनः-चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथमसंस्करण 2012 ई.।
5. **सिद्धान्तकौमुदी**– व्याख्याकारः- गोपालदत्तपाण्डेयः, श्रीवासुदेवदीक्षितप्रणीतया बालमनोरमा व्याख्यासमलङ्कृता च (कारकान्तः प्रथमो भागः) प्रकाशन- चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी

---

1. किरणावली संस्कृतव्याख्योपेत-हिन्द्यनुवादसिहता, व्याख्याकारः- आचार्य लोकमणिदाहालः, प्रकाशनः- चौखम्भा सुरभारत प्रकाशन, वाराणसी-221001, परमलघुमञ्जुषा स्फोटनिरूण-प्रकरणे पृ. स. 94
2. तत्रैव

3. वाक्यपदीयम् ब्रह्माकण्डे कारिकासंख्या 76, पृ. सं. 85, व्याख्याकार- सूर्यनारायणशुक्ल, रामगोविन्दशुक्ल, हिन्दी-संस्कृत व्याख्योपेतम्, चौ.सं. संस्थान वाराणसी-221001
4. वाक्यपदीयम् ब्रह्माकण्डे कारिकासंख्या 105, पृ. सं. 115, व्याख्याकार- सूर्यनारायणशुक्ल, रामगोविन्दशुक्ल, हिन्दी-संस्कृत व्याख्योपेतम्, चौ.सं. संस्थान वाराणसी-221001
5. वाक्यपदीयम् ब्रह्मकण्डे कारिकासंख्या 78, पृ. सं. 90 सूर्यनारायणशुक्ल, रामगोविन्दशुक्ल, हिन्दी-संस्कृत व्याख्योपेतम्, चौ.सं. संस्थान वाराणसी-221001
6. वाक्यपदीयम् ब्रह्मकण्डे कारिकासंख्या 79, पृ. सं. 90 सूर्यनारायणशुक्ल, रामगोविन्दशुक्ल, हिन्दी-संस्कृत व्याख्योपेतम्, चौ.सं.संस्थान वाराणसी-221001
7. वाक्यपदीयम् ब्रह्मकण्डे कारिकासंख्या 80, पृ. सं. 91 सूर्यनारायणशुक्ल, रामगोविन्दशुक्ल, हिन्दी-संस्कृत व्याख्योपेतम्, चौ.सं.संस्थान वाराणसी-221001
8. महाभाष्ये पस्पपशाह्निके शास्त्रप्रयोजनाधिकरणे, पृ. सं. 01, सम्पादकः- डॉ. आत्मदेवमिश्रः (मूलमात्रम्) प्रथमभागः- द्वितीयाध्यायात्मकम्, प्रकाशनः- चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथमसंस्करण- 2016 ई.।
9. तत्रैव
10. वाक्यपदीयम् ब्र.सं.का. 48, पृ. सं. 65, सूर्यनारायणशुक्ल, रामगोविन्दशुक्ल, हिन्दी-संस्कृत व्याख्योपेतम्, चौ.सं. संस्थान वाराणसी-221001
11. पाणिनीयशिक्षा, वर्णोत्पत्तिप्रक्रिया, कारिकासंख्या 06, पृ. सं. 57 व्याख्याकारः- शिवराज आचार्यः, कौण्डिन्न्यायनः, सम्पादकाः- आमोदवर्धन कौण्डिन्न्यायनः, प्रमोदवर्धन कौण्डिन्न्यायनः, सुमोदवर्धन कौण्डिन्न्यायनः, प्रकाशनः- चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथमसंस्करण 2012 ई.
12. सिद्धान्तकौमुदी संज्ञाप्रकरणे सूत्रसंख्या 10, पृ. सं. 26, व्याख्याकारः- गोपालदत्तपाण्डेयः, श्रीवासुदेवदीक्षितप्रणीतया बालमनोरमा व्याख्यासमलङ्कृता च (कारकान्तः प्रथमो भागः) प्रकाशनः- चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी

सहायकाचार्यः (संविदा)
व्याकरणविभागः, केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
लखनऊपरिसरः, लखनऊ (उ.प्र.)।
दूरवाणी संख्या - 9968808772, 8318674669

कालिकापुराणस्य स्वरूपम्

– डॉ. विवेकशर्मा

(कालिका पुराण शाक्त मताबलम्बियों का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। प्रमुख रूप से यहाँ असम स्थित कामाख्या देवी को शक्ति के प्रतीक के रूप में वर्णित किया गया है। कालिका पुराण की विविध हस्तलिपियाँ देश के कई ग्रन्थालयों में उपलब्ध हैं। इस पुराण में वक्तृ श्रोतृ परम्परा है। जिसमें कमठ इत्यादि ऋषि मिलकर मार्कण्डेय मुनि के समीप जाकर काली – शिव से सम्बद्ध प्रश्नों को पूछते हैं। कुछ विद्वान् कालिका पुराण को महापुराण तथा कुछ उपपुराण मानते हैं। वास्तविकता क्या है? यह चिन्तन का विषय है। स्वयं कालिका पुराण में इसको पुराण ही कहा गया है। किन्तु महत्त्वपूर्ण तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि उपपुराणों में जिन सर्वमान्य उपपुराणों की स्वीकार्यता है, उनमें कालिका पुराण एक प्रमुख उपपुराण है। कालिका पुराण को कोई महापुराण माने या उपपुराण किन्तु यह निश्चित तथ्य है कि विशाल पौराणिक वाङ्मय में कालिका पुराण का महत्त्वपूर्ण स्थान है।)

(कालिकापुराणं शाक्तानां महत्त्वपूर्णः प्रतिनिधिग्रन्थः वर्तते। नीलाचले स्थिता या कामाख्या देवी, सैवाऽत्र पुराणेऽस्मिन् शक्तेः प्रतीकरूपेण वर्णिताऽस्ति। कालिकापुराणस्य विविधाः हस्तलिपयो देशस्य विभिन्नग्रन्थालयेषु उपलभ्यन्ते। कालिकापुराणे वक्तृश्रोतृपरम्परा विद्यमाना वर्तते। यस्यां कमठप्रभृतयः ऋषयः ऋषिमार्कण्डेयमुपगम्य कालीशिवयोः सम्बद्धप्रश्नान् अपृच्छन्। चिन्तनस्य विषयोऽयं वर्तते यत् कालिकापुराणमेतत् महापुराणमुप-पुराणं वा? स्वयमेव कालिकापुराणमपि स्वात्मानं पुराणमिति कथयति। किन्तु तथ्यैः सिद्ध्यति यत् उपपुराणेषु यानि सर्वमान्योपपुराणानि सन्ति तेषु कालिकापुराणं महत्त्वपूर्णमुप-पुराणमस्ति। कालिकापुराणं महापुराणं वा भवतु उत वा उपपुराणम्, किन्तु एतत्तु निश्चितमस्ति यत् विस्तृतपौराणिकवाङ्मये कालिकापुराणस्य महत्त्वपूर्णं स्थानं वर्तते। यस्मात् उपपुराणस्यास्य भूयसी ख्यातिः वर्तते।)

प्रमुखशब्दाः–

कालिकापुराणम्, महापुराणम्, उपपुराणम्, मार्कण्डेयपुराणम्, कामाख्या देवी, काली, कालः, वक्तृश्रोतृपरम्परा, कूर्मपुराणम्।

कालिकापुराणस्य विविधाः हस्तलिपयो देशस्य विभिन्नग्रन्थालयेषु उपलभ्यन्ते। डॉ. विश्वनारायणशास्त्रिणा एतस्य विंशतेः हस्तलिपीनामुल्लेखः कृतः[1]। कूर्मपुराणोक्तोपपुराणानां या सूची वर्तते तस्यां सूच्यां कालिकापुराणस्य क्रमः द्वादशे क्रमाङ्के वर्तते[2]। एवमेव देवीभागवते कालिकापुराणस्य क्रमः दशमः[3]।

कालिकापुराणे वक्तृश्रोतृपरम्परा विद्यमाना वर्तते। यस्यां कमठप्रभृतयः ऋषयः ऋषिमार्कण्डेयमुपगम्य कालीशिवयोः सम्बद्धप्रश्नान् अपृच्छन्। तदा तेषां पुरतः मार्कण्डेयो वदति यदहं तं वृतान्तं श्रावयामि, यस्य वाचनं ब्रह्मा नारदं प्रति, नारदः बालखिल्यं प्रति, बालखिल्यः यवक्रीतं प्रति, यवक्रीतः असितं प्रति एवञ्च असितः मां प्रति अकथयत्। अहं तां कथामेव भवन्तं श्रावयामि[4]।

कालिकापुराणमेतत् महापुराणमुपपुराणं वा?–

चिन्तनस्य विषयोऽयं वर्तते यत् कालिकापुराणमेतत् महापुराणमुपपुराणं वा? स्वयमेव कालिकापुराणमपि स्वात्मानं पुराणमिति कथयति। कालिकापुराणस्य आरम्भान्तयोः कालिकापुराणं पुराणेति शब्देन अभिहितम्[5]। देवीभागवतपुराणे एकस्मिन् श्लोके वर्णानां माध्यमेन महापुराणानि स्पष्टानि भवन्ति [6]। सूच्यां कवर्णः ('कु' इति) एकः एव वर्णः येन कूर्मपुराणस्य ग्रहणं भवति। कालिकापुराणस्योल्लेखः तु सूच्यामेव नास्ति। कालिकापुराणस्य भूमिका-भागे स्कन्दपुराणस्य मतं स्वीकृतमस्ति, यस्यानुसारमष्टादशपुराणेषु पुराणद्वयं देव्या सम्बद्धम्[7]। देवीभागवतम्, देवीपुराणम्, कालिकापुराणञ्च, महाभागवतम्, एतानि प्रसिद्धशाक्तपुराणानि, येषु शक्तेः सम्बद्धं वर्णनम्, एतानि प्रसिद्धशाक्तपुराणानि उपलभ्यते । एतेषु देवीभागवतं महाभागवतञ्च स्वात्मानं पुराणमिति उद्घोषयति[8]।

एतदतिरिच्य कालिकापुराणस्य भूमिकायां हेमाद्रिग्रन्थस्य **'चतुर्वर्गचिन्तामणेः'** मतमुल्लिखितम्, यस्मिन् वर्णितमस्ति यत् कालिकापुराणं देवीभागवतस्य मूलमस्ति [9] । चरित्रकोशकारस्य मते कालिकापुराणं देव्याः माहात्म्येन परिपूर्णमस्ति, यस्मात् उपपुराणमेतत् देवीभागवतस्यान्तर्गते एवास्ति। अपि च तस्य मतमस्ति यत् देवीभागवतस्य पञ्चमस्कन्धः एव कालिकापुराणम्[10]। अग्रे चरित्रकोशकारः कालिका-पुराणस्य विषये वदति यदस्मिन् महिषासुरस्य शुम्भनिशुम्भयोः च वधस्य वर्णनमस्ति। अस्य कर्ता व्यासदेवः। एवञ्च कालिकापुराणमेकमुपपुराणमस्ति[11]।

एवमेव कालिकापुराणस्य भूमिकायां लक्ष्मीधरस्य कल्पतरुनामकग्रन्थोक्त-मतस्योल्लेखः अस्ति यस्मिन् कालिकापुराणस्य उपपुराणमिति सञ्ज्ञा कृताऽस्ति[12]। अस्यानुसारं लक्ष्मीधरः कथयति यत् कालिकापुराणमष्टादशेभ्यः पुराणेभ्यः उद्भूतमस्ति। अपि च कालिकापुराणस्य भूमिकायामेव चण्डेश्वरस्य "दानसागर" इति ग्रन्थस्य मतमङ्गीकृतमस्ति यस्मिन् कालिकापुराणमुपपुराणमिति वर्णितमस्ति [13] । कालिकापुराणमष्टादशेभ्यः पुराणेभ्यः भिन्नं प्रतीयते। कालिकापुराणत्वे यदि विचारः क्रियते तर्हि स्वरूपतः तु कालिकापुराणं स्वतन्त्रपुराणमेव प्रतिभाति, किन्तु हिमाद्रिः एनं महाभागवतस्य एकमङ्गमेव

स्वीकरोति। वस्तुतः भागवतस्य शक्तिसाधनपरकरूपं देवीभागवतमस्ति। किन्तु देवीभागवतस्य महापुराणत्वमेव विवादास्पदं वर्तते। यतोहि अस्मिन् ब्रह्मवैवर्तस्य प्रकृतिखण्डः समाहितः। देवीभागवतेन ब्रह्मवैवर्तेन वा कालिकापुराणस्य सम्बन्धः तु भवितुमेव न शक्नोति, यतोहि ब्रह्मवैवर्ते तु श्रीकृष्णस्य चरितस्य प्रधानता अस्ति एवञ्च तेषां जीवनसङ्गिनी राधा अस्ति। किन्तु कालिकापुराणस्य भागमेकं सत्या शिवेन च सम्बद्धमस्ति। अतः कालिकापुराणं महापुराणात् पृथगेव। विष्णुपुराणानुसारं यस्य पुराणस्य वर्णनमष्टादशेभ्यः पुराणेभ्यः भिन्नं तत् पुराणमुपपुराणस्य श्रेण्यामायाति [14] । एवञ्च "यतोहि अष्टादशपुराणेषु कालिकापुराणस्य वर्णनं नास्ति तर्हि विष्णुपुराणस्य मतमाधारीकृत्य कालिकापुराण-मुपपुराणमेवेति सिद्धम्"। सर्वासु पुराणोपपुराणसूचीष्वपि कालिकापुराणमुप-पुराणरूपेण स्वीकृतमस्ति [15] । यद्यपि स्वगुणाऽऽधारेण आकाराधारेण वा महापुराणमिव प्रतिष्ठितमस्ति एतत् कालिकापुराणम्। तथापि कालिकापुराणमष्टादशेभ्यः महापुराणेभ्यः भिन्नमिति निर्विवादम्। तर्हि निर्णितमस्ति यत् कालिकापुराण-मेकमुपपुराणमेव। अतः इदानीमत्र विचारणीयः विषयोऽस्ति यदेतत् कस्मात् महापुराणादुद्धृतः?

कालिकापुराणस्य शिवपुराणेनापि केषुचिदंशेषु समानता अस्ति किन्तु शिवपुराणस्य तु महापुराणत्वमेव निर्विवादं नास्ति। चरित्रकोशकारचतुर्वेदी-द्वारकाप्रसादस्य मतस्योल्लेखः पूर्वमेव कृतोऽस्ति यस्यानुसारं पुराणमेतत् देवीभागवतात् निस्सृतम्। किन्तु महापुराणत्वं तु देवीभागवतस्यापि अनिश्चितम्। अतः यस्य पुराणस्य स्वस्य महापुराणत्वमेव विवादास्पदमस्ति तस्य मूलपुराणत्वं कथं स्वीकर्तुं शक्यते।

किन्तु मार्कण्डेयपुराणस्य महापुराणत्वं सार्वभौमिकमस्ति यत् महापुराणानां सूचीषु निर्विवादरूपेण प्रतिष्ठितमस्ति। अस्य पुराणस्य त्रयोदशेऽध्याये मार्कण्डेयः मुनिः देव्याः माहात्म्यस्य पूजाविधानस्य च व्यवस्थितं वर्णनं करोति। तत्रैव उमा/हैमवती-द्वारा पार्वतीरूपेण दानप्रदानप्रसङ्गः कालिकापुराणस्य बीजरूपेण प्रतीयते[16]।

एतत्तु निश्चितमस्ति यत् मार्कण्डेयपुराणे देव्याः माहात्म्यस्य प्रधानता वर्तते। दुर्गासप्तशती अस्य एकः भागः। मूलतः मार्कण्डेयपुराणे नवसहस्रश्लोकाः (9000) आसन् किन्तु वर्तमानकाले नवशताधिकषट्सहस्रश्लोकाः (6900) शेषाः। मार्कण्डेयपुराणस्य एतेषां लुप्तश्लोकानां पूर्तिः कालिकापुराणस्य श्लोकैः भवति। यतोहि कालिकापुराणस्य श्लोकानां सङ्ख्या शताधिकद्विसहस्रंमिता अस्ति[17]। अतः 6900+2100=9000 इति सङ्ख्या स्पष्टाऽस्ति। सङ्ख्यादृष्ट्या मार्कण्डेयपुराणेन

अस्य सम्बन्धः तु प्रतीयते एव, अपि च काल्या सम्बद्धत्वात् कालिकापुराणं मार्कण्डेयपुराणस्य अवशिष्टरूपेण प्रतिभाति। उभयोः पुराणयोः वक्ता मार्कण्डेयमुनिः वर्तते[18]।

निष्कर्षः–

"सारः तु अयमेव वर्तते यत् कालिकापुराणं शक्तिसाधनापरकोपपुराणेषु सर्वमान्यमुपपुराणमस्ति, "मार्कण्डेयपुराणञ्च अस्य बीजरूपमिति प्रतीयते"। अतः कथितुं शक्नुमो यत् उपपुराणेषु यानि सर्वमान्योपपुराणानि सन्ति तेषु कालिकापुराणं महत्त्वपूर्णमुपपुराणमस्ति। प्रतीयते यत् कालिकापुराणं सर्वदा महापुराणैः सार्धं प्रतिस्पर्धां करोतीत्युपपुराणस्यास्य महनीयता एवेति। कालिकापुराणं महापुराणं वा भवतु उत वा उपपुराणम्, किन्तु एतत्तु निश्चितमस्ति यत् विस्तृतपौराणिकवाङ्मये कालिकापुराणस्य महत्त्वपूर्णं स्थानं वर्तते यस्मात् उपपुराणस्यास्य भूयसी ख्यातिः वर्तते।

---

1. उपपुराणदिग्दर्शनम् (डॉ. लीलाधरवियोगी, आई.बी.ए. पब्लिकेशन्सप्रकाशनम्, अम्बाला-छावनी, प्रथमसंस्करणम् 2007), पृष्ठम् 324, पङ्क्तिः 18
2. आद्यं सनत्कुमारोक्तं नारसिंहमतः परम्। तृतीयं स्कान्दमुद्दिष्टं कुमारेण तु भाषितम् ॥
   चतुर्थं शिवधर्माख्यं साक्षान्नन्दीश भाषितम्। दुर्वासोक्तमाश्चर्यं नारदीयमतः परम् ॥
   कापिलं वामनञ्चैव तथैवोशनसेरितम्। ब्रह्माण्डं वारुणञ्चैव कालिकाह्वयमेव च ॥
   माहेश्वरं तथा साम्बं सौरं सर्वार्थसञ्चयम्। पराशरोक्तं मारीचं तथैव भार्गवाह्वम् ॥
   - कूर्मपुराणम्, 1 / 17 - 20
3. तथैवोपपुराणानि श्रृण्वन्तु ऋषिसत्तमाः। सनत्कुमारं प्रथमं नारसिहं ततः परम् ॥
   नारदीयं शिवं चैव दौर्वाससमनुत्तमम्। कापिलं मानवं चैव तथा चौशनसं स्मृतम् ॥
   वारुणं कालिकाख्यं च साम्बं नन्दिकृतं शुभम्। सौरं पाराशरं प्रोक्तमादित्यं चातिविस्तरम् ॥
   माहेश्वरं भागवतं वासिष्ठं च सविस्तरम्। एतान्युपपुराणानि कथितानि महात्मभिः ॥
   देवीभागवतपुराणम्, प्रथमः भागः, 3 / 13 - 16
4. अहं वः कथयिष्यामि कथामेतां पुरातनीम् ।
   प्रणम्य परमात्मानं चक्रपाणिं जगत्पतिम् ॥ कालिकापुराणम्, 1 / 18
5. नित्यज्ञानमयं वक्ष्ये पुराणं कालिकाह्वयम्। तत्रैव, 1 / 3;
   इति वः कथितं पुण्यं पुराणं कालिकाह्वयम्। तत्रैव, 90 / 29
6. मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम् ।
   अनापलिंगकूस्कानि पुराणानि पृथक्पृथक् ॥ देवीभागवतपुराणम्, 1 / 3 / 2
7. अष्टादशपुराणेषु दशभिर्गीयते शिवः ।
   चतुर्भिर्भगवान् ब्रह्मा द्वाभ्यां देवी तथा हरिः ॥ स्कन्दपुराणम्, केदारखण्डः, 1

8. कालिकापुराणम् (मृत्युञ्जयत्रिपाठी, नवशक्तिप्रकाशनम्, वाराणसी, प्रथमसंस्करणम् 2006), भूमिकाभागः, पृष्ठम् 2, पङ्क्तिः 4

9. कालिकापुराणम् (मृत्युञ्जयत्रिपाठी, नवशक्तिप्रकाशनम्, वाराणसी, प्रथमसंस्करणम् 2006), भूमिकाभागः, पृष्ठम् 2, पङ्क्तिः 9

10. चरित्रकोशः, पृष्ठम् 91

11. चरित्रकोशः, पृष्ठम् 91

12. अष्टादशभ्यस्तु पृथक्पुराणं यत्तु दृश्यते ।
विज्ञानीध्वं मुनि श्रेष्ठास्तदेतेभ्यो विनिर्गतम् ॥
कालिकापुराणम् (मृत्युञ्जयत्रिपाठी, नवशक्तिप्रकाशनम्, वाराणसी, प्रथमसंस्करणम् 2006), भूमिकाभागः, पृष्ठम् 2, पङ्क्तिः 23

13. उक्तान्युपपुराणानि व्यक्त दानविधानि च ।
आद्यं पुराणसाम्बं च कालिकाह्वमेव च ॥ तत्रैव
(मृत्युञ्जयत्रिपाठी, नवशक्तिप्रकाशनम्, वाराणसी, प्रथमसंस्करणम् 2006),
भूमिकाभागः, पृष्ठम् 3, पङ्क्तिः 3

14. महापुराणान्येतानि ह्यष्टादश महामुने, तथा चोपपुराणानि मुनिभिः कथितानि च ॥
विष्णुपुराणम्, तृतीयांशः, 6 / 24 - 25

15. देवीभागवतपुराणम्, 1 / 3 / 2; स्कन्दपुराणम्, रेवाखण्डः 1 / 46 - 52; कूर्मपुराणम्, 1 / 17 - 20

16. कालिकापुराणम् (मृत्युञ्जयत्रिपाठी, नवशक्तिप्रकाशनम्, वाराणसी, प्रथमसंस्करणम् 2006), भूमिकाभागः, पृष्ठम् 4, पङ्क्तिः 3

17. कालिकापुराणम् (मृत्युञ्जयत्रिपाठी, नवशक्तिप्रकाशनम्, वाराणसी, प्रथमसंस्करणम् 2006), भूमिकाभागः, पृष्ठम् 4, पङ्क्तिः 7

18. मार्कण्डेयं मुनिश्रेष्ठं स्थितं हिमधरान्तिके ।
मुनयः परिपप्रच्छुः प्रणम्य कमठादयः ॥ कालिकापुराणम्
(मृत्युञ्जयत्रिपाठी, नवशक्तिप्रकाशनम्, वाराणसी, प्रथमसंस्करणम् 2006), 1 / 4

सहायकाचार्यः, संस्कृतविभागः,
हिमाचलप्रदेशः, केन्द्रीयविश्वविद्यालयः, धर्मशाला ।
दूरवाणी संख्या - 9816823805
ईमेल - drviveksharma.skt@gmail.com

शिक्षणाधिगमाय सूचनासम्प्रेषणप्रौद्योगिक्याः अन्तर्जालसंसाधनानाञ्च प्रासङ्गिकता

– डॉ. रुद्रनारायणनरसिंहमिश्रः

(अधिगम के क्षेत्र में प्रभाव उत्पन्न करने के लिए शिक्षण एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में पाठ्यक्रम या पाठ्यवस्तु के द्वारा छात्र व अध्यापक के बीच में कक्षा-अंत:क्रिया चलती है। शिक्षण के बिना अधिगम और अधिगम के बिना शिक्षण सम्भव नहीं है। इसलिए दोनों के परस्पर सम्बन्ध को अन्योन्याश्रित सम्बन्ध के रूप में स्वीकार किया जाता है। पारम्परिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षण और अधिगम सह सम्बन्धित है। जब अधिगम प्रभावशाली होती है तब शिक्षण का भी प्रभावशीलता स्वीकार किया जाता है। छात्रों के अधिगम में गुणवत्ता सम्पादन करने के लिए या गुणवत्ता की वृद्धि करने के लिए कौशलों, विधियों, प्रविधियों व उपागमों का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार अत्याधुनिक शिक्षणाधिगम सम्पादन हेतु दृश्यश्रव्यसाधनों, सूचना-सम्प्रेषण-प्रविधियों व अन्तर्जाल संसाधनों का प्रयोग किया जा रहा है। शिक्षण में कैसे और किस प्रकार सूचना सम्प्रेषण प्रविधि का और अन्तर्जाल संसाधनों का प्रासंगिकता है वह इस शोध पत्र में प्रतिपादित किया गया है।)

(शिक्षणस्य प्रमुखं कार्यमधिगमक्षेत्रे प्रभावशीलतायाः सम्पादनम्। अतः शिक्षणमधिगमश्चोभावप्येकस्यैव नाणकस्य पार्श्वद्वयमिति वक्तुं शक्यते। एतौ द्वावपि अन्योन्याश्रितौ भवत:। पारम्परिकोद्देश्यानां पूर्त्तये प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूपेण एक: अन्येन सह सम्बद्धो भवत्येव। यदा अधिगम: प्रभावशाली भवति तदैव शिक्षणस्य प्रभावशीलता अङ्गीक्रियते। छात्राणामधिगमस्य गुणवत्तां वर्द्धयितुं शिक्षणसूत्राणां, दृश्यश्रव्योपकरणानां, सूचनासम्प्रेषणप्रौद्योगिक्या:, अन्तर्जाल-संसाधनानाञ्च प्रयोग: क्रियते। कुत्र, कथं सूचनासम्प्रेषणप्रौद्योगिक्या:, अन्तर्जाल-संसाधनानाञ्च प्रासङ्गिकता वर्तत इति अस्य शोधप्रपत्रस्य प्रतिपाद्यविषयः।)

शिक्षणं काचित्गत्यात्मिका प्रक्रिया। अस्यां प्रक्रियायां पाठ्यवस्तुमाध्यमेन शिक्षकछात्रयोर्मध्ये अन्त:क्रिया भवति। शिक्षणं विना अधिगम: अधिगमं विना शिक्षणञ्च न सम्भवति। अधिगमपरिस्थितौ शिक्षक: छात्रस्याधिगमाय पाठ्यवस्तु स्वीकृत्य शैक्षिकायोजनां करोति। अत: शिक्षणाधिगमयो: अन्योन्याश्रितसम्बन्धोऽस्ति।

अधिगमस्य आयामाः सन्ति ज्ञानं, कौशलानि, मूल्यानि, विश्वासा:, अभिरुचय:, अभ्यासाश्च। अधिगमसम्बन्धीयसूचनानां तथ्यानाम् एकत्रीकरणं भवति ज्ञानम्। यतो हि शिक्षणस्य प्रारम्भिकमुद्देश्यं भवति ज्ञानार्जनम्। अतः छात्रः

विषयस्य तथ्य-घटना-पद-प्रत्ययनिष्कर्ष-सिद्धान्तप्रक्रियादीनां ज्ञानमर्जयति। इदं सम्प्राप्त्यर्थं छात्रः अर्जितज्ञानस्य प्रत्यस्मरणं पुनः अभिज्ञानं च करोति। क्रियात्मकपक्षं स्वीकृत्य कौशलानि विकसितानि भवन्ति। तत्र पञ्च सोपानानि अपि प्रतिपादितानि। यथा– उद्दीपनं, कार्यव्यवहरणं, नियन्त्रणं, समन्वयनं, स्वभावीकरणञ्च। नैतिक-सामाजिक-राष्ट्रिय–शैक्षिकमूल्यानि स्वीकृत्य अधिगमः विकसति। विश्वास नाम सत्यासत्यविवेकः कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकश्च। अयमेव विश्वासः जीवे कार्यकरणप्रवृत्तिं जनयति। तेन तदीयव्यवहारः परिष्कृतः जायते। यदि मस्तिष्के विश्वासः जायते तर्हि अधिगमप्रक्रिया सुदृढा भवतीति मनोवैज्ञानिकानामाशयः।

अधिगमाय रुचिः आवश्यकी। यदि बालः किमपि अधिगन्तुं न वाञ्छति तर्हि बलपूर्वकं तत् प्रापयितुं न शक्नोति। तदर्थम् अध्यापकेषु बालकेभ्यः ज्ञानप्रदानस्य सङ्कल्पशक्तिः भवेत्, येन सः बालकेषु नूतनज्ञानप्राप्त्यर्थं रुचिं जागरयेत्। अधिगमः तावत्कालपर्यन्तं प्रभावशालिरीत्या कार्यं कर्त्तुं न शक्नोति यावत् अध्यापकः स्वीयां महत्त्वपूर्णां भूमिकां न निर्वहेत्। अधिगमस्य विकासः तदा भवति यदा तस्य कृते अभ्यासकार्यं प्रदीयते। अभ्यासकार्यस्योचितविभाजनेन अधिगमे अवश्यमेव प्रगतिर्भवतीति।

साम्प्रतिकयुगः अत्याधुनिकयुगः। युगेऽस्मिन्प्रौद्योगिक्याः अन्तर्जाल-संसाधननाञ्च प्रयोगेण शिक्षणाधिगमप्रक्रिया सञ्चाल्यते। प्राथमिकविद्यालयस्य पाठ्यचर्यानुसारं (1999 पृष्ठ संख्या-29) आधुनिकप्रौद्योगिक्याः प्रयोगाय अवसरः शिक्षायाः कार्यस्य, भोगस्य च आधुनिकीकरणाय प्रौद्योगिककौशलानां विस्तारः महत्त्वपूर्णोऽस्ति। पाठ्यचर्या शिक्षणाधिगमप्रक्रियायां सूचना-सम्प्रेषण-प्रौद्योगिकीम् एकीकृत्य बालकानां कृते सर्वेषु विषयेषु स्वशिक्षणं वर्द्धयितुम् आधुनिकप्रौद्योगिक्याः उपयोगाय अवसरान्प्रददाति। दृश्यश्रव्यसामग्रीविचारान्सार्थकीकृत्य शिक्षार्थिभ्यः विशिष्टादर्शान्प्रयच्छति, यानि तेषां दृढतरव्यवहारभावानां विकासे सहायकानि भवन्ति। अस्य फलस्वरूपं तेषु तर्कस्य नूतनशैल्या शिक्षार्थिभिः नूतनाविष्काराः क्रियाकलापाश्च क्रियन्ते।

सूचना-सम्प्रेषणप्रौद्योगिकी एकं विद्युत्यान्त्रिकसाधनं यस्योपयोगः सूचनानां संग्रहणाय, संसाधनाय, सञ्चारणाय च कर्त्तुं शक्नोति। शिक्षणाधिगमप्रक्रियायाम् अस्य उपयोगः त्रिधा कर्त्तुं शक्यते। प्रथमोपयोगः वस्तुरूपेण, द्वितीयोपयोगः सूचना-सम्प्रेषण-प्राद्यौगिक्याः अध्ययनक्षेत्ररूपेण व्यवसायरूपेण वा तृतीयोपयोगः शिक्षण-संस्थासु बर्हिस्थस्थानेषु चाधिगन्तुं क्षमाः भविष्यन्ति। सङ्गणकाधारित-बहुमाध्यम-अधिगमवातावरणानि आकृतयः

मेलनाय, पाठ्यपुस्तकानि पठनाय, ध्वनिसंयोजनया, शिक्षार्थिनामवगमनपरिष्काराय च सशक्तवातावरणानि प्रस्तुवन्ति। भविष्य-शैक्षिकसन्दर्भेषु सूचनासम्प्रेषणप्रौद्योगिक्या: भूमिकायाः महत्त्वविषये शैक्षिक-समुदाययो: मध्ये किमपि निश्चितं मतं नास्ति। (वुड्-1993)

सूचनासम्प्रेषणप्रौद्योगिकयन्त्राणि सूचनां तन्त्रांशमुद्रिकायाम् (C.D), अन्तर्जालपटलेभ्यश्च (Website), अन्वेषणे, व्यवस्थापने, परीक्षणे, प्रयुक्तसूचनां पुनः प्राप्तौ च शिक्षार्थिनं सशक्तं निर्मीय सक्रियाधिगमं स्थापयन्ति। शिक्षार्थी स्वीयपरिणामविषयेऽपि चर्चां प्रस्तुतीकरणाय तन्त्रांशस्य प्रयोगं कर्त्तुं च शक्नोति। क्षेत्रीयभ्रमणे शिक्षार्थी तन्त्रांशयुक्तछायोत्तोलनयन्त्रमुपयुज्य विस्तृतवातावरण-गतज्ञानाय परियोजनानिर्माणाय च सक्षम: भवति। विषयसामग्रीसमृद्धतन्त्रांश: यत्शिक्षासम्बद्धितसमकालिकाभ्याससमस्यां प्रददाति, तथ्यानां सुदृढीकरणाय पुनर्निरीक्षणाय वा प्रभावीरूपेणेयमुपयुज्यते। बहुमाध्यमोपकरणैः शिक्षार्थिनः स्वस्य शिक्षणप्रगतेः मुद्रणं कर्त्तुं शक्नुवन्ति।

सूचनासम्प्रेषणप्रौद्योगिक्या: संयुक्तशृंखला प्रत्येकं शिक्षार्थिन: तन्त्रांशोप-स्थित्याभिलेखं व्यवस्थापयितुम् अध्यापका: समर्था: भविष्यन्ति। अधिगमवर्द्धनेन साम्प्रतिकाधिगमवातावरणमियं विस्तारयति। अणुसङ्केत – चलपरिसंवाद (Video Conference)– प्रभृतयः सूचनासम्प्रेषणप्रविधय: स्थानीयवातावरणविषये सूचनानाम् अपरस्य सम्मुखे प्रकाशयितुं शिक्षार्थिन: समर्था: भविष्यन्ति। शिक्षार्थिभि: कृतकार्यस्य प्रकाशनाय समुचितावसर: अन्तर्जालपुटस्थानेषु विद्यालय: प्रयच्छति। अनेन अभिभावका:, अन्यसम्बन्धितजनाश्च तद् अवलोकयन्ते।

शिक्षणाधिगमः माध्यमत्वेन भवति। वस्तुरूपेण सूचनासम्प्रेषणप्रौद्योगिकी स्वयं सूचनासम्प्रेषणाधिगमायावसरान्प्रददाति यच्छिक्षार्थिन: स्वजीवने सूचना-सम्प्रेषणप्रौद्योगिक्या: उपयोगं कर्त्तुं योग्यरूपेण निर्माति। अध्ययनक्षेत्रे व्यावसायिकक्षेत्रे वा सूचना – सम्प्रेषणप्रौद्योगिकीव्यावसायिकप्रयोजनार्थं सूचनासम्प्रेषणप्रौद्योगिक्या: सम्बद्धकौशलानां विकासायावसरान्प्रददाति। सूचनासम्प्रेषणप्रौद्योगिकी शिक्षण-माध्यमरूपेण शिक्षणाधिगमप्रक्रियाया: व्यापकतायै ध्यानकेन्द्रितं कारयति। सूचनासम्प्रेषणप्रौद्योगिक्याः अन्तर्जालसंसाधनानि च त्रिषु भागेषु विभाजयितुं शक्यते। यथा– आगतस्रोतांसि, निर्गतस्रोतांसि, अन्यस्रोतांसि च। आगतस्रोतत्सु दृश्यं, पाठ:, छायोत्तोलनयन्त्रं, सङ्गणक:, टैबलेट्, अनुप्रयोगतन्त्रांश: इत्यादय: सन्ति। निर्गतस्रोतस्सु

प्रक्षेपकयन्त्रं, अन्त:क्रियात्मकं श्वेतफलकं, प्रदर्शकं (Monitor), दूरदर्शनञ्च भवन्ति। अन्यस्रोतस्सु तन्त्रांशयुक्तं छायोत्तोलनयन्त्रं, पञ्ज:, तन्त्रांशयुक्तं मुद्रणयन्त्रञ्च भवन्ति।

शिक्षणाधिगमाय सूचनासम्प्रेषणप्रौद्योगिक्या: अन्तर्जालसंसाधनानाञ्च महत्त्वपूर्णां भूमिकां स्वीकृत्य यूनेस्को इत्यनेन एतेषां संसाधनानामुपयोगविषये शिक्षकप्रशिक्षणकार्यशालायै प्रशिक्षकाणां प्रशिक्षणार्थिनाञ्च सहायतायै "बहुमाध्यम-विषये यूनेस्को प्रशिक्षणमार्गदर्शिका – शिक्षणाधिगमयो: एकीकरणम्" (UNESCO training guide on multimedia – integration for teaching and learning) विकसितमस्ति, येनाध्यापका: एतेषां संसाधनानामुपयोगं स्वकक्षासु सूचनासम्प्रेषण-प्रौद्योगिक्या: सहजतया प्रभावीरूपेण च प्रयोगं कर्त्तुं शक्नुवन्ति।

कक्षायां सूचनानां सञ्चालने, संग्रहणे, वितरणे, पुनः प्राप्तौ, अवसरकल्पने च, अध्यापकेभ्य: शिक्षार्थिभिश्च सूचनासम्प्रेषणप्रौद्योगिक्या: महत्त्वपूर्णा भूमिका वर्त्तते। मुक्त-दूरस्थशिक्षणाधिगमाय अपि अतीव लाभप्रद: अस्ति। सूचनासम्प्रेषणप्रौद्योगिक्या अन्तर्जालसंसाधनैश्च अध्यापका: शिक्षार्थिनश्च सामाजिककौशलानां विकास:, संसाधनानां प्रयोगः संयुक्तपरियोजनायाम् अन्यबालकस्य सहायतां च कृत्वा शिक्षार्थिभ्यः अवसरान्प्रदातुं शक्नुवन्ति। अणुसंकेत-सन्देश-चलपरिसंवाद-प्रभृतीनां प्रयोगेण शिक्षार्थिनः एक: अपरस्य सहयोगं कर्तुं समर्थाः भवन्ति। सूचनासम्प्रेषणप्रौद्योगिकीज्ञानसम्बद्धसाधनेषु श्रृंखलां प्रदाय नूतनज्ञानमुपयुक्तायां सहायकाः भवन्ति। निर्माणे, विश्लेषणे, अन्वेषणे, समालोचनायाञ्च अस्याः अधिकमात्रया प्रयोग: संदृश्यते। समुचितप्रशिक्षणसामग्रीनिर्माणाय एषा बहुधा उपकरोति। अनया मुख्यालयतः स्वसहकर्मचारिणां, मार्गदर्शकानां, विश्वविद्यालयानां, विशेषकेन्द्राणां, शिक्षणसामग्रीणाञ्च स्रोतसा अनायासेन संयोजित: भवितुं शक्यते। एषा प्रौद्योगिकी प्रचलितावश्यकतानुगुणं पाठ्यचर्यायां पुनरावृत्तौ, परिमार्जने, नूतनपाठ्यक्रमाणां प्रारम्भे च सहकरोति। एषा प्रशिक्षकेभ्य: सामग्रीसहायताया: स्रोतसा परिचाययति। अनेन अध्यापक: शिक्षणाधिगमाय सफलतया सूचनासम्प्रेषणप्रविधे: प्रयोगं कृत्वा सशक्तरूपेण प्रशिक्षित: भवति।

एवं रीत्या प्रतिपादितं यत्शिक्षणाधिगमाय सूचनासम्प्रेषणप्रौद्योगिक्या: अन्तर्जालसंसाधनानाञ्च प्रासङ्गिकता बहुत्र संल्लक्ष्यते।

सन्दर्भग्रन्थः–

1. शिक्षण व अधिगम का मनोविज्ञान-आर.लाल. बु. डिपो, मेरठ, चतुर्थ संस्करण- 2004.

2. अस्थाना, डॉ. विपिन अस्थाना श्वेता-मनोविज्ञान और शिक्षा में मापन एवं मूल्यांकन-विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा- 2007.
3. बघेला, डॉ. एच. एस-अधिगम एवं शिक्षण के मनोसामाजिक आधार-राजस्थान प्रकाशन, जयपुर-2007
4. नासा सरला-एज्यूकेशनल साइकालोजी-मित्तल प्रकाशन, नई दिल्ली-2005
5. पाण्डेय, रामशकल-शैक्षिक मनोविज्ञान-आर एल बुक डिपो, मेरठ-1990
6. परवीन, डॉ. आबिदा-शिक्षा मनोविज्ञान-आस्था प्रकाशन, जयपुर-2008
7. वघेला, डॉ. एच.एम.-अधिगम एवं विकास के सामाजिक आधार-राजस्थान प्रकाशन,जयपुर-2006
8. मित्तल, डॉ. सन्तोष-शैक्षिक तकनीकी एवं कक्षा-कक्ष प्रबन्ध-राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर- 2011
9. माथुर, एस. एस.-शिक्षण कला और शैक्षिक तकनीकी-विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा-1998

सहायकाचार्यः (अतिथिसंकाय),
शिक्षाशास्त्रविद्याशाखा,
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
लखनऊपरिसरः, लखनऊ (उ.प्र.)।

श्रीमद्भगवद्गीताया आलोके जीवनयापनस्य कला

– डॉ. हीरापाण्डेय

(श्रीमद्भगवद्गीता ऐसा अक्षय ज्ञानकोष है, जो सम एवं विषम सर्वविध परिस्थितियों में मनुष्य का मार्गदर्शन करता है। मनुष्य के जीवन में ऐसे अनेक अप्रत्यक्ष विषय उपस्थित होते हैं, जो उन्हें प्रतिपल प्रभावित करते हैं। ये अप्रत्यक्ष रूप से उसके भविष्य को भी निर्धारित करते हैं। यथा– कर्तव्यभाव, काम, क्रोध, आसक्ति, सुख-दु:ख, अन्तर्द्वन्द इत्यादि। इन सभी विषयों का मूल कारण एवं समाधान भगवद्गीता में गहन विश्लेषण करके स्पष्ट किया गया है। भगवद्गीता में प्रदत्त प्रश्न-उत्तर रूपी समाधान के द्वारा मनुष्य को जीवनयापन करना चाहिए। भगवद्गीता में मनुष्य के लिए सुनिश्चित जीवन शैली को प्रकाशित किया गया है। जैसे सकारात्मक भाव से जीवनयापन, निरहंकारी होना, विनम्रता का व्यवहार करना, अनासक्त भाव से कार्यो का सम्पादन करना, अदृश्य शक्ति (भगवान) के समक्ष नतमस्तक होना, काम-क्रोध के वशीभूत न होना, महात्माओं का संग करना, सभी को समान भाव से देखना, जितेंद्रिय होना, अपने धर्मशास्त्रों को पढ़ना-समझना एवं उसके अनुसार आचरण करना, दूरदर्शी होना, एवं विवेकपूर्वक मोक्ष-प्राप्ति करना। इस प्रकार भगवतद्गीता में वर्णित जीवन शैली जगत के सभी मनुष्यों के लिए कल्याणप्रद है।)

(श्रीमद्भगवद्गीता एतादृशाक्षयज्ञानकोषः वर्तते यत् समविषमसर्वविधपरिस्थितिषु मनुष्यस्य मार्गदर्शनं करोति। मनुष्यजीवने अनेके विषयाः एतादृशाः उपस्थिताः भवन्ति ये दृष्टिपथे तु नैव आयान्ति परं प्रतिपलं मनुष्यं प्रभावयन्ति। ते एव मनुष्यस्य भविष्यदपि अप्रत्यक्षरूपेण निर्धारयन्ति। यथा कर्त्तव्यभावः, आसक्तिः, कामः, क्रोधः, अन्तर्द्वन्दं, सुख-दुखम् इत्यादयः। एतेषाम् सर्वविधविषयाणाम् कारणं समाधानं च तत्र गहनविश्लेषणमाध्यमेन प्रश्नोत्तररूपेण प्रदत्तम् वर्तते। एतादृशानां प्रश्नानामुत्तरस्याधारे (समाधानाधारे) मनुष्याः जीवनं यापयेयुः। तत्र सुनिश्चितजीवनशैली प्रकाशिता वर्तते। यथा सकारात्मकभावेन जीवनयापनं, निरहंकारीभावः स्वीकर्त्तव्यः विनम्रता अर्जनीया, अनासक्तभावेन कार्य-सम्पादनम्, अदृश्यशक्तेः समक्षं नतमस्तकस्य भावः भवेत्, कामक्रोधयोः वशीभूतेन नैव भवितव्यम्, महात्मनां सङ्गः करणीयः, सर्वे समभावेन द्रष्टव्याः, जितेन्द्रियता भवेत्, स्वधर्मशास्त्राणाम् पाठनम् अवगमनम् इति तदनुव्यवहारः करणीयः, दूरदृष्टिः स्यात्, विवेकेन मोक्षप्राप्तिः करणीया। अनेन प्रकारेण श्रीमद्भगवद्गीता अस्मान् जीवनयापनस्य समुचितं प्रकारं प्रदर्शयति। अतः एषां श्लोकानां चर्चा प्रत्येकं गृहे विद्यालयस्तरे विश्वविद्यालयस्तरे, अनिवार्यरूपेण भवेत्। इदं कार्यं सम्पूर्णमानवजातीनां कृते कल्याणकारी भविष्यति।)

मनुष्यः सर्वप्राणिषु मस्तिष्कशक्त्या श्रेष्ठो वर्तते। अनया शक्त्या एव सः कार्यं दृष्टवा कारणस्य अनुमानं करोति। उचितानुचितभूतभविष्यद्वर्तमानविषयान् विचारयति, एवञ्च भ्रमवशात् जगतप्रपञ्चः स्वस्य एव स्वीकरोति, परम् वास्तविकं तु इदं वर्तते यत् मनुष्यस्य एतादृशी न काऽपि रचना वर्तते, न भवितुर्महति या शाश्वती स्यात्। ये भौतिकपदार्थाः दृष्टिपथे आयान्ति ते सर्वे एव नाशवन्तः सन्ति, पुनः आश्चर्यस्य विषयोऽयं वर्तते यत् इदं सर्वं ज्ञात्वा अपि बहवः मनुष्याः केवलं नाशवान - वस्तूनां संग्रहे स्वजीवनं यापयन्ति। अस्माकं गौरवमयीभारतीयसंस्कृतौ पुरुषार्थ-चतुष्ट्यानां धर्मार्थिकाममोक्षाणां अनुसरणं क्रियते स्म, एवञ्च ब्रह्मचर्यगृहस्थसंन्यास-वानप्रस्थाश्रमाणां जीवनयापनं भवति स्म। इमे आश्रमोक्तनियमाः तत्त्ववेतृभिः ऋषिमुनिभिः निर्मिताः जाताः, येन मोक्षज्ञानं सर्वेषां मनुष्याणां भवेत्। सामान्य-बुद्धिवन्तः जनाः अपि एतान् नियमान् अनुसृत्य धर्मस्य आधारे अर्थप्राप्तिः अर्थस्याधारे इच्छापूर्तिः ततः परं मोक्षं प्रति प्रवृत्ता: भवन्ति स्म। किन्तु अधुना नैके जनाः अर्थप्राप्तये तथा च इच्छापूर्तये एव स्वस्य पूर्णसामर्थ्यं नियोजयन्ति।

प्रसिद्धः कविः हरिनारायणदीक्षितमहाभागः अस्मिन् विषये चिन्तां प्रकटीकृत्य स्वस्य महाकाव्ये लिखति–

कामार्थौ प्रबलायेते प्रायः सर्वत्र भारते ।
अन्यौ च पुरुषार्थौ द्वौ धर्म-मोक्षौ विषीदतः ।।[1]

उक्तयोः द्वयोः पुरुषार्थयोः प्रबलताकारणात् समाजे सुखसंतोषयोः ह्रासः दरीदृश्यते। श्रीमद्भागवतपुराणे निर्दिष्टः वर्तते यत् धर्मस्य फलं मोक्षो वर्तते। धर्मस्य सार्थकता अर्थप्राप्तये नास्ति–

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता ।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ।।[2]

भोगविलासस्य प्रयोजनं केवलं जीवननिर्वहणं वर्तते। जीवनस्य फलं तु तत्त्वजिज्ञासा अस्ति, न तु भोगविलासाय साधनानाम् एकत्रीकरणम्।

भगवद्गीतायां श्रीकृष्णः अर्जुनं व्याजीकृत्य सम्पूर्णमनुष्यान् उपदिशति यत् मनुष्यः कथं जीवननिर्वहणं कुर्यात् येन सः दुःखसागरे निमग्नः न भवेत्। एतस्य कृते सर्वप्रथमं तु सः आत्मानं कर्ता न मन्येत।

न कर्तृत्त्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।[3]

मनुष्यः दुःखं तदैव अनुभवति यदा सः सर्वेषु कार्येषु साफल्यासाफलतायै च आत्मानं उत्तरदायिनं कथयति। साफल्यासाफल्यम् एकस्य मनुष्यस्य

कालानुसारं भिन्नं भवितुमर्हति। यथा एकः मनुष्यः कुशलव्यवसायी वर्तते। तत्र सफलः वर्तते परन्तु जीवनस्य अन्यस्मिन् पक्षे यथा पारिवारिकदृष्ट्या सामाजिकदृष्ट्या सः विफलः अपि भवितुं शक्नोति। अस्य अभिप्रायः अयम् वर्तते यत् साफल्ये वैफल्ये वा मनुष्यः आत्मानं सामर्थ्यवान् असामर्थ्यवान् वा अवबोधयति; तदा सुखदु:खयोरनुभवं करोति, परं मनुष्यः वस्तुतः कर्ता नैव वर्तते।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।।[4]

भगवद्गीतायां स्पष्टतया प्रबोध्यते यत् रागद्वेषयोः वासः इन्द्रियेषु तथा च एतद्विषयेषु वर्तते। अतः मनुष्यः इन्द्रियविषयेषु वशीभूतः नैव भवेत्, यतोहि रागद्वेषौ कल्याणमार्गे विघ्नकर्तारौ स्तः।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोन वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।।[5]

न कोऽपि मनुष्यः अनुचितकार्ये प्रवर्तयितुमिच्छति यतोहि तस्य अनुचितकर्मसु प्रवृत्तिः एतदर्थं भवति यत् सः तत् कार्यं उचितम् अवगच्छति। वस्तुतः तस्य पारिवारिकपृष्ठभूमिः पारिवारिकजनानां विचाराः अपि प्रभावकारिणः भवन्ति। प्रसिद्धपाश्चात्यमनोवैज्ञानिकस्किनरहैरिसनयोर्मते–

"वातावरणस्य संगठितसामाजिकयोः साधनानां केचन एतादृशाः कारकाः भवन्ति येषां बालकस्य सामाजिकविकासस्य दशायां निश्चितं विशिष्टं च प्रभावः भवति"।[6]

अनुचितकार्यस्य प्रवृत्तेः वातावरणं समाजं च अतिरिच्य अन्यानि कारणानि अपि भवन्ति, यथा कार्यस्य परिणामविषये चिन्तनं न कुर्यात् अर्थात् भविष्यत: कृते न विचारयेत्। विवेकपूर्वकं कार्यकरणे असमर्थः स्यात्। एवमनेकानि कारणानि भवितुमर्हन्ति, तथापि भगवान् श्रीकृष्णः श्रीमद्भगवद्गीतायाम् अनुचितप्रवृत्तेः परिहारार्थं मार्गं बोधयति यत् मनुष्यः प्रतिपलं विषयाणां ध्यानं नैव कुर्यात्। यथोक्तं–

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।[7]

प्रत्येकस्मिन् काले विषयाणामेव ध्यानं चिन्तनं क्रियते चेत् तेषु विषयेषु आसक्तिः भवति अर्थात् तेषु विषयेषु एव विचरणं शोभनं प्रतिभाति तेन कामः उत्पन्नो भवति।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ।।[8]

कामक्रौधौ नितरां हानिप्रदौ उक्तौ यतोहि कामस्य अर्थात् इच्छानाम् समाप्तिः कदापि न जायते। अयं ज्ञान-विज्ञानं नाशयति, एतदर्थम् अयं भयंकरः इति उक्तः।

तस्मात्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ।।[9]

क्रोधः, भयङ्करः उक्तः, यतोहि अनेन शनैः-शनैः बुद्धिः क्षयं प्रति गच्छति, ततः परं मनुष्यस्य अधोगतिः भवति।

क्रोधात् भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।।[10]

कामक्रोधाभ्याम् मुक्तेः उपायः केवलं मनबुद्ध्योः पार्श्वे वर्तते। बुद्धया मनसः नियन्त्रणेन आकांक्षाजनितेभ्यः दुखेभ्यः मुक्तिर्जायते। कठोपनिषदि अपि निर्दिष्टम्–

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रगृहमेव च ।।[11]

अर्थात् अस्य शरीरस्य यात्रायां आत्मा रथी वर्तते। बुद्धिः सारथिरस्ति, मनश्च प्रग्रहमस्ति। बुद्धिः अर्थात् सदसद् विवेकिनी, विवेकेन मनरूपिणा प्रग्रहेण इन्द्रियरूपिणः अश्वान् समुचितदिशायां नियोजयितुं शक्यते।

अत्र मनः प्रग्रहम् अस्मात् कारणात् उक्तमस्ति, यतोहि मनसि अपारशक्तिः वर्तते। सः मनः ज्योतिस्वरूपं इन्द्रियाणामपि परमज्योतिः प्रकाशकं वर्तते। शिवसंकल्पसूक्तेऽपि उक्तम्–

ॐ यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदुसुप्तस्य तथैवेति दूरं गमं ।
ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ।।[12]

भगवद्गीतायाम् अस्य मनसः शक्तिं उदाहृत्य श्लोकोऽयं प्रदाय कथितः

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।।[13]

विषयेषु विचरत् मनः येन साकं भवति तद् एकैव इन्द्रियं तस्य पुरुषस्य प्रज्ञां हरति अर्थात् मनसि संयुक्ते सति कस्यापि इन्द्रियस्य शक्तिः अधिका भवति। भगवद्गीतायां निर्दिष्टं वर्तते यत् मनुष्यः स्वयमेव स्वस्य मित्रं शत्रुः वा वर्तते। यथा–

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।[14]
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ।।[15]

मनुष्यः यत्किमपि कर्म करोति तस्य फलम् अवश्यमेव प्राप्नोति। यथा अग्नेः प्रकृतिः दाहकता तथैव जलस्य प्रकृतिः शीतला वर्तते। विविधपरिस्थितिं परिप्राप्यापि जलाग्नी प्रभावहीनौ नैव भवितुमर्हतः तथैव उचितानुचितकर्मणां प्रभावः मनुष्ये भवत्येव। उचितकर्मणः उचितफलम् अनुचितकर्मणः कुप्रभावः परिप्राप्यते। यदि मनुष्यः विविधविषयेषु आसक्तः भूत्वाऽपि कर्त्तव्याकर्त्तव्यं नैव जानाति चेत् सः स्वस्य शत्रुः वर्तते। तस्य अधोगतिः तु सुनिश्चिता वर्तते, परं सः कर्त्तव्यं जानाति कर्त्तव्ये कदापि प्रमादं नैव करोति चेत् स्वकीयं मित्रं भवति, स्वस्य उद्धारं च करोति, मनुष्यस्य कर्मफलं प्राप्तिः, न भवेत् इदं तु सर्वथा असम्भवम् अस्ति।

इदमेव उक्तम् हि साङ्ख्यदर्शने–

सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवाशाच् चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः ।।[16]

अर्थात् मानवे तत्त्वज्ञाने उत्पन्ने सत्यपि तेन निश्चितकालपर्यन्तं वर्तमानदेहधारणं क्रियते यावत् मनुष्यः उचितानुचितकर्मणां फलं न प्राप्नुयात्। यथा कुम्भकारः घटं निर्मातुं चक्रं भ्रामयति। घटे निर्मिते सति तम् निष्कासयति। तदापि तत् चक्रं विशिष्टं किञ्चिद् कालपर्यन्तं भ्रमति तादृशी स्थितिर्मनुष्यस्य कर्मफलप्राप्तये भवति। अतः कर्मणां सम्पादनं विवेकेन एव करणीयम् इति स्पष्टतया उक्तम् भगवद्गीतायाम्।

इयं सृष्टिः सुनियोजिता वर्तते। मनुष्यः तु कर्मसम्पादनाय केवलं माध्यम एव। वस्तुतः स कर्ता नास्ति, एतदर्थं सः केवलं कर्म कुर्यात् फलस्य इच्छा अथवा तस्यानुमानं नैव कुर्यात्। फलस्येच्छायां तु तस्य अधिकारः नास्ति।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।।[17]

किमपि कार्यं सम्पादनोपरान्तं तस्य फलम् दातुं सुयोग्यनिरीक्षणकर्तुः अधिकारो वर्तते। यथा कोऽपि परीक्षार्थी परीक्षासमाप्ते सति कथयेत् अहं सर्वं शतप्रतिशतं उचितोत्तराणि लिखितवान् तदापि परिणामस्य मूल्यांकनं विषय-विशेषज्ञस्य एव अधिकारः भवति, न तु तस्य परीक्षार्थिनः। तथैव मनुष्याः परमात्मनः शक्त्या चलायमानाः स्थिराः वा भवन्ति। सैव शक्ति (परमात्मा)

ज्ञातुमर्हति यत् कार्याणां सम्पादनं केन प्रकारेण कृतम्। अतः मनुष्यस्य कार्यं केवलं कर्मसम्पादनमेव फलविषयकविवेचना न करणीया तथ्यमिदं श्रीमद्भगवदगीता स्पष्टरूपेण प्रकाशयति।

अनासक्तिः जितेन्द्रियता अस्माकं भारतीयानां परिपाटी वर्तते। भगवद्गीतायां इदं स्पष्टरूपेण लिखितम्–

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।।[18]
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ।।[19]

अर्थात् आत्मा एवं कर्ता-अकर्ता-दुःखादीनां ज्ञानं भगवान् श्रीकृष्णः सूर्यं प्रबोधितवान्। सूर्यः स्वपुत्रं मनवे दत्तवान्। पुनः मनुः इक्ष्वाकुं बोधितवान्। अनेन प्रकारेण परम्परयां इदं ज्ञानं राजर्षिण: प्राप्तवन्तः। तस्मिन् काले इदं लोकव्यवहारे प्रचलितमासीत्। जनाः इदं जानन्ति स्मः, अवगच्छन्ति स्मः, व्यवहरन्ति स्म। किन्तु कालक्रमात् शनैः शनैः इदं ज्ञानं लुप्तं जातम्। पुनः महाभारतकाले इदं गुप्तज्ञानं भगवान्, अर्जुनाय प्रदत्तवान् येन सः आत्मानं गुरूणां सम्बन्धिनां हन्ता न मन्येत। कर्मणः त्यागमपि नैव कुर्यात्, स्वस्य प्रकृतिजन्यकर्मणः त्यागमपि नैव कुर्यात्। अर्जुनं प्रबोधिन् भगवान् सर्वमनुष्येभ्यः जीवनयापनस्य कलायाः निर्देशं दत्तवान्।

श्रीमद्भगवद्गीता एतादृशाक्षयज्ञानकोषः वर्तते यत् समविषमसर्वविधपरि-स्थतिषु मनुष्यस्य मार्गदर्शनं करोति। ये विषया उपस्थिताः तु सन्ति परं दृष्टिगोचराः नैव भवन्ति, ते प्रतिपलं मनुष्यं प्रभावयन्ति, तेषां समाधानं गहनप्रश्नोत्तररूप चर्चामाध्यमेन प्रदत्तं वर्तते–

प्रश्नाः यथा– मनुष्यः सुखं-दुःखं किमर्थम् अनुभवति? अन्तर्द्वन्देन मुक्तिः कथं प्राप्यते?[20] कामस्य कः प्रभावः भवति? क्रोधः किमर्थम् भवति? आसक्तिः कदा जायते? क्रोधे विजयस्य किमुपायः वर्तते? मनसः इन्द्रियस्य च मध्ये कः अधिक प्रभावशाली वर्तते?

उपर्युक्ताः केवलं केषाञ्चन विषयाः सन्ति ये उपस्थिताः क्रियन्ते। एतादृशानां अनेकविषयाणां विवेचनं भगवद्गीतायां कृतम् वर्तते यत् प्रत्येककाले मनुष्यस्य मार्गदर्शनम् करोति। तेषु केवलं केषाञ्चन अंशानामाधारे या जीवनशैली अस्माकं संज्ञाने आगच्छति यया मनुष्यः स्वजीवनं आनन्देन यापयितुम् समर्थः भवितुमर्हति; सा जीवनशैली अधोलिखिता वर्तते–

सकारात्मकभावेन जीवनयापनं, निरहंकार भावः स्वीकर्त्तव्यः विनम्रता अर्जनीया, अनासक्तभावेनकार्य-सम्पादनम्, अदृश्यशक्तेः समक्षं नतमस्तकस्य भावः

भवेत्, कामक्रोधयोः वशीभूतः नैव भवेत्, महात्मनां सङ्गः करणीयः, सर्वे समभावेन द्रष्टव्याः, जितेन्द्रियता भवेत्, स्वधर्मशास्त्राणाम् पाठनम् अवगमनम् इति तदनुव्यवहारः करणीयः, दूरदृष्टिः स्यात्, विवेकेन मोक्षप्राप्तिः करणीया। अनेन प्रकारेण श्रीमद्भगवद्गीता अस्मान् जीवनयापनस्य समुचितं प्रकारं प्रदर्शयति। अतः एषां श्लोकानां चर्चा प्रत्येके गृहे, विद्यालयस्तरे एवञ्च विश्वविद्यालयस्तरे, अनिवार्यरूपेण भवेत्। इदं कार्यं सम्पूर्णमानवजातीनां कृते कल्याणकारि भविष्यति।

सन्दर्भग्रन्थः-

1. आचार्य वाचस्पति मिश्रप्रणीत साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी संहिता ईश्वरकृष्णविरचिता साङ्ख्यकारिका, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ 250002, पृष्ठ 209
2. ईशादि नौ उपनिषद 'हरिकृष्णदासगोयन्दका' (व्याख्याकार) घनश्यामदास जालान, गीता प्रेस गोरखपुर, पृष्ठ 79, 2010
3. दीक्षित हरिनारायण 'भारतमाता ब्रूते ईस्टर्न बुक लिंकर्स, 5825, न्यू चन्द्रावल जवाहर नगर दिल्ली - 110007, 2003, पृष्ठ 245
4. यजुर्वेद, मनोज पब्लिकेशन्स 761, मेन रोड बुराड़ी दिल्ली-110084, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ 447, 2010
5. वर्मा, प्रीती एवं श्रीवास्तव डी. एस. (1992), 'आधुनिक प्रयोगात्मक मनोविज्ञान' ग्यारहवां संस्करण, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।
6. शर्मा, आर. ए. (2013), 'शिक्षा मनोविज्ञान के मूल तत्त्व' तेरहवां संस्करण, आर. लाल. बुक डिपो, मेरठ।
7. श्रीमद्भगवद्गीता गीता प्रेस गोरखपुर 273005
8. श्रीमद्भागवत् महापुराण (प्रथम खण्ड) गीता प्रेस गोरखपुर 273005, पृष्ठ 48
9. सारस्वत डॉ. मालती 'शिक्षा मनोविज्ञान की रूपरेखा' आलोक प्रकाशन अमीनाबाद लखनऊ, 2011, पृष्ठ 211
10. सिंह, अरुण कुमार (2014), 'उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान' आठवाँ संस्करण मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन, दिल्ली।
11. सुलेमान, मुहम्मद (2002), 'उच्चतर शिक्षा मनोविज्ञान', मोतीलाल बनारसी दास प्रकाशन दिल्ली।

---

1. भारतमाता ब्रूते महाकाव्य 1218/
2. श्रीमद्भागवतमहापुराण 110/2/
3. भगवद्गीता 514/
4. श्रीमद्भगवद्गीता 327/

5. श्रीमद्भगवद्गीता 3/4
6. “वातावरण और संगठित सामाजिक साधनों के कुछ ऐसे विशेष कारक हैं जिनका बालक के सामाजिक विकास की दशा पर निश्चित और विशिष्ट प्रभाव पड़ता है”। स्किनर एवं हैरिसन
7. श्रीमद्भगवद्गीता 26/2
8. श्रीमद्भगवद्गीता 337/
9. श्रीमद्भगवद्गीता 34/1
10. श्रीमद्भगवद्गीता2 /63
11. कठोपनिषद् 1/3/3
12. शिवसंकल्पसूक्तम् 1
13. श्रीमद्भगवद्गीता 2/67
14. श्रीमद्भगवद्गीता 6/5
15. श्रीमद्भगवद्गीता 6/6
16. साङ्ख्यकारिका 67
17. श्रीमद्भगवद्गीता 247/
18. श्रीमद्भगवद्गीता 41/
19. श्रीमद्भगवद्गीता 42/
20. “द्वन्द्व या संघर्ष उस समय उत्पन्न होते हैं जब एक व्यक्ति को पर्यावरण की उन शक्तियों का सामना करना पड़ता है जो उसकी स्वयं की रुचियों और इच्छाओं के विपरीत कार्य करती हैं” - क्रो एवं क्रो।

अतिथिसंकाय: (सहायकाचार्यश्रेणी)
संस्कृतसाहित्यविद्याशाखा,
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
लखनऊपरिसरः, लखनऊ (उ.प्र.)।

शाङ्करवेदान्ते प्रमेयविमर्शः

– डॉ. शान्तिमिश्रा

(The Upanishads impart Brahmavidya, the ultimate pursuit of human life, which reveals the supreme purpose of human existence. As the Upanishads embody the essence of the entire Vedic corpus, they are referred to as Vedanta.

The Advaita (non-dualistic) philosophy, propagated by Shankaracharya, acknowledges the sole reality of Brahman. However, due to the limitations of language in describing the pure form of Brahman, the phrase "neti neti" (not this, not that) is employed to convey its ineffable nature. This philosophy is termed Advaita because it negates duality. In this framework, the world appears as a manifestation of Brahman's power (shakti), rather than an ultimate reality. The individual self (jiva) is considered to be of the same essence as Brahman, with its true nature being infinite and all-pervading. Liberation (moksha) is akin to rediscovering a forgotten treasure, where the individual recognizes their inherent unity with Brahman.)

प्राक्कथनम्–

'**अध्यात्मविद्या विद्यानामिति**' [1] श्रीमद्भगवदुक्त्या अध्यात्मविद्यायाः श्रेष्ठता प्रतिपादिता भवति। सैव दर्शनशास्त्रमित्युच्यते। तस्मिन् दर्शनेऽपि वेदान्तस्य पराकाष्ठा सर्वविदिताऽस्ति। वेदान्तदर्शनं दर्शनेषु सर्वेषु दर्शनीयतमं दर्शनम् इत्युल्लिखितम्। अत एव 'वेदान्तोऽपि' 'अद्वैत' विशेषणविशिष्टेनोद्बोध्यते। सम्पूर्णे-ऽस्मिन् विश्वे वेदान्तदर्शनेनैव भारतवर्षस्यास्य परमपवित्रस्य प्रतिपराकाष्ठा। [2] अद्वैतदर्शनविमर्शः, अद्वैतदर्शनेनाभिमतसिद्धान्तविचारः, अद्वैततत्त्वसमीक्षणम् एवञ्च अद्वैतपदार्थस्य सूक्ष्मविवेचनं हि अस्य शोधपत्रस्य प्रयोजनम्।

अद्वैतपदार्थः–

'इनसायक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स' इत्यत्र अद्वैतशब्दस्य तात्पर्यं द्वैतविरोधि मन्यते। तत्राद्वैतपदार्थः द्वैताभावः तस्य पारमार्थिकत्वे ब्रह्मस्वरूपत्वात् स एव तत्त्वम्। तदपारमार्थिकत्वे तु द्वितीयाभावोऽतत्त्वम्, तत्त्वन्तु ब्रह्मैव। द्वाभ्यां प्रकाराभ्यामनामरूपाभ्यामितं ज्ञानं द्वीतम्, द्वीतमेव द्वैतं न द्वैतम् अद्वैतम्। तच्च द्वैताभावोपलक्षितं ब्रह्म। यथोक्तं बृहदारण्यकभाष्यवार्तिकेद्विधेतं द्वीतमित्याहुस्तद्भावो द्वैतमुच्यते।" [3] उक्तं च सिद्धान्तबिन्दुकारेण "न विद्यते द्वैतं द्विधाभावो यत्र तत्"। [4] यथोक्तं संक्षेपशारीरकस्य सुबोधिनीटीकायाम् "स्थूलादिवाक्यैः परिहृतद्वैतप्रपञ्चम्"। [5] एवञ्च संक्षेपशारीरकस्य अन्वितार्थप्रकाशटीकायाम् उक्तं यत् "तुच्छत्वम् असत्त्वम्

अनृतत्वम् आद्यसहनवपुः सत्यज्ञानान्तानन्दसद्रूपं परमं पदमत एव परिहृतसकलप्रपञ्चं यत् तदेव तवात्मेति त्वमवेहि। किं कृत्वा भेदप्रतिभासहेतुं तमोऽविवेकलक्षणं वाक्यन्निरस्येति योजना। पुनपुनरवस्थात्रयापोहेन त्वमर्थस्व-रूपविवेके तदविवेकलक्षणतमसो विलयादात्मब्रह्मणोर्भेदहेत्व-भावान्निःसंशयमाप्पामेत्येवैकलक्षणं ब्रह्मोपास्व।"[6] यथोक्तमाचार्यविद्यारण्यमुनेः "मायाख्यायाः कामधे-नोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ। यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वं त्वद्वैतमेव हि।"[7] 'अद्वैतम्' इत्यस्य द्विधा इतं द्वितम्, तदेव द्वैतं, न विद्यते द्वैतं यत्रेति व्युत्पत्त्या, द्वितीयाभावोपलक्षितं ब्रह्मेत्यर्थः, "एकमेवाद्वितीयम्" इति श्रुतेः। अथवा द्वयोर्भावः द्विता, द्वितैव द्वैतं भेदः, न द्वैतमद्वैतं भेदाभाव ऐक्यमिति यावत्। अद्वैतसिद्धान्तोऽद्वैतवादः। सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदत्रयरहितपरंब्रह्मणा सह जीवात्मन एकत्वनिरूपकसिद्धान्तो-ऽद्वैतवादः इति निष्कर्षार्थः। ब्रह्मसूत्रस्य शाङ्करभाष्यं शारीरकभाष्यमित्युच्यते। यत्र अद्वैतवादस्य उपस्थापना शङ्करभगवत्पादैः कृताऽस्ति। तानि शारीरकसूत्राणी-त्युच्यन्ते। कुत्सितं शरीरं शारीरकं, तत्र भवः शारीरकः जीवात्मा इति। सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यमखण्डमित्यर्थः। यत्र ब्रह्मणि कश्चिद् भेदो नास्ति तद् अद्वैतम्-तद् ब्रह्मेव। उक्तञ्च दशश्लोक्याम्-न चैकं तदन्यद् द्वितीयं कुतः स्यात् न केवलत्वं न चाऽकेवलत्वम्।

अद्वैतमते तत्त्वसमीक्षणम्–

अद्वैत वेदान्ते बहूनि तत्त्वानि सन्ति। तद्यथा– ब्रह्म, सगुणब्रह्म निर्गुणब्रह्म, सोपाधिकः, सर्वज्ञः, परमेश्वरः, जीवः, जीवस्वरूपम्, आत्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वम्, जीवात्म-परमात्मनोः ऐक्यम्, तयोः जीवात्मपरमात्मनोः अभेदप्रतिपादनम्, मायोपाधिना ईश्वरः, अविद्योपाधिना जीवः इति प्रतिपादनम्, अविद्या, माया उपाधिः, संसारस्य अनादित्वम्, सृष्टिः, जगत्, सृष्टिविषये ब्रह्मणः उपादानकारणत्वं, निमित्तकारणत्वम्, प्रपञ्चज्ञानेन्द्रियाणि, एवमन्तः करणस्योत्पत्तिः, पञ्चकर्मेन्द्रियाणि तथा प्राणस्योत्पत्तिः, स्थूलशरीरम्, लिङ्गशरीरम्, कारणशरीरम्, सत्तात्रैविध्यम्, ब्रह्मणि पञ्चभूतानां लयः, सृष्टेः पूर्वं ब्रह्मणः अद्वितीयत्वं, नामरूपात्मक-प्रपञ्चनिरूपणम्, नामरूपातीतस्य ब्रह्मणः स्वरूपप्रतिपादनमित्यादीनि तत्त्वानि प्रतिपादितानि, एवं तेषां तत्त्वानां स्वरूपविवेचनमपि सम्यक् प्रसाधितम्।

अत्र उपर्युक्तानां तत्त्वानां क्रमेण विचारः क्रियते। तथाहि–

आत्मा अनात्मा चः–

ब्रह्मसूत्रभाष्यं प्रारिप्सुना भगवता शंकरेण सर्वतः पूर्वं युष्मदस्मदो-रित्यादिना आत्मानात्मनोः विवेचनं कृतम्। सूक्ष्मेक्षिकया अवलोकनेन अयं जागतिकप्रपंचः प्रधानतया द्रष्टृदृश्य-भेदेन उभयथा विभाजयितुं शक्यते। समस्तप्रतीतीनामनुभवकर्ता एकः, अनुभवविषयश्च द्वितीयः। तत्र समस्तप्रतीतीनां चरमः साक्षी आत्मा, तदितरत्सर्वं तत्प्रतीतिविषयः अनात्मा। आत्मतत्त्वं हि नित्यम्, निश्चलम्, निर्विकारम्, असंगम्, अखण्डम्, सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यं कूटस्थमेकं शुद्धचैतन्यस्वरूपं निर्विशेषं च वर्तते– 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इत्यादिश्रुतयस्तत्र प्रमाणम्। बुद्धिमारभ्य स्थूलभूतपर्यन्तं प्रपञ्चमात्रस्य च कश्चिदात्मना सम्बन्धः। जीवश्च अविद्यावशादेव देहेन्द्रियादिभिः स्वसम्बन्धं संस्थाप्य (स्वीकृत्य) आत्मानम् अन्धं विद्वांसं मूर्खं, सुखिनं, दुःखिनं कर्तारं भोक्तारं वा मन्यते। इत्थं बुद्ध्यादिभिः सह प्रतीयमानमात्मनस्तादात्म्यं शंकरेण 'अध्यास' इति शब्देन निरूपितम्। तत्सिद्धान्तानुसारं हि समस्तप्रपञ्चस्य सत्यत्वप्रतीतिर्मायापरपर्य्याया-ध्यासनिमित्तेति अद्वैतवादः अपि अध्यासवादः, मायावादः वा कथ्यते। इत्थं च यत् किंचिद् दृश्यं प्रपञ्चजातं तत् सर्वं मायापरपर्यायाज्ञानेनैव विभिन्नं प्रतीयते। वस्तुतस्तु तत्सर्वमेकमखण्डं शुद्धं चिन्मात्रम्। ततः पृथक् न कस्यापीह वस्तुनः सत्ता वर्तते।

ज्ञानमज्ञानं चः–

समस्तविभिन्नप्रतीतिस्थाने एकाखण्डसच्चिदानन्दघनानुभव एव ज्ञानम्, तत्सर्वाधिष्ठाने दृष्टिम् अदत्वैव भेदे सत्यत्वबुद्धिस्थापनं चाज्ञानम्, तात्त्विकदृष्ट्या यथा सर्वेषां सौवर्णालंकाराणां कटककुण्डलादीनां सुवर्णमात्रत्वम् विभिन्नानां च घटरुचकादीनां मृण्मयपात्राणां च मृत्तिकामात्रत्वमेवं वीचितरंगाणां वा यथा जलाभिन्नत्वमेव, तथैवानेकविधभेदसंकुलितं जगत् केवलं शुद्धं परब्रह्मैवेति न ततो भिन्नम्। यतो न तदतिरिक्तं किमपि वस्तु वर्तते। अत एव श्रुतिः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति बोधयति। एवंभूतः अभेदबोध एवं ज्ञानम्। यावन्न इत्थं बोधः न तावज्जीवः संसारचक्रान्मुक्तो जायते। सत्येव चास्मिन् बोधे तद्दृष्टया जगतः अत्यन्ताभावः इत्यन्येषां दृष्ट्या अवलोक्यमानधृतविग्रहः अपि स स्वयं मुक्तो भवति।

जीवः–

"**जीवो ब्रह्मैव नापरः**" इति शंकरकथनानुसारं जीवो ब्रह्मणः आभासमात्रमिति तत्तुल्यस्वभावः स्वप्रकाशश्चेति घटे भग्ने घटाकाशो महाकाश

इव जीवः अपि बुद्धिरूपोपाधिविनाशानन्तरं ब्रह्मणि विलीयते। न तदानीं तदस्तित्वं तद्भोग्यं वा किमपि अवशिनष्टि। स चास्मिन्नेव देहे ब्रह्म साक्षात्कृत्य जीवन्मुक्तः शरीरपातानन्तरमतीतसांसारिकसुखदुःखः सच्चिदानन्दब्रह्मस्वरूपो जायते। अनेकश्रुति-वाक्यानि जीवात्मनामणुं प्रतिपादयन्ति, किन्तु शंकरस्यैतन्मतं यत् जीवो ब्रह्मणोऽभिन्न इति तत्तुल्य एव विभुः। उपनिषत्सु जीवात्मनः अणुत्वप्रतिपाद-नस्यैतत्तात्पर्यं यत् सः इन्द्रियाग्राह्यः अत्यन्तसूक्ष्मो वर्तते। तन्मते धृतविग्रहः अन्तःकरणावच्छिन्नः परमात्मैव जीवः। अद्वैतवेदान्तस्यायं मूलसिद्धान्तः यत् व्यष्टिसमष्टयोर्न किंचिदन्तरम्। तत्र व्यक्तिशरीरं व्यष्टिः, समूहात्मकं च जगत् समष्टिः। एतत्सिद्धान्तानुसारं व्यष्टौ स्वीकृतस्य स्थूल-सूक्ष्म-कारणनामकशरीरत्रयस्याभि-मानिनो जीवाः क्रमशः विश्व-तैजस-प्राज्ञाः उच्यन्ते। समष्टौ च तदभिमानि चैतन्यं क्रमशः विराट् (वैश्वानरः) सूत्रात्मे (हिरण्यगर्भः) श्वरनाम्नाभिधीयते। व्यष्टिसमष्ट्या-भिमानिपुरुषयोरभिन्नत्वेऽपि आत्मा एभ्यः त्रिभ्यः पृथक् स्वतन्त्रता सत्ता वर्तते।

मायाः–

शंकरमते माया, अविद्या अज्ञानं चेति पर्यायाः। तत्र मीयते अमेयमनयेति माया ब्रह्मणः शक्तिः। ब्रह्माश्रिता सैव माया तत्र विविधविवर्तानुत्पादयति इति जगतो वैविध्यम् औपाधिकम्। सदसत्कर्मफलहेतुकस्वर्गनरकविषये च शंकरस्येयं धारणा यत्कर्मानुसारं मनुष्याणां गतिरिति धृतनवशरीरकृतशुभाशुभकर्मणां फलभोगः। इत्थं च कृतयज्ञादिशुभकर्माणो जनाः पितृयानेन सगुणब्रह्मोपासकाश्च देवयानेन मुक्तिमार्गमनुसरन्ति। अशुभकर्मणां च कृते तृतीयं स्थानं सुरक्षितं वर्तते।

मोक्षः–

व्यावहारिकजगतः सन्तापेभ्यो मुक्तिप्राप्तिरेव तत्त्वसाधनस्य चरमं लक्ष्यम्। मनुष्यमात्रस्य च जीवनं यानि ध्येयानि पुरस्कृत्य प्रवर्तते तानि पुरुषार्थनाम्नोच्यन्ते। धर्मार्थकाममोक्षाश्च ते चत्वारः पुरुषार्थाः। मोक्षश्च तेषु सर्वश्रेष्ठः। एतद्विषये साधारणजनानामियं धारणा यदयं पुरुषार्थो नानेन शरीरेणावाप्यते। किन्तु शंकरस्योपनिषदाधारेणैतन्मतं यज्ज्ञानप्राप्तावनेनैव शरीरेण मोक्षः समवाप्यते। 'यदा सर्वे विमुच्यन्ते कामा ह्यस्य हृदि स्थिताः। तदा मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' इत्यादिश्रुतयस्तत्र प्रमाणम्। एषैव च मुक्तिर्जीवन्मुक्तिरुच्यते। इत्थं च तत्त्वमसीत्याद्यभ्यासेनोत्पन्नं विशुद्धं ज्ञानं

जीवस्यानाद्यज्ञानं तज्जन्यमलिनसंस्कारजातं च विनाशयतीत्यहं ब्रह्मास्मीति रूपेण तदानींतनः ब्रह्मजीवयोरैक्यानुभव एव मोक्षः।

साधनम्–

भगवता शंकरेण श्रवणं मननं निदिध्यासनं च ज्ञानस्य साधनं स्वीकृतम्। किन्तु तत्त्वजिज्ञासायामेव तत्साफल्यमुक्तम्। तज्जिज्ञासोत्पत्तौ च दैवी सम्पत्तिः सहायिकेति तन्मते विवेकवैराग्यशमादिषट्कसम्पत्तिमुमुक्षुतासाधनसम्पन्नस्यैव चित्तशुद्ध्यनन्तरं ब्रह्मतत्त्वजिज्ञासा समुत्पद्यते। एवंभूतचित्तशुद्ध्यर्थं निष्कामकर्मानुष्ठानस्यात्यन्ति-कावश्यकत्वम्।

भक्तिः–

भगवता शंकरेण भक्तिर्ज्ञानोत्पत्तेः प्रधानं साधनममन्यत, फलस्वरूपेण तु ज्ञानमेव तेन स्वीक्रियते। भक्तिं लक्षयता च तेन विवेकचूडामणौ "स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते" इत्युक्तम्। इत्थञ्चात्मनः शुद्धस्वरूपस्मरणस्य भक्तित्वेनात्म-जिज्ञासोर्भक्तेः प्राधान्येऽपि न तेन सगुणोपासनोपेक्षिता। अत एव 'न च कार्ये प्रत्यभिसन्धिः' इति सूत्रे भाष्ये 'किं विषयाः पुनर्गतिश्रुतयः' इत्युपक्रम्य "सगुणविषया भविष्यन्तीति सत्यकामादिभिर्गुणैः सगुणस्यैवोपास्यत्वात् सम्भवति गतिः" इति सगुणोपासकानां गतिरुक्ता। प्रबोधसुधाकरे च तेन भगवतः श्रीकृष्णस्य स्पष्टतयैव भक्तिः प्रदर्शिता वर्तते।

कर्मसन्यासः–

श्रीशंकराचार्येण स्वभाष्ये यत्र-तत्र कर्मणां स्वरूपेण त्यागमुक्त्वाजिज्ञा-सूनामुपलब्धात्मतत्त्वावबोधानां चोभयेषां कृते सर्वकर्मसन्यासस्यावश्यकता प्रतिपादिता। तन्मते निष्कामकर्मणा केवलं चित्तशुद्धिः। परमपदावाप्तिस्तु कर्मसन्यासपूर्वकं श्रवणमनननिदिध्यासनादिभिरात्मतत्त्वावबोधानन्तरमेव सम्भवति। व्यावहारिकपक्षश्चैतत्सिद्धान्तस्यायं यद् ब्रह्मजीवयोरैक्यावबोधोपलब्धये मानसिक-शुद्धयर्थं कर्म अवश्यं कर्त्तव्यम्, किन्तु ततः परं तत्परित्याग एव वरीयान्। ज्ञानकर्मणोः प्रकाशान्धकारयोरिव परस्परविरुद्धतया कर्मसन्यासमन्तरेण परिपूर्ण-मोक्षानुपपत्तेः। अयमेव निवृत्तिमार्गः ज्ञाननिष्ठा वोच्यते।

अध्यासविवेचनम्– "अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः" इति निश्चीयते भाष्यकारेण। तद्यथा– पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलो वेति बाह्यधर्मान् अध्यस्यति। स्थूलोऽहं कृशोऽहं गौरोऽहं तिष्ठामि गच्छामि

लङ्घयामि इत्यादिदेहधर्माद् स्वात्मनि अध्यस्यति। तथा इन्द्रियधर्मान् मूकत्वम्, काणत्वम्, क्लीबत्वम्, बधिरत्वम्, अन्धत्वमित्यादीन् बुद्धीन् अतस्मिन्नात्मनि कल्पयति। एवमन्तःकरणधर्मान्काम-सङ्कल्प-विचिकित्साध्यवसायादीन् शुद्धात्मनि आरोपयति। एवमहंप्रत्ययिनमशेष-स्वप्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मन्यध्यस्य, तं च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेण अन्तःकरणादिषु अध्यस्यति। एवं भाष्यकाराः अध्यासस्व-रूपविचारं प्रतिपाद्य जनानां सम्यगवबोधनाय सूत्रवत् वाक्यमेकमुदाजहार– "पश्वादिभिश्चाविशेषात्" इति। यथा हि पश्वादयः शब्दादिभिः श्रोत्रादीनां सम्बन्धे सति शब्दादिविज्ञाने प्रतिकूले च ततो निवर्तन्ते, अनुकूले च प्रवर्तन्ते, यथा दण्डोद्यतकरं पुरुषमभिमुखमुपलभ्य मां हन्तुमयमिच्छतीति पलायितुमारभन्ते, हरिततृणपूर्णपाणिमुपलभ्य तां प्रत्यभिमुखीभवन्ति एवं पुरुषा अपि व्युत्पन्नचित्ताः क्रूरदृष्टिनाक्रोशतः खड्गोद्यतकरान् बलवतः उपलभ्य ततो निवर्तन्ते, तद्विपरीतान् प्रति प्रवर्तन्ते। अतः आत्मनः पशोश्च समानः प्रमाणप्रमेयव्यवहारः। पश्वादीनां च प्रसिद्धोऽविवेकपुरस्सरः प्रत्यक्षादिव्यवहारः। तत्सामान्यदर्शनात् व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादिव्यवहारः तत्कालः समान इति निश्चीयते। एवमनादिरनन्तः नैसर्गिकोऽध्यासः मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः इति अध्यासविचारः पर्यवसितः।

सत्तात्रैविध्यविचारः–

भवति अस्माकं त्रिविधात्मिकायाः सत्तायाः विचारः। पारमार्थिकी, व्यावहारिकी, प्रातिभासिकी चेति सत्तात्रयम्। तत्र प्रातिभासिकीसत्तायाः उदाहरणम्– इदं रजतमिति। यद्यपि वाक्येऽस्मिन् ज्ञानद्वयं तिष्ठति–एकमिति पारमार्थिकं ज्ञानम् अन्यत् रजतमिति प्रातिभासिकं ज्ञानं तिष्ठति, तथापि प्रतिभासमानकाले ज्ञानमेकमेव तिष्ठति–रजतज्ञानमथवा शुक्तिज्ञानमिति। यतः परमार्थ–भूतायां शुक्तिकायां रजतस्यारोपः क्रियते। आरोपितत्वात् फलात्मकं ज्ञानमेकमेव। तथा चोक्तं सुरेश्वराचार्येण स्ववार्तिके–

शुक्तीमदशंचैतन्यस्थिताऽविद्या विजृम्भते ।
रागादिदोषसंस्कारसचिवा रजतात्मना ।।
इदमाकारवृत्त्यन्तचैतन्यस्था तथाविधा ।।
विवर्तते तद्रजतज्ञानाभासात्मनाऽप्यसौ ।।
सत्यमिथ्यात्मनोरैक्यादेकस्तद्विषयो मनः ।
तदायत्तफलैकत्वाज्ज्ञानैक्यमुपचर्यते ।।[8] इति ।

व्यवहारिकी चिन्ता अत्र तिष्ठति–अस्माभिः व्यावहारिकदशायां जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्त्यवस्थासु आत्मज्ञानसाक्षात्कारपर्यन्तं सर्वैः इष्यमाणत्वेन अनुभूयमानत्वेन च ये सन्ति विषयाः तेषां ह्यः अद्य श्वः इति कालत्रयाबाध्यत्वेन या अस्ति सत्ता सा व्यावहारिकसत्यत्वेनोच्यते इति। यथा– सोऽहम्, घटपटादयः। ब्रह्मणः सत्ता पारमार्थिकी इत्युच्यते। एतद् ब्रह्म त्रिकालाबाध्यत्वेन कथ्यते। अत्र त्रिकालाबाध्यत्वं परमार्थत्वेनोच्यते। ब्रह्मज्ञानानन्तरं पुनरपि तस्य जीवस्य जन्म नास्ति इत्यतः परमार्थत्वेन इयं सत्ता स्वीक्रियते। इयं सत्ता केवलमागमप्रमाणगम्या भवति। त्रिविधानां सत्तानां स्वरूपमेवं प्रतिपादितं वेदान्तग्रन्थेषु– **कालत्रये ज्ञातृकाले प्रतीतिसमये तथा।**

बाधाभावात् पदार्थानां सत्त्वं त्रैविध्यमिष्यते ।।
तात्त्विकं ब्रह्मणा सत्त्वं व्योमादेर्व्यावहारिकम्।
शुक्त्यादेरर्थजातस्य प्रातिभासिकमिष्यते ।।
लौकिकेन प्रमाणेन यद् बाध्यं लौकिकेऽवधौ।
तत् प्रातिभासिकं सत्त्वं बाध्यं सत्येव मातरि ।।
वैदिकेन प्रमाणेन यद् बाध्यं वैदिकेऽवधौ।
तद् व्यावहारिकं सत्त्वं बाध्यं मात्रा सदेव तत् ।।[9]

इति। अर्थात् ब्रह्मणः तात्त्विकी सत्ता पारमार्थिकी, आकाशादीनां सत्ता व्यावहारिकी, शुक्त्यादिषु रजतादिप्रतीतिरूपा या सत्ता सा प्रातिभासिकी इति सत्तात्रयाणां विचारः।

मायाविद्ययोः स्वरूपविवेचनम्–

सत्वरजस्तमोगुणात्मिका या प्रकृतिः सा द्विविधाशुद्धसत्वप्रधाना, मलिन-सत्वप्रधाना चेति। तत्र शुद्धसत्वप्रधाना माया इत्युच्यते। मलिनसत्वप्रधाना अविद्या इत्युच्यते। तथा चोक्तं पञ्चदश्याम्–

सत्वशुद्ध्यविशुद्धाभ्यां मायाविद्ये च ते मते ।।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः।
अविद्यावशगस्त्वन्यः तद् वैचित्र्यादनेकधा ।।[10]

इति। तथा च ब्रह्म मायामयमविद्यामयमिति द्विविधत्वेन व्यवह्रियते व्यावहारिकदशायाम्। व्यावहारिकदशायामित्युक्तत्वात् परमार्थतः एकं ब्रह्म इत्यर्थतः सिद्धम्। शुक्तिरजतमित्यत्र भवति यद् भानं तदविद्यायाः परिणामः, न तु मायायाः इति वेदान्तग्रन्थे सुष्ठु प्रतिपादितम्। समान्यतः स्वभावतश्च प्रश्नोऽयमुदेति यत् मायाविद्ये परस्परमभिन्ने उत भिन्ने इति। अस्योत्तरत्वेन उपरि प्रतिपादितः श्लोकः भवति। अस्मात् श्लोकात् मायाविद्ये परस्परं भिन्ने स्तः

तत्तदुपाधिवशेन इति सिद्धम्। स्वाश्रयमप्यामोहयन्ती कर्तुरिच्छामनुसरन्ती माया, तद्विपरीता अविद्या इति तयोः लक्षणमुक्तम्। केचन वदन्ति–अविद्यायां ये धर्माः सन्ति–अनिर्वचनीयता, तत्त्वप्रतीति–प्रतिबन्धकता विपरीतज्ञानावभासकता इत्येते मायायामपि सन्तीति कृत्वा परमार्थतः मायाविद्ये इति एकं तत्त्वमिति। एते "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" इति श्रुतिमुपोद्बलकत्वेन स्वीकुर्वन्ति। मतमेतद् तेषामेव भवति। ब्रह्मणि शक्तिद्वयमस्तीति उच्यते– एका विक्षेपात्मिका अन्या आवरणात्मिका इति। तथा चोक्तम्–

माया विक्षिपदज्ञानमीशेच्छा वशवर्तिता।
अविद्याऽच्छादयत्तत्त्वं स्वातन्त्र्यानुविधायिका ।।

इति। अयं भावः– विक्षेपशक्तिविशिष्टपरमात्मनः इच्छानुसारं वशीकृतं यदज्ञानं तत् माया इत्युच्यते। आवरणशक्तिविशिष्टपरमात्मनः स्वतन्त्रत्वेन वर्तमानं यदज्ञानं तत् अविद्या इत्युच्यते। अनेन अयं निष्कर्षः– अवस्था एवमुपाधिभेदेन मायाविद्ययोः भेदः भासितः भवति। यदि एतौ आत्मनः शक्तित्वेन स्वीक्रियते तर्हि ब्रह्म एकं वस्तु इत्यभ्युपगमात् तस्य शक्तिरपि एका एव भवितुमर्हति इति व्यवहारात् मायाविद्ये भेदाभेदत्वेन वर्तेते इत्यपि वक्तुं शक्यते। सिद्धे च सति भेदाभेदे, तयोः एकत्वमपि सिध्यति इति एकत्ववादिनां पक्षः।

अविद्यायाः प्रमाणम्–

इदानीमेकः प्रश्नः समुदेति यत् अविद्यायाः अस्तित्वे किं प्रमाणमिति? समाधानत्वेन "अहमज्ञः मामन्यं च न जानामि" इत्यादिव्यवहारिकं वचनमेव अविद्यायाः सत्वे प्रमाणं भवति इत्युच्यते। एतादृशः प्रत्यक्षानुभवः सर्वेषु प्राणिषु दरीदृश्यते तत्तद् व्यहारदशायाम्। अस्मिन् अनुभवे आत्माश्रयत्वेन बाह्याध्यात्मनि व्यक्तायाः एकस्याः जडात्मिकशक्तेरनुभूतिस्तिष्ठति। एतदनुभूयमानमज्ञानं ज्ञानस्या-भावरूपमपि न भवति। किन्तु ज्ञानभिन्नाभावरूपातिरिक्तः अन्यः पदार्थः इत्युच्यते। यतो हि पदार्थत्वेन स्वीकृतमेतद् अज्ञानं वस्तु भावरूपत्वेन दृश्यमानप्रपञ्चस्य उपादानकारणं भवति। यदि इयमविद्या ज्ञानाभावस्वरूपत्वेन चिन्त्यते तदा दृश्यमानभावरूपजगतः उपादानकारणत्वेनास्ति इति न सिध्यति। अभावस्तु न कस्यापि उपादानत्वेन तिष्ठति। "अहमज्ञः" इत्यत्र यद् भवति ज्ञानं तत् प्रत्यक्षं न भवति, अपितु तत् परोक्षज्ञानमिति न च वाच्यम्। अत्र कारणमेतद् अस्ति-यदि परोक्ष्येण मन्यते तर्हि अनुमानादि–अन्यतमप्रमाणे तस्य ग्रहणं भविष्यति। अनुमानशब्दार्थापत्त्यादित्रिषु प्रमाणेषु न केनापि अस्य ज्ञानं सिध्यति। यस्मात् प्रत्यक्षेतरत्वेन यानि सन्ति कियन्ति प्रमाणानि तेषां कारणं

ज्ञानं, सत्यप्येवं तानि अनुमानादीनि ज्ञानस्य कारणत्वेन तिष्ठन्ति। तद्यथा– अनुमानप्रमाणस्य हेतुः यल्लिङ्गज्ञानं अर्थात् ज्ञातलिङ्गं तदनुमितिजनकं भवति। शब्दजन्यबोधेऽपि शाब्दं ज्ञानम् एवमेव अर्थापत्तिस्थले अनुपपद्यमानमर्थज्ञानं कारणं भवति। अर्थात् अज्ञातशब्दोऽपि शाब्दबोधे न कारणं भवति, अत एव बधिरस्य शब्दज्ञानं नास्तीत्युच्यते। अर्थापत्तावपि– "पीनो देवदत्त; दिवा न भुङ्क्ते" इत्यत्रापि देवदत्तस्य दिवाभोजनं विनापि तस्य पीनत्वेन रात्रिभोजनरूपार्थस्य बोधकं भवत्येव। प्रकृते तु "अहमज्ञः" इत्यत्र लिङ्गादिज्ञानानामसम्भवात् तस्य परोक्षप्रतिभासत्वं न सिध्यति। तथा च एतत्सिद्धमस्ति यत् "अहमज्ञः" इत्यादिज्ञानाभावविषयकत्वेन यद् ज्ञानं तदनुभवस्वरूपात्मकमिति। अतः तत्र अनुभवस्यापेक्षा अनिवार्यतया कर्तव्या एव। सति अनुभवे तस्याभावः न तिष्ठति। अन्तःकरणे आत्मनः अभेदभ्रमः यदा जायते तस्मिन् समये आत्मान्तःकरणयोः भेदप्रतीतिः नास्ति। यस्मिन्नन्तःकरणे आत्मनः अध्यासः, स एवाध्यासः अन्तःकरणस्य विषयाकारत्वेन परिणमति। अपि च तस्य परिणामस्य यः आश्रयः स एव ज्ञाता इति कथ्यते। अध्यास एव अविद्येति उच्यते। तथा चोक्तं शाङ्करभाष्ये– "तमेतमेवं लक्षणमध्यासं पण्डिताः[11] अविद्येति मन्यन्ते" तस्मात् "अहमज्ञः" इति प्रत्यक्षानुभवेन अविद्यायाः सिद्धिः इति कृत्वा अविद्यायां प्रत्यक्षप्रमाणं सिद्धं भवति।

अविद्याया आश्रयः–

वाचस्पतिमिश्रमहोदयानां मतानुसारमविद्यायाः आश्रयः जीवः, एवं विषयः ब्रह्म इति। अर्थात् मायोपाधिकः ईश्वरः, अविद्योपाधिकः जीवः इत्युक्तत्वात् ब्रह्मविषयिकी अविद्या जीवाश्रिता इति सिद्धम्। एतेषां वचनानुसारं यदि ब्रह्मणि अविद्याश्रयत्वं मन्यते तर्हि जीववत् ब्रह्म अपि अज्ञम् इति स्यादिति। अतः जीव एव अविद्याश्रयत्वेन अस्ति इत्यभ्युपगन्तव्यम्। विवरणकाराणां संक्षेपशारीरकाणां च पक्षे तु इत्यभ्युपगन्तव्यम्। विवरणकाराणां संक्षेपशारीरकाणां च पक्षे तु एतन्मतं भवति– अविद्याश्रयः शुद्धचैतन्यस्वरूपः इति। एतेषामुक्तिः जीवस्तु औपाधिकः, अविद्योपा-धिकरणानन्तरमेव जीवसंज्ञा भवति। जीवसंज्ञायाः पूर्वम् अविद्याश्रयत्वेन विशुद्धब्रह्म एवेति भवति। अभिहितं संक्षेपशारीरके–

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विशेषचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः ।।

मिथ्यात्वविचारः–

यद्यपि आत्मनः एकत्वे अन्यत् सर्वं मिथ्या इति सिध्यति तथापि संक्षेपेण तस्य मिथ्यात्वस्वरूपस्यापि उपवर्णनं भवति। तथा हि– दृश्यप्रपञ्चः बुद्ध्यादयश्च मिथ्याभूताः इति अस्मिन् वेदान्तशास्त्रे प्रतिपाद्यते अद्वितीयः सः परमात्मा स्वशक्त्या विचित्ररूपेण परिदृश्यमानममुं प्रपञ्चं सृजति अनन्तरं च सृष्टं सर्वं जगत् स्वात्मनि विलीनं करोति। प्रपञ्चस्य जन्मनाशौ भवतः इति श्रुतिस्मृतिभ्याम-भ्युपगतत्वात् दृश्यमानः प्रपञ्चः मिथ्या भवति। यद्यत् उत्पत्तिमत् तत्तत् मिथ्या भवति इति निश्चीयते। ऋग्वेदोक्तपुरुषसूक्तानुसारं प्रपञ्चस्य सृष्टिरनुभूयते साम्प्रदायिकैः। बुद्ध्यादयस्तु जीवस्य धर्माः भवन्ति। शरीरे आत्मनः प्रवेशानन्तरं तत्र तस्य बुद्ध्यादयः विषयानुसारं जायन्ते। यदा उपाधिभूतशरीरात् आत्मा निर्गच्छति तदा सर्वे बुद्ध्यादयः तस्मिन् लीयन्ते। अतः बुद्ध्यादयोऽपि मिथ्याभूताः इति कथ्यन्ते। अत एवोच्यते साम्प्रदायिकैः–

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या अभेदः परमार्थतः। इति ।

परिदृश्यमानाः नामरूपादिविशिष्टाः एते जीवात्मानः, भूतभौतिकप्रपञ्चस्य तस्मात् परमात्मनः उत्पद्यन्त इति शास्त्रादवगम्यते। अतः दृश्यमानं सर्वं मिथ्या इति अस्मदाचार्यैः निश्चप्रचं निश्चीयते।

परिणामवादः–

अद्वैतिनस्तावत् द्विविधाः– परिणामाद्वैतिनः, विवर्ताद्वैतिनश्चेति। तत्र भास्करभर्तृप्रपंच–यादवप्रकाशादयः परिणामाद्वैतिनः। तेषु भास्करः उपाधिपरिणाम-स्वीकर्ता। बृहदारण्यकव्याख्याता भर्तृप्रपंचः, ब्रह्मसूत्रभाष्यरचयिता यादवप्रकाशश्च स्वरूपपरिणामवादमेव स्वीचक्रतुः। विवर्ताद्वैतवादस्तु शङ्कराचार्यसम्मतः। तत्र परिणामो नाम उपादानसमसत्ताकान्यथाभावः। विवर्तस्तु उपादानविषमसत्ताको-ऽन्यथाभावः इति परिणामविवर्तयोः भेदः।

परिणामाद्वैतिनां मते ब्रह्म सविशेषमेव। विजातीयविशेषाणां स्वगतविशेषाणां च ब्रह्मणि अभ्युपगमात्। परं तु एतेषां मते वस्तुतः जीवब्रह्मणोः भेदानभ्युपगमात् स्वाभाविकभेदस्वीकाराच्च सजातीयाः विशेषाः परं न स्वीक्रियन्ते। एतेषां मते उपादानोपादेययोः भेदाभेदः तन्निबन्धनं च सामानाधिकरण्यम्। आचार्याः रामानुजाचार्याः अपि परिणामाद्वैतमेव उपस्थापयामासुः। तत्र एतावान् भेदः– सिद्धान्ते हि जीवब्रह्मणोः स्वाभाविकभेदानभ्युपगमात् भेदस्य सुस्थिरत्वेन सजातीयविशेषा अपि स्वीक्रियन्त इति। सजातीय-विजातीय-स्वगतविशेषणरूप-विशेषत्रय-विशिष्टं ब्रह्म इति। तस्मात् एते आचार्याः विशिष्टाद्वैतमतप्रवर्तयितारः इति प्रथां प्रापुः। एतेषां

मते तु स्वसिद्धान्तसम्मतपरिणामाद्वैतव्यतिरिक्तपरिणामाद्वैतस्य वेदान्त-सङ्ग्रहादिषु विस्तरेण निष्कासः क्रियते।

विवर्तवादः–

विवर्ताद्वैतिनो हि मन्यन्ते– अशेषविशेषप्रत्यनीकं प्रत्यक् स्वयंज्योतिः चिन्मात्रं ब्रह्मैव परमार्थः। तद्व्यतिरिक्तं सर्वं मिथ्या। "एतद्वै सत्यकामपरं चापरं च ब्रह्म" "द्वे विद्ये वेदितव्ये" इत्यादिश्रुत्यनुसारेण परमपरं चेति द्विविधं ब्रह्म आम्नातं भवति। तत्र परविद्याविषयः परं ब्रह्म निर्विशेषम्। तज्ज्ञानं च नित्यमोक्षकारणम्। अपरविद्याविषयः अपरं ब्रह्म सविशेषम्। तदुपासनं च गतिद्वारकतरतम-भावापन्नफलसाधनं क्रममुक्तिहेतुश्च। तं यथा यथोपासते तदेव भवति इति वचनेन उपासनानुगुणस्यैव फलस्य निर्णयात्। ब्रह्म च विवर्तोपादानमेव। तत्र विवर्तो नाम उपादानविषमसत्ताकः अन्यथाभावः इति प्रागेवोक्तम्। ब्रह्मणः पारमार्थिक-सत्ता-वत्त्वात् प्रपञ्चस्य च व्यावहारिकसत्तावत्त्वात् उपादानापेक्षया विषमसत्ताकत्वम्। जगदादौ च आत्मा एक एवासीत्। स च व्योमादिसकलप्रपञ्चरूपेण परिणमति। यथा वा बीजं वृक्षरूपेण। ननु कथं चिन्मात्रं ब्रह्म जडरूपेण परिणामं लभते इति चेत् न। ब्रह्मणि परमार्थतः कश्चित् परिणामो नाम नास्ति। किं तर्हि? वस्तुतः अपरिणतमेव परिणामविशिष्टमिव भाति। एकमेव सत् अनेकधैव च अविद्यावशात् विवर्तमान आत्मैव, आत्मानं चिद्रूपं जडरूपमिव अद्वितीयं सद्वितीयमिति च जानाति। तथा च अविद्योपादानात्मकस्वप्नादिप्रपञ्चवत् महदादिप्रपञ्चसृष्टिः। अत एव च "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "आत्मैवेदं सर्वम्" "नेह नानास्ति किञ्चन" "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्यादयः श्रुतयः अद्वैतवादमुद्घुष्यन्ति। एवमवे वेदेऽपि– "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते"[12] "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षुणाय"[13] इत्यात्मिकाः ऋचः स्फुटतयैव रूपं प्रतिचक्षणाय"[14] इत्यात्मिकाः ऋचः स्फुटतयैव भेदज्ञानस्य मायानिबन्धनत्वं प्रतिपादयन्ति। एवं श्रुत्यन्तरे भेददर्शननिन्दा च स्पष्टा भवति– "मृत्योस्स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" इति। ततश्च अद्वितीयं ब्रह्मैव पारमार्थिकं, भेदज्ञानं च अविद्योपाधिकमेव इति निश्चेतव्यम्। ब्रह्मणि न कोऽपि धर्मः अस्ति, निर्धर्मकत्वात्। कूटस्थत्वात् नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वाच्च। आहुश्च शङ्कराचार्याः बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये[15] "न च निरवयवं विक्रियमाणं दृष्टं क्वचित्" इति। अन्यत्र च–[16] "न च निरवयवस्य (अनौपाधिक) अनेकधर्मवत्त्वे दृष्टान्तोऽस्ति" इति च। सर्वज्ञात्ममुनिभिरपि अयमेव सिद्धान्त; प्रतिपादितोऽस्ति संक्षेपशारीरके–

विवर्तवादस्य हि पूर्वभूमिः वेदान्तवादे परिणामवादः।
व्यवस्थितेऽस्मिन् परिणामवादे स्वयं समायाति विवर्तवादः ।।

इति परिणामवादोऽपि विवर्तवादौपयिकः एवेति विशदीकृतम्। अमुमेव सिद्धान्तं पुरस्कृत्य कल्पतरुकारः एवमाह– वाक्यकारी हि– नासतोऽनिस्पाद्यत्वात्, प्रवृत्त्यानर्थक्यं तु सत्त्वाविशेषात् इति प्रपञ्चस्य सदसत् प्रश्ननिरसनेन पूर्वपक्षं प्रदर्श्य "संव्यवहारमात्रत्वात्" इति प्रपञ्चस्य अनिर्वचनीयतां सिद्धान्तयति इति। संक्षेपशारीरकेऽपि– "अद्वैतमेव परिरक्षति वाक्यकारः" इत्यभ्यधायि। तथा च– "स्वयंज्योतिषः प्रत्यग्वस्तुनः एकबुद्ध्यनधिगम्य पराग्बुद्धिगम्यधर्मवत्त्वं नैव घटते'[17] इति वार्तिककारसिद्धान्तोऽपि विवर्तवादानुकूल एवेति निर्णयः सुलभः भवति। एवं समन्वयाधिकरणे आचार्याः शङ्कराः एवमाचक्षन्–[18] "किंचित् परिणामनित्यम् किंचित् कूटस्थनित्यम्। इदं तु पारमार्थिकं कूटस्थनित्यम् व्योमवत् सर्वव्यापि सर्वविक्रियारहितं नित्यतृप्तं स्वयंज्योतिः– स्वभावम्' इति। एतद् भाष्यविवरणाय प्रवृत्ताः वाचस्पतिमिश्रा अपि-परिणामतद्वतो; भेदाभेद-विकल्पनेन अनिर्वचनीयत्वमेव इति प्रकटीचक्रुः। किंच सर्वैरपि वादिभिः मोक्षस्य नित्यत्वं तावदङ्गीक्रियते। तच्चेदं पारमार्थिकं कूटस्थनित्यत्वस्वीकर्तॄणामेव स्वरसतः सङ्गच्छते। सगुणात्मवादे कूटस्थानङ्गीकारे नित्यफलमेव नोपपादयितुं शक्यत इति अनन्तस्थिरफलत्वं मोक्षत्वमपि उपपादयितुं न शक्यते। अतः ब्रह्मणः परिणाम्युपादानत्वं नैव युक्तम् इति विवर्तवादविचारः।

अनेन प्रकारेण अद्वैतदर्शनेनाभिमततत्त्वसमीक्षणम् विवेचनञ्च अस्मिन् शोधपत्रे विहितम्।

सहायकग्रन्थः-

1. वेदान्तरत्नमञ्जूषा, सम्पा. रत्नगोपालभट्टः, चौखम्बासंस्कृतसीरीज आफिस, सन् 2014
2. वेदान्ततत्वबोधः, सम्पा. डॉ. जयप्रकाशनारायणत्रिपाठी, चौखम्बासंस्कृतभवनम्, वाराणसी, 2009
3. वेदान्तदर्शनम्, वेदान्तपरिजातसौरभभाष्यसंवलितम्, सम्पा. श्रीसुधीरगोपाल मुखोपाध्यायः, दौलतपुरमहाविद्यालयः, संवत्, 1986
4. वेदान्तसारः हिन्दीव्याख्यासहितः, लेखकः, आचार्यश्रीबदरीनाथशुक्लः, मोतीलाल-बनारसीदासः, वाराणसी, 1979
5. ब्रह्मसूत्रप्रमुखभाष्यपञ्चकसमीक्षणम्, लेखकः डॉ. रामशरणत्रिपाठी, चौखम्बासंस्कृत-संस्थानम्, 1972
6. वेदान्तकौस्तुभप्रभा, भावदीपिकासंवलिता, सं. श्रीजानकीदासः, सन् 1938
7. श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस-गोरखपुर, संवत्, 1997
8. वल्लभवेदान्त-शाङ्करवेदान्तदृष्ट्या अद्वैतसिद्धिमण्डनम्, लेखकः डॉ. सुधाकरमिश्रः, सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः, वाराणसी, 2008

9. ईशादिनवोपनिषद्, शाङ्करभाष्यसहितम्, गीताप्रेस, गोरखपुर, 2009
10. ब्रह्मसूत्रम् शाङ्करभाष्यसहितम्, चौखम्बासंस्कृतसंस्थानम्, वारा., 2004
11. ब्रह्मसूत्रम् अणुभाष्यसहितम्, निम्बार्काचार्यपीठम्, 12 महाजनीटोला, प्रयागः, प्रथमसंस्करणम्, संवत् 2036
12. ब्रह्मसूत्रम् आनन्दभाष्यसहितम्, प्रका. श्रीरामानन्दीयवैष्णवमहामण्डलम्, अहमदाबादः, गुजरात, सन् 1986
13. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बासंस्कृतसीरीज आफिस, वाराणसी, चतुर्थसंस्करणम्, सन् 1986
14. श्वेताश्वेतरोपनिषत्, गीताप्रेस, गोरखपुर, तृतीय संस्करणम्।
15. मुण्डकोपनिषत्, शाङ्करभाष्यसहितम्, आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलिः, पुण्यपत्तने, सप्तम सं. शालिवाहन सं. 1904

---

1. भगवद्गीता 10/32
2. वल्लभवेदान्तशाङ्करवेदान्तदृष्ट्या अद्वैतसिद्धिमण्डनम्, भूमिका, डॉ. सुधाकरमिश्रः
3. बृहदारण्यकभाष्यवार्तिकम्. 4/3/1807
4. सिद्धान्तबिन्दुः, दशश्लोकी, 10
5. संक्षेपशारीरकः, सुबोधिनीटिका, 1/266
6. तत्रैव अन्वीतार्थप्रकाशटिका
7. पञ्चदशी, 6/266
8. द्वादशदर्शनसमीक्षणम्, पृ. सं. 90
9. तत्रैव पृ. सं. 90
10. पञ्च. 1/16-17
11. पञ्च. 1/16-17
12. ब्र.सू.शा.भा.1/1/1
13. ब्र.सू.शा.भा. 1/1/4
14. ऋ. सं. 6-47-18
15. ऋ. सं. 6-47-18
16. बृ.उ.शा.भा. 3/4/7
17. तत्रैव 6/3/24
18. बृ. वा. 6-4

रिसर्च एसोसिट, I.K.S (भारतीय ज्ञान परम्परा केन्द्र)
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
ईमेल : shanti9597@gmail.com

असिद्धवदधिकारसमीक्षणम्

– डॉ. दिनेशकुमारद्विवेदी

(इस शोध निबन्ध में “असिद्धवदत्राभात्” इस अधिकार सूत्र की समीक्षा की गयी है। समानाश्रय आभीय कार्य जब करना हो तब पूर्वकृत आभीय असिद्ध के समान हो जाता है। यह इस सूत्र का अर्थ है। इस सूत्र के छः प्रयोजन भाष्य में बताए गए हैं। वस्तुतः भगवान पतंजलि इन सभी प्रयोजनों को अन्यथासिद्ध करके इस अधिकार सूत्र का प्रत्याख्यान कर दिया है। अर्थात् इस सूत्र के बिना भी इष्ट की सिद्धि हो जाने से यह सूत्र व्यर्थ है तथापि “आरभ्यमाणेऽप्येतस्मिन्” इस भाष्य वचन से यह सिद्ध होता है कि इस सूत्र के प्रयोजनों की अन्यथासिद्धि होने पर भी इस सूत्र का आरम्भ करना ही चाहिये। अर्थात् अनेक क्लिष्ट कल्पनाओं की अपेक्षा इस सूत्र का आरम्भ ही उचित है। इसीलिये पदमंजरीकार हरदत्त कहते हैं– “प्रतिपत्तिगौरवपरिहारार्थं सूत्रमिदमारब्धव्यम् इति” अर्थात् स्पष्ट प्रतिपत्ति और ज्ञान गौरव के परिहार के लिये इस सूत्र का आरम्भ करना चाहिए। अतः इस सूत्र के अन्वाख्यान में ही भाष्य का तात्पर्य प्रतीत होता है न कि प्रत्याख्यान में। उपर्युक्त विषय के विवेचन का यथामति प्रयास प्रस्तुत शोध निबन्ध में किया गया है।)

अस्मिन् शोधनिबन्धे “असिद्धवदत्राभात्” इति सूत्रं समीक्ष्यते। सूत्रमिदं पाणिन्यष्टाध्याय्याः षष्ठाध्यायस्य चतुर्थपादस्य द्वाविंशतितमं सूत्रमस्ति। षड्विधसूत्रेषु मध्येऽधिकारसूत्रमिदम्। ‘आभाद्’ इत्यभिविधावाङ्। ‘भस्य [1]’ इत्यधिकारमभिव्याप्ये-त्यर्थः। भाधिकारश्च आपादपरिसमाप्तेरिति सिद्धान्तः। तथा च आपादपरिसमाप्तेरिति लभ्यते। विहितं कार्यमिति शेषः। तत्र किमारभ्येत्याकाङ्क्षायामुपस्थितत्वादस्मादेव सूत्रादूर्ध्वम् इति लभ्यते। ततश्च ‘श्नान्नलोपः[2]’ इत्यारभ्य आ पादसमाप्तेः विहितं यद् आभीयं कार्यं तदसिद्धवद् भवति। प्रवृत्तमप्यप्रवृत्तवद् भवतीत्यर्थः। सूत्रमिदम् उत्तरत्र ‘श्नान्नलोप’ इत्यादौ प्रतिसूत्रमुपतिष्ठते। तथा च यद्यत्सूत्रे इदमनुवर्तते तत्तदाभीयं कार्यं ‘श्नान्नलोपः’ इत्यादितत्तदाभीयकार्ये कर्तव्ये असिद्धवद् भवतीत्यर्थः। सूत्रे आभाद्ग्रहणं विषयनिर्देशार्थम्। अवधिलाभस्तु ‘अङ्गस्य [3]’ इत्यादाविव व्याख्यानत एव भविष्यतीति। सूत्रे ‘अत्र’ पदेन यत्रानुवृत्तिस्तत्सूत्रस्थसप्तम्यन्तोल्लिखितो निमित्त-समुदायः परामृश्यते। तथा चाभीयनिमित्तकमाभीयमसिद्धमित्यर्थेन ‘समानाश्रयः[4]’ इति लभ्यते। एवञ्च समानाश्रये आभीये कर्तव्ये तदसिद्धं भवतीति सूत्रार्थो भवति।

यथा– एधि, शाधि। अत्र 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च[5]' इत्यस्तेरेत्वस्य 'शाहौ[6]' इति शास्तेः शाभावस्य चाभीयत्वेनासिद्धत्वाद् 'हुझल्भ्यो हेर्धिः[7]' इति हेर्धित्वमाभीयं प्रवर्तते। जङ्घही' इत्याद्यप्युदाहरणम्। हन्धातोर्यङ्लुगन्ताद् लोण्मध्यम-पुरुषैकवचने सिपो हिभाव 'अनुदात्तोपदेश[8]" इति नलोपस्याभीयस्यासिद्धत्वाद् 'अतो हेः[9]' इत्याभीयो लुङ् न भवति। 'समानाश्रये' इति किम्? 'पपुषः' इत्यत्र पाधातोर्लिटः क्वसौ 'लिटि धातोरनभ्यासस्य[10]' इति द्वित्वेऽभ्यासह्रस्वे क्वस्वन्ताद् द्वितीयाबहुवचने शसि 'वसोः सम्प्रसारणम्[11]' आभीयम् 'आतो लोप इटि च[12]' इत्याल्लोपे आभीये कर्तव्ये असिद्धं न भवति। आल्लोपः क्वसौ, सम्प्रसारणं तु शसीति भिन्नाश्रयत्वात्। 'आभीये' 'कर्तव्ये' अर्थाद् विषयलाभार्थम् आभाद्ग्रहणं किम्? 'अभाजि रागः' इत्यत्र भञ्जेश्चिणि, रञ्जेर्घञि च कृते 'भञ्जेश्च चिणि'[13] 'घञि च भावकरणयोः'[14] इति नलोपस्याभीयस्यानाभीयायामुपधावृद्धौ कर्तव्यायां नासिद्धत्वम्। 'आभादित्यभि-विधिः' इति किम्? भाधिकारात् प्रागित्युक्ते 'भूयान्' इत्यत्र 'बहोर्लोपो भू च बहोः[15]' इति बहोर्भूभावस्य ओर्गुणे कर्तव्ये असिद्धत्वं न स्यात्, भस्येति सूत्रादूर्ध्वभावित्वात्।

वस्तुतस्तु सूत्रमिदं व्यर्थमेव एतत्प्रयोजनानामन्यथासिद्धत्वात्। न च 'शाधि' इत्यत्र नित्यत्वाच्छासः शादेशे कृतेऽपि असिद्धत्वाज्झलन्तत्वेन 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' इत्यनेन धित्वं भवति इदानीं न स्यादिति वाच्यम्, 'शाहौ' इत्यत्र 'शास् हौ' इति रुत्वयत्वयलोपेन निर्देशे शासः शासादेशेनेत्ववारणे धित्वे 'धि च'[16] इत्यनेन सलोपेन सिद्धेः। किं च 'आ हौ' इति न्यासं कृत्वा 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति'[17] इत्यत 'उपधायाः' इत्यस्यानुवृत्योपधाया आत्वे पूर्वोक्तरीत्या सिद्धेः। न च 'एधि' इत्यत्राकारस्य परत्वान्नित्यत्वाच्च 'श्नसोरल्लोपः'[18] इति लोपे सकारस्येत्वे धित्वं न स्यात् सूत्रसत्वे तु तद्भवतीति वाच्यम्, एत्वं लोपापवादं विज्ञाय 'उत्सर्गसमानदेशा अपवादाः' इति न्यायेनाकारस्यैत्वे 'धि च' इति सलोपेन सिद्धेः। न च 'धि च' इत्यनेन सलोपः सिच एवेति वाच्यम्, चकाधीत्यत्र सकारलोपपरभाष्येण तस्यार्थस्यानाश्रयणात्।

न च 'कुरु' इत्यत्र नित्यत्वाद्धेर्लुकि सार्वधातुकपरत्वाभावेनोत्वं न स्यात् सूत्रसत्वे तु लुकोऽसिद्धत्वाद् भवतीति वाच्यम्, 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्[19]' इत्यत 'उत' इत्यनुवर्त्य उकारान्तस्याङ्गस्येत्यर्थे आर्धधातुके दोषाभावेन सार्वधातुकग्रहणं व्यर्थं सत् भूतपूर्वसार्वधातुकसम्प्रतिपत्त्यर्थमित्यदोषात्। न च 'आसन्' इत्यत्र परत्वा-दल्लोपे अनजादित्वादाट् न स्यात् सूत्रसत्वे तु असिद्धत्वाद् भवतीति वाच्यम्, 'श्नसोरल्लोपः' इति सूत्रे तपरकरणबलेन लोपादाड् बलीयान् इति ज्ञापनेनादोषात्। तथाहि– तपरकरणस्य प्रयोजनम्

'आस्ताम्, आसन्' इत्यत्र आटि कृते 'वार्णादाङ्गं बलीयः' इति परिभाषया एकादेशं बाधित्वा अलोपो मा भूदिति, यद्यलोपः प्रथमं स्यात् तदा अनजादित्वादाटः प्राप्तिरेव नास्तीति तद्धर्थम्। न च 'आयन्' इत्यत्र नित्यत्वाद्यणि कृतेऽनजादित्वादाट् न स्यादिति वाच्यम्, 'इणो यण्' भवति तत 'एरनेकाच' इणो यण् भवति ततः 'असंयोगपूर्वस्य' इति योगं विभज्य आटि सत्येवानेकाच्त्वाद्यण् इत्यदोषात्। 'ईयतुः' इत्यादौ योगविभागमन्तरेण यणः सिद्धत्वादाड्विध्यर्थमेव योगविभाग इति बोध्यम्। न च 'अकारि' इत्यत्र नित्यत्वात्त-लोपेऽट् न स्यात् प्रकृतसूत्रसत्वे तु भवतीति वाच्यम्, 'स्यसिच्सीयुट्तासिषु भावकर्मणोरुपदेशेऽज्झनग्रहदृशां वा चिण्वदिट्'[20] इत्यतः 'उपदेशे' इत्यनुवर्त्योपदेशे एवाटो विधानेनादोषात्।

अथवा मयतेरिदन्यतरस्यांल्लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्त इति संहितापाठे लकारं प्रश्लिष्य लावस्थायामेवाड्विधानेनादोषात्।

न च लावस्थायामेवाड्विधाने 'ऐज्यत औप्यत' इत्यत्रानजादित्वादटेव स्यादिति वाच्यम् 'आडजादीनाम्'[21] इति सूत्रमकृत्वा 'आटश्च' इत्यत्र अटश्चेति न्यासेन सिद्धेः। न च 'अकरोत्' इत्यादावपि वृद्ध्यापत्तिः, अचीत्यनुवृत्तेरदोषात्। ऐधत इत्यत्र पररूपं बाधित्वा वृद्ध्या सिद्धिरिति वाच्यम्। न चैवमपि 'स्वपोऽहसन्' इत्यत्र 'अड्गार्ग्यगालवयोः' इत्यडागमस्य सत्वाद्रोरुत्वेऽच्परत्वेन वृद्ध्यापत्तिरिति वाच्यम् 'उपसर्गादृति धातौ'[22] इत्यतो 'धातौ' इत्यस्यापकर्षणेन अजादौ धाताविति, धात्ववयवेऽचीति वा व्याख्यानेनाऽदोषात्। न च 'बहुश्रेयस्यै' इति न सिध्येत् धात्ववयवाच्परत्वाभावेन 'आटश्च[23]' इत्यस्याप्राप्त्या 'आण्नद्याः[24]' इति अटो विधानेन पररूपापत्तेरिति वाच्यम्, 'आण्नद्याः' इत्यनेन आटमेव विधाय पररूपाप्राप्त्या 'वृद्धिरेचि[25]' इति वृद्ध्या सिद्धेः। न च 'आण्नद्याः' इत्यनेन अडेव विधीयतां पररूपं तु विधानसामर्थ्यादेव न भविष्यतीति वाच्यम्, 'बहुश्रेयस्याम्' इत्यत्र नुड्बाधनाय तच्चारितार्थ्येन विधानसामर्थ्याभावात्। न च 'अस्वपोऽस्ति' इत्यत्र ओकारस्यान्त-वद्भावेनाट्त्वमाश्रित्य 'अटश्च' इति वृद्ध्यापत्तिरिति वाच्यम्, 'आद्गुणः[26]' इत्यतः आदित्यनुवर्त्य अकाररूपादटोऽचि परे वृद्धिरित्यर्थेनादोषात्। न च बहिरङ्ग-परिभाषया निर्वाहेणादित्यनुवृत्तिर्व्यर्था इति वाच्यम्, 'नाजानन्तर्ये बहिष्ट्व-प्रक्लृप्तिः[27]' इति निषेधात्। न चैवम् 'आयन्, आसन्' इति न सिध्येत्, अन्तरङ्गत्वाद् वृद्ध्या तत्सिद्धेः। न च 'वार्णादाङ्गं बलीयः[28]' इतिपरिभाषया वृद्धेः प्रागेव लोपः स्यादिति वाच्यम्, व्याश्रयत्वात् अनित्यत्वाद् वा' 'वार्णादाङ्गम्' इत्यस्याप्रवृत्तेः। अनित्यत्वे मानं तु 'श्नसोरल्लोपः' इत्यत्र तपरकरणमेव, वृद्धेः प्रागेव लोपे तद्वयर्थं स्यात्। एवं च

'आसन्' इत्यत्र तपरकरणात् नालोपः इणो यण् एरिति योगविभागात् इकारान्तस्येणो यण्विधानेन 'आयन्' इत्यत्र यणोऽप्राप्त्याऽऽयादेशे 'आयन्' इति सिद्धम्। न च 'आडजादीनाम्' इत्यस्याभावे 'आनट् आव' इति वैदिकप्रयोगो न स्यादिति वाच्यम्, आटं विनैव व्यत्ययेनाङ्पूर्वकत्वेन वा तत्सिद्धेः। न च 'गतः गतवान्' इत्यत्र अनुनासिकलोपे अतो लोपः स्यात् प्रकृतसूत्रसत्वे तु मलोपस्यासिद्धत्वान्न भवतीति वाच्यम्, 'अतो लोपः[29]' इत्यत्र उपदेश इत्यस्य सत्त्वेन उपदेशे अकारान्तस्य लोप इत्यर्थेनादोषात्। न चोपदेश इत्यनुवृत्तौ 'धिनुतः कृणुतः' इति न सिद्ध्येदिति वाच्यम्, आर्धधातुकोपदेशे यदकारान्तमित्यर्थेनादोषात्। न च 'जहि, जङ्घहि' इत्यत्र हिलोपः स्यात् प्रकृतसूत्रसत्त्वे तु न भवतीति वाच्यम्, 'अतो हेः[30]' 'उतश्चप्रत्ययादसंयोगपूर्वात्[31]' इत्युभयोः प्रत्ययादिति शेषः अकारान्तात्प्रत्ययाद्धेर्लोप इत्यर्थेनादोषात्। न च 'मघोनः पश्य' इत्यत्र वनिपः सम्प्रसारणे 'यस्येति च[32]' इति लोपापत्तिः, सिद्धान्ते तु न सम्प्रसारणस्यासिद्धत्वात्। न बहिरङ्गपरिभाषया निर्वाहः 'नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः' इति निषेधादिति, मघवच्छब्दस्याव्युत्पन्नत्वेनादोषात्। सूत्रसत्त्वेऽपि व्याश्रयत्वेन सूत्राप्राप्त्या इदमेव समाधानं बोध्यम्। न 'दध्रे' इत्यत्र रेभावे नित्यत्वात्कृते आलोपो न स्यात् सूत्रसत्त्वे तु असिद्धत्वाद् भवतीति वाच्यम्, छान्दसो रेभावः इति लिटः 'छन्दस्युभयथा[33]' इति सार्वधातुकत्वेन 'सार्वधातुकमपित्[34]' इति ङित्वे 'श्नाभ्यस्तयोरातः[35]' इत्यालोपसिद्धेः।

ननु 'कुर्वः, कुर्मः' इत्यत्र उकारलोपे कृते उत्वं न स्यात्। न च सार्वधातुके परत एवोत्वं विधीयतामिति वाच्यम्, 'कुरुतः' इत्यत्रोकारव्यवधानेनोत्वानापत्तेः। न च सूत्रसत्त्वेऽप्ययं दोषो व्याश्रयत्वेनासिद्धवदित्यस्याप्रवृत्तेरिति वाच्यम्, मकारवकारादौ प्रत्यये उकारलोप इत्यर्थात्समानाश्रयत्वेन सिद्धान्ते दोषाभावादिति चेन्न 'लोपश्चाऽस्यान्यतरस्यां म्वोः[36]' इत्यतो 'म्वोः' इत्यस्य 'ये च[37]' इत्यतो 'ये' इत्यस्य च 'अत उत्सार्वधातुके[38]' इत्यत्रानुवर्तनेन वाक्यभेदेन व्याख्यानेन 'कुर्मः कुर्यात्' इत्यस्य सिद्धेः। न च 'कारिष्यते' इत्यत्र णिलोपो न स्यात् मम तु प्रकृतिप्रत्ययाश्रयत्वेनेड्णिलोपयोः समानाश्रयत्वेन असिद्धत्वाद् भवतीति वाच्यम्, 'स्यसिच्सीयुट् तासिषु भावकर्मणोरुपदेशेऽज्झनग्रहदृशां वा चिण्वदिट् च[39]' इति सूत्रेण चकारात् णिलोपविधानेनादोषात्। न च 'अकारितराम्, अहारितराम्' इत्यत्र 'चिणो लुक्[40]' इति तलोपः स्यात्। मम तु पूर्वतलोपस्यासिद्धत्वान्न दोष इति वाच्यम्, 'गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि[41]' इत्यतः क्ङितीत्यनुवर्त्य षष्ठ्यन्तत्वेन विपरिणम्य क्ङित एव लोपविधानेनादोषात्। एवञ्च सर्वेषां प्रयोजनानामन्यथा सिद्ध्या

'असिद्धवदत्राभात्' इति सूत्रं व्यर्थमेव। तथा चोक्तं भाष्ये कानि पुनरस्य योगस्य प्रयोजनानि? प्रयोजनं शैत्वं धित्त्वे। शाभाव एत्त्वं च धित्वे प्रयोजनम्। एधि शाधीति। अस्तिशास्त्योरेत्त्वशाभावयोः कृतयोर्झल्लक्षणं धित्वं न प्राप्नोति। असिद्धत्वाद् भवति। शाभावस्तावन्न प्रयोजयति। एवं वक्ष्यामि शास्हौ शाहाविति। यत्वभूतः सकारः। तत्र साद्धित्वं धि चेति सकारस्य लोपः। अथवा आ हाविति वक्ष्यामि। एवमपि सकारस्य प्राप्नोति 'उपधाया' इति वर्तते। उपधाया आत्वे कृते साद्धित्वं, धि चेति सकारलोपः। अथवा न हाविति वक्ष्यामि। तत्रेत्त्वे प्रतिषिद्धे साद्धित्वं, धि चेति सकारलोपः। एत्त्वमपि लोपापवादो विज्ञास्यते। न च सकारस्य लोपः प्राप्नोति हिलोपे उत्त्वे। हिलोप उत्त्वे प्रयोजनम्। कुर्वित्यत्र हिलोपे कृते सार्वधातुकपरे उकार इत्युत्त्वं न प्राप्नोति। असिद्धत्वाद्भवति। एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। वक्ष्यति तत्र सार्वधातुकग्रहणस्य प्रयोजनं 'सार्वधातुकेभूतपूर्वमात्रेऽपि यथा स्यादुत्त्वम्'। ताऽस्तिलोपेण्यणादेशा अडाड्विधौ। तलोपोऽस्तिलोप इणश्च यणादेशोऽऽड्विधौ प्रयोजनम्। अकारि ऐहीति। तलोपे कृते लुङीत्यडाटौ न प्राप्नुतः। असद्धित्वाद्भवतः। अस्तिलोप इणश्च यणादेशः प्रयोजनम् आसन् आयन्निति। इणस्त्योर्यण्लोपयोः कृतयोरनजादित्वादण्न प्राप्नोति असिद्धत्वाद्भवति। अस्तिलो-पस्तावन्न प्रयोजयति। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति 'लोपादाङ् बलीया'निति यदयं 'श्नसोरल्लोपः' इति तपरकरणं करोति। इण्यणादेशश्चापि न प्रयोजयति। यणादेशे योगविभागः करिष्यते। 'इणो यण्'। इणो यण् भवति। तत 'एरनेकाचः'। एश्चानेकाच् इणो यण् भवति। ततोऽसंयोगपूर्वस्य'। ततोऽसंयोगपूर्वस्य'। असंयोगपूर्वस्य यण् भवति। 'एरनेकाच' इत्येव। सर्वेषामेव परिहारः– उपदेश इति वर्तते, तत्रोपदेशा-वस्थायामेवाडाटौ भवतः। अथवाऽऽर्द्धधातुक इति वर्तते। अथवा लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडिति द्विलकारको निर्देशः। लुङादिषु लकारादिष्विति। सर्वथा ऐज्यत औप्यतेति न सिद्ध्यति। वक्ष्यत्येतदजादीनामटा सिद्धमिति। अनुनासिकलोपो हिलोपोऽल्लो-पयोर्ज्भावश्च। अनुनासिकलोपो हिलोपाऽल्लोपयोर्ज्भावश्च प्रयोजनम्। आगाहि जहि। गतः गतवानिति। अनुनासिकलोपे कृते जभावे चाऽतो हेरतो लोप इति च लोपः प्राप्नोति। असिद्धत्वान्न भवति। अनुनासिक-लोपस्तावन्न प्रयोजयति। अल्लोपे उपदेशे इति वर्तते। यद्युपदेश इति वर्त्तते धिनुतः कृणुतः– अत्र न प्राप्नोति। नैष दोषः। नोपदेशग्रहणेन प्रकृतिरभिसंबध्यते। किं तर्हि?। आर्द्धधातुकमभिसंबध्यते। आर्द्धधातु-कोपदेशे यदकारान्तमिति। जभावश्चापि न प्रयोजयति। हिलोपे योगविभागः करिष्यते। 'अतो हेः' तत 'उतश्च'। उतश्च हेर्लुग्भवतीति। ततः 'प्रत्ययात्'। प्रत्ययादित्युभयोः शेषः अथ किमर्थमनुनासिकलोपो

हिलोपाल्लोपयोर्जभावश्चेत्युच्यते नानुनासिकलोपजभावाल्लोपहिलोपयोरित्येवोच्येत?। सङ्ख्यातानुदेशो मा भूदिति। अनुनासिकलोपो हिलोपे प्रयोजयति। मण्डूकि ताभिरागहि। रोहिदश्च इहाऽऽगहि। मरूद्भिरग्न आगहि। संप्रसारणमवर्णलोपे। संप्रसारणमवर्णलोपे प्रयोजनम्। मघोनः पश्य। मघोना मघोने। संप्रसारणे कृते यस्येति लोपः प्राप्नोति। असिद्धत्वान्न भवति। नैतदस्ति प्रयोजनम्। वक्ष्यत्येतन्मघवन्शब्दोऽव्युत्पन्नं प्रातिपदिकमिति। रेभाव आल्लोपे। रेभाव आल्लोपे प्रयोजनम्। किं स्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपः। रेभाव कृत आतो लोप इटि चेत्याकारलोपे न प्राप्नोति। असिद्धत्वाद्भवति एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। छान्दसो रेभावो, लिट् चच्छन्दसि सार्वधातुकमपि भवति। तत्र सार्वधातु-कमपिन्ङिद्भवतीति ङित्त्वं, श्नाभ्यस्तयोरात इत्याकारलोपो भवति। यदि तर्ह्ययं योगो नाऽऽरभ्यते। उत्तु कृञः कथमोर्विनिवृत्तौ। इह कुर्वः कुर्मः कुर्यादिति, उकारलोपे कृते सार्वधातुकपरे उकार इत्युत्त्वं न प्राप्नोति। णेरपि चेटि कथं विनिवृत्तिः। इह च कारयतेः– कारिष्यते-णेरनिटि इति णिलोपो न प्राप्नोति। अब्रुवतस्तव योगमिमं स्याल्लुक चिणो नु कथं न तरस्य। इह च अकारितराम् अहारितरामिति, चिण उत्तरस्य तरस्य लुक्कथं न स्यात्। चं भगवान्कृतवांस्तु तदर्थं तेन भवेदिति णेर्विनिवृत्तिः। इह स्यसिच्सीयुट्तासिषु भावकर्मणोरूपदेशेऽज्झनग्रहदृशां वा चिण्वदिट् च। किं च? णिलोपश्च। म्वोरपि ये च तथाऽप्यनुवृत्तौ। इहापि कुर्वः कुर्मः कुर्यादिति म्वोर्ये चेत्येतदप्यनुवर्तिष्यते। चिण्लुकि च किङ्त एव हि लुक्स्यात्। चेण्लुक्यपि प्रकृतं क्ङिद्ग्रहणमनुवर्तते। क्व प्रकृतम्? 'गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङीति' तद्वै सप्तमी निर्दिष्टं षष्ठीनिर्दिष्टेन चेहार्थः। 'चिण' इत्येषा पञ्चमी 'क्ङिति इति' सप्तम्याः षष्ठीं प्रकल्पयिष्यति– 'तस्मादित्यतुरस्ये'ति।

उत्तु कृञः कथमोर्विनिवृत्तौ णेरपि चेटि कथं विनिवृत्तिः।
अब्रुवतस्तव योगमिमं स्याल्लुक चिणो नु कथं न तरस्य॥
चं भगवान्कृतवांस्तु तदर्थं तेन भवेदिटि णेर्विनिवृत्तिः।
म्वोरपि ये च तथाऽप्यनुवृत्तौ चिण्लुकि च क्ङित एव हि लुक्स्यात्॥इति।[42]

निष्कर्षः–

तत्र युक्तायुक्तत्वविचारे सर्वतः पर्यालोचनयेदं वक्तुं शक्यते यद् यद्यपि भगवता भाष्यकारेण एतत्सूत्रप्रयोजनान्यन्यथा संसाध्य सूत्रमिदं प्रत्याख्यातम्, तथाप्यग्रे "आरभ्यमाणोऽप्येतस्मिन्[43] योगे वसोः संप्रसारणमज्विधौ सिद्धं वक्तव्यम् ...." इत्यादिवचनमुक्तम्। एतेनेदं सिध्यति यदेतत्सूत्रप्रयोजनानामन्यथा-सिद्धत्वेऽपि सूत्रमिदमारब्धव्यमेव। अतएव

"आरभ्यमाणोऽप्येतस्मिन्योगे" इत्येत-द्भाष्यवचनं विवृण्वता श्रीमता कैयटेनोक्तम्– 'अनेकपरिहाराश्रयणे प्रतिपत्तिगौरवं मा भूदित्येवमर्थमारभ्यमाण इत्यर्थः[44]" इति। अत एव च श्रीमता हरदत्तेनाप्युक्तम्– 'प्रतिपत्तिगौरवपरिहारार्थं सूत्रमिदमारब्धव्यम्[45]" इति। वस्तुतः भाष्यकारस्य प्रायः एषा शैली अन्यत्रापि दृष्टिगोचरीभवति यत् पूर्वं स कस्यचित् सूत्रस्य प्रत्याख्यानं कृत्वा पुनस्तस्य सार्थक्यं प्रतिपादयति। यथा 'समर्थानां प्रथमाद् वा[46]" इत्येतत्सूत्रं प्रत्याख्याय पश्चाच्च भाष्यकारः पुनः पृच्छति– 'अथैतत् समर्थग्रहणं न कर्तव्यम्। कर्तव्यं च" इति। अर्थादेतत्सूत्रं कर्तव्यमेव। तात्पर्यमिदमस्ति यत् सूत्रस्य प्रत्याख्यानापेक्षया अन्वाख्यानमेव वरम्। तद्वदत्रापि 'असिद्धवदत्राभात्" इति सूत्रस्यान्वाख्यान एव भाष्यकारस्य तात्पर्यं न तु प्रत्याख्याने। यद्यपि 'श्नसोरल्लोपः[47]' इत्यत्र तपरकरणादाभीयासिद्धत्वप्रतिपादकस्यास्य सूत्रस्यानित्यत्वं परिलक्ष्यते, तथापि सर्वथाऽस्य नैरर्थक्यं न प्रतीयत इति मे मतिः।

सहायकग्रन्थः-

1. अष्टाध्यायी, सम्पादक, श्रीगोपालदत्तपाण्डेय, चौखम्बासुरभारतीप्रकाशन, वाराणसी। सन-2019
2. वैयाकरणसिद्वान्तकौमुदी, (बालमनोरमा - तत्त्वबोधिनीटीकासहित), सम्पादक, गिरधरशर्मा, मोतीलालबनारसीदासप्रकाशन, वाराणसी। सन-2002
3. महाभाष्य प्रदीपोद्योतटिप्पणीसमन्वित, सम्पादक, डॉ.बालशास्त्री, वाणीविलासप्रकाशन, वाराणसी। सन-1987
4. महाभाष्य प्रदीपोद्योतसमन्वित, सम्पादक श्रीगुरुप्रसादशास्त्री, राष्ट्रीयसंस्कृतसंस्थान, नवदेहली। सन-2006
5. परिभाषेन्दुशेखर भूतिव्याख्यासमलङ्कृत, चौखम्बासुरभारतीप्रकाशन, वाराणसी। सन-2001
6. काशिका, सम्पादक जयशङ्करलालत्रिपाठी, ताराबुकएजन्सी, वाराणसी। सन-1986

---

1. पा. सू. 6/4/129
2. पा. सू. 6/4/23
3. पा. सू. 6/4/1
4. समानाश्रयत्वं च असिद्धत्वाश्रयशास्त्रसम्बन्धिनिमित्तसमुदायान्यूनानतिरिक्ताश्रयकत्वम्। निष्कृ-ष्टार्थस्तुयत्किञ्चिदाभीयशास्त्रविशिष्टत्वम्। वैशिष्ट्यञ्च - स्वविशिष्टत्वं स्वीयोद्देश्यता - वच्छेदकाव-च्छिन्नत्वेनाश्रीयमाणो यावान् शब्दसमुदायः तत्समभिव्याहृतो यः तद्घटितशब्दसमुदायाश्रयकत्व-मेतदन्यतरसम्बन्धेन। प्रथमसम्बन्धवैशिष्ट्यञ्च - स्वीयोद्देश्यतावच्छेदकरूपावच्छिन्नोद्देश्यताकत्व, स्वीयविधेयतावच्छेदकत्वावच्छिन्न - विधेयताकत्वोभय-सम्बन्धेन। प्रथमसम्बन्धानुपादाने चिणो लुग् दृष्ट्या चिणो लुकोऽसिद्धत्वं न स्यात्। द्वितीयसम्बन्धे 'शब्दसमुदायः' इति विशेषणानुपादाने जहीत्यादौ 'अतो हेः' इति

शास्त्रदृष्ट्या 'हन्तेर्जः' इत्यस्यासिद्धत्वं न स्यात् तयोरर्थे न्यूनाधिक-भावस्य सत्त्वात्। एतेन यथाश्रुतकल्पनाभावे प्रथमलक्षण - स्वीकारे जहीत्यादौ 'हन्तेर्जः' इत्यस्यासिद्धत्वं न स्यात्। चिणो लुग्दृष्ट्या चिणो लुकोऽसिद्धत्वानापत्तिश्चेति परास्तम्। प्रथमलक्षणोक्तान्यूनानतिरिक्तसमुदायाश्रयकत्व - मित्यस्योक्तार्थे तात्पर्यकल्पनात् - चङ्खयिता इत्यादौ यङन्ताल्लुटि 'यस्य हलः' इति लोपे कर्तव्ये 'ये विभाषा इत्यस्यासिद्धत्वं न। तस्य लोपापेक्षया न्यूननिमित्तकत्वात्। पपुष इत्यादौ 'वसोः सम्प्रसारणम्' इति सम्प्रसारणस्य आतो लोपे कर्तव्ये नासिद्धत्वम्, सम्प्रसारणस्याधिकापेक्षकत्वात्। लक्षणार्थे समभिव्याहृत इत्युपादानात् स्थान्यादेशयोः भिन्नस्वरूपमादाय न दोषः।

5. पा. सू. 6/4/119
6. पा. स. 6/4/35
7. पा. सू. 6/4/101
8. पा. सू. 6/4/37
9. पा. सू. 6/4/105
10. पा. सू. 6/1/8
11. पा. सू. 6/4/131
12. पा. सू. 6/4/64
13. पा. सू. 6/4/33
14. पा. सू. 6/4/27
15. पा. सू. 6/4/158
16. पा. सू. 8/2/25
17. पा. सू. 6/4/24
18. पा. सू. 6/4/111
19. पा. सू. 6/4/106
20. पा. सू. 6/4/62
21. पा. सू. 6/4/72
22. पा. सू. 7/3/99
23. पा. सू. 6/1/90
24. पा. सू. 7/3/112
25. पा. सू. 6/1/88
26. पा. सू. 6/1/87
27. परिभाषेन्दुशेखरः परि. 51
28. परिभाषेन्दुशेखरः परि. 55

29. पा. सू. 6/4/48

30. पा. सू. 6/4/105

31. पा. सू. 6/4/106

32. पा. सू. 6/4/148

33. पा. सू. 3/4/117

34. पा. सू. 1/2/4

35. पा. सू. 6/4/112

36. पा. सू. 6/4/107

37. पा. सू. 6/4/109

38. पा. सू. 6/4/110

39. पा. सू. 6/4/62

40. पा. सू. 6/4/104

41. पा. सू. 6/4/98।

42. म.भा.पा.सू. 6/4/22, पृ. 865-71

43. म.भा.पा.सू. 6/4/22, पृ० 871-74

44. म.भा.प्र. तत्रैव।

45. पदमञ्जरी, पा. सू. 6/4/22

46. पा. सू. 4/1/82

47. पा. सू. 6/4/111

सहायकप्राचार्यः,
स्नातकोत्तरव्याकरणविभागः,
धर्मसमाजसंस्कृतमहाविद्यालयः,
मुजफ्फरपुरम् (बिहारः)।

व्यक्तित्वनिर्धारणे सूर्यचन्द्रयोः प्रभावविमर्शः

– डॉ. मुकेशकुमारः

(भारतीय ज्ञान परम्परा के संवाहक हमारे ऋषियों ने समग्र जगत् में विद्यमान जड़ चेतन आदि पदार्थों का सूक्ष्म रूप से अध्ययन करके उनके स्वरूप गुण एवं स्वभाव का विवेचन विविध प्रकार से किया है। मनुष्य के भी गुण दोष स्वभाव इत्यादि का विश्लेषण करके ऋषियों ने प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व को भावनात्मक बौद्धिक आध्यात्मिक शारीरिक इत्यादि विविध गुणों का मिश्रित रूप माना है। पाश्चात्त्य मनोवैज्ञानिकों ने भी कालान्तर में व्यक्तित्व को विविध अर्थों में पृथक् पृथक् परिभाषित किया है। भारतीय ज्ञान धारा में आयुर्वेद, दर्शन, ज्योतिषशास्त्र, सामुद्रिक आदि शास्त्रों में जन्म प्राप्त प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के स्वरूप को निर्धारित करने के विषय में विस्तृत विमर्श किया गया है। ज्योतिष शास्त्र में प्रत्यक्ष रूप से जातक की कुण्डली में विद्यमान ग्रहों राशियों और नक्षत्रों की गति स्थिति इत्यादि के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व निर्धारित किया जाता है। प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्यों के अनुसार किसी भी जातक के व्यक्तित्व के विकास में आत्मकारक सूर्य तथा मनःकारक चन्द्रमा का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। ग्रहों के इसी प्रभाव का विश्लेषण प्राच्य एवं पाश्चात्त्य मतानुसार इस शोधपत्र में किया गया है।)

(सर्वस्यापि जनस्य भावात्मक-बौद्धिक-आध्यात्मिक-शारीरिक-व्यावहारिकादि-गुणविशेषाणां सम्मिलितरूपमेव व्यक्तित्वमिति विविधतत्त्वाभिज्ञानाम् अस्मत्पूर्वजानाम् अनुभववेद्यः राद्धान्तः। यश्च क्रमशः पाश्चात्त्यैरपि विविधार्थेषु अङ्गीकृतः कालान्तरे प्रस्तुतश्च। वस्तुतः भारतीयज्ञानधाराणां आयुर्वेद-सामुद्रिकशास्त्र-ज्योतिषादिशास्त्राणि प्रत्येकमपि जातकस्य व्यक्तित्वस्वरूपं प्रस्तुवन्ति। ततश्च क्रमशः वेदादारभ्य वेदान्त-दर्शन-वेदाङ्ग-पुराण-धर्मशास्त्रादि-शास्त्राणि उदात्तव्यक्तित्वस्य निर्माणार्थं नानाविधोपदेशान् व्यावहारिकमार्गान् च निर्दिशन्ति। अनेनेदं स्फुटमेव यत् अस्मत्पूर्वजैः रचितशास्त्रेषु प्रत्येकमपि मानुषस्य व्यक्तित्वस्वरूपविवेचना तद्विकासस्य क्रमाश्च निर्दिष्टाः सन्ति इति। कालान्तरे प्राश्चात्त्यविद्वांसोऽपि मनोविज्ञानान्तर्गते व्यक्तित्वविषये नानानुसन्धाकार्याणि विधाय व्यक्तित्वविकासस्य अवस्थाः तदनुरूपं च व्यक्तित्वविकासार्थं कथं यतनीयमिति निरदिशन्। ज्योतिषशास्त्रन्तु प्रत्यक्षतया जातकस्य कुण्डल्यां विद्यमानग्रहनक्षत्रराश्यादिस्थित्याधारेणैव तद्व्यक्तित्वस्य पूर्णतया निरूपणं कुरुते। ज्योतिषशास्त्रानुसारं कस्यापि जातकस्य व्यक्तित्वे आत्मकारक-मनःकारकयोः सूर्यचन्द्रयोः महान् प्रभावः अवलोक्यते। तद्विषयकं विश्लेषणमेव शोधपत्रेऽस्मिन् प्राच्य-पाश्चात्त्यमतदिशा विधीयते।)

आङ्ग्लभाषया निर्दिश्यमानं व्यक्तित्वद्योतकं ‘personality’ पदमिदं ‘persona’ (मुखावरणम्) इत्यस्मात् शब्दात् निष्पन्नं सत् व्यक्तित्वस्य केवलं

पक्षविशेषस्य अर्थं प्रतिपादयति न तु सर्वसामान्यार्थम्। व्यक्तित्वपदमिदम् अस्मच्छास्त्रेषु पूर्णतया व्यापकार्थे प्रयुज्यमानं दृश्यते। तत्रापि विशिष्य ज्योतिश्शास्त्रे अतिसूक्ष्मरूपेण शरीरस्य मनसः आत्मनश्च प्रत्येकं चेष्टायाः विषये चिन्तनं विहितम् ऋषिभिः। व्यक्तित्वे हि तत्सर्वमन्तर्भवति। भारतीयपरिप्रेक्ष्ये तु कस्यापि जनस्य शारीरिक-मानसिक-सांवेगिकादयः सर्वेऽपि अंशाः व्यक्तित्वं द्योतयन्ति। पाश्चात्त्येषु केवलं एच्. जे. आइजेन्कवर्य एव व्यक्तित्वं सर्वमतसमन्वयेन स्पष्टीकरोति। तद्यथा– **"व्यक्तित्वं व्यक्तेः चरित्र-स्वभाव-बुद्धि-शारीरिकसंरचनायाः स्थायि स्थिरं च सङ्घटनं वर्तते यत् वातावरणेन सह तस्य अभूतपूर्वसमायोजनं निर्धारयति"**[1] इति।

व्यक्तित्वे हि वातावरणस्य आनुवांशिकतायाश्च महान् प्रभावः जायते इति समग्रोऽपि आधुनिकमनोविज्ञानप्रपञ्चः घण्टाघोषेण भणति। अस्मत्पर्यावरणे विद्यमानग्रहाणामपि न केवलं व्यक्तित्वे अपितु समग्रेऽपि जीवने सुमहान् प्रभावः भवति इत्येतत्सर्वं विज्ञाय एव अस्मत्प्राञ्चैः महर्षिभिः स्वदिव्यज्ञानेन परममनोवैज्ञानिकस्य ज्योतिश्शास्त्रस्य प्रवर्तनमकारि। सकलेऽस्मिन् ब्रह्माण्डे येऽपि तेजःपिण्डाः अवलोक्यन्ते तेषां सम्बन्धः समग्रविश्वस्य स्थावरजङ्गमादिभिः साकं नितरां वर्तत एव। तदुक्तं याज्ञवल्क्येन–

"जगतः स्थावरजङ्गमात्मकस्य उत्पत्तिनिरोधौ भावाभावौ ग्रहाधीनौ"[2]

किञ्च एकस्मिन्नेव परिवारे परिवेशे च समानपित्रोः समुत्पन्नजातकयोः व्यक्तित्वे महदन्तरं दृश्यते वर्ण-शरीर-आकृति-व्यवहारादिषु। तत्र कारणं हि जन्मकालिकग्रहबलवशात् तत्प्रकृत्यनुरूपमेव जातके विशिष्टगुणाः जायन्ते इति ज्योतिश्शास्त्रसारः। तत्रापि विशिष्य आत्मनः मनसश्च द्योतकौ रविचन्द्रौ पृथिव्याः सन्निकटवर्तिनौ इति कारणात् न केवलं परोक्षरूपेण अपितु प्रत्यक्षतोऽपि मानवेषु महान्तं प्रभावं जनयतः। तयोः प्रत्यक्षप्रभावं इदमपि मतमभिव्यञ्जयति यत् एतावेव रविचन्द्रौ ग्रहत्वेन प्रसिद्धौ अन्ये हि ताराग्रहाः कथ्यन्ते। अतः तयोः रविचन्द्रयोः विशेषतः जायमानप्रभावः एव अत्र वर्ण्यते। तयोः स्वरूपम् एवमुच्यते कालज्ञैः–

मधुपिङ्गलदृक् चतुरस्रतनुः पित्तप्रकृतिः सवितात्पकचः ।
बहुवृत्ततनुर्बहुवातकफः प्राज्ञश्च शशी मृदुवाक् शुभदृक् ।।[3] इति

अन्यच्च **"दिवाकरो हि विश्वात्मा मनः कुमुदबान्धवः"**[4] इति पराशराचार्याणामुक्तिः। अनेन हि सूर्यः अस्य चराचरजगतः आत्मस्वरूपः स्वामी, चन्द्रश्च मनःकारकः इति स्फुटम् अवगम्यते। अत एव वेदेषु आदावेव सूर्यस्य महिमा गीयते। तद्यथा– **"सूर्यो आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"** इति। न केवलं प्राञ्चः अपितु आधुनिकाः

प्रकृतिविज्ञानिनोऽपि अमुमेवविचारं पूर्णतया अङ्गीकुर्वन्ति यत् सूर्यस्य प्रभावेण वनौषधयः पच्यन्ते, किञ्च वनस्पतिषु प्राणिषु चापि पोषकतत्त्वानां (विटामिन्स्) प्रमुखप्राप्तिस्थानं जगत्पोषकः सूर्यः एव। न केवलं प्रत्यक्षरूपेण समग्रसंसारपोषकः सूर्यः अपितु परोक्षतः ज्योतिश्शास्त्रे फलादेशक्रमे उत्तम - गभीर - राजसदृश - व्यक्तित्वद्योतकत्वेन सूर्यस्य प्रसिद्धिः वर्तते।

पृथिव्याः सन्निकटतरवर्तिनश्चन्द्रस्य प्रभावो अमायां पूर्णिमायां च सागरे ज्वारभाटा, उन्मत्तेषु उन्मत्तताधिकता, शरीरादिषु च तीव्ररक्तसञ्चारादिरूपेण नितरां दरीदृश्यते। चन्द्रस्य जलीया प्रकृतिः मानवदेहेऽपि 75% जलीयांशः, अतः मानवशरीरे सागरादिषु च चन्द्रस्य महान् प्रभावोऽवलोक्यते। मानवशरीरस्य अभिवृद्ध्यर्थं सुष्ठुसञ्चालनार्थं च रक्तस्य महन्महत्वं भवति। रक्तकारकः चन्द्रः सुप्रसिद्धः तद्यथा–**"अस्थिरक्तस्तथा मज्जा त्वङ्मेदो वीर्यमेव च।**

स्नायुरेते धातवः स्युः सूर्यादीनां क्रमाद् द्विज ।। इति ।[5]

यतो हि रक्तवशादेव देहसौष्ठवं कल्पयितुं शक्नुमः, स्वस्थे शरीरे सत्येव मानसिकं स्वास्थ्यं कल्पयितुं शक्नुमः। शरीरं मानसञ्चेत्युभयमपि स्वस्थं चेदेव व्यक्तित्वं विकसितं भवति इत्यतः व्यक्तित्वविकासे चन्द्रस्य प्रभावः स्फुटः भवति। अत एव चन्द्रः जन्मकाले यस्मिन् राशौ स्थितः भवति स एव तस्य जन्मराशिः इत्युच्यते। जन्मराशेः आधारेण हि मनुष्यस्य मानसिकस्वभावस्य वृत्तेश्च अभिज्ञानं भवति। न केवलमेतावदेव अपितु प्रजननक्षमातायाः आधारं स्त्रीणां मासिकं रजोदर्शनमपि चन्द्रः पूर्णतया प्रभावयति। इदमेव रजोदर्शनं गर्भाशयस्थाः क्रियाश्च गर्भाधानस्य प्रमुखं कारणं भवतः। अनेनैव भाविजीवस्य जीवनं व्यक्तित्वञ्च सुनिश्चितं भवति।

परमवैज्ञानिकजलीयचक्रस्य कर्त्ता सूर्यः भवति। मासपक्षादिकालमानानां च प्रतिपादकौ अपि रविचन्द्रौ एव। अतः उभयोः मानवजीवने उपयोगिता स्वतस्सिद्धा भवति। ज्योतिश्शास्त्रे हि कालपुरुषस्याङ्गेषु हृदयस्थाने स्थितकर्काटकाधिपति चन्द्रः वर्तते। हृदये क्लेशे शरीरस्य अस्थिरता सुनिश्चिता। तदनु व्यक्तित्वपरिवर्तनमपि निश्चितमेव। सूर्यः उदरभागस्वामी, उदरं सम्यक् कार्यं करोति चेत् न कश्चन रोगः उत्पद्येदिति भिषक्प्रवराणामाशयः। जातकस्य सूर्यः बलिष्ठश्चेत् तेजस्वितायां वृद्ध्या सहैव उदरजाः रोगाः न उत्पद्येरन्, येन व्यक्तित्वं विकसितं भवति।

आधुनिकदैवज्ञप्रवराः मुकुन्ददैवज्ञाः बाह्याङ्ग-अन्तरङ्गरूपेण तत्तदङ्ग-स्वामित्वेन च ग्रहाणां विभागं विचारं च अकार्षुः। [6] तत्र हि चन्द्रः कर्काटकाधिपतिः, हृदयस्थानाधिपो भूत्वा बाह्याङ्गे वक्षसि तिष्ठति। अन्तरङ्गे च

पञ्चेन्द्रियप्रमुखः इत्युच्यते। तत्र हि सिंहाधिपतिः सूर्यः क्रोडे स्थितः बाह्याङ्गरूपेण मध्यभागे विराजमानः सन् अन्तरङ्गे हि हृदयप्रदेशप्रमुखः प्रोच्यते। विशेषतः सूर्यः आत्मकारकः चन्द्रश्च मनःकारकः प्रोक्तः वराहाचार्येणापि।[7] तत्रापि सूर्यः अस्थिकारकः चन्द्रश्च त्वक्कारकः प्रोक्तः।[8] किञ्च **"तनुस्थो रविः तुङ्गयष्टिं विधत्ते"**[9] इत्यादीनां सर्वेषामपि विषयाणां कारकौ इमौ ग्रहौ बलाबलवशात् स्वीयं प्रभावं जनयतः। उक्तञ्च लघुजातके– **"सदसद्ग्रहसंयोगाद् पुष्टा सोपद्रवास्ते"**। अनेनैव शारीरिकव्यक्तित्वस्य प्रभावं सौष्ठासौष्ठवं वक्तुं शक्नुयाम।

आधुनिकेषु मनोविज्ञानशास्त्रवित्सु प्रसिद्धस्य क्रेस्तमरवर्यस्य (Kretchmer) शरीरविषयकं पित्तादिप्रकृत्याधारेण कृतं व्यक्तित्वस्य वर्गीकरणं भारतीयज्योतिषे सूर्य-चन्द्रयोः स्वरूपावबोधेन स्पष्टं अवगन्तुं शक्नुमः। एतदेव रामचन्द्रपाण्डेय-वर्याणामाशयः, तद्यथा– **"शरीरविषये एव चन्द्रः कफ-वायु-रुधिर-वाण्यादि-विशिष्टांशानां निरूपकः। सूर्यश्च अस्थि-केशादीनाम्"**[10] इति। तदनुसारमेव ग्रहाणां बलाबलदृष्टिभावस्थानादीनामनुसारं व्यक्तित्वं प्रभावितं भवति। कफरक्तपित्ता-दीनामाधारेण वस्तुतः व्यक्तित्वस्य केवलम् एकपक्षस्य ज्ञानं भवति न तु सम्पूर्णव्यक्तित्वस्य। भारतीयसमवाये रोगाणां विषये ज्योतिषे आयुर्वेदशास्त्रे च प्रत्येकं प्राणिनः प्रकृतिः वात-पित्तादीनाम् आधारेण निधार्य तदनुसारं चिकित्साक्रमः प्रवर्तते। तस्य एव ईषत्व्यस्तं रूपं क्रेस्तमरवर्यस्य व्यक्तित्वविषयकनिरूपणे दृश्यते न किमपि नूतनं तत्त्वं तत्र।

किञ्च व्यक्तित्वनिर्धारिका आधुनिकरीतिरपि प्रायः इयमेव यत् धन-धान्य-ऐश्वर्य-यशःपरिपूर्णः जनः एव उत्तमव्यक्तित्वयुतः अपि भवति इति। तच्चिन्तनमपि चन्द्रस्य बलाबलेन क्रियते। तद्यथा– **"विधुर्गोकुलीराजगः सन् वपुस्थो धनाध्यक्ष-लावण्यमानन्दपूर्णम्"**[11]। अन्यच्चोच्यते फलदीपिकायाम्–

"कीर्तिं मौक्तिककांस्यरौप्यमधुरक्षीरादिवस्त्राम्बुगो-
योषाप्तिं सुखभोजनं तनुसुखं रूपं वदेच्चन्द्रतः ।।[12]

एवं प्रकारेण मानसिकपक्षस्स्य शरीरिकसुखसौन्दर्ययोश्चापि पोषकः अभिवर्धकश्च चन्द्रः भवति। न केवलमेतावदेव अपितु व्यक्तित्वस्य प्रमुखांशं चरित्रमपि मुख्यतः चन्द्रवशात् लग्नवशाच्च विचारयन्ति ज्योतिर्विदः। चन्द्रः लग्नश्च सौम्यदृष्टौ युतौ वा उत्तमचरित्रयुक्तं कुरुतः इति मन्त्रेश्वराचार्याणामभिप्रायविशेषः।[13] सूर्यः प्रथम-नवम-दशमभावानां चन्द्रश्च चतुर्थभावस्य कारकः उच्यते।[14] प्रथमभावात् शरीरस्य आत्मनश्च नवमात् धर्म-पूजा-पूर्वभाग्य-शुभकार्याणां दशमात् वृत्तेः मानस्य कर्मणः कीर्तेः जयस्य गुणप्रवृत्त्यादीनाम् विचारः क्रियते, चतुर्थ भावात् गृह-मातृ-मित्र-वाहनादीनां

चिन्तनं भवति। सर्वाण्यपि इमानि तत्त्वानि विशेषतः कस्यापि जनस्य व्यक्तित्वम् अवश्यं प्रभावयन्ति। आधुनिकशिक्षामनोविज्ञानी गार्डनरमर्कावर्यः त्रिविधोपागमैः व्यक्तित्वस्याध्ययनं प्रस्तावयति। तद्यथा– 1. लक्षणोपागमः 2. संरचनोपागमः 3. समायोजनात्मकोपागमश्च। अत्र त्रिष्वपि उपागमेषु शारीरिक-मानसिकस्थितिवशादेव अधिकं व्यक्तित्वनिर्धारणं जातम्।

1. लक्षणोपागमः– यस्य वस्तुनः आधारेण एकस्य जनस्य जनान्तरेण भेदः ज्ञायेत् तदेव लक्षणमिति। अत्र भावनाः विचाराः शारीरिकमानसिकाकृत्यादयः भेदाः स्वीकर्तुं शक्याः। ग्रहाः नक्षत्राणि राशयः भावाश्च परस्परसम्बन्धवशात् शरीरलक्षणानि निर्धारयन्ति। यत्र शारीरिकलक्षणनिर्धारको लग्नभावः सूर्यग्रहश्च।

2. संरचनोपागमः– अस्याः धारणायाः अनुसारं यदि अस्माभिः कस्यचित् व्यक्तित्वं ज्ञातव्यं चेत् तस्य व्यवहारस्य प्रवृत्तेः वा समग्रता ज्ञातव्या भवेत्। अत्रापि सूर्यस्य महान् प्रभावः शरीररचनायां सम्भवति।

3. समायोजनम्ः– सुप्रसिद्धमनोविज्ञानिनः कर्टलेविनवर्यस्य क्षेत्रसिद्धान्तः अत्र अन्तर्भवति। व्यक्तेः आन्तरिकशक्तीनां बाह्यवातावरणेन सह सुसम्बन्धस्य परिणामः एव समायोजनम्। एतन्निमित्तं हि मानसिकशक्तीनां विकासः इच्छाशक्तिश्च अपेक्षते। अतः चन्द्रः अत्र कारकः भवेदेव।

सूर्यग्रहस्य प्रत्यक्षप्रभावः मानसिक-शारीरिकप्रकृतौ अत्यधिकं जायते इति हंगरीदेशस्य एकेन अध्ययनेन स्फुटमवगम्यते। तद्यथा– हंगरीदेशे 1848 तमे वर्षे राज्यसंघर्षे 157 बन्धिनः कारावासं प्रेषिताः। पूर्णतया अन्धकारमये कारावासेऽस्मिन् सूर्यस्य किरणाः तत्र न कदापि प्राविशन्। केषाञ्चिद्वर्षाणामनन्तरं एतेषु 15 जनाः पूर्णतया उन्मत्ताः अभूवन् अन्ये सर्वेऽपि विषण्णोन्मादावास्थां प्राप्नुवन्। तेषां कारावासात् निष्कासनानन्तरं सूर्यस्य प्रकाशे च तेषां कार्यकरणेन स्वास्थ्यलाभः अभूदित्यत एव सूर्यस्य रश्मीनाम् प्रभावः अस्माकं व्यक्तित्वे प्रत्यक्षतः कियान् भवतीति स्पष्टमवगम्यते।

ज्योतिश्शास्त्रानुसारन्तु पृथिव्याः समीपस्थग्रहकारणात् सर्वाधिकं प्रभावं जनयति चन्द्रः। कस्यापि मानवस्य मानसिकदशां पूर्णतः प्रभावयत्ययं मनःकारकत्वात्। गौरवर्णीयं स्थूलं पुष्टं च शरीरं जनयति स्वबलिष्ठस्थितिवशात्। सूर्यश्च आत्मविश्वासं दृढयति आत्मकारकत्वात्। न केवलमेतावदेव अपितु उभावपि सूर्यचन्द्रौ सत्त्वगुणोपेतौ[15] अतः यस्य जातकस्य जन्म सूर्यचन्द्राभ्यां प्रभावितं भवति अर्थात् यस्य जन्मनि बलपूर्णयोः सूर्यचन्द्रयोः प्रभावः स उत्तमव्यक्तित्वोपेतः सत्त्वस्वभावयुक्तश्च भवति। अतः शारीरिकमानसिकादिलक्षणोपेतान् इमानुपागमान् व्यक्तित्वस्य च विविधांशान् अवश्यं प्रभावयतः रविचन्द्रौ इति।

सन्दर्भग्रन्थः-

1. शिक्षामनोविज्ञान, एस्. के. मंगल, पी.एच्.आई. प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 2014
2. चमत्कारचिन्तामणिः, भट्टनारायणः, मोतीलालबनारसीदास, दिल्ली 2005
3. हृद्रोगसमीक्षणम्, शत्रुघ्नत्रिपाठी, चौखम्बासुरभारतीप्रकाशनम्, वाराणसी, 2012
4. याज्ञवल्क्यस्मृतिः, सं- आर्. के. पण्डा, भारतीय कला प्रकाशन, दिल्ली 2011
5. जातकतत्त्वम्, व्या.- हरिशङ्करपाठक, चौखम्बासुरभारतीप्रकाशनम्, वाराणसी,
6. मानसागरी, व्या.- विजयकान्तमिश्र, भारतीयविद्याप्रकाशनम्, दिल्ली 2003
7. जातकपारिजातः, गोपेशकुमाराओझा, मोतीलालबनारसीदास, दिल्ली 2004
8. आधुनिकप्रयोगात्मक मनोविज्ञान, डी. एन्. श्रीवास्तव, विनोदपुस्तकमन्दिर, आगरा
9. शिक्षण एवम् अधिगम का मनोविज्ञान, डा. सुबोध तिवारी, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा
10. फलदीपिका, व्या.- हरिशङ्करपाठक, चौखम्बा सुरभारतीप्रकाशन, वाराणसी, 2007

---

1. शिक्षामनोविज्ञान, 30 अध्यायः, 460 पृष्ठ
2. याज्ञवल्क्यस्मृतिः, मिताक्षराटीका, 1/38
3. बृहज्जातकम् 2/8
4. बृ.प.होराशास्त्रम् 3/13
5. बृ.प.होराशास्त्रम् 3/32
6. जातकदीपक पृ. सं. 436
7. बृहज्जातकम् 2/1
8. बृहज्जातकम् 2/11
9. चमत्कारचिन्तामणिः पृ. सं. 16
10. मानसागरी भूमिका पृ. सं. 7
11. चमत्कारचिन्तामणिः पृ. सं. 86
12. फलदीपिका 2/2
13. फलदीपिका 11/2
14. फलदीपिका 15/17
15. “सत्त्वं भवेयुः शशिसूर्यजीवाः” जारकाभरणम्, तनुभावविचारः

ज्योतिषविभागः सनातनधर्मआदर्शसंस्कृतमहाविद्यालयः,
डोहगी, ऊना, हिमाचलप्रदेशः- 174307

दूर.- 7895595582

ईमेल – mukesh.09bharti@gmail.com

बृहत्संहितायां निर्दिष्टः चन्द्रचारः

– डॉ. बालकरामसारस्वतः

(चन्द्रचाराध्याय में चन्द्रमा का सञ्चरण जब-जब अन्य ग्रहों के साथ समागम या विच्छेद होता है तो उस परिस्थिति को इस अध्याय में प्रतिपादित किया गया है तथा चन्द्रमा की गति जैसे-जैसे बढ़ती और घटती है जाती है उसी के अनुसार वराहमिहिराचार्य ने इस अध्याय में फल प्रस्तुत किया है। केवल ग्रहों में सञ्चरण को आचार्य ने प्रस्तुत नहीं किया है बल्कि चन्द्रमा के विशेष नक्षत्रों में रहने से भी फल का कथन किया है। यथा– विशाखा व अनुराधा नक्षत्रों के दक्षिण भाग से जब चन्द्र का गमन होता है तब भी अनिष्टकारी फल होता इत्यादि विषयों को विशेषकर चन्द्रमा की शुक्लपक्ष कृष्णपक्ष को ध्यान में रखकर फल कथन किया गया है जैसे कि चन्द्रमा के शृंग की वृद्धि तथा न्यूनता जिस दिशा में होती है उस दिशा में रहने वालों में होने वालों को शुभाशुभ फल की प्राप्ति कब होगी इत्यादि विषयों को आचार्य ने विशेष रुप से प्रतिपादित किया गया है। तथा कभी कभी पूर्णिमा तथा अमावस्या को भी चन्द्रमा अलग अलग रंगो में दिखाई देता है उसके अनुसार फल कथन किया गया है साथ साथ चन्द्रमा की वृद्धि और क्षय के समय होने वाले शृंग के सदृश दिखाई देने में परिवर्तन होने से भी उसके अलग अलग नाम बताये गये है उन नामों के अनुसार फल कथन बताया गया है। अर्थात् इस चन्द्रचाराध्याय में चन्द्रमा जब किसी ग्रहों में सञ्चरण करता है तो उसमें जाने का क्या फल होता है इत्यादि परिवर्तनों के अनुसार पृथ्वी में रहने वालों में क्या प्रभाव होता है इत्यादि विशेष कथन कहा गया है क्योकि चन्द्रमा पृथ्वी के सबसे नजदीक ग्रह होने के कारण इसके प्रभाव सबसे जल्दी मानव पर दिखाई देते है।)

(प्रस्तूयते चन्द्रचारः। ज्योतिषे चन्द्रस्य बहु महत्ता वर्तते, यदि फलिते पश्यामः चन्द्रः जनानामान्तरिकविद्यमाने रक्तः, हृदयः, मनःकारकाश्चास्ति। चन्द्रस्य सम्पूर्णं वृत्तान्तं चन्द्रचारे श्रीवराहमिहिराचार्येण निर्दिष्टं कृतं वर्तते। श्रीवराहमिहिराचार्यस्य बृहत्संहितायाः प्रथमभागस्य चतुर्थेऽध्याये निर्दिष्टोऽयं चन्द्रचारः। चन्द्रचारस्य सामान्यार्थः (चन्द्रस्य चारः इति चन्द्रचारः) चन्द्रस्य गतिवशात् तथा तस्य शृङ्गाकृतिवशात् ग्रहाणाम् आघातेन तस्य शुभाशुभत्वम्। अस्मिन् चन्द्रचाराध्याये चन्द्रस्य नौकादिदशसंस्थानानिचन्द्रशृङ्गेन कथं जायन्ते, तेषांफलानिकथमुत्पद्यन्ते, केषां लाभहानिश्च भवति। चन्द्रस्य नक्षत्रे भोगकाले किं फलं समुपलभ्यते, ग्रहाणां अतिक्रान्तेन कस्य देशस्य लाभहानिश्च भवति। शुक्लपक्षे अथवा कृष्णपक्षे तिथिवृद्धिः, तिथिक्षयः, समत्वतिथिर्भवति चेत् तेषां शुभाशुभं सम्पूर्णं ज्ञानमत्र विज्ञायते।)

कूटशब्दाः–

चन्द्रचारः, श्रृङ्गम्, आघातम्, दुर्भिक्षम्, सुभिक्षम्। सितकिरणस्य कृष्णशुक्लभागौ कदा जायेते–

भानोरधः स्थितः चन्द्रः, आदित्यरश्मिभिर्नित्यमर्धदलेन शुक्लः भवति। चन्द्रस्य यस्मिन् भागेऽर्करश्मयः पतन्ति तस्मिन्नेवार्धभागेशुक्लः भवति। कथम् इत्युक्ते–

यदा कुम्भस्य (चंद्रसदृश) यस्मिनार्द्धभागे रश्मयः पतन्ति तदर्धभागे शुक्लत्वं दृश्यते, अवशेषाः स्वछायया कृष्णत्वं दृश्यते।

यथोक्तं वराहमिहिराचार्येण–

नित्यमधःस्थस्येन्दोर्भाभिभानोः सितं भवत्यर्द्धम् ।
स्वच्छाययाऽन्यदासितं कुम्भस्येवाऽऽतपस्थस्य ।।[1]

चंद्रस्य स्वप्रकाशभावादिविचारः-

सलिलमये शशिनि रवेर्दीधितयो मूर्च्छितास्तमो नैशम् ।
क्षपयन्ति दर्पणोदरनिहिता इव मन्दिरस्यान्तः ।।
भूग्रहभानां गोलार्द्धानि स्वच्छायया विवर्णानि ।
अर्द्धानि यथा सार्द्धं सूर्याभिमुखानि दीप्यन्ते ।।[2]

वराहमिहिराचार्येण बृहत्संहितायां प्रचोदितं यत् यदा चंद्रः स्वभोगवशात् दर्शान्ते प्रतिपदादिषु तिथिषु अर्कात् प्राङ्मुखः शीघ्रगत्या गच्छति तथा दृष्टौ आगतः चंद्रः शुक्लवर्णः भाति। एवमेव प्रकारेण सूर्यात् चन्द्रः स्थानान्तरव्रजेन शुक्लमेधते।

एवं प्रकारेण चन्द्रः शुक्लाष्टम्यर्द्धे राशिचयान्तरितस्यार्द्धशुक्लत्वं भवति। पूर्णिमायान्ते षड्राश्यन्तरितस्य सर्वदा शुक्लत्वं भवति। ततः यथा-यथा शशिः भानुसन्निकर्षमायाति तथा-तथा तस्य चन्द्रस्य शुक्लवर्णहानिः भवति, अमावास्यान्ते तु सर्वकृष्णता भवतीति।

चन्द्रस्य नक्षत्रगमनेन शुभाशुभत्वम् –

ऐन्द्रस्य शीतकिरणो मूलाषाढाद्वयस्य चायातः ।
याम्येन बीजजलचरकाननहा वह्निभयदश्च ।।[3]

यदा चंद्रः ज्येष्ठा, मूला, उत्तराषाढा, नक्षत्राणां दक्षिणमार्गेण गमनं करोति तदा अग्निभीतिः, सर्पाणां, वनानां च नाशः प्रजायते।

दक्षिणपार्श्वेन गतः शशी विशाखाऽनुराधयोः पापः ।
मध्येन तु प्रशस्तः पितृदेवविशाखयोश्चापि ।।[4]

विशाखा, अनुराधायां चंद्रस्य दक्षिणगमनम् अशुभकरं भवति। मघा, विशाखा, नक्षत्रयोः चंद्रस्य मध्यसञ्चारकाले शुभफलं भवति।

षडनागतानि पौष्णाद् द्वादश रौद्राच्च मध्ययोगीनि ।
ज्येष्ठाद्यानि नवर्क्षाण्युडुपतिनातीत्य युज्यन्ते ।।[5]

रेवतीमारभ्य षट्नक्षत्राणि (रेवत्यश्विनीभरणीकृत्तिकारोहिणीमृगशिराश्चेत्ये-तानि) चन्द्रेण साकं अनागतभावेन संयोगं यान्ति। आर्द्रामारभ्य अनुराधा पर्यन्तं (आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाति, विशाखा, अनुराधा) नक्षत्राणि स्वमध्यभागे चन्द्रेण सह संयोगं कुर्वन्ति। ज्येष्ठानक्षत्रमारभ्य उत्तराभाद्रपदानक्षत्रपर्यन्तमेत्रीणि (ज्येठामूलपर्वाषाढोत्तराषाढ-

श्रवणधनिष्ठाशतभिषाक्पूर्वाभादोत्तराभाद्रपदेतानि) नक्षत्राणि चन्द्रेण साकं अतिक्रान्तेन मिलन्ति।

चन्द्रस्य दश संस्थानानि–

1. नौ	**2.** लाङ्गलम्	**3.** दुष्टलाङ्गलम्	**4.** समः	**5.** दण्डः
6. युगः	**7.** आवर्जितम्	**8.** कुण्डः	**9.** कार्मुकः	**10.** पार्श्वसायी

चन्द्रस्य दशसंस्थानानि तेषां फलानि च–

नौ– **उन्नतमीषच्छृङ्गं नौसंस्थाने विशालता चोक्ता।**
नाविकपीडा तस्मिन् भवति शिवं सर्वलोकस्य ।।[6]

बृहत्संहितायां श्रीवराहमिहिरेण लिखितं अस्ति यत् यदा चन्द्रस्य शृङ्गं किञ्चिदुन्नतं भवति तथा नौकारूपश्च भवति तस्मिन् काले नाविकानां पीडा, तथा परेषां जनानां सुखं च भवति।

लाङ्गलम्– **अर्द्धोन्नते च लाङ्गलमिति पीडा तदुपजीविनां तस्मिन्।**
प्रीतिश्च निर्निमित्तं मनुजपतीनां सुभिक्षं च ।।[7]

यदा चन्द्रस्यशृङ्गं अर्धोन्नतं चेत् तदा लाङ्गलम् इति संज्ञा– लाङ्गले तु कृषकाणां पीडा, राज्ञां परस्परमैत्रतां सुखं च भवति। (राज्ञां च विजयं ब्रूयात् वर्द्धन्ते शृङ्गिगणस्तथा ।। इति ।।

दुष्टलाङ्गलम्– दक्षिणविषाणमर्द्धोन्नतं यदा दुष्टलाङ्गलाख्यं तत्।
पाण्ड्यनरेश्वरनिधनकृदुद्योगकरं बलानां च ।।[8]

चन्द्रस्य यदा दक्षिणशृङ्गम् अर्धोन्नतं भवति तदा दुष्टलाङ्गलं भवति, तस्मिन् काले पाण्ड्यदेशस्य नृपस्य वधः। इति फलम्।

समदण्डः– **समशशिनि सुशभिक्षक्षेमवृष्टयः प्रथमदिवससदृशाः स्युः।**
दण्डवदुदिते पीडा गवां नृपश्चोग्रदण्डोऽत्र ।।[9]

चन्द्रशृङ्गं समं चेत् सुभिक्षं क्षेमः वर्षं च भवति। कथ्यते यत्–

"समश्रृङ्गो यदा दृष्टः शशी क्षेमसुभिक्षकृत् प्रतिपत्सदृशं तत्र वासवो वर्षते तदा"

अर्थात्– प्रथमदिनतुल्यं (प्रतिपत्तत्सदृशास्तत्तुल्या सुभिक्षक्षेमवृष्टयः स्युर्भवेयुः) चन्द्रशृङ्गं यदा दण्डवदुदिते दण्डाकारे भवति तदा तस्य दण्ड इति संज्ञा। चंद्रस्य दण्डावस्थायां गोवृषवाणां पीडा तत्रास्मिन् स्थितानां स्थाने नृपाणां उग्रदण्डस्तीक्ष्णकरः स्वभावः भवति।

कथ्यते यत्– **चन्द्ररेखा यदा चोर्ध्वमृज्वी दण्ड इव स्थिता।**
उदक्श्रृङ्गाधिकसमो दण्डस्थानं तदुच्यते ।।
उद्युक्तदण्डा राजानो विनिघ्नन्ति समन्ततः।
गवां पीडां विजानीयाद्दण्डस्थाने यदा शशि" ।।[10]

कार्मुकयुगसस्थानम्–

कार्मुकरूपे युद्धानि यत्र तु ज्या ततो जयस्तेषाम् ।
स्थानं युगमिति याम्योत्तरायतं भूमिकम्पाय ।।[11]

यदा चन्द्रश्रृङ्गस्य प्रतीतिः कार्मुकवत् (धनुवत्) भवति तदा कार्मुकं विज्ञायते। कार्मुकसदृशचन्द्रस्य ज्या यस्यां दिशि गच्छति तद्देशीयानां युद्धभीतिः भवति। युद्धकाले चन्द्रस्य ज्या यस्मिन् भागे भवति तत्र स्थितानां राज्ञां जयो भवति।

यथोक्तं– **(उदये तु यदा सोमं पश्येद्धनुरिवोदितम्,**
धनुर्द्धराणामुद्योगो जगद्युद्धकरो भवेत्)

यदि चन्द्रश्रृङ्गं याम्योत्तरे विस्तीर्णमध्यमं मण्डलं भवति तद्युगसंस्थाना मिति ज्ञेयम्। तस्य युगसंस्थानस्य फलं भूकम्पः भवति।

वृद्धगर्गेण प्रोक्तं– चन्द्ररेखा यदा व्यक्ता दक्षिणोत्तरमायता ।
शुक्लादौ प्रतिपद्येत तद्योगस्थलक्षणम् ।।[12]
सैन्योद्योगा भवन्त्यत्र भूमिकम्पश्च जायते ।।

पार्श्वशायीसस्थानम्–

यगमेव याम्यकोट्यां किञ्चित्तुङ्गं स पार्श्वशायीति ।
विनिहन्ति सार्थवाहान् वृष्टेश्च विनिग्रहं कुर्यात् ।।[13]

यदा युगसंस्थाने चन्द्रस्य दक्षिणश्रृङ्गस्याग्रभागे किञ्चित् औन्नत्यं भवति तत् तु 'पार्श्वशायी'इतिसंज्ञा।

अस्य संस्थानस्य फलं महाजनानां-वणिकानां नाशः अनावृष्टिः च भवति।

पुनश्च वृद्धगर्गः– "याम्यकोट्यायतः किञ्चिद्युगकाले यदा शशी,
पार्श्वशायीति संज्ञोऽयं सार्थहा वृष्टिनाशनः"

आवर्जितसंस्थानम्–

अभ्युच्छ्रायादेकं यदि शशिनोऽवाङ्मुखं भवेच्छ्रृङ्गम् ।
आवर्जितमित्यसुभिक्षकारि तद् गोधनस्यापि ।।[14]

चन्द्रस्य श्रृङ्गमेकं वाङ्गमुखं (अधोमुखं) भवति तत्संस्थानानामावर्जितं। आवर्जिते तु सुभिक्षकारि दुर्भिक्षं करोति। न केवलं गोधननाशं अपितु तृणानामपि नाशो भवति।

पुनश्च वृद्धगर्गः– "अधोमुखं यदा श्रृङ्गं शशिनो दृश्यते तदा,
संस्थानमावर्जितकं गोघ्नं दुर्भिक्षकारकम्"

कुण्डसंस्थानम्– अव्युच्छिन्ना रेखा समन्ततो मण्डला च कुण्डाख्यम् ।
अस्मिन् माण्डलिकानां स्थानत्यागो नरपतीनाम् ।।[15]

चन्द्रमण्डलं परितः अविच्छिन्नरेखायाः दर्शनं भवति, तत् तु कुण्डसंस्थानम्। कुण्डसंस्थानस्य सूचकं मण्डलेशानां नरपतीनां तथा मण्डलेस्थिते परिमिते राज्ञां स्थानत्यागः, स्थानचलनं च भवति।

तथा च वृद्धगर्गः–"अच्छिन्ना मण्डले रेखा शशिनो दृश्यते यदा,
कुण्डाख्यं नाम संस्थानं नृपविग्रहदायकम्"

चन्द्रस्य दशसंस्थानानि अधोलिखित कोष्ठकेन स्पष्टीक्रियते –

संस्थानानि	स्वरूपाणि	फलानि
नौः	चन्द्रस्य श्रृङ्गं किञ्चित् उन्नतं नौकारूपश्च।	नाविकाकानां पीडा परेषां सुखञ्च।
लाङ्गलम्	चन्द्रस्य श्रृङ्गम् अर्धोन्नतम्।	कृषकाणां पीडा राज्ञां सुखञ्च।
दुष्टलाङ्गलम्	चन्द्रस्य दक्षिणश्रृङ्गम् अर्धोन्नतम्।	पाण्ड्यदेशनृपस्य वधः।
समः	चन्द्रोदयः समश्चेत्।	सुभिक्षं, क्षेमं वर्षं च।
दण्डः	चन्द्रोदयः दण्डतुल्यः।	राजानः उग्राः भवन्ति, गोवृषभाणां पीडा च।
युगः	चन्द्रश्रृङ्गं दक्षिणोत्तरदिशौ दीर्घः।	भूमिकम्पनम्।
आवर्जितम्	चन्द्रश्रृङ्गमेकं अधोमुखं।	गोधनानां दुर्भिक्षम्।
कुण्डः	चन्द्रमण्डलं परितः अवच्छिन्ना मण्डलाकार रेखा।	मण्डलेशानां स्थाननाशः।
कार्मुकः	चन्द्रः कार्मुकरूपः।	युद्धम्। कार्मुकस्य ज्या यस्यां दिशि भवति तद्देशीयानां युद्धभीतिः।
पार्श्वसायी	युगे दक्षिणदिशि चन्द्रश्रृङ्गस्य औन्नत्यम्।	अनावृष्टिः,वणिक्जनानां नाशः च।

चन्द्रस्वरूपस्य सामान्यफलकथनम्–

श्रृङ्गेणैकेनेन्दुर्विलीनमथवाऽप्यवाङ्मुखं श्रृङ्गम् ।
सम्पूर्णं चाभिनवं दृष्ट्वैको जीविताद् भ्रश्येत् ।।[16]

पूर्वोक्तभणितानुसारेणोक्तेषु दशसु संस्थानेषु चन्द्रस्य श्रृङ्गं यद्युत्तरभागे उन्नतं न स्यात् तर्हि जनानां सस्यवृद्धिः, सुविष्टिः च फलं वर्धते। यदा दक्षिणश्रृङ्गस्यौन्नत्यं भवति चेत् दुर्भिक्षं भयं च प्रजानां जनयति। यदि चन्द्रः स्वल्पमण्डले भ्रमति तथा दुर्भिक्षं यदा महामण्डले अटति चेत् सुभिक्षम्।

स्वरूपम्	**फलम्**
चन्द्रः मृदङ्गरूपश्चेत्	क्षेमः, सुभिक्षं च
विशालस्वरूपे	राज्ञां धनवृद्धिः।
स्थूलमण्डले	सुभिक्षम्।

भौमादिग्रहैः ताडितस्य चन्द्रशृङ्गस्य फलम् –

प्रत्यन्तान् कुनृपांश्च हन्त्युडुपतिः शृङ्गे कुजेनाहते ।
शस्त्रक्षुद्भयकृद्यमेन शशिजेनावृष्टिदुर्भिक्षकृत् ।।
श्रेष्ठान् हन्ति नृपान् महेन्द्रगुरूणा शुक्रेण चाल्पान्नृपान् ।
शुक्ले याप्यमिदं फलं ग्रहकृतं कृष्णे यथोक्तागमम् ।।[17]

यदि चन्द्रशृङ्गः कुजेन ताडितश्चेत्दूरस्थितानां कुत्सितनृपाणां नाशः प्रजायते। अर्कसुतेन चन्द्रशृङ्गे आहतेसतितदा जनाः शस्त्रपीडाक्षुदापीडां च प्राप्नुवन्ति। यदा बुधेन ताडितश्चेत् तदा अनावृष्टिः, दुर्भिक्षं च भवति। गुरूणा हते सति चन्द्रशृङ्गं श्रेष्ठजनान् नरपतींश्च नाशयति। सितेनाऽऽहते शृङ्गे क्षुद्रान् नृपान् घ्नन्ति। एतत् प्रकारेण यदा शुक्लपक्षे याप्यति चेत् अधिकं कष्टं न भवति, कृष्णपक्षे तु सम्पूर्णं कष्टं जनयति।

आघातम्	**फलम्**
1.चन्द्रशृङ्गः कृष्णपक्षे शुक्रेणाघातश्चेत्	मागध-यवन-पुलिन्द-सौराष्ट्र-पाञ्चाल-कैकेय देशीयानां सप्तमासपर्यन्तं विपत्तं भवति।
2. चन्द्रशृङ्गः कुजेन पीडितश्चेत्	त्रिगर्तमालवायोध्यादेशीयानां राज्ञां कुरुमत्स्यादि देशीयानां क्षत्रियमुख्यानां षण्मासपर्यन्तं पीडा भवति।
3. चन्द्रशृङ्गः कृष्णपक्षे शनिना ताडितश्चेत्	पूर्वदेशीयानां ईशकोणवासिनां कुरुवंशीयां मन्त्रिणां भटानां च दशमासपर्यन्तं कष्टं भवति।
4. चन्द्रशृङ्गः गुरूणाहतश्चेत्	गाधारसिन्धुद्रविडदेशेषु ब्राह्मणानां धान्यानां दशमासपर्यन्तं पीडा भवति।
5. चन्द्रशृङ्गः बुधेन वेधितश्चेत्	मथुरामागधदेशवासिनां पीडा, तथा पश्चिमदेशे सुभिक्षं च भवति।
6. चन्द्रशृङ्गः केतुनाविद्धश्चेत्	अमङ्गलं, अनारोग्यं, दुर्भिक्षं, शस्त्रभृतां नाशः, चौराणां च पीडा भवति।
ग्रहणे ग्रस्तचन्द्रस्योपरि यद्युल्पातं भवेत् तदा-	यस्य नृपस्य जन्मगत नक्षत्रं उल्कापातयुक्तचन्द्रस्थितनक्षत्रं भवेत्, सः राज्ञः अचिरात् नाशं प्राप्नोति।

- यदि किरणैः रहितः चन्द्रः भस्मारुणश्यामवर्णयुक्तः, स्फुरितः तथा दुर्भिक्षं, युद्धं चोरभयं च भवति।

- रात्रौ ये जनाः चन्द्रमण्डलं हिमसदृशं कुन्दपुष्पसमानम् अथवा स्फटिकसमानं दर्शनं कुर्वन्ति तेषां जनानां निश्चयेन कल्याणं भवति।
- यदि शुक्लपक्षे प्रतिपदादितिथिषु तिथिवृद्ध्येन पक्षस्य वृद्धिः भवति तदा ब्राह्मणक्षत्रियजनानां अत्यन्तवृद्धिः भवति।
- शुक्लपक्षे प्रतिपदादितिथिषु तिथिक्षये पक्षहीने ब्रह्मक्षत्रप्रजानां हानिर्भवति, तुल्यता भवति चेत् तुल्यतां यान्ति, समत्वे सति न हानौ न वृद्धिः प्रजायते।
- कृष्णपक्षे यदि भवति चेत् विपरीतेन फलं ज्ञातव्यम्।

निष्कर्षः–

अनेनशोधपत्रेण विज्ञायते यत् चन्द्रगतिवशात् शुभाशुभत्वं कथमुत्पद्यते। यदा चन्द्रः विभिन्नेषु नक्षत्रेषु ग्रहेण साकं संयोगं करोति तदा जीवजन्तूनामुपरि तस्य चन्द्रस्य बहुप्रभावः वर्तते, यतोहि चन्द्रः अतिशीघ्रेण भ्रमति, ज्योतिषशास्त्रे फलकथने च चन्द्रस्य प्रधानत्वं वर्तते। अतः चन्द्रस्य शुभाशुभत्वज्ञानाय चन्द्रचारः अवश्यमेव अध्येतव्यः।

सन्दर्भग्रन्थः-

1. बृहत्संहिता-प्रथमो भागः; ग्रन्थकर्ता-वराहमिहिराचार्यः, संस्कृतव्याख्याकारः-भट्टोत्पलः, हिन्दी-व्याख्याकारः-प्रो. सदानन्दशुक्लः, प्रथमसंस्करणम्-सा.यु. 2011, प्रकाशनसंस्था-भारतीयविद्या-संस्थानम्, वाराणसी।
2. बृहत्संहिता-द्वितीयो भागः; ग्रन्थकर्ता-वराहमिहिराचार्यः, संस्कृतव्याख्याकारः-भट्टोत्पलः, हिन्दीव्याख्याकारः-प्रो. सदानन्दशुक्लः, प्रथमसंस्करणम्-सा.यु. 2011, प्रकाशनसंस्था-भारतीयविद्या-संस्थानम्, वाराणसी।
3. बृहज्जातकम्; ग्रन्थकर्ता - वराहमिहिराचार्यः, संस्कृतव्याख्याकारः- भट्टोत्पलः, हिन्दी-व्याख्याकारः- पं. केदारदत्तजोशी, संस्करणम्-सा.यु. 2013, प्रकाशनसंस्था-मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।
4. प्रश्नमार्गः-प्रथमो भागः; सम्पादनं व्याख्या च - डॉ.सुरकान्तझा, द्वितीयसंस्करणम्, संस्करण-वर्षम्-सा.यु. 2020, प्रकाशनसंस्था-चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफीस-वाराणसी।
5. प्रश्नमार्गः-द्वितीयो भागः; सम्पादनं व्याख्या च - डॉ. सुरकान्तझा, द्वितीयसंस्करणम्, संस्करणवर्षम्-सा.यु. 2020, प्रकाशनसंस्था-चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफीस-वाराणसी।
6. फलदीपिका; ग्रन्थकर्ता-मन्त्रेश्वरः, संस्करणवर्षम्-सा.यु. 2023, प्रकाशनसंस्था-मोतीलाल बनारसीदासवाराणसी।
7. बृहत्पाराशरहोराशास्त्रम्; ग्रन्थकर्ता-पराशरमुनिः, सम्पादकः व्याख्याकारश्च-दैवज्ञः पं. देवचन्द्रझा, पुनर्मुद्रणम्-सा.यु.2020, प्रकाशनसंस्था-चौखम्बाप्रकाशनम्, वाराणसी।
8. भारतीयज्योतिषशास्त्रीयेतिहासः; ग्रन्थकर्ता-आचार्यः लोकमणि दाहालः, संस्करणवर्षम्-सा.यु.2009, प्रकाशनसंस्था-चौखम्बा सुरभारती प्रकाशनम्, वाराणसी।
9. मुहूर्तचिन्तामणिः; ग्रन्थकर्ता - रामदैवज्ञः, संस्करणवर्षम् - सा.यु.2000, प्रकाशनसंस्था-चौखम्भा सुरभारती प्रकाशनम्, वाराणसी।

---

1. बृहत्संहिता-चन्द्रचाराध्यायः-श्लोकसंख्या-2
2. बृहत्संहिता-चन्द्रचाराध्यायः-श्लोकसंख्या-6

3. बृहत्संहिता-चन्द्रचाराध्यायः-श्लोकसंख्या-5
4. बृहत्संहिता-चन्द्रचाराध्यायः-श्लोकसंख्या-6
5. बृहत्संहिता-चन्द्रचाराध्यायः-श्लोकसंख्या-7
6. बृहत्संहिता-चन्द्रचाराध्यायः-श्लोकसंख्या-8
7. बृहत्संहिता-चन्द्रचाराध्यायः-श्लोकसंख्या-9
8. बृहत्संहिता-चन्द्रचाराध्यायः-श्लोकसंख्या-10
9. बृहत्संहिता-चन्द्रचाराध्यायः-श्लोकसंख्या-11
10. बृहत्संहिता-चन्द्रचाराध्यायः-वृद्धगर्ग श्लोकसंख्या-9-10
11. बृहत्संहिता-चन्द्रचाराध्यायः-श्लोकसंख्या-12
12. बृहत्संहिता-चन्द्रचाराध्यायः-वृद्धगर्ग-श्लोकसंख्या-13
13. बृहत्संहिता-चन्द्रचाराध्यायः-श्लोकसंख्या-13
14. बृहत्संहिता-चन्द्रचाराध्यायः-श्लोकसंख्या-14
15. बृहत्संहिता-चन्द्रचाराध्यायः-श्लोकसंख्या-15
16. बृहत्संहिता-चन्द्रचाराध्यायः-श्लोकसंख्या-17
17. बृहत्संहिता-चन्द्रचाराध्यायः-श्लोकसंख्या-20-21

सहायकाचार्यः,
ज्योतिष एवं वास्तुविभागः
राष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः, तिरुपतिः, (आ.प्र.)
दूरवाणी संख्या - 9634545402
ईमेल - bsarswat402@gmail.com

भारतीयसमाजे स्त्रीणां वैवाहिकाधिकारः : एको विमर्शः

– डॉ. पिंकीकुमारी

(हमारे प्राचीन शास्त्रों में स्त्री के वैवाहिक अधिकारों से सम्बन्धित जो उद्धरण प्राप्त होते हैं और हमारे भारतीय संविधान में स्त्री के जो वैवाहिक अधिकार वर्णित हैं उनको तुलनात्मक रूप से इस लेख में प्रस्तुत किया गया है। हमारे भारतीय संविधान में वर्णित अनेक अधिनियम और धाराएँ स्त्री के वैवाहिक अधिकारों को सुरक्षित करती हैं। जैसे– भारतीय हिन्दू समाज में 1929 में बाल विवाह को रोकने के लिए शारदा एक्ट पारित किया गया था । इसके पश्चात् 1955 हिन्दू विवाह अधिनियम द्वारा स्त्री की विवाह आयु को कानून के द्वारा निश्चित स्वरूप प्रदान किया गया, जिसमें 18 वर्ष अथवा इससे अधिक आयु की बालिका विवाह योग्य मानी गई है। इसी प्रकार वैदिक काल में कन्या को शैशवावस्था में विवाह न करने का निर्देश दिया गया। ऋग्वेद की एक ऋचा का ध्वन्यर्थ यह है कि, जो बालिका न हो उसी का विवाह हो। इस प्रकार के अनेक उद्धरणों पर इस लेख के माध्यम से प्रकाश डाला गया है।)

(समाजे प्राचीनकालात् एव स्त्रीणां महत्त्वपूर्णं स्थानं वर्तते। समाजविस्तारदृष्ट्या पुरुषाणाम् अपेक्षया स्त्रीणां महत्त्वमधिकं भवति इत्यत्र नास्ति संशयः। तथापि भारतीयसमाजस्य स्त्रीणां वैवाहिकाधिकारेषु प्राचीनकालात् वर्तमानकालपर्यन्तं परिवर्तनं जातम्। धार्मिकग्रन्थेषु अपि स्त्रीणां वैवाहिकाधिकारस्य बहवः सन्दर्भाः समुपलभ्यन्ते। स्त्रीणां वैवाहिकाधिकारस्य उच्चतरस्वरूपं वैदिककाले दृश्यते। तदपेक्षया पश्चात् उत्तरवैदिककाले स्त्रीणां स्थितिः तादृशी नासीत्। भारते मानवाधिकारस्य रक्षणार्थं मानवाधिकार-संरक्षणाधिनियमः 1993 इत्यस्मिन् वर्षे निर्मितमस्ति। मानवाधिकारस्य परिभाषा अस्य अधिनियमस्य धारा 2(घ) मध्ये दत्ता अस्ति। तत्र उक्तं यत् मानवाधिकारस्य अर्थः संविधानेन प्रत्याभूतेषु अथवा अन्तर्राष्ट्रीयसन्धिषु समाविष्टः भारते न्यायालयैः प्रवर्तनीयः व्यक्तेः व्यक्तिगतस्वतन्त्रतायाः, समानतायाः, गौरवस्य चाधिकारः। तत्रैव विवाहस्य सम्बन्धः व्यक्तेः शारीरिकस्वतन्त्रतया, समानतया, गौरवेण च भवति। अतः वैवाहिकाधिकारस्य चर्चा महत्त्वपूर्णः विषयः भवति।)

प्रस्तावनाः–

प्राचीनकालादेव समाजे स्त्रीणां महत्त्वपूर्णं स्थानमस्ति। इदं सर्वं जगत् स्त्रिभिः विना निरर्थकमस्ति। समाजविस्तारस्य दृष्ट्या पुरुषाणाम् अपेक्षया स्त्रीणां महत्त्वमधिकं भवति इत्यत्र नास्ति संशयः। तथापि प्राचीनकालात् वर्तमानकालपर्यन्तं भारतीयसमाजस्य महिलानाम् अधिकारेषु परिवर्तनं जातम्।

एतेषां परिवर्तनानां कृते देशः, समयः, परिस्थितयः च महत्त्वपूर्णाः आसन्। वैदिककाले दृश्यमानानां स्त्रीणाम् अधिकारस्य उच्चतरस्वरूपं, तेषां स्वतन्त्रता, सुरक्षा, वैवाहिकजीवनसम्बद्धानि उद्धरणानि च अन्यत्र न प्राप्यन्ते। तदपेक्षया पश्चात् उत्तरवैदिककाले स्त्रीणां स्थितिः तादृशी नासीत्। धार्मिकग्रन्थेषु स्त्रीणां वैवाहिकाधिकारस्य विषये बहूनि उद्धरणानि सन्ति, येषु स्त्रियाः स्वेच्छया पतिचयनं, आयुः सीमा, सम्पत्तिधर्मः, पुनर्विवाहस्य अधिकारः च इति विषये विस्तृताः चर्चाः सन्ति। वैदिककाले यतो हि स्त्रीणां सर्वे अधिकाराः तेषाम् अनुरूपाः आसन्, तथैव नियमस्य आवश्यकता तत्र न अनुभूयते स्म, परन्तु परवर्तिवैदिककाले धार्मिकग्रन्थेषु च स्त्रीणां सम्बद्धानि एतादृशानि बहूनि उद्धरणानि प्राप्यन्ते, यानि वर्तमानसमाजद्वारा सर्वत्र न स्वीकृतानि आसन्, अतः वर्तमानकाले स्त्रीणाम् अधिकाराणां नियमनं क्रियते, तस्य रक्षणार्थम् अधिनियमस्य साहाय्यं ग्रहीतव्यम् आसीत्। आधुनिकभारतीयसमाजस्य मध्ये स्त्रीणाम् अनेके अधिकाराः विधिना विहिताः रक्षिताश्च सन्ति। मनुष्याणां मध्ये परस्परविश्वासस्य क्षतिपूर्तिः मानवाधिकारद्वारा एव भवति। मनुष्यस्य स्वहिताय निर्णयस्य अधिकारः अस्ति। एतादृशे निर्णये तस्य जीवनसहभागिनः चयनस्य अधिकारः अस्ति। विशेषतः स्त्रीणां स्वजीवनसहभागिनः स्वतन्त्रतया चयनस्य अधिकारः भवति, येन सा कस्यापि प्रकारस्य गृहहिंसायाः विषयः न भवितुम् अर्हति। अतः अत्र स्त्रीणां वैवाहिकाधिकारः संक्षेपेण प्रस्तूयते।

1. विवाहयोग्यम् आयुः–

प्राचीनकालात् एव स्त्रीणां समुचितवयसि विवाहः करणीयः इति मन्यते। अस्याः घटनासम्बद्धाः बहूनि उद्धरणानि वेदेषु प्राप्यन्ते, यथा ऋग्वेदे सूर्यसूक्तं (10.85) विवाहसम्बद्धैः संस्कारैः सह सम्बद्धमस्ति। अस्मात् सूक्तात् ज्ञायते यत् बालिका पूर्णविकसिते एव विवाहिता आसीत्।[1] गोभिलीय-गृह्यसूत्रस्य मतानुसारं नग्निकाकन्यायाः[2] विवाहः सर्वथा अनुचितः। जैमिनीय-गृह्यसूत्रेऽपि अनग्निकाकन्यायाः विवाहयोग्यत्वं मन्यते, अतः सूत्रग्रन्थेषु अनग्निकाकन्या नग्निकाकन्यायाः अपेक्षया विवाहाय श्रेष्ठा इति मन्यते स्म। मनुः केवलं ऋतुबालिकाः एव विवाहाय सर्वाधिकम् उपयुक्ताः इति वर्णितवान्।[3] वसिष्ठमुनेः मते सा बालिका एव विवाहार्हता, यस्मिन् यौनगुणाः स्पष्टतया दृश्यन्ते। चिकित्साशास्त्रस्य अनुसारम् उपर्युक्तानि सर्वाणि लक्षणानि यौवनकाले एव दृश्यन्ते। गौतमऋषिः अस्मिन् विषये लिखति यत् बालिकायाः ऋतुकालधर्मात्पूर्वं विवाहः करणीयः।[4] उपर्युक्तेभ्यः तथ्येभ्यः स्पष्टं भवति यत्वैदिककालेबालिकाः शैशवस्थायां विवाहं न कर्तुं निर्देशिताः आसन्, अपि च ऋग्वेदस्य एकस्य श्लोकस्य

अर्थः अस्ति यत् याः बालिकाः न सन्ति तेषां एव विवाहः करणीयः इति।[5] किन्तु निश्चितायुषो वर्णनम् अत्र न लभ्यते। भारतीयहिन्दूसमाजस्य बालविवाहं स्थगयितुं 1929 तमे वर्षे शारदाअधिनियमः– पारितः। तदनन्तरं 1955 तमे वर्षे हिन्दूविवाहकानूनेन स्त्रीणां विवाहवयः विधिना निर्धारितम्, यस्मिन् 18 वर्षाणि वा ततः अधिकवयसः बालिका विवाहस्य योग्या इति मन्यते। विवाहयोग्यम् आयुः प्रमाणपत्रं विद्यालयात् प्राप्तं, प्रमाणपत्रं जन्मानन्तरं कृतं पञ्जीकरणं च दृष्ट्वा एव दीयते।[6] एवं भारतीयसमाजस्य अवयस्क-बालिकानां विवाहः भवति स्म, तेषां अल्पवयसि एव मातृत्वस्य भारवहनं भवति स्म। अतः अनया दृष्ट्या स्त्रीणां विवाहवयोनिर्धारणं भारतीयाधिनियमस्य महत्त्वपूर्णः निर्णयः अस्ति।

2. चयनस्य अधिकारः–

विवाहसन्दर्भे स्वसहभागिनः चयनस्य अधिकारः महत्त्वपूर्णः अधिकारः अस्ति। स्त्रीणां प्रायः शेषं जीवनं भर्त्रा सह व्यत्येतव्यं भवति। अतः सहभागी तादृशः भवेत् येन सह परस्परं प्रेम्णा जीवितुं शक्यते। येन सह स्वतन्त्रतया विचारविनिमयेन भविष्यत: मार्गः प्रशस्तः भवितुमर्हति। वैदिकसमाजस्य स्त्रीणां पर्याप्तं स्वतन्त्रता आसीत्, यत् तेषाम् इच्छानुसारं योग्यं सहभागिनं चेतुं शक्यते इति शास्त्रेषु अपि उल्लिखितम् अस्ति। अथर्ववेदेऽपि उक्तं यत्- हे कन्ये !

भगस्य नावमारोह पूर्णामनुपदस्वतीम् ।
तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः ।। अथर्व० 2/36/5

अर्थात् त्वं तस्य सौभाग्यस्य भर्तुः कामार्हस्य आश्रयं गत्वा तां नौकाम् आरुह्य या त्वां अविनाशं दुःखसमुद्रं पारं गमिष्यति। अन्यस्य मन्त्रानुसारं विवाहः तदा एव सम्पन्नः यदा वधूः पत्ये रोचते।[7] अथर्ववेदस्य (2/30/1) मन्त्रे उभौ परस्परंम इति वचनम् अधिकं दृढं भवति। यजुर्वेदे कुमारिकां सम्बोधयन् एकस्मिन् मन्त्रे उक्तं यत्– हे कन्या/कुमारी! ब्रह्मचर्यव्रतं पूर्णतया पालयित्वा ज्ञानं ज्ञात्वा पतिं यथाकामं चिनुत। ऋग्वेदे[8] 'स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्' इत्यस्य अर्थः अस्ति यत् सा स्वयं बहुभ्यः व्यक्तिभ्यः स्वस्य योग्यं पतिं चिनोति।[9] उपर्युक्तोदाहरणात् स्पष्टं भवति यत् शास्त्रेषु बालिकायाः स्वस्य वरस्य चयनस्य पूर्णः अधिकारः दत्त अस्ति, परन्तु कन्यादानस्य प्रथमः अधिकारः पितुः आसीत्। अत्र स्वस्य वरस्य चयनस्य स्वतन्त्रता आसीत् किन्तु स्वकुटुम्बविरुद्धं विवाहं कर्तुं न शक्यते स्म। विवाहाः वर्णानुसारमेव भवन्ति स्म। हिन्दूनां कृते विधिनिर्माणात् पूर्वं भारतीयसमाजे बालविवाहः अधिकः आसीत् तथा च अन्तरजातीयविवाहस्य प्रतिबन्धः आसीत्। तथापि अनेकेषु स्थानेषु एतादृशानि उदाहरणानि प्राप्यन्ते ये अन्तरजातीयविवाहस्य सूचकाः सन्ति, सम्प्रति अपि स्त्रीपुरुषाः स्वशैक्षिकबुद्धेः

उपयोगेन समाजे एकरूपताम् आनेतुं प्रयतन्ते। यस्मिन् जाति-धर्मादिभेदानाम् अवहेलनां कृत्वा अन्तर्जातीय-अन्तर्धर्मीयविवाहयोः कृते स्त्रीपुरुषाः प्राधान्यं ददति। अस्मिन् विषये भारतीयविधिरपि तेषां सहैवास्ति। ये युवानः कस्यचित् धर्मस्य व्यक्तिगतनियमानाम् अनुसरणं न कुर्वन्ति, ते 1954 तमे वर्षे 'विशेष विवाहाधिनियमः' इत्यन्तर्गतं विवाहं कर्तुं शक्नुवन्ति।[10]

3. अयोग्यस्वसहभागिनः त्यागस्याधिकारः–

प्राचीनकालात् एव स्त्रीणां योग्यं पुरुषं चेतुं, अयोग्यं पुरुषं तिरस्कृत्य च विवाहार्थम् अधिकारः अस्ति। वैदिकसाहित्ये केचन युवकाः विवाहाय अयोग्याः इति वर्णिताः सन्ति। मनुः अपि निष्क्रियान्, शरीरे स्थूलकेशान्, कुटुम्बे बहवः रोगाः सन्ति, तथैव चोरान्, दस्यून्, नपुंसकान्, नास्तिकान्, निन्दनीयसाधनेन स्वजीविकायाः साधनं कुर्वन्तः पुरुषान् च विवाहाय अयोग्यान् इति घोषितवान्।[11] यजुर्वेदे दानधर्म-गुणवर्जिता व्यक्तिः विवाहायोग्या इति वर्णितम्।[12] अथर्ववेदेऽपि अयोग्यपुरुषस्य विषये एकम् उद्धरणं वर्तते यत् वृद्धः रोगग्रस्तः च बालिकायाः विवाहं कर्तुं योग्यः नास्ति[13] तथा च बालिकातादृशान् वरान् परित्यक्तुं शक्नोति। एते अधिकाराः स्त्रीणां विवाहात् पूर्वं भवन्ति। यतो हि वैदिकसाहित्ये बालिकायाः सुविचारं कृत्वा पत्युः चयनं कर्तुं अनुमतिः अस्ति, किन्तु विवाहानन्तरं पतिं त्यक्तुं न अनुमन्यते। अस्मिन्विषये पतिपत्न्योः विभागः सर्वथा असम्भवः इति स्पष्टतया उक्तम्।[14] मानवजीवनस्य श्रेष्ठता इयमेवास्ति यत्कन्यादानं एकवारमेव कर्तव्यम्।[15] अतः वैदिकग्रन्थेषु परवर्तिषु च विवाहः अखण्डः, भार्यायाः पतित्यागः च निषिद्धः इति स्पष्टतया उक्तम्। विवाहानन्तरं स्त्रीणां मृत्योः यावत् वैवाहिकजीवनात् स्वतन्त्रता नासीत्, यद्यपि तस्याः पतिः अत्याचारी, दुष्टैः पूर्णः च आसीत्। परन्तु वर्तमानभारतीयसमाजस्य हिन्दुविवाहाधिनियमः 1955 वर्षस्य अनुसारं स्त्रीणाम् पतिं त्यक्तुं अधिकारः अस्ति, यदि पतिः दुर्व्यवहारं करोति वा व्यसनं करोति वा।[16]

4 . पुनर्विवाहस्य अधिकारः

परिवर्तनशीलं मर्त्यलोके न किमपि निश्चितम्। भविष्यतः योजनाः, बहवः स्वप्नाः च परदिने सहसा नष्टाः भवन्ति चेत् व्यर्थाः सिद्धाः भवन्ति। पतिपत्न्योः विवाहसमये आजीवनं सह वसितुं प्रतिज्ञां कृत्वा अपि जीवनपर्यन्तम् एकत्र एव तिष्ठेत् इति निश्चयेन वक्तुं न शक्यते। पतत्न्योः विरहस्य कारणद्वयं भवितुम् अर्हति। भर्तुः अकालमृत्युः। 2. पतिना भार्यापरित्यागः भार्यया पतित्यागः वा अस्य बहूनि कारणानि भवितुमर्हन्ति)। एषः द्वितीयः प्रकारः वर्तमानकाले विवाहविच्छेदः (तलाक) इति उच्यते। स्त्रीणां विधवा भूत्वा तलाकस्य अनन्तरं वा पुनर्विवाहस्य अधिकारः अस्ति। विधवापुनर्विवाहसम्बद्धानि बहूनि उद्धरणानि वेदेषु सन्ति।

वेदेषु विधवाया: परं पतिं प्राप्तुं पूर्णाधिकार: अस्ति। सायणाचार्येण समाने सन्दर्भे उक्तम्– 'यथा मृत-भर्तृका स्त्री भर्तृभ्रातरम् अभिमुखी करोति' इति, एतादृशेन कथनेन विधवा पुनर्विवाहमपि सिद्धं भवति। मनुः अपि विधवाया: भर्तुः अनुजेन सह विवाहस्य उल्लेखं कृतवान्।[17] यत्र बौधायनसूत्र-वशिष्ठधर्मसूत्र-मानवधर्मसूत्रानुसारेण विधवा भूत्वा भर्तुः अनुजात् परं जनान् अपि विवाहयितुं शक्नोति।[18] अथर्ववेदे वर्णनमस्ति यत् यदि स्त्री एकस्य पश्चात् अन्यं पतिं विवाहयति, तर्हि सा कदापि द्वितीयपत्न्याः वियोगं न कर्तव्यम् इति। यथा–

या पूर्वं पतिं वित्त्वाथान्यं विन्दतेऽपरम् ।
पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः ।। अथर्व. 9/5/527

मनुः पुनर्विवाहं वेदानुसारं स्वीकृत्य विधवां प्रति पूर्णनिष्ठां दर्शितवान्। मनुमते भर्त्रा परित्यक्तं पतिं मृतं वा, उभयत्र स्वेच्छया पुनर्विवाहेन यत् बालकं प्रसवति, तस्य पौनर्भवः सन्तानः स उच्यते यः पुरुषः प्रसवम् अकरोत्।[19]

विधवा वा परित्यक्तविधवा वा स्वेच्छया वा ।
उत्पदयेत्पुनर्भूत्वा स पोनर्भव उच्यते ।। मनु. 9/195

वैदिककालात् प्रायशः 300 ई.पू. पर्यन्तं पुनर्विवाहस्य विषये स्त्रीणां स्थितिः उत्तमा आसीत्। परन्तु शनैः - शनैः समाजे परिवर्तनकारणात् स्थितिः क्षीणा जाता तथा च क्षत्रियसमाजस्य सतीप्रथा प्रचलिता अभवत् तथा च विधवापुनर्विवाहस्य प्रथा समाजात् विलुप्ता जाता। 10 शताब्द्याः अनन्तरं विधवात्वम् अशुभं गणयितुम् आरब्धा, तस्याः उपरि बहवः अत्याचाराः अपि कृताः। सतीप्रथानिषेधार्थं स्त्रीणाम् अत्याचारात् मुक्तिं कर्तुम् अनेकेषां समाजसुधारकाणाम् प्रयत्नानाम् परिणामस्वरूपं विधवा-पुनर्विवाहः स्वीकृतः। समाजसुधारकेषु ईश्वरचन्द्रविद्यासागरः विधवापुन-र्विवाहाय हिन्दुसमाजे स्थानं दातुम् प्रयत्नान् अकरोत्। यस्य कारणात् 1856 तमे वर्षे जुलैमासस्य 25 दिनाङ्के अयं अधिनियमः पारितः। ईश्वरचन्द्रविद्यासागरः अपि स्वपुत्रस्य विवाहं विधवया सह कृतवान् आसीत्।[20]

5. सम्पत्तिः-अधिकारः–

सम्पत्ते-अधिकारः विचारणीयः अधिकारः अस्ति, यतोहि यदि विवाहात् पूर्वं स्त्री पितुः गृहे निवसति, तर्हि तस्याः भरण-पोषणस्य दायित्वं पितुरेव भवति, सा आवश्यकतानुसारं धनं प्राप्तुं शक्नोति। पितुः सम्पत्तिविभागसमये तासु सम्पत्तिषु तस्य अधिकारः नासीत्। यदि पितुः पुत्रः न स्यात्, तर्हि स्वसम्पत्तिः कन्यायाः कृते दास्यति स्म।[21] गृहे वृद्धा अर्थात् ब्रह्मचारीणी बालिका) गृहात् एव स्वस्य सम्पूर्णं भागं प्राप्नोति स्म।[22] विवाहानन्तरं भार्यापदवीं प्राप्य तस्याः पतिः प्रतिज्ञां करोति

स्म– हे भार्ये! अहं भवतः सदैव भरण-पोषणं करिष्यामि।[23] सः स्वस्य सर्वाम् अधिगतां सम्पत्तिं स्वपत्न्याः हस्ते समर्पयति, तस्य पत्नी तस्य कुटुम्बस्य अर्थव्यवस्थां चालयति। परन्तु विवाहानन्तरं पितुः सम्पत्तौ कन्यायाः किमपि अधिकारः अस्ति वा न वा? किं भर्तुः मृत्योः अनन्तरं भर्तुः सम्पत्तिषु तस्याः अधिकारः अस्ति वा न वा? भर्तुः मृत्योः अनन्तरं स्त्री भर्तुः धनं लभते इति ऋग्वेदे वर्णितम्।[24] एतादृशानि बहूनि उद्धरणानि प्राप्यन्ते ये विधवायाः सम्पत्तिं दातुं समर्थाः सन्ति, येन सा स्वजीविकायाः पोषणं कर्तुं, स्वसन्ततिपालनं च कर्तुं शक्नोति। यदा पैतृकसम्पत्तिः विभक्ता आसीत्, तदा कन्यायाः तस्याम् अधिकारः नासीत्। कन्या मातुः सम्पत्तिं ग्रहीतुं शक्नुवन्ति स्म। परन्तु वर्तमान-समाजस्य हिन्दू उत्तराधिकाराधिनियमः 1956 तमे वर्षे 2005 तमे वर्षे संशोधनं कृत्वा मातापितृसम्पत्तौ महिलानां अधिकारः दत्तः। तत्र उक्तं यत् स्त्री विवाहिता अविवाहिता वा, पुत्रवत् पितुः सम्पत्तिषु समानाधिकारिणी भविष्यति।

उपसंहारः–

यदा-यदा समाजे अनियमितताः प्रादुर्भूताः, तदा-तदा न्यायेन ताः नियमिताः। यदा-यदा कस्यचित् अधिकारस्य उल्लङ्घनं जातम् तदा-तदा विधिना तस्य अधिकारः प्रदत्तः। पुरुषः स्त्री वा, धनिकः दरिद्रो वा, सर्वेषां निष्पक्षन्यायं दातुं नियमः कृतः अस्ति। तदपि वर्तमानकाले अधिकाराणां सम्यक् प्रयोगस्य स्थाने तेषां दुरुपयोगः अतिशयेन क्रियमाणः यथा अयोग्यस्य पुरुषस्य त्यागाधिकारस्य कारणात् सम्बन्धनिर्वाहस्य कालः न्यूनः भवति। लघु-लघुवार्ताकारणेन सम्बन्धाः भग्नाः भवन्ति। प्रतिदिनं समाचारपत्रेषु विच्छेदस्य प्रकरणानि दृश्यन्ते। सम्पत्त्यधिकारस्य कारणात् भ्रातृभगिन्योः प्रेम्णि न्यूनता आगता। यदा अधिनियमः अस्माकं अधिकाराणां संरक्षणार्थम् अङ्गम् अस्ति, अद्यत्वे तस्य सर्वाधिको दुरुपयोगः क्रियते। अन्ते प्राचीनकालस्य आग्रहानुसारं स्त्रीणां वैवाहिकस्वतन्त्रता, अधिकाराश्च दत्ताः इति वक्तुं शक्यते। सम्प्रति समाजं व्यापकदृष्टिकोणेन दृष्ट्वा विधिव्यवस्थायाः माध्यमेन महिलानां विवाहाधिकारेषु कृतानि परिवर्तनानि, सुधाराः च किञ्चित्पर्यन्तं प्रशंसनीयानि सन्ति।

सन्दर्भग्रन्थः-

1. आप्टे, प्रभा, ***भारतीय समाज में स्त्री***, क्लासिक-पब्लिकेशन-हाउस, जयपुरम्, 1996.
2. वशिष्ठः, सरिता, ***महिला और कानून***, कल्पनाप्रकाशनम्, नवदेहली, 2010.
3. शास्त्री, प्रतिभा, ***धर्मसूत्रों में नागरिकों के कर्त्तव्य और अधिकार (आधुनिक परिप्रेक्ष्य में),*** विद्यानिधिप्रकाशनम्, नवदेहली, 2016.

4. महरोत्रा, ममता, ***महिला अधिकार और मानव अधिकार***, ज्ञानगंगा, नवदेहली, 2011.
5. वेदालंकारः, प्रशान्तकुमारः***, वैदिकसाहित्य में स्त्री,*** वासुदेवप्रकाशनम्, देहली, 1964.
6. कुजूरः, एस., ***वैदिक एवं धर्मशास्त्रीय साहित्य में स्त्री***, विश्वविद्यालयप्रकाशनम्, वाराणासी, 1982.
7. अग्रवालः, चन्द्रमोहनः, ***भारतीय स्त्री : विविध आयाम***, अल्मोडाबुकडीपो, उत्तरप्रदेशः, 1994.
8. शर्मा, ऋषभदेवः, ***स्त्री सशक्तिकरण के विविध आयाम***, गीताप्रकाशनम्, हैदराबादः, 2004.
9. आर्यः, भारती, ***स्मृतियों में स्त्री***, विश्वभारती-अनुसंधानपरिषद्, वाराणसी, 1989.
10. शर्मा, श्रीकृष्णः, जैनः,धर्मचन्द्रः, ***मानव-जीवन और स्मृतिशास्त्र***, राजस्थानीग्रन्थागारः, जोधपुरम्, 2007.
11. कुमारः, इन्दिरा, ***वेद-वर्णित भारतीय समाज***, प्रशान्त-पब्लिशिंग-हाउस, देहली, 2011

---

1. 'अनग्निका तु श्रेष्ठा' एवं पठति सामश्रमी । गोभिलीयगृह्यसूत्रम्, 3/4/5
2. नग्निकाऽनगतार्तवा । अमरकोषः । कुचहीना तु नग्निका । अङ्गिरससंहिता, 2/28
3. मनुस्मृतिः, 9/89
4. गौतमधर्मसूत्रम्, 2/9/21-23
5. ऋग्वेदः 3/55/16
6. आप्टे, प्रभा, भारतीय समाजे स्त्री , पृ. सं. 66
7. अथर्ववेदः, 14/1/9
8. यजुर्वेदः, 34/10
9. ऐतरेयब्राह्मणम्, 4/7
10. आप्टे, प्रभा, भारतीय समाजे स्त्री , पृ. सं. 64
11. हीनाक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।
    क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥ मनुस्मृतिः, 3/7
12. यजुर्वेदः 12/62
13. अथर्ववेदः 2/30/3
14. आपस्तम्बधर्मसूत्रम्, 2/6/14/16
15. सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते ।
    सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत् ॥ मनुस्मृतिः, 9/47
16. आप्टे, प्रभा, भारतीय समाजे स्त्री, पृ. सं. 80
17. मनुस्मृतिः, 9/69
18. बौधायनधर्मसूत्रम्, 4/1/16, वशिष्ठधर्मसूत्रम्, 17/39, मानवधर्मसूत्रम् 9/175
19. मनुस्मृतिः, 9/175
20. आप्टे, प्रभा, भारतीय समाजे स्त्री , पृ. सं. 114-116
21. मनुस्मृतिः, 9/131-132 , 9/136

22. ऋग्वेदः, 2/17/7

23. अथर्ववेदः, 14/1/52

24. ऋग्वेदः, 10/102/11

सहायकाचार्या (अतिथि), संस्कृतविभागः,
मिराण्डाहाउस, दिल्लीविश्वविद्यालयः,
ईमेल - pinkikumari2593@gmail.com

श्रृंगाररसविवेकः

– श्रीशिवानन्दमिश्रः

(श्रृंगार मुख्यतः संयोग तथा विप्रलंभ या वियोग के नाम से दो भागों में विभाजित किया जाता है, किन्तु धनंजय आदि कुछ विद्वान् विप्रलंभ के पूर्वानुराग भेद को संयोग-विप्रलंभ-विरहित पूर्वावस्था मानकर अयोग की संज्ञा देते हैं तथा शेष विप्रयोग तथा सम्भोग नाम से दो भेद और करते हैं। इस शोध पत्र के माध्यम से हम श्रृंगार के भेद अश्वादन तथा ***श्रृंगारो रसनायकः*** को अनुभूत कर पाएंगे।)

(प्राचीनकालादेव संस्कृतनाट्यजगति काव्यजगति च रसस्य भूयसी प्रतिष्ठा वर्तते। मुनिना नाट्यशास्त्रे उक्तं यदसौ अथर्ववेदात् नाट्ये रसं जग्राह। 'रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दीभवति'।" [1] एतादृशानि रसविषयकानि बहुनि श्रुतिवाक्यानि समुपलभ्यन्ते। श्रीमद्भागवत-महापुराणमभिलक्ष्य उक्तं यत् 'भागवतं रसमालयम्[2] इति। अग्निपुराणे काव्यशास्त्रनिरूपणप्रसङ्गे व्याहृतं यत् 'वाग्वैदग्धप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।'[3] विष्णुधर्मोत्तरमहापुराणेऽपि रसस्य विशिष्टं व्याख्यानं समुपलभ्यते। अतः रसस्य नितरां प्राचीनत्वं स्वत एव सिद्धम् अस्ति। इतिहासविदः वदन्ति यत् नन्दिकेश्वरेण कश्चन रसविषयको ग्रंथो विरचित आसीत्, किन्तु ग्रन्थोऽयं न दृष्टिपथमागतः। साम्प्रतं भरतमुनिप्रणीतं नाट्यशास्त्रमेव नितरां प्राचीनतां भजते। इदमेव शास्त्रं सर्वेषां नाट्यशास्त्रीयग्रन्थानां काव्यशास्त्रीयग्रन्थानां च आधारभूमिः।)

कूटशब्दाः–

नाट्यशास्त्रम्, भरतः, श्रृङ्गारः, सम्भोगः, विप्रलम्भः, अभिलाषः, विरहः, ईर्ष्या, प्रवासः शापश्च।

विषयप्रवेशः–

नाट्यशास्त्रस्य षष्ठाध्याये मुनिना रससरणिः प्रपञ्चिता। सा रससरणिरत्र समासेन निर्दिश्यते। तत्र मुनिभिः भरतमुनिः पृष्टः भगवन् नाट्यविचक्षणैर्ये रसाः उच्यन्ते, तेषां विषये त्वत्तः सर्वं ज्ञातुं समीहामहे। तेषां वचांसि श्रुत्वा मुनिः अब्रवीत्। यदेकस्यैव भावस्य रसस्य वा आनन्त्यं भवति सर्वेषां तु का कथा, तथापि नाट्यानुकूलान् रसभावान् प्रवक्ष्यामि। ततः मुनिना अभिनयानुरोधेन शृङ्गारः, हास्यः, करुणः, रौद्रः, वीरः, भयानकः, बीभत्सः अद्भुतश्चेत्यष्टौ रसाः नाट्ये स्वीकृताः। यथा–

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्द्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ।।[4]

एषाम् अष्टौ रसानां रत्यादयः अष्टौ स्थायिभावाः निर्वेदादयः त्रयस्त्रिंशत् संचारिभावाश्च मुनिना प्रोक्ताः। स्थायिभावाः यथा–

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ।।

संचारिभावकथनं यथा–

निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथासूयामदश्रमाः ।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ।
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जड़ता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च ।
सुप्तं प्रबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ।।
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ।।[5]

इमाः कारिकाः मम्मटाचार्येण काव्यप्रकाशस्य चतुर्थोल्लासे रसभावादि-निरूपणप्रसङ्गे भरतमुनेः नामोल्लेखं विनैव गृहीताः। मुनिना स्तम्भादयः सात्विकभावा अपि प्रोक्ताः यथा–

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमांचः स्वरसादोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ।।[6]

मन्ये संचारिभावाः मानसिकाः, सात्त्विकाश्च शारीरिका इत्यनयोः भेदः किन्तु मम्मटादिभिराचार्यैः सात्विकभावाः न पृथक् उक्ताः अनुभावेषु गतार्थत्वात् एतत्तु चिन्त्यमेव। रसस्यैव प्राधान्यमुपपादयन् मुनिः ब्रूते यत्–

न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते।[7]

अत्रायमाशयो बोद्धव्यः यद् रसेन विना न कोऽप्यर्थः रामणीयकं भजते। केन प्रकारेण रसप्रतीतिर्भवति इत्यपेक्षायां मुनिः ब्रूते विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगा-द्रसनिष्पत्तिः। [8] अत्रायं संक्षेपः यथा द्रव्यौषधिसम्मिश्रणेन बहुव्यञ्जनगताः षड्रसाः निवर्तन्ते, तथैव विभावानुभावव्यभिचारिभावादिभिरुपचिता रत्यादिस्थायिभावाः रसतामुपयान्ति। विभावादीनां संयोगेन स्थायिभावाः कथं रसपदेन व्यवह्रियन्ते, इत्यपेक्षायां उच्यते आस्वादविषयत्वादिति। अत्रायमर्थो बोद्धव्यः यथा गुडाद्य-घृतादिभिः संस्कारितमन्नं आस्वादकत्वाद् रसपदवीं लभते, तथैव नाट्ये विभावादिभिः संयुक्ताः स्थायिभावाः सहृदयानां कृते लोकोत्तरानन्दजनकतया रसपदभाजो भवन्ति। संदर्भेऽस्मिन् उक्तं चात्र श्लोकौ–

यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम्।
आस्वादयन्ति भञ्जाना भुक्तं भुक्तविदो जनाः ।।
भावाभिनयसंयुक्ताः स्थायिभावास्ततो बुधाः ।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः ।।

रसभावयोः कः सम्बधः इति विचारे कृते सति ज्ञायते यद् रसभावयोः नित्यसम्बन्धः किं वा तयोः अन्योन्यसम्बन्ध इति। कथमिति चेत् उच्यते हि काव्ये नाट्ये च रसेन विना भावाः न राजन्ते, न च भावैः विना रसप्रतीतिसम्भवः एतस्मात् कारणादस्माभिः यः रसभावसम्बन्धविधिः निर्धारितः स समीचीन इति मे मतिः। मुनिवचनञ्चात्र प्रमाणं यथा–

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः ।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत् ।।
यच्च बीजाद् भवेत् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं यथा ।
तथा मूलरसाः सर्वे तेषु भावा व्यवस्थिताः ।।

तत्र श्रृंगार-रौद्र-वीर-भयानक इति चत्वारः एव मूलरसाः मुनिना स्वीकृताः। क्रमेऽस्मिन् श्रृंगारात् हास्यः रौद्रात् करुणः वीरात् अद्भुतः भयानकाच्च बीभत्सरसः उत्पन्नोऽभूत् इति मुनिना व्याख्यातम्। इमं सिद्धान्तमधिकृत्यैव धनिकधनजयप्रभृति-भिराचार्यैः अष्टौ रसाः विवेचिताः।

नाट्यशास्त्रस्य अभिनवभारतीति व्याख्यायां अभिनवगुप्तपादाचार्यैः "विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद्रसनिष्पत्तिः" इति भरतमुनेः रससूत्रं मतचतुष्टयेन प्रपञ्चितम्। तदनुसारेणैव मम्मटाचार्येण समासेन रससूत्रविवेचनक्रमो दर्शितः। तत्र प्रथमतः भट्टलोल्लटप्रभृतीनां मतमुद्घाटितम्। मतेऽस्मिन् रससूत्रे कथितसंयोगशब्दस्यार्थे विभावादीनां स्थायिभावैः सह उत्पाद्योत्पादकभावसम्बधो गृह्यते निष्पत्तिशब्दस्य च उत्पत्तिरर्थः भवति। ते वदन्ति यत् विभावैः रत्यादिभावो जनितः, अनुभावैः प्रतीतियोग्यः कृतः व्यभिचारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपता-नुसंधानात् नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रस इति। मतमिदं दोषयुक्तमस्ति, अतः न समादृतम् आचार्यैः। यतः काव्ये नाट्ये च कविकल्पितवृत्तान्तप्रभावात् अनुकार्यरसस्य स्थितिः असम्भविनी भवति।

शंकुकमते विभावादिभिः स्थायिभावस्य अनुमितिः भवति। विभावादीनां स्थायिभावेन सह गम्यगमकभावसम्बन्धो भवति। काव्यप्रकाशे शंकुकमतसारांशो यथा सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो चित्र-तुरगादिन्यायेन विलक्षणया प्रतिपत्त्या अनुकार्यशब्दवाच्यानां रामादीनां नायकानां नटे प्रतीतिर्भवति। ततः वस्तुसौन्दर्यबलात् शिक्षाभ्यासप्रभावाच्च नटेनैव प्रकाशितैः

विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः कृत्रिमैरपि अकृत्रिमतया भासमानैः गम्यगमकभावरूपात् सम्बन्धात् अनुमीयमानः सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो स्थायिभावः रसपदद्भाग् भवति। अयमेव शंकुकस्य अनुमितिवादः। इदमपि मतं न निर्दोषं प्रतीयते। कथमिति चेत् उच्यते वासनाशब्दस्य संस्काररूपोऽर्थः विचारणीयः। अनुमितिश्च न प्रत्यक्षानुभूतिरिति। सामाजिकानां संस्काराः लौकिकाः सन्ति, रसस्तु तावत् अलौकिक एव। लौकिकसंस्कारसार्मथ्यात् न अलौकिकरसानुभूतिः भवितुमर्हति, न च पूज्यानां सीतारामादीनां रतिज्ञानं रसहेतुतां भजते। अनुमानेन पूर्वानुभूतपदार्थस्यैव ज्ञानं भवति यथा– 'पर्वतो वह्निमान्' इत्यत्र। किन्तु न रसः पूर्वसिद्धः पदार्थः। उक्तं हि 'साहित्यदर्पणे'– नानुमानं रसादीनां इति। अतः दोषयुक्तत्वात् इदमपि मतम् अग्राह्यमेव।

भट्टनायकमते काव्ये नाट्ये च साधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयस्थायी भोजकत्वव्यापारेण भुज्यते (आस्वाद्यते) इत्यर्थः। अत्रायमाशयो वर्तते हि काव्याध्ययनेन नाट्यावलोकनेन च सामाजिकानां साधारणीकरणरूपो भावकत्वव्यापारो प्रवर्तते, येन स्वप्रकाशरूप आनन्दमयः स्थायी रसपदवीं लभमानः चित्तस्य विषयो भवति चित्ते व्याप्नोति इत्यर्थः। अत्र साधारणीकरणस्य कोऽर्थः इत्यपेक्षायां किञ्चिद् उच्यते–

रससामग्रीभूताः सर्वे भावाः रामादीनां वर्तन्ते वा, नटस्य वर्तन्ते वा सामाजिकानां च वर्तन्ते न वा इति सम्बन्धविधिनिषेधस्थगनपूर्वकं प्रपाणकरसन्यायेन स्थायी रसपदेनोच्यते। अत्र वक्तुं शक्यते यत् भट्टनायकस्य मतं नितरां समीचीनं, किन्तु मतेऽस्मिन् भावकत्वभोजकत्वव्यापारद्वयकल्पितत्वात् न युक्तिप्रमाणाभ्याम् अस्य मतस्य सिद्धिः। एतस्मात् करणाद् अभिनवगुप्तपादाचार्यैः न सर्वतोभावेन स्वीकृतं मतमिदमिति। सन्दर्भेऽस्मिन् स्वमतं प्रतिपादयद्भिः अभिनवगुप्तपादाचार्यैः प्रोक्तं यत् लोके कारणकार्यसहकारिभिः काव्ये नाट्ये च तैरेव अलौकिकविभावादिशब्दव्यपदेश्यैः प्रपाणकरसन्यायेन रत्यादिस्थायी सकलसहृदयानां मनसि श्रृङ्गारादिरसरूपेण अभिव्यज्यते। अयमेव अभिनवगुप्तपादाचार्याणाम् अभिव्यक्तिवादः। भट्टनायकोक्तं विभादीनां साधारणीकरणं तत्र एभिर्महाभागैः पूर्णरूपेण गृहीतमिति काव्यप्रकाशोक्त-रससूत्रविषयक मतचतुष्टयं किंचिन्निदर्शितम्।

प्रायशः सर्वैः साहित्यशास्त्रविद्भिः मुनिप्रोक्तरससूत्रानुसारेणैव रसस्य विवेचना कृता। यथा उक्तं मम्मटाचार्येण–

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।।

विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावः रसः स्मृतः ।।

अनेनैव प्रकारेण साहित्यदर्पणे विश्वनाथः अपि वदति यत्–

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा ।
रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम् ।।

अयमेव क्रमः अन्यैरपि गृहीतः। नाट्यकाव्ययोः रस एव आत्मा इति सर्वे विद्वांसः आमनन्ति। "रस एवं आत्मा साररूपतया जीवनाधायको यस्य" अनेन स्पष्टं यत् रसस्यैव नाट्यकाव्यजगति प्राधान्यं वर्तते। यद्यपि काव्ये नाट्ये च रस एव अङ्गी इति बहुधा व्याख्यातं तथापि भृत्यविवाहे नृप इव अन्यरसस्य भावस्य वाच्यार्थस्य च रसोऽपि अङ्गतां प्राप्नोति किन्तु तेन तस्य प्राधान्यं न व्यालुप्यते, एतादृशं सौष्ठवं गुणीभूतव्यग्येषु अनुपदं दरीदृश्यते।

श्रीमदभिनवगुप्तपाद-आनन्दवर्धन-मम्मटभट्ट-विश्वनाथ-पंडितराजजगन्नाथ-प्रमुखाः ध्वनिवादिनः आचार्याः रसभावान् असंलक्ष्यक्रमध्वनिशब्देन व्यवहरन्ति। उक्तं हि ध्वन्यालोके आनंदवर्धनाचार्यैः

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यो ध्वनिः वर्णपदादिषु ।
वाक्ये संघटनायां च स प्रबंधेऽपि दीप्यते ।।

अत्र 'असंलक्ष्यक्रमव्यग्यध्वनिः' इत्यनेन रसभावादिर्बोधव्यः। तत्र काव्य-प्रकाशस्य चतुर्थोल्लासे मम्मटाचार्येणाप्युक्तं 'रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः' इति। तत्र ध्वनिशब्दं व्याकुर्वाणाः आनन्दवर्धनाचार्याः निगदन्ति यत् 'व्यंग्यप्राधान्ये हि ध्वनिः' इति। उपर्युक्ताः पंडितराजप्रमुखाश्च आचार्याः व्यञ्जनयैव रसभावादीनां बोधविषयतां स्वीकुर्वन्ति। यद्यपि भरतमुनेरनुशासनमङ्गीकृत्य नाट्ये प्रागुक्ताः अष्टौ रसा एव आचार्यैः निरूपिताः तथापि काव्ये शान्तरसस्य महती प्रतिष्ठा वर्तते। अभिनवनाट्यभारत्यां अभिनवगुप्तपादाचार्यैः युक्तिप्रमाणाभ्यां शान्तरसस्य प्रौढतमा विवेचना कृता। ते वदन्ति यत् महाभारतस्य अङ्गी रसः शान्त एव वर्तते। सन्दर्भेऽस्मिन् मम्मटाचार्येणाप्युक्तं 'निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः' रसगङ्गाधरे पडितराजो ब्रवीति "मुनिवचनभङ्गप्रसङ्गात् नाट्ये मा भूत् शान्तो रसः काव्यं पुनः कः निवारयितुमिष्टे। बहूनि पुराणप्रसङ्गानि, काव्यप्रसङ्गानि, स्तोत्राणि च शान्तरसप्रधानानि लक्ष्यन्ते।

अतः निर्विवादमेतत् यत् शांतो रसः काव्यजगति पूर्णरूपेण प्रतिष्ठितो वर्तते। भोजराजप्रभृतयो विद्वांसः सर्वत्र श्रृंगाररसस्यैव साम्राज्यम् आमनन्ति।

रूपगोस्वामिना, जीवगोस्वामिना, कविकर्णपूरप्रभृतिभिराचार्यैः भक्तिरस एव कुशलतया स्थापितः। साम्प्रतिकाः केचन धुरीणाः वात्सल्यरसमपि वर्णयन्ति। तेषां कथनम् अनिर्वाच्यमेव।

रसविषये विचारे कृते सति अस्माभिः इदमेव सुनिश्चितं यत् सर्वे भावाः अव्यक्तावस्थायां सामाजिकानां चित्तेषु स्थिताः वर्तन्ते। यथा च मृदम्बुसंयोगेन बीजमाला लतारूपेण संजायते तथैव काव्याध्ययनेन नाट्यावलोकनेन वा सहृदयानां चित्ते रससामग्रीभूतास्ते सर्वे भावाः प्रसङ्गानुरोधेन व्यक्ताः भवन्ति रसपदवीं च लभन्ते। भावानां विभागस्तु पूर्वमेव दर्शितः। स्थायीभाव एव रसताम् एति, न सर्वे भावाः इति चेत् मैवम् हि प्रपाणकरसन्यायेनैव रसप्रतीतिर्भवति

इत्युक्तं प्राक् पुनः मुनिवचनं स्मारयामः

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' इति।

विभावानुभावयोः बाह्यधर्मता प्रसिद्धा अनुभवसिद्धा च वर्तते तर्हि कथं तयोः आन्तरविषयता इति तदुच्यते विभावानुभावयोरपि अन्तःकरणधर्मरूपत्वात् स्वप्न-तुरगादिवत् साक्षिभास्यत्वमविरुद्धम्। अतः विषयेऽस्मिन् शंका न कार्या। रसभावयोः को भेद इति उच्यते रसः विभावादीना संयोगबलात् प्रकाशते। भावाः स्वतंत्ररूपतयापि प्रकाशन्ते। रसभावादीनां का स्थितिरित्यपेक्षायाम् उच्यते यथा शरीरे दश प्राणाः सर्वत्र प्रचरन्ति, तथैव काव्ये नाट्ये च सर्वत्र भावानां स्थितिः बोध्या, रसस्तु तत्र आत्मरूपेण प्रतिष्ठितः। काव्ये नाट्ये च रसभावादीनां किं वैशिष्ट्यम् इति उच्यते रसभावादीनां लोकोत्तराह्लादजनकता प्रसिद्धा तज्जनकतावच्छेकत्वावच्छिन्नं काव्यं नाट्यं च वर्तते। वेदशास्त्रेभ्यो वैलक्षण्यं भजमानेन काव्येन नाटकेन च सर्वाणि श्रेयः प्रेयोमयानि कार्याणि ज्ञातुं समर्थाः भवन्ति सर्वे जनाः इति।

एवमभिनवगुप्तेन तत्तत्स्थानेषु प्रतिपादितं रसस्वरूपं किञ्चित् स्वाभिमता-द्वैतवेदान्तफक्किकासमन्वयपूर्वकं रसगङ्गाधरेऽन्ववद-द्पण्डितराजो जगन्नाथः–

"समुचितललितसन्निवेशचारुणा काव्येन समर्पितैः, सहृदयहृदयं प्रविष्टैः, तदीयसहृदयतासहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्त-रमणीत्वादिभिः, शकुन्तलादिभिरालम्बनकारणैः, अलौकिकविभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदेश्यैः चन्द्रिकादिभिरुद्दीपनकारणैः, अश्रुपातादिभिः कार्यैः, चिन्तादिभिः सहकारिभिश्च सम्भूय प्रादुर्भावितेनालौकिकेन व्यापारेण तत्कालनिर्वतितानन्दांशावरणाज्ञानेन, अत एव प्रमृष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपा-नन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रसः, तथा चाहुः–

व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायिभावो रसः स्मृतः" इति।

व्यक्तो व्यक्तिविषयीकृतः। व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्। यथा हि शरावादिना पिहितो दीपस्तन्निवृत्तौ सन्निहितान् पदार्थान् प्रकाशयति, स्वयं च प्रकाशते, एवमात्मचैतन्यं विभावादिसंवलितान् रत्यादीन्। अन्तःकरणधर्माणां साक्षिभास्यत्वाभ्युपगते विभावादीनामपि स्वप्नतुरगादीनामिव रङ्गरजतादीनामिव साक्षिभास्यत्वम् अविरुद्धम्"।

ध्वनिप्रस्थानस्य स्थापयितुरानन्दवर्धनस्य कृतेर्ध्वन्यालोकस्य व्याख्यात्रा अभिनवगुप्तेन प्रतिपादितं रसस्वरूपम् आनन्दवर्धनोक्तयैव विधया भवेदिति प्रायो वयं चिन्तयामः; परन्तु सुक्ष्मेक्षिकया परिशील्यमाने आनन्दवर्धनोक्तो रसध्वनिरन्यः, अभिनवोक्तश्चान्य इति प्रतिभाति। तथा हि– आनन्दवर्धनो वस्तुध्वनिः, अलङ्कारध्वनिः, रसध्वनिश्चेति त्रैविध्यं ध्वनेरङ्गीकृत्य तान् भेदान् सोदाहरणं न्यरूपयत्। तत्र वस्तुध्वनेरुदाहरणतया–

"भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदावरीनदीकूललतागहनवासिना दृप्तसिहेन"।।

इत्यादयः श्लोकाः प्रदर्शिताः, एतच्छलोकश्रवणसमनन्तरमेव विदितवाच्यार्थः, प्रकरणाद्यभिज्ञश्च सहृदयः "मा भ्रमीः" इत्यादिकम् अर्थान्तरमपि जानाति, यदेवोच्यते वस्तुध्वनिरिरिति। अत्र "चतुरोऽयं कविः, कविनिबद्धो वक्ता, वक्त्री वा वाच्यार्थाद् भिन्नम् अर्थान्तरमपि प्रतिपिपादयिषा भङ्ग्यन्तरेण" इति ज्ञात्वाऽसौ सहृदयश्चमत्कार-भरितान्तरङ्गो भवति।

सर्वेषां रसानामेकया विधया सुखरूपताऽपि नाङ्गीक्रियते आनन्दवर्धनेन– "शृङ्गार एव मधुरः परं प्रह्लादनो रसः" इति वदता। मधुरतायां चायं आह्लादजनकतां द्रुतिकारणतां चोभयमप्यङ्गीकरोतीव। आह्लादजनकता केवलं शृङ्गारविषयैव, द्रुतिकारणता तु करुणेऽपीति सूचयति–

"शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः"।।

इति वदन्। अन्यथा "शृङ्गार एव मधुरः परं प्रह्लादनो रसः", "शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्" इत्यनयोर्वाक्ययोः परस्परं विरोधः स्यात्। अभिनवस्तु स्वमतानुगुण्येन यथाकथञ्चिद् विरोधं परन्तु प्रायतत। एवमानन्दवर्धनो रामादिगतस्यैव रसस्य रसध्वनिताम्, सुखादिरूपताम् अङ्गीकरोति, अभिनवस्तु सामाजिकगतस्य रसस्य रसध्वनिताम्, रसमात्रस्य सुखैकरूपतां चाङ्गीकरोति। अत एव प्रतापरुद्रीये विश्वनाथो रत्नापणाख्यतद्व्याख्यानिर्माता च कुमारस्वामी लौकिकरसः, अलौकिकरसश्चेति रसस्य द्वैविध्यम्, रामादिगतस्य लौकिकत्वम्,

सामाजिकगतस्य चालौकिकत्वं प्रतिपादयाम्बभूवतुः "तत्र रसो नायकाश्रय एव। यदि परं निपुणनटचेष्ट्या, तथाविधकाव्यश्रवणबलेन च सामाजिकैः साक्षाद् भाव्यते तदा परगतस्यापि रसस्य सम्यग् भावनया परत्र निरतिशयानन्दजननमविरुद्धम्। अथवा मालत्यादिशब्देभ्यो योषिन्मात्रप्रतीतौ रावणादिशब्देभ्यः शत्रुमात्रप्रतीतौ च स्मृत्यारूढेन तत्तद्योषिद्विशेषेण अनुकार्येण सामाजिका' श्रयत्वमपि न विरुद्धम्"। "अयं च रसो लौकिकालौकिकभेदेन द्विविधः। तत्राद्यस्या-श्रयमाह-अत्रेति। रसो लौकिको नायकोऽनुकार्यो रामादिराश्रयो यस्य स तथोक्तः। अलौकिकरसस्याश्रयमाह– अथवेति। लौकिकाद्रसात् सामाजिकस्य आनन्दः कथं भवतीत्येतत् कुमारस्वामी एवं समर्थयति– "तैर्यदि परं साक्षाद्भाव्यते केवलं स्वसम्बन्धित्वेनानुसन्धीयते चेदित्यर्थः, तर्हि पुत्राद्यानन्ददर्शने पित्रादिवद् अत्राप्यानन्द उदेतीति भावः। अत एवोक्तं भावप्रकाशे–

"यस्तुष्टी तुष्टिमाप्नोति शोके शोकमुपैति च ।
क्रोधे क्रुद्धो भये भीरुः स श्रेष्ठः प्रेक्षकः स्मृतः" ।। इति ।

तदेवम् आनन्दवर्धनाभिमतो व्यज्यमानो रसो रामादिगतः, भट्टनायकाभिनवगुप्तादिप्रतिपादितोऽनुभूयमानः, अथवा अनुभूतिरूपो रसः सामाजिकाश्रय इत्यनयोः स्पष्टो भेदः। रसयोरनयोर्विषये भ्रान्तिवारणाय पण्डितराजः प्रायः सर्वत्रापि व्यज्यमानं नायकादिगतं रसं 'स्थायिभावः' इति, अनुभूतिरूपं सामाजिकगतं च रसं 'रसः' इति निर्दिशति। यथा विप्रलम्भश्रृङ्गारस्योदाहरणतया प्रदर्शितस्य "वाचो माङ्गलिकीः" इत्यादिश्लोकस्य विवृतौ– "अत्राप्यालम्बनस्य नायकस्य संयोगाद्रतिरभिव्यज्यमाना विप्रलम्भरसव्यपदेशहेतुः" इति।

कमले कमलोत्पत्तिः श्रूयते न च दृश्यते ।
बाले तव मुखाम्भोजे कथमिन्दीवरद्वयम् ।।[9]

इतीमं श्लोकं श्रुत्वा अर्थश्चाधिगम्य सहृदयानां मनस्सु यस्यानन्दस्यानुभूतिर्भवति, स एव बौद्धिकानन्दः। 'अत्र तुनोक्तम्, तत्रापि नोक्तम् इति पौनरुक्त्यम्', 'अत्र तुना उक्तम् तत्र अपिना उक्तमिति पौनरुक्त्यम्'[10] इत्यस्मिन् स्थले समस्या-समाधाने, एवं गणितस्य गूढप्रश्नानां समाधाने सति वैज्ञानिकानामाविष्कारसिद्धौ च य आनन्द उपलभ्यते, स बौद्धिकानन्दस्यैव विषयः।

काव्यानन्दः इत्थं ब्रह्मानन्द-मोक्षानन्द-योगानन्द-भक्त्यानन्द-भौतिकानन्दादीनामनुशीलने कृतेऽवशिष्यते एको बहुश्रुतः प्रभेदो य उक्तप्रभेदेभ्यो विलक्षणः काव्यानन्द इत्युच्यते। दृश्यश्रव्योभयविधकाव्यदर्शन-श्रवणपठनसमनन्तरमेव यो विशिष्टानन्दः सहृदयैरनुभूयते स एव काव्यानन्दः। एतत्स्वरूपं

काव्यतत्त्वज्ञैः सम्यग्विमृष्टम्। विगलितवेद्यान्तरसकलप्रयोजनमौलिभूतेत्यादि-विशेषणविशिष्टोऽयमानन्दोऽलौकिको ब्रह्मानन्दसहोदर इति व्यपदिष्टः। युक्तयोगी समाधिस्थः सन् यथा ब्रह्मानन्दे निमग्नो भवति, तथैव सहृदया अपि रसानुभवकाले तल्लीना भवन्ति। साहित्यस्यायमानन्दः काव्यशास्त्रकारै रसपदेनाभिहितः। आनन्दोऽयं विषयानन्दवन्न सातिशयः, न वा ब्रह्मानन्दवन्निरतिशयोऽपि तु पण्डितराजानुसारं चमत्कारत्वापर-पर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः [11] । रसास्वादनसमये सहृदया यं विलक्षणं चमत्कार-मनुभवन्ति, स एव चमत्कारः सकलविघ्नविनिर्मुक्तसंवित्पदेनाभिहितः [12] । काव्यानु-शासनस्य व्याख्याता यं चमत्कारं परिभाषयन् प्राह- अद्भुतभोगात्मस्पन्दावेशरूपो हि चमत्कारः" इति। तदुद्धृतं विश्वनाथेन–'रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते' इत्यादि। अनेनोद्धरणेन प्रतीयते काव्यानन्द एकमलौकिकसंवेदनं यं चमत्कारशब्देन वक्तुं शक्यते।

रसोऽयं काव्यशास्त्रिभिर्बहुधा व्याख्यातः। प्रायः सर्वैराचार्यै रस आनन्दमयः स्वीकृतः। तत्रादौ–

दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतन्मया कृतम् ।। इति ।

नाट्यस्य प्रयोजनं प्रतिपादयता भरतेन प्रोक्तं, यद् रसस्य फलं विश्रान्तिजननमस्ति। तदनन्तरं यद्यपि भामह-दण्डि-भट्टोद्भटवामनादीनां ग्रन्थेषु रसस्य विशिष्टं विवरणं नोपलभ्यते तथापि 'येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः' इत्यादि– शब्दै रसेनानन्दमग्नता प्रतिपादिता। रुद्रटश्च– 'एते रसाः रसवतो रमयन्ति पुंसः' इत्याद्युक्त्या रसस्य मनःप्रसादकर्तृतामङ्गीचकार। 'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम् [13] ' इत्यादिभिरानन्दवर्धनोऽपि रसस्य स्वादरूपतां जुघोष। 'काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक्' इत्युक्त्या रसस्य प्राधान्यं प्रतिपादयन् भट्टनायकः, 'योगिनां समाधौ य आनन्दस्तदपेक्षया रसानन्द उत्कृष्टः' इति प्रतिपादितवान्, अभिनवभारत्यामुद्धृतेन भट्टत्तौतवचनेन प्रतीयते यत् तन्मतेऽपि रस आह्लादमयः। रसस्यानन्दरूपतायाः प्रबलप्रतिपादक आचार्योऽभिनवगुप्तः स्वकीय– शैवाद्वैतदर्शनानुसारं विवृणोति–

'अस्मन्मते तु संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते'। 'सामाजिकानां हि हर्षैकफलं नाट्यम्, न शोकादिफलम् [14] ' 'तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम्' इत्याद्युक्त्या रसस्यानन्दात्मकतां निर्भ्रान्त-रूपेणोद्घोषितवान्। 'ह्लादनिष्यन्दो रसः' इति प्रतिपादयता महिमभट्टेन रसेन सहृदयानां तथा तृप्तिरुद्भाविता यथा समाधौ योगिनाम्। आनन्दनिष्पत्तिरेव काव्यस्य प्रमुखं प्रयोजनमिति मन्वानः कुन्तकश्च

ततो निर्विषयस्यास्य स्वरूपावस्थितौ निजः।
व्यज्यते ह्लादनिष्पन्दो येन तृप्यन्ति योगिनः।।[15]

'काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते' [16] इति व्याहरन् अन्तश्चमत्कृतिमेव परमं प्रयोजनं प्राह। काव्यप्रकाशस्य स्वकृतमङ्गलपद्ये मम्मटाचार्यः कविभारत्याः सर्वातिशायितां प्रतिपादयन् तां ह्लादैकमयीं नवरसरुचिरां [17] चाभिदधानः काव्य प्रयोजने च सद्यः परनिर्वृतिमेव सकलप्रयोजनमौलिभूतमिति स्वीचका[18]। हेमचन्द्रोऽपि आनन्दपदार्थं व्याकुर्वन् सद्योरसास्वादजन्या निरस्तवेद्यान्तरा ब्रह्मास्वादसदृशी प्रीतिरिति व्याचख्यौ। प्राह च तत्रैव 'इदं सर्वप्रयोजनोपनिषद्भूतं कविसहृदययोः काव्यप्रयोजनम्। अग्निपुराणकारोऽपि सहजानन्दस्याभिव्यक्तिरेव रस इति ब्रूते।

अस्मिन्नेव क्रमे रसात्मवादी विश्वनाथश्च रसस्वरूपं निरूपयन् 'रसः' अखण्डः, चिन्मयः, स्वप्रकाशानन्दः, वेद्यान्तरसम्पर्कशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरश्चेत्यभिदधे। तथा हि–

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ।।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ।।[19]

पूर्वोक्तानां सर्वेषां रसवैशिष्ट्यानां निरूपणे कृते सति काव्यजन्यानन्दस्य स्वरूपनिर्धारणं सहजतया कर्तुं शक्यते। रसास्वादनकाले सहृदयानां विलक्षणा मनोदशा भवति। तस्मिन् समये सत्त्वोद्रेको जायते। सत्त्वञ्च रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मन इत्युच्यते[20], अर्थात् काव्यानुशीलनेन रजस्तमसी स्व-स्वकार्यकरणेऽसमर्थे भवतः। भावोऽयं रजोगुण– प्रादुर्भावे मनसि चाञ्चल्यं तमसि च प्रमादमोहादिप्राबल्यं भवति। परम् आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।

व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया[21] **।**
रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते[22] **।**

काव्यार्थानुसन्धानसमये सहृदयानां मनसि चाञ्चल्यप्रमादमोहादीनां तिरोधानं भवति, सुखात्मिका च वृत्तिर्भवति। भट्टनायकानुसारं भावकत्वव्यापारेण सहदयानां मनसि साधारणीकृतिरूपसहृदयतायाः सञ्चारो भवति। तदनन्तरं भोजकत्वव्यापारेण रसो भुज्यते। सहृदयानामयं विचित्रानुभवोऽलौकिकमानसाध्यवसायश्चास्ति। एतस्य स्वरूपविश्लेषणं क्रियते चेत् तदा स सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्ति-सलक्षणो भवति। अयं 'रसः' काव्यानन्दो वा वेद्यान्तरस्पर्शशून्यः, अभिनवगुप्तानुसारं चर्व्यमाणतैकसारोऽस्ति।

रसानुभवकाले प्रमातुस्तन्मयीभावावस्था भवति [23] , ययाऽवस्थया प्रमाता स्वपरतटस्थदेशादिभावनाशून्यः सर्वथाऽऽत्मलीनो भवति। अत एव रसो ब्रह्मास्वादसहोदरपदेनाभिहितः। ब्रह्मानन्दः शुद्धचिदानन्दात्मकानुभवो रसानुभवश्च रत्यादिसंवलितचिदानन्दरूप इति विशेषः। यतो हि रसानुभवकाले वेद्यान्तरस्पर्शशून्यता भवति, परं विभावानुभावव्यभिचारिस्थायिभावानामात्मन आनन्दांशस्य च समूहालम्बनात्मकं स्वरूपं रसः। अतो ब्रह्मास्वादसहोदरपदेन रसस्यालौकिकता तेन साधिता।

अयं रसोऽखण्डः। अस्यानुभवकाले विभावानुभावव्यभिचारिणां पृथक् पृथगनुभूतिर्न जायते। परं प्रपाणकरसन्यायेन सर्वेषां मिश्रणेन विलक्षणाऽऽस्वादानुभूतिर्भवति। अपि च तन्मयीभावादेतेषां मात्राभेदस्तारतम्यं वा नानुभूयते। यदपूर्णं तत्र रसानुभूतिर्न जायते। काव्यानन्दो रसः स्वप्रकाशानन्दचिन्मयश्च वर्तते। इयं साऽऽनन्दमयी चितिर्यस्यामिन्द्रियसाध्यताया अभावः, चैतन्यस्य च सद्भावो वर्तते। अपि च एतस्मिन्नानन्दे प्रमाणान्तरापेक्षा नास्ति। स्वयं प्रकाशत इति स्वप्रकाशः। अयमानन्दात्मको रसो लोकोत्तरचमत्कारप्राणो वर्तते। यतो हि स प्रत्यक्ष-परोक्ष-कार्य-ज्ञाप्य-सविकल्पक-निर्विकल्पक नित्यानित्यलौकिक-संवित्ति-विनिर्मुक्तत्वाद-लौकिकः। रसोऽयमास्वादरूपः, न तु आस्वाद्यः। व्यवहारे 'रस' आस्वाद्यत इति यः प्रयोगो दृश्यते, स ओदनं पचतीतिवद् व्यवहारः। रसगङ्गाधरे पण्डितराजेन 'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति'

इत्यादिश्रुतिवाक्यमुद्धृत्य प्रोक्तम्–

वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन,
रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः।

इत्थं रसानुभूतिर्ब्रह्मास्वादसहोदरा विलक्षणाऽऽनन्दमय्यनुभूतिरस्तीति निर्णीतम्। रसिकजीवनमहाकाव्ये ग्रन्थकारेण शृंगाररसनिष्पत्तौ नायकनायिकयोः प्रामुख्यं स्वीकुर्वता शृंगाररसानुरूपं नायकनायिकयोः स्वरूपमेवं निरूप्यते–

शृङ्गाररसनिष्पत्तौ नायिकाः कारणं यथा ।
तद्धेतुत्वात्तरङ्गेऽस्मिन् नायकोऽपि निरूप्यते ।।[24]
सम्भोगो विप्रलम्भश्च शृङ्गारो द्विविधः स्मृतः ।
निरूप्याद्यं तरङ्गेऽस्मिन् विप्रलम्भो निरूप्यते[25] **।।**

तदुक्तम्- **विप्रलम्भाभिधानोऽयं शृङ्गारः स्याच्चतुर्विधः ।**
पूर्वानुरागो मानाख्यः प्रवासः करुणात्मकः ।।

सम्भोगस्तु– कूजच्चातकनिर्भरा वनभवो नृत्यन्मयूराकुलाः अभ्रैरभ्रमदभ्रवि-भ्रमहरं खद्योतविद्योतितः– तेऽमी सोकरिणो वहन्ति निभृतं वाताः कदम्बोद्भवाः। कालः कोऽपि घनाघनस्त्रिजगतां विक्षोभणः शोभनः ।। दम्पत्योर्दर्शनादेव समुत्पन्ना-नुरागयोः। ज्ञेयः पूर्वानुरागोऽयमप्राप्तौ स भवेद् यथा ।।

निष्कर्षः–

अनेन शोधपत्रेण इदं तु निश्चितं भवति, यत् शृङ्गारः जीवानां प्राणधायकं तत्त्वं वर्तते। शृङ्गारविषये भरतादारभ्य विश्वनाथपर्यन्तं ज्ञानम् अनेन कर्तुं सामाजिकाः समर्थाः भविष्यन्ति, अतः भरतप्रणीतेन रससूत्रेण प्रारभ्यमाणे रसे नैकानाम् आचार्याणां नैकानि रससूत्रविषयकानि व्याख्यानानि समुपलभ्यन्ते, तत्र च शृङ्गारस्य भेदद्वयम्, सम्भोगो विप्रलम्भश्च तत्र सम्भोगस्य आनन्त्यात् एक एव स्वीक्रियते तथा चापरस्तु अभिलाषविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति पञ्चविधः। समासेनास्य तत्त्वं यथा– त्वं मुग्धाक्षि[26].... एतेन नायकस्य प्रेमातिशयो व्यङ्ग्यः। प्रियतमे अतिशयप्रीतिपात्रे नायके तस्याः कञ्चुलिकायाः वीटिका ग्रन्थिस्तां, सखीसार्थलज्जया शय्याया उपान्ते समीपदेशे निविष्टा निविडसंलग्ना सा चासौ सस्मिता भवतीषु स्थिता सामीप्यमेवं चेष्टते इति लज्जया ईषत्संजातहास्या अनेन कञ्जुलिकाऽपसरणसंमतिप्रकटनम्, अन्यया भ्रुकुटिलौल्यमेव स्यात्। एतादृशी या स्त्री आलीजनस्य प्रेयसी नायिकैव तस्याः नेत्रयोरुत्सव उत्फुल्लता तेन आनन्दितः संजातानन्दः आलीजनः सखीजनः अलीकानां मिथ्याभूतानां शुको मया पाठनीयः, सारिका मया भोजनीया, चकोरी मया चन्द्रिकापानाय मोचनीया इत्यादीनां वचनानामुपन्यासो यस्मिन्कर्मणि यथा स्यात्तथा अलीकवचनोपन्यासवचनेन सखीरहस्यज्ञानगोपनेन तस्याः लज्जातिशय-परिहाराय शनकैः मन्दं निर्यातः मन्दिरात् निर्गत इत्यर्थः। अत्र मुग्धाक्षी आलम्बनम्, नयनसौन्दर्याङ्गशोभादि उद्दीपनम्, आभाषणवीटिका–स्पर्शावनुभावौ, आभाषण-वीटिकासंस्पर्शयोस्तुल्यकालतावगत्या प्रतीयमाना उत्कण्ठादयो व्यभिचारिणः, रतिः स्थायिभावः, तज्ज्ञे सामाजिके रसनिष्पत्तिः। एवमेवाग्रिमेष्वपि ज्ञेयम्। यद्यप्यत्र मुग्धाक्षी प्रियतमश्च परस्पररत्यालम्बनविभावौ, नायकरतेरुद्दीपनविभावोऽनुभावो व्यभिचारिणश्चोक्ता एव, नायिकारतेस्तु नायकरत्यनुभावादेवोद्दीपनम्, स्मितादि-रनुभावः, तदङ्गयोः हर्षो व्यभिचारिभावः, तथाऽपि प्राधान्येनाऽऽस्वादविषयत्वं नायिकालम्बनायाः नायकनिष्ठरतेरेवेति पूर्वस्माद्भेद इति बोध्यम्।।

।। इति शम् ।।

---

1. रसगंगाधरप्रथमाननम्
2. श्रीमद्भागवतमहापुराणम्
3. अग्निपुराणम्
4. नाट्यशास्त्रं षष्ठाध्यायः
5. काव्यप्रकाशस्य चतुर्थोल्लासे
6. तत्रैव
7. तत्रैव
8. तत्रैव
9. महाकविकालिदास, डॉ. रमाशङ्करतिवारी, पृ. 30।
10. काव्यप्रकाशः, द्वितीयोल्लासः, व्याख्या- विश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिः, पृ. सं. 39
11. लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः । (रसगङ्गाधरः, प्रथमाननम्, पृ. सं. 11)
12. नाट्यशास्त्रम्, षष्ठाऽध्यायस्यांशभूते अभिनवरससिद्धान्ते, पृ. सं. 34।
13. ध्वन्यालोकः- 1।6।
14. लोचनव्याख्यासहितो ध्वन्यालोकः, व्याख्याकारः रामसागरत्रिपाठी, पृ. सं. 65।
15. व्यक्तिविवेकः, प्रथमो विमर्शः
16. वक्रोक्तिजीवितम्- 1।5।
17. नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ।। (काव्यप्रकाशः-1।1)
18. सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्।
19. साहित्यदर्पणः- 3।2-3।
20. तत्रैव, वृत्त्यंशः-1।2
21. अग्निपुराणम्- 339।2
22. सरस्वतीकण्ठाभरणम्- 5।20
23. तत्रस्थाऽभिनवभारती, अभिनवरससिद्धान्तः, पृ. सं. 24।
24. रसिकजीवनं 3.1
25. रसिकजीवनम् 3.1
26. का.प्र.च.उ.श्लो. 31

अतिथिसंकाय: (सहायकाचार्यश्रेणी)
संस्कृतसाहित्य-विद्याशाखा,
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालय:,
लखनऊपरिसर:, लखनऊ (उ.प्र.) ।
दूरवाणी संख्या - 9506900397
ईमेल - shivanandmishra9@gmail.com

प्राचीनभाष्यकारेषु आचार्यसायणस्य भाष्यवैशिष्टयम्

– डॉ. अमितभार्गवः

(संस्कृत वाङ्मय में वेदों का स्थान सर्वोपरि है। वेद, धर्म निरुपण में स्वतन्त्र रूप से प्रमाण हैं। इस भूमण्डल पर उपलब्ध विविध भाषाओं में प्राचीन ग्रन्थों में वे सभी से प्राचीन हैं। इस प्रकार सभी विद्वान इस तथ्य को अंगीकार करते हैं। "विद्यन्ते धर्मादयः पुरुषार्था यैस्ते वेदाः" वेद भाष्यकारों में आचार्य सायण का स्थान सर्वोत्कृष्ट है। वह प्रखर प्रतिभा सम्पन्न तथा उत्कृष्ट मेधा युक्त महान् वेद भाष्यकार हैं। वैदिक भाष्यकारों में पाण्डित्य तथा विवेचन कौशल की दृष्टि से उनका स्थान अद्वितीय है। जिस तथ्य की विवेचना उन्होंने अपने भाष्यों में की है उसे युक्ति प्रमाण समन्वित शैली में इतने स्पष्ट रूप में विवेचित किया है कि उस विषय में फिर अन्य कुछ ज्ञातव्य शेष नहीं रहता है। वेदार्थ निरूपण में उन्होंने षडङ्ग निरुक्त, व्याकरण तथा कल्प सूत्र, शिक्षा आदि सभी का आश्रय लिया है। ऋग्वेद के प्रथमाष्टक की व्याख्या करते समय उन्होंने महत्त्वपूर्ण शब्दों की व्याकरण सम्बन्धी व्युत्पत्ति, उनकी सिद्धि, स्वरांकन पद्धति आदि का जो साधिकार वर्णन किया है, वैदिक तथा संस्कृत साहित्य में किसी भी मन्त्र या सूत्र के विस्तृत एवं रहस्यमय ज्ञान को जानने के लिये उसके व्याख्यान अर्थात् भाष्य के आवश्यकता होती है। तथा व्याख्यान की परम्परा हमें वैदिक साहित्य के प्रथम एवं सर्वप्राचीन ऋग्वेद से प्राप्त होती है । इसलिये इस ज्ञान परम्परा के विकास को जानने के लिये एवं वैदिक शब्दों के विस्तृत ज्ञान के लिये निरुक्त की नितान्त आवश्यकता प्रतीत होती है। निरुक्त में वैदिक शब्दों के निर्वाचन का विस्तृत ज्ञान मिलता है। निरुक्त में वैदिक संहिताओं में वर्णित क्लिष्ट शब्दों का संग्रह किया गया है। और उन शब्दों के विस्तृत अर्थों को सरल माध्यम से बताया गया है ।)

कस्यापि मन्त्रस्य सूत्रस्य वा रहस्यात्मकं ज्ञानं व्याख्यानेनैव भवति। परञ्च व्याख्यानस्य परम्पराः भिन्नाः भवन्ति। वैदिकसाहित्यस्यस्य आदिमे ग्रन्थे ऋग्वेदे मन्त्राः प्राप्यन्ते। अतः ज्ञानपरम्परायाः विकासो भवेत् एतदर्थं व्याख्यानमावश्यकम्। यास्कविरचितनिरुक्तादपि प्राचीनतरः निघण्टुग्रन्थोऽस्ति। तत्र वैदिकशब्दानां विस्तृतव्याख्याः प्राप्यन्ते। निघण्टुशब्दस्यार्थः भवति वैदिकशब्दकोषः। निघण्टुग्रन्थे संहितायाः क्लिष्टान् शब्दान् एकत्र संचयं कृत्वा तेषामर्थाः तत्र प्राप्यन्ते। समुपलब्धेषु ग्रन्थेषु निघण्टुरेव वेदार्थस्फुटीकरणस्य प्रथमः प्रयासः परिलक्षितः। ग्रन्थेष्वेषु वैदिकभाषायाः विचित्रपदानां, स्वराणां सन्धिपदानाञ्चैव विवेचनमस्ति। पुराऽनेकेषु ग्रन्थेषु निरुक्तविषयिणी सत्ताऽऽसीत्। येषां सूचनाऽवान्तरग्रन्थेषु यत्र तत्रोद्धरणरूपेण समुपलब्धास्ति। वेदेषु देवतानां स्थानं अतिमहत्त्वपूर्णमस्ति। मानवाः प्रतिदिवसं प्रकृतिदेव्याः विविधाः लीलाः

पश्यन्ति। वैदिककालस्य महर्षयस्तस्यास्तत्तल्लीलाया अनुभवं कृत्वा लिखन्ति। महर्षयः विश्वसन्ति यदासां देवतानामनुकम्पयैव सर्वाणि कार्याणि सम्पाद्यन्ते। जगति घट्यमानानां सर्वासामपि घटनानां कारणभूताः देवता एव सन्ति। **दैवाधीनं जगत्सर्वम्**[1] **इति** सत्यार्थप्रकाशे सम्यक्तया प्रतिपादितम्। आचार्य सायणमतानुसारं ऋग्वेदे देवता प्राणिशक्तिशालित्वात् असुरा इति प्रोक्ताः।[2] ऋग्वेदस्यादिमे युगे बहुदेवतानां सत्ताऽसीत्। सायणभाष्ये पुरुषसूक्ते सर्वेश्वरवाद: स्पष्टतया दृश्यते। यथा–

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिँसर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ।।[3]

परं पाश्चात्त्यानामेषां देवतानां विषये विचारो भौतिक एव। सायणाचार्यः स्वजीवने अन्तिमेषु विंशति-चतुर्विंशतिवर्षेषु भाष्यकार्यं पूर्णम् अकरोत्। अस्मिन् कालावधौ सः सम्पूर्ण-वेदभाष्यस्य कार्यम् अकरोत्। अतः स्पष्टम् अस्ति यत् अनुमानतः 1420 विक्रम-संवत्सरतः 1444 विक्रम-संवत्सरपर्यन्तं 24 वर्षाणां सुदीर्घे काले आचार्यः सायणः वेदभाष्याणां रचनाम् अकरोत्। [4] सायणाचार्यस्य व्याख्या-पद्धतिः षडङ्गाध्ययनपुरस्सरं दृश्यते। ऋक्संहितायाः प्रथमाष्टकस्य व्याख्यायां शब्दानां पर्यालोचने व्याकरणस्य नैपुण्येन निरूपणं आचार्यसायणेन कृतम्। [5] आचार्य सायणेन प्रमुखशब्दस्य व्युत्पत्तिः, सिद्धिः, स्वरादीनां च वर्णनं पाणिनीयसूत्राणां साहाय्येन प्रातिशाख्यसाहाय्येन च कृतम्। सायणभाष्ये निरुक्तस्याप्युपयोगः दृश्यते। सायणः ऋग्वेदस्य प्राचीनभाष्यकर्तृणां स्कन्दस्वामिमाधवादीनामप्यर्थान् यथावकाशं ग्रहणमकरोत्। कल्पसूत्राणां प्रयोगं स्वभाष्ये सविस्तरं कृतवान् अस्ति। यज्ञविधाने सायणस्य प्रगाढप्रतिभा दृश्यते। आचार्यसायणेन कल्पसूत्रविषयगतानाम् आवश्यकतत्त्वानां वर्णनं प्रामाणिकग्रन्थानां उद्धरणमाध्यमेन मन्त्राणां व्याख्यायां कृतम्।

आचार्यसायणोऽपि वैदिकग्रन्थानां भाष्यं कर्तुमग्रे अगच्छत् येन पञ्चसंहितानाम् उपरि भाष्यं तथा च त्रयोदशब्राह्मणारण्यकानां भाष्यं विरचितम्। प्रायेण सर्वेषां वैदिकग्रन्थानामुपरि तेन व्याख्या विहिता। आदौ सः स्वशाखायाः कृष्णयजुर्वेदस्य तैत्तिरीयसंहिताया भाष्यं कृतवान्। ऋग्वेदभाष्यभूमिकायाम् अभ्यर्हितत्वात् ऋग्वेदस्य प्राथम्यत्वेऽपि यजुर्वेदस्य व्याख्यानं कथम् आदौ तेन कृतम् इति प्रसङ्गे तत्र चर्चा वर्तते यत् यज्ञकर्मणि चत्वार ऋत्विजो भवन्ति– होता, अध्वर्युः, उद्गाता, ब्रह्मा च। होतृनामक: ऋत्विक् देवानामावाहनं करोति। उद्गातृनामकः ऋत्विक् सामगानमाध्यमेन

देवानां मनोरञ्जनं करोति। ब्रह्मा यज्ञस्य निरीक्षणं करोति। परन्तु यजुर्वेदस्य ऋत्विक् यज्ञरूपशरीरस्य सम्पादनं करोति। अतः श्रूयते ऋग्वेदे यथा–

ऋचा त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः।।[6]

वेदः भवति यज्ञप्रधानः। यज्ञसिध्यर्थमेव वेदस्याविर्भावः। एतदर्थं यज्ञपरकस्य यजुर्वेदस्य आदौ व्याख्यानं

आचार्यसायणेन कृतम्। तेन प्रतिपादितं यथा–

व्याख्याता सुखबोधाय तैत्तिरीयकसंहिता।
तद् ब्राह्मणं व्याकरिष्ये सुखेनार्थविबुद्धये ।।[7]
व्याख्याता सुखबोधार्थं तैत्तिरीयकसंहिता।
तद् ब्राह्मणं च व्याख्यातं शिष्टमारण्यकं ततः ।।[8]

यज्ञकर्मणि अध्वर्योः अनन्तरं होतुः स्थानं विद्यते। अतः ऋग्वेदस्य व्याख्यानं विहितम्। ऋग्वेदस्य प्रारम्भे

उक्तं यथा–

आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्याद् व्याकृतः पुरा।
यजुर्वेदोऽथ हौत्रार्थमृग्वेदो व्याकरिष्यते ।।[9]

होतुरनन्तरमुद्गातृकार्यमागच्छति। अतः ऋग्वेदस्य व्याख्यानात् परं तदाश्रितं सामवेदस्य व्याख्यानं कृतम्। शुक्लयजुर्वेदस्य द्वे शाखे प्राप्येते काण्वमाध्यन्दिनभेदेन। माध्यन्दिनसंहितायाः भाष्यं उव्बटाचार्येण पूर्वमेवं कृतमासीत्। एतदर्थं तैत्तरीय-शाखान्तरं भाष्यं न कृत्वा सामवेदभाष्यादनन्तरं शुक्लयजुर्वेद-काण्वसंहितायाः भाष्यं विरचितम्। ऋग्वेदादि वेदत्रितयमादौ व्याख्याय अनन्तरं ब्रह्मवेदस्य-अथर्ववेदस्य व्याख्यानं लोककल्याणाय कृतम्

व्याख्याय वेदत्रितयमामुष्मिकफलप्रदम्।
ऐहिकामुष्मिकफलं चतुर्थं व्याचिकीर्षति ।।[10]

अथर्ववेदस्य भाष्यानन्तरं शतपथब्राह्मणस्य भाष्यं विहितम्। एतद् विशालकायं ब्राह्मणग्रन्थस्य भाष्यं आचार्यसायणस्य अतीवमहत्वपूर्णं भाष्यं वर्तते। शतपथब्राह्मणस्य भाष्यरचनाकाले सः हरिहरस्य प्रधानामात्य आसीत्। आचार्यसायणस्य वेदभाष्यस्य नाम “माधवीयवेदार्थप्रकाशः” अस्ति यत् तेन स्वस्य पूज्यगुरुवे विद्यातीर्थाय समर्पितम्। साम्प्रतं तिलक-विद्यालय-पूनातः प्रकाशितस्य ऋग्वेदस्य श्री-सायणाचार्य-संस्करणं बहु-प्रचलितम् अस्ति। ऋग्वेदस्य भाष्ये आचार्य-सायणस्य अद्भुतां प्रतिभां दृष्ट्वा विश्वस्य श्रेष्ठ-

मनीषिणः मुग्धाः भवन्ति। सामान्यतः तु ऋग्वेदे अनेकानि भाष्याणि प्राचीनाचार्याणाम् एव मिलन्ति किन्तु ते सर्वे अपूर्णाः सन्ति। श्री-वेङ्कटमाधवस्य "ऋगर्थदीपिका" नामकं भाष्यं सम्प्रति पूर्णं प्रकाशितं नास्ति तथा च अत्यन्त-संक्षिप्त-शैल्या लिखितम् अस्ति। एतस्य पूर्ववर्तिन: – आचार्य-स्कन्दस्वामिनः ऋग्वेद-भाष्यं पूर्णम् प्रकाशितं नास्ति तस्मात् वेदार्थ-परिज्ञाने पूर्णतः सहायकं नास्ति। एवमेव उत्तरवर्ती-विदुषां व्याख्या: अपि त्रुटिपूर्णाः सत्य: आचार्य-सायणस्य समतां न कर्तुं शक्ताः किन्तु श्रीसायणभाष्यं पूर्णम् अस्ति विस्तृतम् अस्ति एवञ्च वेदविज्ञानस्य ज्योति: प्राप्तुं समस्त-विश्वे एकमात्रं अवलम्बनम् अस्ति। ऋग्वेदस्य मन्त्रेषु बहवः आध्यात्मिकाः बहवः आधिदैविकाः बहवः आधिभौतिकाश्च भावाः निहिताः सन्ति। भाष्यकारः यथास्थानं त्रयाणां प्रकारकाणां भावान् व्यक्तीकर्तुं प्रयासं कृतवान्। आचार्यः सायणः स्वभाष्ये सर्वत्र प्राचीन-गुरुपरम्परातः प्राप्तार्थस्य अनुसरणं कृतम्। सम्पूर्ण-वैदिक-वाङ्मयस्य मन्थनं कृत्वा प्राचीन-परम्परायाः समन्वय-पद्धतेः पालनं कुर्वन् भाष्यामृत-प्रदानं सर्वश्रेष्ठ-विशेषता अस्ति। सर्वेषां वैदिक-पौराणिक-स्मार्त-लौकिकानां साहित्यस्य आचार-विचाराभ्यां तस्य भाष्याणां समर्थनं करोति। आचार्य सायणः यास्काचार्यस्य विवेचनाम् अपि अङ्गीकृतवान्। अतः तस्य भाष्यम् अधिकं युक्ति-सङ्गतं श्रेष्ठार्थस्य प्रकाशकं च वर्तते। वैदिकसंहितानां मुख्य-विषयः यज्ञः आसीत् तस्मात् आचार्यसायणस्य भाष्यस्य यज्ञपरकत्वं समीचीनमेव अस्ति। सायणः सूक्तव्याख्यायाः समये सः सूक्तस्य देवता-ऋषि-छन्द-विनियोगादीनां विवेचनं प्रारम्भे एव दत्तवान् अस्ति तदेव आधरीकृत्य उत्तरवर्तिन:– आचार्याः स्वभाष्यस्य रचनाम् कृतवन्तः। आचार्य सायणस्य ऋग्वेदभाष्यस्य उपोद्घातः तु उत्कृष्टः एव तत् तु विविध-ज्ञानवर्धक-रहस्यरत्नानां विशाल: समुद्र: अस्ति। मीमांसासिद्धान्तस्य यया कुशलतया अतीव-प्राञ्जलया सुबोधया भाषया सः वर्णनं कृतवान् तेन तस्य महत्पाण्डित्यं ज्ञायते। वस्तुतः सायणस्य एषः उपोद्घातः गम्भीरान् वेदसिद्धान्तान् ज्ञातुं स्तम्भः अस्ति।

सनातन-धर्मानुयायिनः धर्मेण संस्कृत्या अध्यात्मसंबंद्ध-विषयाणां निर्णये सायण-भाष्यमेव प्रामाणिकं मन्यन्ते। अतः वर्तमान युगस्य महान्-आचार्य-धर्मसम्राट्-स्वामि-करपात्री-महाराजः स्वविश्वविख्याते ग्रन्थे "वेदार्थपारिजातः" इत्यस्मिन् सिद्धान्त-निर्णयस्य कृते सायणभाष्यमेव आधारम् अनुमतवान्। श्रीभाष्यविरुद्ध-भाष्याणां खण्डनं कुर्वन् सः सायणाचार्यस्य भाष्यस्यैव शास्त्रसम्मततायाः प्रतिपादनं कृतवान्। विश्वस्य विभिन्नासु भाषासु यत् वेदसम्बन्धिनां अनुवादादीनां ग्रन्थाः प्रकाशिताः तेषां प्रणेतारः प्रायः सायणानुयायिनः एव। सायणविरोधि-विदुषः अपि वेदार्थ-करणसमये यत्र मार्गः

न लब्धः तत्र तैः अपि सायणस्य एव अनुसरणं कृतम्। सायणभाष्यम् अतिरिच्य ऋग्वेदस्य पूर्णं भाष्यं कस्यापि नास्ति। अतः एतस्य अभावे न तु ऋग्वेदस्य सम्यक् अर्थ-ग्रहणं भवति न पाश्चात्य-विद्वान् रॉथः ग्रामस्थांनी च स्वस्य वैदिक-कोषं कर्तुं नैव शक्नोति। अनेकेषां रोगाणां निवारणाय उपायरूपे मन्त्राणाम् अनुष्ठानविधिः अपि अस्मिन् भाष्ये बहुत्र वर्णितः। एतासां विशेषतानां कारणेन ऋग्वेदस्य सायणभाष्यं विदुषां कण्ठस्य हाररूपेण स्थितम् अस्ति। अतः विश्वस्य अनेकासु भाषासु एतस्य अनुसरणं कुर्वन् ऋग्वेदस्य अनुवादः कृतः। तेषाम् अनुवादानां सहायतया जनाः ऋग्वेदं ज्ञातुं प्रयत्नं कुर्वन्ति किन्तु एतावता सायणभाष्यस्य पूर्णानुवादः नास्ति तस्मात् तस्य पूर्णं स्वारस्यं जनैः न प्राप्तम्।

अनेन प्रकारेण आचार्यसायणस्य भाष्याणि याज्ञिकपद्धतिमनुसृत्य प्रवर्तितानि सन्ति, येषु पूर्ववर्तिभाष्यकाराणामपि संस्काराः दृष्टिपथमायान्ति। सः विशेषरूपेण याज्ञिको भाष्यकार आसीत्। तैः सहास्य वैदिक-संहिताभाष्येषु ब्राह्मण-कल्पादी-नामपि संस्कारोऽवलोक्यते। शब्दव्युत्पत्तौ व्याकरणप्रौढतया सह निरुक्तज्ञानस्यापि भूमिकास्य सिद्धा प्रतीयते। अस्मादेव कारणात् अस्य महोदयस्य भाष्यग्रन्थाः श्रेष्ठाः मन्यन्ते।

सन्दर्भग्रन्थः-

1. वैदिकसाहित्य संस्कृति, डॉ. बलदेव उपाध्याय चौखम्बा विद्याभवन प्रकाशन वाराणसी 2015
2. निरुक्तम्, छज्जूराम शर्मा, चौखम्बा विद्याभवन प्रकाशन वाराणसी 2011
3. सत्यार्थप्रकाश, स्वामी दयानन्द चौखम्बा विद्याभवन प्रकाशन वाराणसी 2007
4. ऋग्वेदभूमिका, चौखंबा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी 2005
5. ऋग्वेद संहिता, चौखम्बा विद्याभवन प्रकाशन वाराणसी 2004
6. प्राचीनवेदभाष्यकार, प्रो. देवेन्द्रनाथ पाण्डेय परिमल प्रकाशन जयपुर 2006
7. वैदिक साहित्य का इतिहास, डॉ. कपिल देव द्विवेदी चौखम्बा विद्याभवन प्रकाशन वाराणसी 2003
8. चतुर्वेद भाष्य भूमिका, चौखम्बा विद्याभवन प्रकाशन वाराणसी 2004
9. वेदार्थ पारिजात', स्वामी करपात्री महाराज, श्रीविद्यामठ वाराणसी 1999

---

1. सत्यार्थप्रकाशः पृ. सं. 367
2. ऋग्वेदभूमिकायाम् पृ. सं. 69
3. ऋग्वेदशाकलशाखा 10/90/01
4. ऋग्वेदसंहिता भूमिकायाम् पृ, सं. 71

5. ऋग्वेदसंहिता भूमिकायाम् पृ. सं. 70
6. ऋग्वेदः- 10/71/11
7. प्राचीनवेदभाष्यकाराः पृ. सं. 10
8. प्राचीनवेदभाष्यकाराः पृ. सं. 13
9. प्राचीनवेदभाष्यकाराः पृ. सं. 13
10. प्राचीनवेदभाष्यकाराः पृ. सं. 13

सहायकप्राध्यापकः,
कविकुलगुरुकालिदाससंस्कृतविश्वविद्यालयः,
रामटेकम् ।

न्यायदर्शने ईश्वरसाधनोपायाः

– डॉ. उमामहेश्वरी बी.

(भारतीय दार्शनिक परम्परा में शिव का अत्यन्त उत्कृष्ट स्थान है। सभी प्राणी अपने मन, वाणी और शरीर किसी भी माध्यम से सदैव भगवान का स्मरण करते रहते हैं। यह एक प्रसिद्ध कहावत है कि 'शिव की आज्ञा के बिना चींटी भी नहीं काटती'। इसीलिए वैदिक परम्परा में ईश्वर का वैशिष्ट्य को आध्यात्मिक जीवन एवं व्यावहारिक जीवन दोनों में ही सर्वोपरि अनुभव किया जाता है। ईश्वर जीवों को उनके कर्मों के अनुसार ही जीवन और मोक्ष प्रदान करने में विधायक और निमित्त कारण के रूप में शासन करता है। सभी शास्त्रों एवं पुराणों के अनुसार ईश्वर, संसार की रचना पालन तथा संहार में मुख्य भूमिका निभाता है, तथा सर्वत्र कारण बनकर नियमित रूप से सभी प्राणियों की गति करता है। अब हम विचार करें कि न्याय के दर्शन में उदयनाचार्य के द्वारा न्यायकुसुमांजलि नामक प्रसिद्ध ईश्वर साधक ग्रन्थ में ऐसे ईश्वर को पाँच हेतुओं के द्वारा कैसे परिभाषित किया गया है और उनके अस्तित्व पर न्याय सम्मत तर्क क्या है यह इस संशोधन पत्र में विचार किया गया है।)

प्रस्तावनाः–

भारतीयदर्शनपरम्परायां शिवस्य महत्स्थानं वर्तते। सर्वेऽपि प्राणिनः ईश्वरं मनसा वाचा कायेन येन केनचित् साधनेन सर्वदा स्मरन्त्येव। शिवस्याज्ञां विना पिपीलिकोऽपि न दंशतीति आभाणकम्। अतो वैदिकपरम्परायाम् अध्यात्मिकजीवने व्यावहारिकजीवने च ईश्वरस्य वैशिष्ट्यं सर्वत उपरि बोभूयते। प्राणिनां कर्मानुसारं जीवन-मुक्तिप्रदाने विधायकरूपेण परमेश्वरः निमित्तरूपेण राराजते। जगतः सृष्टौ परिपालने संहारे च मुख्यभूमिकां वहन् सर्वत्र निमित्तो भूत्वा सर्वप्राणीन् नियमितरूपेण चालयति। तर्हि तादृशेश्वरो न्यायदर्शने कथं निरूपितः कथं तस्यास्तित्वं प्रतिपादितमिति विचारयामः।

शोधप्रबन्धः–

भगवता भाष्यकारेण वात्स्यायनेन प्रमाणप्रमेयादिसूत्रे द्वादशविधप्रमेयान्त-र्गतात्मशब्देन ईश्वरस्य बोधः कृतः यथा– **"तत्रात्मा सर्वस्य द्रष्टा, सर्वस्य भोक्ता, सर्वज्ञः, सर्वानुभवी**[1] इति। "गुणविशिष्टात्मान्तरमीश्वरः, तस्यात्मकल्पत्वात् कल्पान्त-रानुपपत्तिः। अधर्म - मिथ्याज्ञानप्रमादहान्या धर्म - ज्ञान - समाधि-सम्प्रदायविशिष्टमा-त्मान्तरमीश्वरः। तस्य च धर्मसमाधिफलमणिमाद्यष्टविधमैश्वर्यम्[2] इति च प्रतिपादितम्। तत्रैव अन्नम्भट्टोऽपि

"ज्ञानाधिकरणमात्मा। स द्विविधः, जीवात्मा परमात्मा चेति। तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मा एक एवेति निरूपितवान्।

उदयनाचार्यः कुसुमाञ्जल्यां ईश्वरस्य निरूपणावसरे साङ्ख्यवेदान्तादिसकल-दार्शनिकसिद्धान्ताः भिन्नभिन्नरूपेण भगवतः उपासनां कुर्वन्तीति प्रतिपादयन्, 'ईश्वरस्यास्तित्वे अविवादात्, तर्कविषयोऽयं न सम्भवती'ति अकथयत्। एवं च

- धर्मार्थकाममोक्षरूपचतुर्विधपुरुषार्थेषु यं कमपि पुरुषार्थं मुख्यं गौणं वा प्रयोजनमर्थयमानाः पुरुषाः यम् उपासीरन् स एव ईश्वरः, स च नित्यः शुद्धः बुद्धः केवलोऽद्वितीयः स्वप्रकाशबोधात्मक इति ईशाद्युपनिषदर्थविचारविवेचकानां वेदान्तिनामभिमतम्।
- क्लेशकर्मविपाकाशयैः (**"अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः"** तत्र **अविद्या**-विपरीतख्यातिः, **अस्मिता**-अहमस्मीत्यभिमानः, **रागद्वेषौ**-सुखदुःखतत्साधन-विषयौ, **अभिनिवेशः**– मरणभयमिति **पञ्चक्लेशाः**। यागहिंसादिविहितनिषिद्ध-रूपकर्म, जात्यायुर्भोगाख्याः विपाकाः। तत्र जातिः– देवत्वमनुष्यत्वजातिः, आयुः– प्राणवायोः शरीरावच्छिन्नः संयोगः, भोगः– सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारः, आशयः– धर्माधर्मरूपमपूर्वम्) सर्वदा सर्वथा अपरामृष्टः असम्बद्धः सन् वेदाभिव्यञ्जकघटपटादि-करणशिक्षार्थं व्युत्पाद्यव्युत्पादकभावेन शरीराण्यधिष्ठाय वेदज्ञापने प्रवक्तृरूपेण घटपटादिकार्यव्यवहारे कर्तृरूपेण स्वर्गापवर्गादिफलप्रदाने अनुग्राहकत्वेन च वर्तत इति पतञ्जलिमतानुयायिनां पातञ्जलानां मतम्।
- विषभक्षणविषधरधारणादिभिर्लोकविरुद्धैः ब्रह्मशिरश्छेदनप्रभृतिभिर्वेदविरुद्धैरपि पापरूपलेपरहितः, दृष्टादृष्टदोषशून्यः, परमाण्वदृष्टादिसामग्रीं विनापि स्वतन्त्रः जगत्कर्ता इति महाव्रतचारिपाशुपतानां मतम्।
- सत्त्वरजस्तमोलक्षणगुणत्रयरहितः अन्वर्थनामधेयः शिव इति शैवाः।
- पुरुषेषु पुरुषेभ्यो वा उत्तमः श्रेष्ठः नित्यसर्वज्ञत्वादिभिरिति वैष्णवाः।
- जगतामुत्पादकः चतुर्मुखः कमलासनश्च पितामह इति पौराणिकानां मतम्।
- प्राधान्येनेज्यो यज्ञाधिष्ठातृदेवता यज्ञपुरुष इति याज्ञिकानां मतम्।
- क्षणिकसर्वज्ञः, क्षणिकसन्तानरूपत्वसांवृतिकसत्यत्वादिना सर्वविदित इति सौगतानां मतम्।

- ❖ आवरणमदृष्टमविद्या स्वकर्मोपार्जितश्च शरीरं तद्रहितः निरावरण इति दिगम्बरजैनाः।
- ❖ उपास्यत्वेन इन्द्रादिदेवतानाम् अस्वीकारात् विधिबोधितमन्त्र एव उपासनीयः। उपासितमन्त्र एव स्वरूपविशेषपरिणतः फलाय कल्प्यत इति जैमिनि-मीमांसकानां मतम्।
- ❖ लोकव्यवहारे सिद्धः प्रजापालकराजादिरूपः, चतुर्भुजादिप्रतिमारूपो वा इति लोकायतमतानुयायिनः चार्वाकाः।
- ❖ किमेतैस्तत्त्वविचारनिपुणैः शास्त्रकारैः,किमपि शास्त्रज्ञानमजानन्तः कर्मजीवाः शिल्पिनोऽपि **"विश्वं कार्यजातं कर्म यस्य स विश्वकर्मा"** इति तद्रूपेण यमर्चयन्ति, पूजाध्याननमस्कारादिनानाविधव्यापारैः यमुपासन्ते सैवेश्वर इति ईश्वरे प्रमाणमभिवर्णयन्ति।

तथा च संसारस्य सृष्टितः क्षित्यादिकार्यं सर्वं यस्मिन् तस्मिन् प्रसिद्धमहिमशालिनि भगवति भवे विचाराङ्गभूतः संशय एव नास्तीति निश्चित्य तत्रेश्वरास्तित्वे किं मानमिति बौद्धमीमांसकादीनां प्रश्ने सति न्यायकुसुमाञ्जलौ उदयनाचार्येण समाधानपूर्वकमीश्वरप्रतिष्ठा कृता यथा–

"सर्गापवर्गयोर्मार्गमामनन्ति मनीषिणः ।
यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरूप्यते"[3] ।। इति

परमात्मनः निरूपणं प्रतिज्ञाय बहुभिर्युक्तिभिः, अनेकैः प्रमाणैश्च ईश्वरः प्रतिष्ठितः। तान् ईश्वरसाधकहेतून् तत्रैव कुसुमाञ्जल्यां श्लोके प्रतिपादयद्यथा–

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः ।
वाक्यात्संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ।।[4] इति

अर्थात् कार्यात् आयोजनात् धृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः वाक्यात् सङ्ख्याविशेषाच्च विश्वविदव्ययः परमात्मा साध्यते इति।

1. कार्यात्– इह खलु कार्यं दृष्ट्वा कारणमनुमीयते। यथा व्यावहारिके लोके सर्वेऽपि जानन्ति यत् जडरूपघटकार्यस्य चेतनः कर्ता कुम्भकारो वर्तत इति। अनेनैव प्रकारेण अस्य दृश्यमानविश्वस्यापि कार्यत्वात्तस्यापि चेतनपुरुषः कर्ता भवतीति। तत्र कर्तृत्वं नाम– **"तदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वं कर्तृत्वम्"**[5] इति। यथा– घटेत्यु-दाहरणम्। तथा च यथा घटं प्रति उपादानकारणीभूतमृत्तिकाया अपरोक्षज्ञानम्, तया मृत्तिकया घटोत्पादनेच्छारूपा चिकीर्षा, तदनुकूलः प्रयत्नश्च घटोत्पत्तेः प्राक् कुलाले समवायसम्बन्धेन विद्यत इति तेन यथा कुलालस्य कर्तृत्वसिद्धिस्तथैव विश्वसृष्टौ द्व्यणुकादिरूपकार्यं प्रति उपादानकारणीभूतानां

पृथिव्यादिपरमाणूनाम् अपरोक्षज्ञानम्। तत्परमाणुभ्यः द्व्यणुकाद्युत्पादनेच्छारूपा चिकीर्षा। तदनुकूलः प्रयत्नश्चेत्येतेषां समवायसम्बन्धेन प्रपञ्चं प्रति कर्तृत्वं तेन च ईश्वरस्य सिद्धिः।

2. आयोजनात्– तत्र द्वितीया युक्तिर्भवति आयोजनादिति। अत्रायोजनं नाम आसमन्ताद्योजनं संयोग इत्यर्थः। सृष्ट्यारम्भे (ईश्वरस्येच्छया) परमाणौ क्रिया जायते। क्रियातः विभागः, विभागात् पूर्वदेशसंयोगनाशः, तत उत्तरदेशसंयोगश्च। तेन परमाणुसंयोगेण द्व्यणुकमुत्पद्यते। त्रिभिः द्व्यणुकैः त्र्यणुकं (त्र्यसरेणुः, त्रुटिः) उत्पद्यते। चतुर्भिः त्र्यणुकैश्चतुरणुकं, एवं क्रमेण कपालिका, कपालिकाद्वयं, तत्संयोगेन घट इति महत्पृथिवी च जायते। अयञ्च संयोगः परमाणुद्वयनिष्ठक्रियासापेक्षः। परमाणूनाञ्च अचेतनत्वात् तयोर्मध्ये पुरुषस्याङ्गीकारः कर्तव्यः। स एव ईश्वरः। ईश्वरस्येच्छामात्रेण एव सृष्टिरुत्पद्यते। तदनुमानस्वरूपं च यथा– **"सर्गाद्यकालीनद्व्यणुकारम्भक-परमाणुद्वयसंयोगजनकं कर्म चेतनप्रयत्नपूर्वकम्, कर्मत्वात्, कपालनिष्ठकर्मवदि"**ति। अनेन ईश्वरप्रयत्नमात्रसिद्धावपि तादृशविलक्षणप्रयत्नाश्रयत्वेन ईश्वरस्य सिद्धिः।

3. धृत्यादेः– अत्र धृतिरित्युक्ते धारणमित्यर्थः। आद्यपतनासमवायिकारणत्वस्य गुरुत्वविशिष्टपदार्थस्य अधःपतनाभावे तत्प्रतिबन्धक एव हेतुः। तत्र पतनप्रतिबन्धकानि तु संयोगः, वेगः, विधारकप्रयत्नाश्चेति वर्तन्ते। यथा तत्र शाखालग्नस्य फलस्याधः पतनाभावे संयोगः कारणम्। तथा धनुर्निक्षिप्तस्य शरस्य किञ्चित्कालपर्यन्तमधःपतना-भावे वेगः कारणम्। तथैव आकाशे उड्डीयमानस्य पक्षिणोऽधःपतनाभावे विधारकप्रयत्नः कारणमितिवत् ब्रह्माण्डादीनां गुरुत्वविशिष्टानामधःपतनाभावात् तत्प्रतिबन्धकीभूतस्य विधारकप्रयत्नस्य सत्तात्वमवश्यमङ्गीकर्तव्यम्। तेन तादृशविलक्षणप्रयत्नाश्रयत्वेन च ईश्वरस्य सिद्धिः। अस्यानुमानस्वरूपं यथा– **"पतनाभाववद्गुरुत्वाश्रयः पतनप्रति-बन्धकप्रयत्नप्रयुक्तः, धृतिमत्वात्, आकाशस्थ पक्षिवत्"**[6] इति।

4. प्रलयात्– श्लोके धृत्यादेरित्युक्तं, तत्र आदिशब्देन प्रलयो ग्राह्यः। प्रलयकाले तावत् ब्रह्माण्डस्य नाशः भवति। यथा घटप्रध्वंसं प्रति अस्मदादिना प्रयुक्तदण्डप्रहारादिप्रयत्नः कारणम्। तथा ब्रह्माण्डनाशेऽपि कश्चन प्रयत्नः कल्पनीयः। तादृशब्रह्माण्डस्य नाशक-प्रयत्नश्च अस्मदादिषु अभावात् अनुपलभ्यमानत्वात् च तादृशविलक्षणप्रयत्नाश्रयत्वेन ईश्वरस्य सिद्धिः। तदनुमानस्वरूपं यथा– **"ब्रह्माण्डनाशः प्रयत्नजन्यः, नाशत्वात्, घटनाशवत्"** इति।

5. पदात्– पञ्चमा युक्तिर्भवति पदादिति। "पद्यते गम्यते (ज्ञायते) व्यवहाराङ्गमर्थोऽनेने"ति व्युत्पत्त्या पदशब्देन वृद्धव्यवहारो बोध्यते। तद्यथा लोके घटादिनिर्माणं प्रति कुलाल एव शक्यः। यतो हि तन्निर्माणपद्धतिं स एव सुष्ठु जानाति। तस्यापि तन्निर्माणपद्धतेरज्ञातकाले घटं निर्मातुं न शक्नोतीति तच्छिक्षणार्थं शिक्षकोऽङ्गीक्रियते। तस्यापि शिक्षकान्तर इत्युत्तरोत्तरं गते सति यः प्रप्रथमः शिक्षकरूपेण निश्चीयते स एव ईश्वरः। ईश्वरस्यापि शिक्षकान्तरस्वीकारे च अनवस्था दोषस्यापत्तिः। अतः तेन शिक्षकरूपेण ईश्वरस्य सिद्धिः। तन्निरूपकानुमानाकारस्वरूपं यथा– **"घटादिसम्प्रदाय-व्यवहारः स्वतन्त्रपुरुषप्रयोज्यः, व्यवहारत्वात्, आधुनिकसङ्गीतादिव्यवहारवत्"** इति।

6. प्रत्ययतः– षष्ठतमयुक्तिर्भवति प्रत्ययतः इति। प्रत्ययो नाम प्रामाण्यं विश्वासो वा। वाक्यानां शब्दानां प्रामाण्यं वक्तृगुणसापेक्षं भवति। अतः यवोदात्ताभिमतव्यञ्जकानां वेदवाक्यानां प्रामाण्यमपि तद्वक्तृगुणजन्याद् इति सिद्ध्यति। ईदृश विलक्षणोदात्तगुण-विशिष्टत्वमस्मदादिषु भवितुं नार्हतीति परिभाषातः तदाश्रयत्वेनेश्वरस्य सिद्धिः। अत्रानुमानाकारः यथा– **"वेदवाक्यजन्या प्रमा वक्तृगुणजन्या, प्रमात्वात्, प्रत्यक्षादिप्रमाणवत्"** इति।

7. श्रुतेः– अत्र श्रुतिर्नाम वेदः। वेदोऽपि पौरुषेयः, यथा आयुर्वेदादिकं पौरुषेयं तथा वेदोऽपि पौरुषेयः[7]। तस्य कर्तृत्वेन ईश्वरस्य सिद्धिः। यथा– **"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः"**[8] इत्यादिश्रुतिवाक्यैश्च ईश्वरस्य सिद्धिः। तत्रानुमानस्वरूपं यथा– **"वेदोऽसांसारि-पुरुषप्रणीतः, वेदत्वात्, यन्नैवं, तन्नैवं, यथाकाव्यम्"** इति।

8. वाक्यात्– तत्र वाक्यं नाम पदसमूहः। वाक्यात्मकेषु रामायणमहाभारतेषु वाल्मीकिव्यासादिपुरुषजन्यत्वेन तेषां यथा पौरुषेयत्वं तथैव वेदानामपि ईश्वरप्रणीतत्वात् पौरुषेयत्वं सम्भवत्येव। वेदानां कर्तृत्वमस्मदादिसामान्यपुरुषैरशक्यत्वात् तत्कर्तृत्वेन सर्वज्ञः पुरुष एव भवेत्। अन्यथा वेदे असन्दिग्धरूपेण सर्वविषयप्रतिपाद्यत्वं नोपलभ्येत। अतः तादृशोत्कृष्टवेदनिर्मातृत्वेन ईश्वरस्य सिद्धिः। तदनुमानस्वरूपं च **'वेदः पौरुषेयः वाक्यत्वात्, रामायणवत्'** इति।

9. सङ्ख्याविशेषात्– तत्र **"एकत्वादिव्यवहारहेतुः सङ्ख्या"** [9] इति। परमाणुद्वयनिष्ठा द्वित्वसङ्ख्या। सा च अयमेकः, अयमेकः, इत्याकारिका अपेक्षाबुद्धिजन्या भवति। सेयमपेक्षाबुद्धिः जीवस्य न सम्भवति किन्तु परमाणुद्वये द्वित्वसङ्ख्योत्पादका-पेक्षाबुद्धेराश्रयत्वेन पारिशेष्येण च ईश्वरस्य सिद्धिः। तथा चानुमानस्वरूपं यथा– **'द्व्यणुकपरिमाणजनिका सङ्ख्या अपेक्षाबुद्धिजन्या,**

एकत्वान्यसङ्ख्यात्वात्, द्विघटनिष्ठद्वित्वसङ्ख्यावत्' इत्येवं प्रकारेण ईश्वरसाधकहेतवः सङ्क्षिप्ततया अत्र प्रतिपादिताः।

तथा चोक्तेश्वरसाधकहेतुषु 'प्रत्ययतः, श्रुतेः' इति हेतुद्वयं अन्योन्याश्रय-दोषग्रस्तम्। यथा– 'प्रत्ययतः' इत्यनेन हेतुना ईश्वरोच्चरितत्वेन वेदानां प्रामाण्यमङ्गीकृतम्, 'श्रुतेः' इत्यनेन हेतुना च वेदप्रामाण्यात् ईश्वरसिद्धिरिति अन्योन्याश्रयदोषः सुस्पष्टः इति चेत्, समादधति अविचारितरमणीयत्वात् न इति। तथा हि वस्तुनः विचारः प्रकारद्वयेन कर्तुं शक्यते। **1. ज्ञानदृष्ट्या 2. अस्तित्वदृष्ट्या** च। अस्तित्वदृष्ट्या विचार्यमाणे ईश्वरः प्रथमः। स एव वेदान् अरचयत्। अत एव वेदानां प्रामाण्यमिति। ज्ञानदृष्ट्या विचार्यमाणे तु वेद एव प्रथमो भवति। वेदवचनेन एव ईश्वरज्ञानस्य सम्भवात्। अत एवं विचार्यमाने सति वेदेश्वरयोः मध्ये नोत्पत्तावन्यो-न्याश्रयो नापि ज्ञप्तौ वा दोष इति।

एवं च वेदानामुत्पत्तौ ईश्वरस्य अपेक्षायाः सत्त्वेऽपि ईश्वरोत्पत्तिं प्रति न वेदानां सापेक्षता, यतो हि ईश्वरस्य नित्यत्वाभ्युपगमात्। एवमेव ईश्वरज्ञाने वेदानाम-पेक्षायामपि वेदज्ञाने न ईश्वरस्यापेक्षता, वेदज्ञानं गुरुमुखात् भवितुमर्हत्वात् इति। तच्च माधवाचार्येण प्रतिपादितं यथा– "किमुत्पत्तौ परस्पराश्रयः शङ्क्यते ज्ञप्तौ वा? नाद्यः, आगमस्येश्वराधीनोत्पत्तिकत्वेऽपि परमेश्वरस्य नित्यत्वेनोत्पत्तेरनुपपत्तेः। नापि ज्ञप्तौ, परमेश्वरस्यागमाधीनज्ञप्तिकत्वेऽपि तस्यान्यथाऽवगमात्"[10] इति।

अत्रान्य आक्षेपो भवति, ईश्वरस्य जगत्कर्तृत्वे यथा कुलालस्य शरीरत्वं तथा ईश्वरस्यापि शरीरत्वं स्यात्। यतो हि शरीरं विना कर्मणोऽनुत्पत्तिरिति चेत्?, तत्रायमाक्षेप एव निरर्थक इति खण्डयति। ईश्वरसिद्ध्यनन्तरं यद्ययमाक्षेपः क्रियते तर्हि अयमाक्षेपः ईश्वरसिद्धौ अबाधकः। यदीश्वरसिद्धेः पूर्वमयमाक्षेपः सोऽपि निरर्थक एव। यथोक्तं माधवाचार्येण– "यदीश्वरः कर्ता स्यात्तर्हि शरीरी स्यादित्यादिप्रतिकूलतर्कजातं जागर्तीति चेत्, ईश्वरसिद्ध्यसिद्धिभ्यां व्याघातः"[11] इति।

तत्र पुनरयमाक्षेपो भवितुमर्हति यथा– ईश्वरस्य जगत्कर्तृत्वे प्रयोजनं किम्? यतो हि 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' इति लोके आर्षोक्तेर्दृश्यमानत्वात्, ईश्वरस्य जगत्कर्तृत्वे किमपि प्रयोजनं स्यात् इति। तत्रोच्यते, ईश्वरस्य पूर्णकामत्वेन प्रयोजनासम्भवः। करुणया प्रवृत्तौ सर्वस्यापि जगतः सुखित्वप्रसङ्ग इति चेत्, न; करुणया प्रवृत्तस्यापि ईश्वरस्य सृज्यमानप्राणिनः धर्माधर्मरूपादृष्टसापेक्षत्वान्न वैषम्यनैर्घृण्यदोषापत्तिरिति। तच्च सर्वदर्शनसंग्रहे यथा– **"नास्तिकशिरोमणे! तावदीर्ष्याकषायिते चक्षुषी निमील्य**

परिभावयतु भवान्। करुणया प्रवृत्तिरस्त्येव। न च निसर्गतः सुखमयसर्गप्रसङ्गः। सृज्यप्राणिकृतदुष्कृतसुकृतपरिपाकविशेषात् वैषम्यो-पपत्तेः। न च स्वातन्त्र्यभङ्गः शङ्कनीयः। स्वाङ्गं, स्वव्याघातकं न भवतीति न्यायेन प्रत्युतस्तन्निर्वाहात्"[12] इति।

उपसंहारः–

अनुमानागमेत्येवंविधमीमांसया ईश्वरस्य स्वरूपनिरूपणेन सह ईश्वरस्य जगत्कर्तृत्वे विभिन्नसाधनैः प्रमाणैश्च प्रामाणिकत्वं प्रतिपाद्य तत्स्वरूपं विभिन्नदर्शनेषु केन प्रकारेणाधृतमिति प्रतिपाद्य ईश्वरस्य सिद्धिः न्यायदर्शने न्यायकुसुमाञ्जलिकारेण उदयनाचार्येण प्रमाण-तर्कसाधनोपालम्भैः युक्तियुक्तं सिद्धान्तिता।

सन्दर्भग्रन्थः-

1. न्यायकुसुमाञ्जलिः, महाकवि वसन्तत्र्यंबक शेवडे, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशनम्, वाराणसी, प्रथमसंस्करणम्, 1997
2. सर्वदर्शनसंग्रहः माधवाचार्यकृतः, चौखम्बा विद्याभवनम्, वाराणसी-2012
3. तर्कसङ्ग्रहः, नवटीकोपेतः, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी 1976
4. न्यायभूषणम्, स्वामी योगीन्द्रानन्दः, चौखम्बा विद्याभवनम्, वाराणसी, 2004
5. श्वेताश्वतरोपनिषत्, सानुवादं शाङ्करभाष्यसहितम्, प्रकाशकः- गोविन्दभवनकार्यालयः, गीताप्रेस्-गोरखपुरम्।
6. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, श्रीकृष्णवल्लभाचार्यकृत किरणावलीटीकोपेता, चौखम्बा विद्याभवनम्, वाराणसी, 1972
7. न्यायभाष्यम् गौतमप्रणीतम्, वात्स्यायनभाष्यसहितम्, सुदर्शनाचार्यकृतप्रसन्नपदा-व्याख्योपेता, सं० द्वारिकादासशास्त्री, सुधीप्रकाशनम्, वाराणसी, 1986

---

1. न्या.भा. पृ-29, 1.1.9
2. न्या.भा 4.1.21
3. न्या.कु 1.2
4. न्या.कु 5.1
5. न्या.मु पृ-15
6. जगतां धृतिः साक्षात्परम्परया वा प्रयत्नसाध्या, धृतित्वात्, गगनतलवर्तिखगशरीरधृतिवत्। तद्वदनागतमांसधृतिवत्।
7. न्या.भू पृ-392
8. श्वे.उ 6.11
9. त.सं पृ-52

10. स.द.सं पृ-511

11. स.द.सं पृ-507

12. स.द.सं पृ-510

दर्शनविभागाध्यक्षा,
सहायिकाचार्या, न्यायदर्शनम्,
श्रीसोमनाथसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
वेरावलम् ।

आचार्यधनञ्जयानुसारेण नाट्यं नाट्यवस्तुविमर्शश्च

– डॉ. अरविन्दकुमारपाण्डेयः

(भारतीय नाट्यशास्त्र परम्परा में आचार्य धनंजय का अप्रतिम स्थान है, जिन्होंने दशरूपक नामक अद्वितीय ग्रन्थ की रचना कर रूपकों का विशद विवेचन किया है। आचार्यधनंजयानुसारेण नाट्यं नाट्यवस्तुविमर्शश्च इस शोध पत्र में सर्वप्रथम अवस्थानु- कृतिर्नाट्यम् इस नाट्य लक्षण को व्युत्पत्तिपूर्वक प्रदर्शित कर रूपक का लक्षण व्याख्यायित किया गया है, तदुपरान्त वस्तु, नेता तथा रस इन रूपक भेदकों में वस्तुतत्त्व का विशद विवेचन किया गया है, जिसमें निष्कर्ष रूप में प्रख्यात, उत्पाद्य तथा मिश्र विभाजन को रूपकभेदक के रूप में परिपोषित किया गया है। इसी अवसर पर मुख्य पात्रादि की दृष्टि से आधिकारिक तथा प्रासंगिक कथावस्तु का विभाजन किया गया है, जो कि सामान्य रूप से सभी रूपकों में प्राप्त होती है। इसी अवसर पर योजना की दृष्टि से कथावस्तु का विभाजन प्रस्तुत किया गया है, जिसमें सूच्य तथा अभिनेय कथावस्तु का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया गया है। कथावस्तु के इस विभाजन में नाट्यधर्म के अनुसार सर्वश्राव्य नियतश्राव्य तथा अश्राव्य कथावस्तु का भी सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत किया गया। अन्त में निष्कर्ष रूप में प्रख्यात, उत्पाद्य तथा मिश्र कथावस्तु को रूपक भेदक के रूप में सिद्ध किया गया है, जिसमें प्रख्यात कथावस्तु नाटक, डिम, व्यायोग तथा समवकार आदि रूपकों में प्राप्त होती है। उत्पाद्य कथावस्तु प्रकरण में सम्प्राप्त होती है तथा मिश्र कथावस्तु ईहामृग में प्रयुक्त होती है।)

(भारतीयनाट्यपरम्परायाम् आचार्यधनञ्जयस्य विशिष्टं स्थानं विद्यते। तस्य दशरूपकम् इत्यभिधे ग्रन्थे विविधनाट्यसिद्धान्तानां गहनं विवेचनं प्राप्यते। इदं शोधपत्रं धनञ्जयदृष्ट्या नाट्यस्य नाट्यकथावस्तुनः स्वरूपं तद्वर्गीकरणञ्चाधारीकृत्य वर्तते। अत्र रूपकपर्यायिभूतस्य नाट्यस्य अथ च '**वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः**'[1] इत्यत्र प्रतिपादितेषु रूपकभेदकतत्त्वेषु प्रथमगणितस्य वस्तुतत्त्वस्य विमर्शः कृतो वर्तते। अत्र निष्कर्षे प्रतिपादितं वर्तते यद्–

1. यद्यपि दशरूपके कथावस्तुनः नैकप्रकारेण विभाजनं विद्यते परन्तु रूपकभेदकतत्त्वदृष्ट्या **'प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात्त्रेधापि तत्त्रिधा'**[2] इति वस्तुविभाजनमेव मुख्यम् अस्ति। रूपकाणां भेदकत्वमत्र सरलतया सङ्घटते।
2. आधिकारिकं कथावस्तु, पताका, प्रकरी च सर्वेषु रूपकेषु सामान्येन प्राप्यन्त एव। न्यूनस्थलेष्वेव एषामभावो विलोक्यते।
3. सूच्यमभिनेयञ्चेत्थं विभाजितं कथावस्तु अपि सर्वत्रैव रूपकेषु सामान्येन दृश्यते एव। तथा च योजनादृष्ट्या प्रतिपादितानां सर्वश्राव्यादीनां कथावस्तुभेदानामपि समेषु रूपकेषु सामान्येन प्राप्तिर्भवत्येव। अतश्च प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रभेदेन प्रदर्शितं कथावस्तुविभाजनमेव रूपकभेदकतत्त्वमिति निष्कर्षः।)

कूटशब्दाः–

नाट्यशास्त्रम्, कथावस्तु, धनञ्जयः, दशरूपकम्, नाट्यपरम्परा, रससिद्धान्तः, भरतमुनिः, काव्यम्, धनिकः।

प्रस्तावनाः–

भरतमुनिना नृत्य-नाटक-सङ्गीतादिकलापरम्परां सङ्गृह्य नाट्यशास्त्रं व्यरचि। भारतीयसाहित्यपरम्परायां यद् स्थानं महर्षिव्यासस्य वर्तते तदेव स्थानं भारतीयकलापरम्परायाम् आचार्यभरतमुनेरस्तीत्यत्र नास्ति सन्देहावकाशः। नाट्य-शास्त्रमिदं '**पञ्चमो वेदः**'[3] इति कथ्यते। नाट्यशास्त्रपरम्परामनुसृत्य धनञ्जयेन दशरूपकं निरमायि। दशरूपकं यद्यपि नाट्यशास्त्रसम्बद्धं विषयं संक्षिपति तथापि रसविषये मौलिकचिन्तनमप्याविष्करोति। भरतमुनेः परम्परां धनञ्जयः अग्रे सारयति।

इदं शोधपत्रं भारतीयनाट्यपरम्परायां कथावस्तुनः स्वरूपं महत्त्वञ्च धनञ्जय दृष्ट्या विवृणोति।

अनुसन्धोनोद्देश्यम्–

1. नाट्यकथावस्तुनोः सम्बन्धः दशरूपके केन प्रकारेण प्रतिपादितः? तस्य महत्त्वं किम् इति निरूपणम्।
2. दशरूपके प्रस्तुतस्य नाट्यस्य कथावस्तुनः स्वरूपस्य च विश्लेषणम्। तत्रैव प्रसङ्गे कथावस्तुनः कतिधा केनोद्देश्येन च विभागः धनञ्जयेन कृत इति प्रदर्शनम्।
3. दशरूपके प्रस्तुतानां नाट्यसिद्धान्तानां भारतीयनाट्यपरम्परायां किं स्थानं वर्तते तेषां का प्रासङ्गिकता च वर्तते इति प्रतिपादनम्।

साहित्यसमीक्षा–

अत्र विषये भरतमुनेः नाट्यशास्त्रे, अभिनवगुप्तस्य अभिनवभारतीटीकायाम्, दशरूपके तट्टीकायां च विचाराः प्राप्यन्ते। आधुनिकेषु राधावल्लभत्रिपाठिभिः स्वकीये संस्कृतसाहित्यत्यस्य समग्रेतिहासे विवेचनं कृतं वर्तते। अत्र सर्वमतं विचिन्त्य प्रतिपादनं कृतं वर्तते।

अनुसन्धानपद्धतिः–

अत्र नाट्यशास्त्रदशरूपकयोः सिद्धान्तानां तुलनाप्रसङ्गे तुलनात्मक-शोधपद्धतेः उपयोगः कृतः। भारतीयनाट्यपरम्परायाः ऐतिहासिकं विकासं परिज्ञातुं ऐतिहासिकपद्धत्या प्राचीनग्रन्थानाम् अध्ययनं कृतम्। नाट्यशास्त्रदशरूपकयोः सिद्धान्तानां विश्लेषणप्रसङ्गे विश्लेषणात्मकशोधपद्धतेश्चोपयोगः कृतो विद्यते।

विषयोपस्थापनम्–

अत्र धनञ्जयदृष्ट्या विवेचनं करणीयम् अस्ति। अतश्च सर्वादौ दशरूपक-कारधनञ्जयस्य परिचयः ततः दशरूपकस्य परिचयः प्रस्तूयते।

आचार्यधनञ्जयः–

नाट्यशास्त्रवेत्ता दशरूपककर्त्ता धनञ्जयः विष्णोः पुत्र आसीत्। 'मालवा' इति देशस्य राज्ञः मुञ्जस्य समकालिकोऽयं धनञ्जयः तस्य सभासद् आसीत्। एतत्सर्वं दशरूपके धनञ्जयः स्वयमेव उक्तवान्। तथाहि–

"विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः ।

आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठीवैदग्धभाजा दशरूपमेतत् ।।"[4]

दशरूपकम्–

दशरूपकस्योपजीव्यग्रन्थो भरतमुनिप्रणीतं नाट्यशास्त्रमेव वर्तते। ग्रन्थोऽयं नाट्यशास्त्रज्ञानाय अत्यन्तमुपकरोति। नाट्यशास्त्रीयविषयाणां संक्षेपेण सरलया पद्धत्या च प्रतिपादनमेव ग्रन्थस्यास्य लक्ष्यम्। विशाले नाट्यशास्त्रे स्वल्पधियां मन्दबुद्धीनां मतिभ्रमो जायते, तेन हेतुना तस्य नाट्यशास्त्रस्य अर्थः पूर्वाचार्योक्तशब्दैः अञ्जसा सङ्क्षेपं विधाय अस्य ग्रन्थस्य रचना कृता। तथैवोद्घोषयति ग्रन्थकारः–

"उद्धृत्योद्धृत्य सारं यमखिलनिगमान्नाट्यवेदं विरिञ्चिश्चक्रे
यस्य प्रयोगं मुनिरपि भरतस्ताण्डवं नीलकण्ठः ।
शर्वाणी लास्यमस्य प्रतिपदमपरं लक्ष्म कः कर्त्तुमीष्टे
नाट्यानां किन्तु किञ्चित्प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि ।।"[5]
"व्याकीर्णे मन्दबुद्धीनां जायते मतिविभ्रमः ।
तस्यार्थस्तत्पदैस्तेन संक्षिप्य क्रियतेऽञ्जसा ।।"[6]

अतश्च नाट्यशास्त्रे रूपकप्रसङ्गे प्रतिपादितानां समेषां रूपकतत्त्वानां रूपकभेदकतत्त्वानाञ्च संक्षेपेणैकत्र स्वरूपप्रतिपादनाय आचार्यधनञ्जयेन दशरूपकं प्रणिनाय।

नाट्यम्–

अवस्थानुकृतिः रसाश्रयं नाट्यं, भावाश्रयं नृत्यम्, ताललयाश्रयञ्च नृत्तम् इति भवति। धनञ्जयमते नाट्य-रूप-रूपकशब्दाः पर्यायाः। अवस्थायाः अनुकृतिः नाट्यं भवति। आचार्यधनञ्जयः नाट्यलक्षणम् इत्थं प्रत्यपीपदत्– **'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्'**[7] इति। अस्य आशयं विवृण्वता धनिकेनोक्तम्– **"काव्योपनिबद्धधीरोदात्ताद्यवस्थानुकारश्चतुर्विधाभिनयेन तादात्म्यापत्तिर्नाट्यम्"**[8]। अर्थात् काव्योपनिबद्धायाः धीरोदात्त-धीरोद्धत्त-धीरललित-धीरप्रशान्ताद्यवस्थायाः आङ्गिक - वाचिक - आहार्य-सात्त्विकादिचतुर्विधाभिनयेन पात्रेण सह नटस्य एकरूपत्वप्रतीतिजनकमनुकरणं 'नाट्यम्' इति पदेन कथ्यते। यथा नील-पीतादयो गुणपदार्थाः नेत्रग्राह्यतया 'रूपम्' इति पदेन कथ्यते तथैव चक्षुर्ग्राह्यतया एतन्नाट्यमपि **'रूपम्'** इति पदेनोच्यते। नाट्यस्य रङ्गमञ्चे नटद्वारा अभिनयो भवति, दर्शकाः तम् अभिनयन्तं नाट्यं पश्यन्ति अतः एतन्नाट्यं दृश्यम् इति पदेनापि सम्बोध्यते। तदेव नाट्यं रूपं वा नटे समारोपात् 'रूपकम्' इति कथ्यते। अस्यायमभिप्रायः– यथा रूपकालङ्कारे मुखे चन्द्रस्य आरोपात् मुखचन्द्र इति व्यवहारो जायते तथैव नाट्येऽपि अनुकर्त्तरि नटे रामादिपात्राणाम् अवस्थाविशेषस्य समारोपात् नाट्यमिदं रूपकम् इति नाम्ना ज्ञायते। यथा एकस्मिन्नर्थे प्रवर्तमानस्य 'इन्द्रः पुरन्दरः शक्रः' इति शब्दत्रयस्य प्रवृत्तिनिमित्तको भेदः, तथैव प्रवृत्तिनिमित्तभेदेन एकमेव दृश्यकाव्यम् अवस्थानुकरणेन नाट्यम्, दृश्यतया रूपम्, नटे रामादीनां समारोपात् रूपकं भवति। यथोक्तमाचार्येण–

"अवस्थानुकृतिर्नाट्यम् रूपं दृश्यतयोच्यते ।

रूपकं तत्समारोपात् ।।"[9]

यद्यप्यत्र केचन विद्वांसः नाट्यरूपकयोः भेदमपि स्वीकुर्वन्ति। तदनुसारेण नाट्यं नटकर्म, प्रयोग एव भवति। रूपकन्तु कविकर्मतया काव्यं भवति। यथा वदति आचार्यमहिमभट्टः–

"अनुभावविभावानां वर्णना काव्यमुच्यते ।
तेषामेव प्रयोगस्तु नाट्यं गीतादिरञ्जितम् ।।"[10]

परञ्च सामान्येन रूपकाणां कृते नाट्यपदस्यापि प्रयोगो भवत्येव। रसाश्रितं रूपकं दशधैव भवति। तथाहि ग्रन्थः–

'दशधैव रसाश्रयम् ।'[11]

अत्र एवेत्यवधारणं शुद्धाभिप्रायेण वर्तते तत्तु नाटिकादीन् व्यावर्त्तयति। नाटिका शुद्धरसाश्रिता न भवति। तत्र नाटकप्रकरणयोः साङ्कर्यं वर्तते।

नृत्यनाट्ययोः भेदः–

दशरूपकस्य **'अन्यद्भावाश्रयं नृत्यम्'**[12] इति कारिकाभागं विवृण्वता धनिकेन नृत्यनाट्ययोः चत्वारो भेदाः दर्शिताः। तदनुसारेण नृत्यं भावाश्रितं भवति नाट्यञ्च रसाश्रितम् इति विषयदृष्ट्या तत्र प्रथमो भेदः। नाट्ये चतुर्विधाभिनयो भवति परन्तु नृत्ये आङ्गिक-अभिनयः बाहुल्येन भवतीति स्वरूपदृष्ट्या तत्र द्वितीयो भेदः। नृत्यकर्त्ता 'नर्त्तक' इति पदेन व्यवह्रियते, नाट्यकर्त्ता 'नट' इति पदेनेति कर्तृदृष्ट्या तत्र तृतीयो भेदः। नाट्ये कथनोपकथनश्रवणेन सह दृश्यत्वं विद्यते, किन्तु नृत्ये केवलं दृश्यत्वमेव इति तत्र चतुर्थो भेदः। नाट्यपर्यायभूतानां रूपकाणां मुख्यतया दश भेदाः सन्ति। एते भेदाः दशरूपकम् इति कथ्यते। दशरूपकाणां निर्देशक्रमे आचार्यधनञ्जयः कारिकामिमां प्रस्तौति–

"नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः ।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति ।।"[13]

अत्र जिज्ञासा समुदेति यद् समेषामपि रूपकाणाम् अनुकारात्मकत्वेन अभेदात् तद्भेदस्य आधारः कः? इति। अतः रूपकेषु भेदकारणं प्रतिपादयति धनञ्जयः–

'वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः वस्तु च द्विधा ।'[14]

यद्यपि सर्वेषु रूपकेषु अनुकरणत्वं विद्यते तथापि वस्तु-नेतृ-रसभेदेन तत्र विभागः आवश्यकः। अनया रीत्या वस्तुभेदात्, नायकभेदात्, रसभेदाच्च रूपकाणाम् अन्योन्यं भेदो जायते। तत्र 'वस्तु' (कथावस्तु) इत्यस्य अपरन्नाम 'इतिवृत्तम्' इत्यपि वर्तते। इदन्तु नाट्यस्य शरीरं भवति। तथोक्तं नाट्यशास्त्रे– **इतिवृत्तं तु नाट्यस्य शरीरं परिकीर्त्तितम्**[15] **इति।** रसस्य आलम्बनं नायको भवति स च धीरोदात्त-धीरोद्धत्त-धीरललित-धीरप्रशान्तभेदात् चतुर्विधः। काव्ये श्रृङ्गारादयो नव रसाः भवन्ति नाट्ये च प्रायः अष्टौ एव रसाः स्वीकृताः काव्यशास्त्रिभिः।

कथावस्तुनः मुख्यपात्रादिदृष्ट्या विभाजनम्–

आचार्यधनञ्जयमते आदौ कथावस्तु आधिकारिकं प्रासङ्गिकञ्चेति द्विधा विभज्यते। तत्र द्विप्रकारात्मके वस्तुनि प्रधानभूतम् आधिकारिकं कथावस्तु वर्तते। इदं कथावस्तु नायकेन सह साक्षात्सम्बद्धं भवति। फलेन स्वस्वामिसम्बन्धोऽधिकारः, फलस्य स्वामी च अधिकारी भवति। फलस्वामिना सम्पादितं फलपर्यन्तं नीयमानम् इतिवृत्तं आधिकारिकम् इतिवृत्तमस्ति[16]। प्रासङ्गिकम् इतिवृत्तम् आधिकारिकेतिवृत्तस्य अङ्गं भवति[17]। परार्थस्य यस्य कथावस्तुनः प्रसङ्गात् स्वप्रयोजनसिद्धिरपि भवति तत् प्रासङ्गिकम् इतिवृत्तम् अस्ति[18]। इदं कथावस्तु आधिकारिककथावस्तुनः प्रयोजनाय वर्तते यद्यप्यस्य स्वप्रयोजनमपि भवति परन्तु तन्मुख्यकथावस्तुनः सिद्ध्यर्थमेव वर्तते। यथा रामायणे रामसीतावृत्तान्तः आधिकारिककथावस्तु विद्यते तस्य प्रयोजनं रावणवधसीताप्राप्त्यादि वर्तते तत्रैव सुग्रीवविभीषणादीनां वृत्तान्तः प्रासङ्गिक-कथावस्तु वर्तते। अत्र यद्यपि सुग्रीवकथायाः स्वप्रयोजनं बालिवधः राज्यप्राप्तिश्च विद्यते एवमेव विभीषणकथायाः प्रयोजनमपि राज्यलाभो वर्तते परन्तु उभयोः प्रयोजनं रावणवधसीताप्राप्त्यादिकथावस्तुनः सहायकमेव। प्रासङ्गिकं कथावस्तु रूपकस्य आधिकारिककथाम् अग्रे सारयति। यद्यपि सर्वेषां रूपकाणाम् एतादृशी रचना नैव दृश्यते केषाञ्चिद् रूपकेषु प्रासङ्गिककथावस्तुनः स्थानं न भवति। पताकाप्रकरीभेदात् प्रासङ्गिकं वस्तु द्विविधम्। यत् प्रासङ्गिकं अधिकारिकेतिवृत्तेन सह दूरमनुवर्तते तत् पताका नाम। यत् कथावस्तु किञ्चिद्दूरमेव अनुवर्तते तद्भवति प्रकरी नाम प्रासङ्गिकवृत्तम्। रामायणे सुग्रीवकथा पताका, श्रवणादिकथा च प्रकरी वर्तते। इदमत्र बोध्यम्पताकाप्रकरीमध्ये अयमपि भेदः – पताकानायकस्य किमपि स्वकीयमपि स्वार्थं भवति परन्तु प्रकरीनायकस्य स्वकीयं किमपि स्वार्थं न भवति। उभयोर्मध्ये इयं समानता – उभयमपि कथावस्तु आधिकारिकं कथावस्तु गतिं प्रददाति।

कथावस्तुनः ऐतिह्यादिभेदेन विभाजनम्–

आधिकारिकप्रासङ्गिकभेदेन इतिवृत्तम् आदौ द्विविधमासीत्। ततः प्रासङ्गिकेतिवृत्तस्य पताकाप्रकरीभेदेन द्वैविध्येन सम्प्रति त्रिविधम् अभवत्। एतत्त्रेधा अपि प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात् त्रिविधम्। इतिहासादितः गृहीतम् इतिवृत्तं प्रख्यातम्, कविकल्पितम् इतिवृत्तम् उत्पाद्यम्, प्रख्यातोत्पाद्याभ्यां मिश्रितम् इतिवृत्तञ्च मिश्रं भवति। पुनः एतानि दिव्यमर्त्यदिव्यादिव्यादिभेदेन बहुविधानि भवन्ति। अनया रीत्या कथावस्तुनः आनन्त्यमस्ति। धर्मार्थकामाः इतिवृत्तफलं तथा च एतत्फलमपि त्रिविधम् – एकानुबन्धि, द्वयानुबन्धि, त्र्यनुबन्धि च[19]। एवं फलदृष्ट्याऽपि इतिवृत्तस्य नैकविधत्वं प्रतिपादितमाचार्येण।

योजनादृष्ट्या कथावस्तुनः पुनः विभाजनम्–

रूपकाणां मुख्यमुद्देश्यं रसास्वादनं वर्तते किन्तु कथावस्तुनः समे विषयाः सरसाः न भवन्ति । अतः नाट्ये कतिपये विषयाः तादृशाः अपि भवन्ति येषां रङ्गमञ्चोपरि प्रदर्शनम् अवाञ्छनीयं भवति। एतद्दृष्ट्या धनञ्जयः प्रकारान्तरेण

कथावस्तुनः विभाजनं चकार। तदनुसारेण तस्य भेदद्वयम् – 1. सूच्यम् 2. अभिनेयम्। यथोक्तमाचार्येण–

"द्वेधा विभागः कर्त्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुनः ।
सूच्यमेव भवेत्किञ्चिद् दृश्यश्रव्यमथापरम् ।।"[20]

अत्र ये वृत्तांशाः नीरसाः, येषाञ्च अधिमञ्चं प्रदर्शनमनुचितं ते सूच्याः एवञ्च मधुरोदात्तरसभावनिरन्तराः वस्तुविस्तरास्तु दृश्याः, तेषामेव मञ्चे प्रदर्शनं करणीयम्। तथा च श्लोकः–

"नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः ।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तरः ।।"[21]

अत्र रसान्वितानां मुख्यघटनानामन्तर्भावः दृश्यकथावस्तुनि भवति तथा च नीरसानां विस्तृतघटनानामन्तर्भावः सूच्यकथावस्तुनि भवति। आचार्यधनञ्जयमते सूच्यकथावस्तुनः निदर्शनमित्थं कर्तुं शक्यते–

सूच्यकथावस्तु–

सूच्यं कथावस्तु पञ्चभिः अर्थोपक्षेपकैः विष्कम्भक-प्रवेशक-चूलका-अङ्कास्य-अङ्कावतारैः संसूच्यते[22]। अत्र यद्यपि सर्वे एव अर्थोपक्षेपकाः सूच्यवस्तुसंसूचकाः, परञ्च एतेषां मध्ये पात्रदृष्ट्या कथानकदृष्ट्या च भेदः प्राप्यते। अतश्च धनञ्जयमते रूपकेषु पञ्च अर्थोपक्षेपकाः भवन्ति। एतेषां क्रमेण लक्षणमित्थं कर्तुं शक्नुमः–

विष्कम्भकः–

आचार्याभिनवगुप्तेन **"विष्कम्भयति उपस्तम्भयतीति विष्कम्भः"** [23] इतिव्युत्पत्त्या अभिनवभारत्यां विष्कम्भकस्वरूपं प्रदर्शितम्। अतः नाट्ये अतीतानां भाविनाञ्च कथांशानां निदर्शकः मध्यमेन मध्यमाभ्यां पात्राभ्यां वा प्रयोजितः सङ्क्षेपार्थः विष्कम्भकपदेन व्यवह्रियते [24] । आचार्यधनञ्जयमते पात्रदृष्ट्याऽयं विष्कम्भकः द्विविधो भवति - शुद्धः सङ्कीर्णश्च। तत्र एकेन द्वाभ्यां वा मध्यम-पात्राभ्याम् अभिनीतः विष्कम्भकः शुद्धो भवति तथा च मध्यमाधमपात्रै-र्युगपत्प्रयोजितः विष्कम्भकः सङ्कीर्णो भवति[25]। अत्रेदं ज्ञेयम्– नाटकपात्राणां त्रिधा विभाजनं वर्तते – 1. उत्तमः 2. मध्यमः 3. अधमश्च। अत्र राजा, मन्त्री, पुरोहितादयः उत्तमपात्राणि सन्ति, एते सदा संस्कृतमेव भाषन्ते। चौरः, व्याधः, सेविका, सेवकः, सैनिकादयो अधमपात्रेष्वन्तर्भवन्ति। एते प्राकृतभाषया व्यवहरन्ति। एतदतिरिच्य पात्राणि मध्यमश्रेण्यामागच्छन्ति। अत्र शिक्षितपात्राणि संस्कृतम्, अशिक्षितपात्राणि च शौरसेनी-प्राकृतभाषां वदन्ति।

प्रवेशकः–

नाट्यलक्षणग्रन्थेषु प्रवेशकशब्दस्य **"प्रवेशयति पात्राणि रङ्गमिति प्रवेशकः"[26], अप्रत्यक्षानर्थान् सामाजिकहृदये प्रवेशयतीति प्रवेशकः** [27] इति व्युत्पत्तिः प्राप्यते। विष्कम्भकवदेव अतीतानां भाविनां च कथावयवानाम् अनुदात्तोक्त्या ज्ञापकः

नीचपात्रप्रयोजितः अङ्कद्वयस्य अन्तः शेषार्थस्योपसूचकः अर्थोपक्षेपकः प्रवेशको भवत[28]। नाट्ये युद्ध-मरणादीनाम् अप्रत्यक्षयोग्यवस्तूनां सूचना प्रवेशकमाध्यमेन दातव्या[29]। प्रथमाङ्के प्रवेशकस्य प्रयोगः न क्रियते। प्रवेशकस्य भाषा संस्कृतन्न भवति। प्रवेशके प्राकृतभाषयाः प्रयोगो जायते।

चूलिका–

नाट्ये अन्तर्जवनिकासंस्थैः नेपथ्यपात्रैः अर्थसूचनं चूलिका भवति[30]। नाट्यशास्त्रानुसारेण यत्र नेपथ्ये स्थितैः सूत-मागधबन्दिभिः कस्यचिदर्थस्य सूचनं क्रियते सा चूलिकेति[31]।

अङ्कास्यम्–

वक्ष्यमाणाङ्कार्थसूचनाय अङ्कान्ते एव प्रविष्टं पात्रमङ्कान्तपात्रम्। अङ्कान्तपात्रैः छिन्नाङ्कस्य (विश्लिष्टस्योत्तराङ्कमुखस्य) अर्थसूचनम् अङ्कास्य-मिति भवति। यथोक्तमाचार्यधनञ्जयेन–

'अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात्।'[32]

अङ्कावतारः–

यदा नाट्ये पूर्वाङ्ककथायाः अविच्छेदे सति प्रविष्टपात्रम् अङ्कान्तरकथां सूचयति, तदा अङ्केऽवतरित्वात् अङ्कावतारः अर्थोपक्षेपको भवति। तथाहि दशरूपके–

'अङ्कावतारस्त्वङ्कान्ते पातोऽङ्कस्याविभागतः।'[33]

आचार्यधनञ्जयेन प्रतिपादितस्य अङ्कावतारलक्षणस्य व्याख्यानं कुर्वन् धनिकेनापि लक्षणस्यास्य समर्थनं कृतम्। यथोक्तं तत्र–

"यत्र प्रविष्टपात्रेण सूचितमेव पूर्वाङ्काविच्छिन्नार्थतयैव अङ्कान्तरमापतति प्रवेशकविष्कम्भादिशून्यं सोऽङ्कावतारः"[34]।

नाट्यधर्मदृष्ट्या कथावस्तुविभाजनम्–

आचार्यधनञ्जयेन नाटकीयसंवाददृष्ट्या नाट्यधर्मदृष्ट्या वा कथावस्तुनः भेदत्रयं प्रतिपादितम् – सर्वश्राव्यम्, नियतश्राव्यम्, अश्राव्यञ्च। तत्र सर्वश्राव्यं प्रकाशपदेन कथ्यते, अश्राव्यं तु स्वगतम् इति पदेन प्रतिपाद्यते। नियतश्राव्यस्य भेदद्वयम् – 1. जनान्तिकम्, 2. अपवारितञ्च। तथा च श्लोकः–

"नाट्यधर्ममपेक्ष्यैतत्पुनर्वस्तु त्रिधेष्यते।
सर्वेषां नियतस्यैव श्राव्यमश्राव्यमेव च।।
सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतं मतम्।
द्विधाऽन्यन्नाट्यधर्माख्यं जनान्तमपवारितम्।।"[35]

जनान्तिकम्–

कथाम् अन्तरा त्रिपताकाकरेण अन्यान् अपवार्य जनान्ते यत् अन्योन्यामन्त्रणं भवति, तज्जनान्तिकमिति [36]। त्रिपताकास्वरूपं नाट्यशास्त्रे इत्थं निरूपयन्ति भरतमुनयः–

"पताके तु यदा वक्राऽनामिका त्वङ्गुलिर्भवेत्।
त्रिपताकः स विज्ञेयः कर्म चास्य निबोधतः।।"[37]

अपवारितम्–

यत्र किमपि पात्रं परावृत्त्य अन्यस्य गोप्यवार्त्तां कथयति तादृशः संवादः अपवारितम् इति कथ्यते। अतश्च परावृत्त्यान्यस्य रहस्यकथनम् अपवारितम् इति। यथोक्तं दशरूपके–

"रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्त्यापवारितम्।"[38]

आकाशभाषितम्–

नाट्यधर्मप्रसङ्गे नियतश्राव्यादीनां विवेचनानन्तरमाचार्यधनञ्जयेन प्रसङ्गात्प्राप्तस्य आकाशभाषितस्य स्वरूपमपि प्रदर्शितम्। भाणरूपके संवादाः आकाशभाषितरूपेणैव भवन्ति, यतो हि तत्र एकमेव पात्रं भवति। आकाशभाषितस्य प्रयोगः रूपकेषु बाहुल्येन भवति। यदा अन्यपात्रं विना एकः अनुक्तमपि श्रुत्त्वा इव यत् 'एवं किं ब्रवीषि' इत्यादि ब्रवीति तत् आकाशभाषितं भवति[39]।

अर्थप्रकृतयः–

आचार्येण धनञ्जयेन वस्तुतत्त्वस्य स्वरूपं प्रतिपादयता नाट्ये प्रयुक्तस्य कथावस्तुनः क्रमपूर्वको विभागः अपि प्रतिपादितः। यत्र कथायाः क्रमः पञ्चसु सन्धिषु प्रविभक्तः। इमे पञ्चसन्धयः अर्थप्रकृति-कार्यावस्थयोः क्रमशः सम्मेलनेन सम्भवन्ति। तत्र प्रत्येकं नाटकादौ मुख्यकथावस्तुनः नायकस्य किमपि लक्ष्यं भवति, तदेव फलम् इति कथ्यते। तत्र फलसिद्धिहेतव एव अर्थप्रकृतयः। नाट्ये पञ्च अर्थप्रकृतयः भवन्ति। ताश्च–

"बीजबिन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणाः।
अर्थप्रकृतयः पञ्च ता एताः परिकीर्त्तिताः।।"[40]

पञ्च अवस्थाः–

फलं लक्ष्यीकृत्य नायकः यद्व्यापारं करोति तस्य व्यापारस्य विभिन्नाः अवस्थाः कार्यावस्था इति कथ्यन्ते। यथोक्तं दशरूपके–

"अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः।
आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः।।"[41]

अर्थात् नाट्ये मुख्यफलप्राप्त्यर्थं नायकस्य आरम्भ-यत्न-प्राप्त्याशा-नियताप्ति-फलागमाख्याः पञ्च अवस्थाः भवन्ति।

पञ्च सन्धयः

इतिवृत्तं नाट्यस्य शरीरम्। कविः इतिवृत्तस्य सुसम्बद्धां सुव्यवस्थितां योजनां करोति। नाट्यशास्त्रानुसारेण इतिवृत्तस्य विभाजनं पञ्च सन्धीन् आधारीकृत्य भवति। एतासां सन्धीनां 64 अङ्गान्यपि सन्ति। नाट्ये प्रयुक्ताः पञ्च सन्धयस्तु इमाः–

"अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः ।।
यथासङ्ख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च सन्धयः ।
अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति ।।
मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहृतिः ।"[42]

अर्थात् नाट्ये प्रयुक्तायाः कथायाः योजनामुख-प्रतिमुख-गर्भ-अवमर्श-उपसंहृति -नामकसन्धिषु यथाक्रमं भवति। सर्वेषु रूपकेषु समस्तानां सन्धीनाम् अथवा सन्ध्यङ्गानां प्रयोगो नावश्यकः। एतेषां 64 सन्ध्यङ्गानां षट् प्रयोजनानि सन्ति–

"उक्तानां चतुःषष्टिः षोढा चैषां प्रयोजनम् ।
इष्टस्यार्थस्य रचना गोप्यगुप्तिः प्रकाशनम् ।।
रागः प्रयोगस्याश्चर्यं वृत्तान्तस्यानुपक्षयः ।"[43]

अर्थात् नाट्ये इष्टार्थस्य रचना, गोप्यांशानां गोपनम्, प्रकाश्यार्थानां प्रकाशनं, अभिनेयरागवृद्धिः, अभिनेय-चमत्कारित्वं, वृत्तान्तस्य विस्तारश्च सन्ध्यङ्गानां प्रयोगफलमिति।

इत्थमाचार्येण धनञ्जयेन विस्तरेण दशरूपकस्य प्रथमप्रकाशे वस्तुतत्त्वस्य स्वरूपं विभागश्च सोदाहरणं प्रदर्शितम्।

निष्कर्षः–

दशरूपककारेण प्रयोगवैशिष्ट्येनैव रूपकनाट्ययोः पार्थक्यं प्रदर्शितम्, वस्तुतस्तु उभयोरेवैक्यं मन्तव्यम्। कथावस्तुप्रसङ्गे यद्यपि दशरूपकग्रन्थे कथावस्तुनः नैकविधं विभाजनं प्रस्तुतमाचार्येण, परन्तु **'वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः'**[44] इत्यत्र भेदकतत्त्वदिशा **'प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात्त्रेधापि तत्त्रिधा'**[45] इति वस्तुविभाजनमेव मुख्यम् अस्ति। रूपकाणां भेदकत्वमत्र सरलतया सङ्घटते। तथाहि आधिकारिकं पताका प्रकरी च कथा सर्वेषु रूपकेषु सामान्येन प्राप्यते एव, यत्र कुत्रचिदेव पताकाकथायाः उत वा प्रकरीकथायाः प्राप्तिर्न भवति। एवमेव सूच्यमभिनेयञ्चेत्थं विभाजितं कथावस्तु अपि सर्वत्रैव रूपकेषु सामान्येन दृश्यते एव। योजनादृष्ट्या प्रतिपादितानां सर्वश्राव्यादीनां कथावस्तुभेदानामपि समेषु रूपकेषु सामान्येन प्राप्तिर्भवत्येव। अतश्च प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रभेदेन प्रदर्शितं कथावस्तुविभाजनमेव रूपकभेदकतत्त्वमिति निष्कर्षः। एतदर्थमेव आचार्यधनञ्जयेनापि रूपकलक्षणेषु प्रख्यातादिकथावस्तुनः एव समुल्लेखः कृतः। तत्र प्रख्यातकथा नाटक[46]-डिम[47]-व्यायोग[48]-समवकारादिनामकेषु[49] रूपकेषु भवति। एवमेव उत्पाद्यकथा प्रकरणनामके[50] रूपके प्राप्यते तथा च मिश्रकथा ईहामृगनामके[51] रूपके सम्भवति। इत्थं वस्तुतत्त्वस्य प्रख्यातोपातपाद्यमिश्रत्वमितिविभाजनमेव रूपकभेदकतत्त्वमिति ।

सन्दर्भग्रन्थः-

1. महिमभट्टः, व्यक्तिविवेकः, व्याख्याकारः- आचार्यरेवाप्रसादद्विवेदी, प्रकाशकः- चौखम्भा-संस्कृतसीरीज, वाराणसी, 1964
2. धनञ्जयः, दशरूपकम् (अवलोकसहितं चन्द्रकलाहिन्दीव्याख्योपेश्च), व्याख्याकारः- आचार्यभोलाशङ्करव्यासः, प्रकाशकः- चौखम्भाविद्याभवनम्, वाराणसी, द्वितीयं संस्करणम्, 1958
3. शारदातनयः, भावप्रकाशः, व्याख्याकारः- डॉ. मदनमोहन-अग्रवालः, प्रकाशकः- चौखम्भा-सुरभारतीप्रकाशनम्, वाराणसी, द्वितीयं संस्करणम्, 1983
4. रामचन्द्र-गुणचन्द्रविरचितम्, नाट्यदर्पणम्, व्याख्याकारः- लालचन्द्रभगवानदासगाँधी, प्रकाशकः- ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बडौदा, 1929
5. सागरनन्दी, नाटकलक्षणरत्नकोशः, व्याख्याकारः- श्रीबाबूलालशुक्लः- प्रकाशकः-चौखम्भा-संस्कृतसीरीज-ऑफिस, वाराणसी, 1972
6. भरतमुनिः, नाट्यशास्त्रम्, सविवरणभाषानुवादसहितम्, अनुवादकः- भोलानाथशर्मा, प्रकाशकः- साहित्यनिकेतनम्, कानपुरनगरम्, 1954
7. नाट्यशास्त्रम्, अभिनवगुप्तकृतविवृतिसमेतम्, सम्पादकः- एम. रामकृष्णकविः, प्रकाशकः- ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बडौदा, 1934

---

1. दशरूपकम्, 1-11
2. दशरूपकम्, 1-15
3. सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रवर्त्तकम्।
   नाट्याख्यं पञ्चमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम्।। (नाट्यशास्त्रम्, 1-15)
4. दशरूपकम्, 4-86
5. दशरूपकम्, 1-4
6. दशरूपकम्, 1-5
7. दशरूपकम्, 1-7
8. दशरूपकम्, 1-7, धनिकवृत्तिः
9. दशरूपकम्, 1-7
10. व्यक्तिविवेकः, प्रथमः विमर्शः, पृष्ठम् - 102
11. दशरूपकम्, 1-7
12. दशरूपकम्, 1-7
13. दशरूपकम्, 1-7
14. दशरूपकम्, 1-10
15. नाट्यशास्त्रम्, 19-1
16. अधिकारः फलस्वाम्यम्, अधिकारी च तत्प्रभुः।
    तन्निर्वृत्तमभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम्।। दशरूपकम्, 1-12
17. तत्राधिकारिकं मुख्यम् अङ्गं प्रासङ्गिकं विदुः। दशरूपकम्, 1-11
18. प्रासङ्गिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः। दशरूपकम्, 1-13
19. प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात् त्रेधाऽपि तत् त्रिधा। प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम्।।
    मिश्रञ्च सङ्करात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदतः। कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च।।
    दशरूपकम्, 1/15-16
20. दशरूपकम्, 1-56
21. दशरूपकम्, 1-57
22. अर्थोपक्षेपकैः सूच्यं पञ्चभिः प्रतिपादयेत्।

विष्कम्भचूलिकाङ्कास्याङ्कावतारप्रवेशकैः ।। 1-58
23. नाट्यशास्त्रम्, अभिनवभारती, 18-54
24. वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
सङ्क्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः।। दशरूपकम्- 1-59
25. एकानेककृतः शुद्धः, सङ्कीर्णो नीचमध्यमैः। दशरूपकम्- 1-60
26. नाट्यलक्षणरत्नकोशः, पृ. सं. 32
27. नाट्यदर्पणः, पृ. सं. 57
28. तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः।
प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्तः शेषार्थस्योपसूचकः।। दशरूपकम् 1/60-61
29. भावप्रकाशः, सप्तमोऽधिकारः, पृ. सं. 314
30. अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना। दशरूपकम्, 1-61
31. अन्तः पटीमध्यगतैः सूतमागधबन्दिभिः।
अर्थोपक्षेपणं यत्र क्रियते सा हि चूलिका। नाट्यशास्त्रम्, 19-107
32. दशरूपकम् , 1-62
33. दशरूपकम् , 1-62
34. दशरूपकावलोकम्, 1-62
35. दशरूपकम्, 1/63-64
36. त्रिपतकाकरेणान्यानपवार्यान्तिरा कथाम्।
अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम्।। दशरूपकम्, 1/65-66
37. नाट्यशास्त्रम्, 09-28
38. दशरूपकम्, 1-66
39. किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत्।
श्रुत्वानुक्तमप्येकस्तत् स्यादाकाशभाषितम्।। दशरूपकम्, 1-67
40. दशरूपकम्, 1-18
41. दशरूपकम्, 1-19
42. दशरूपकम्, 1/22-24
43. दशरूपकम्, 1/54-55
44. दशरूपकम्, 1-11
45. दशरूपकम्, 1-15
46. तत्प्रख्यातं विधातव्यं वृत्तमत्राधिकारिकम्। दशरूपकम्, 3-24
47. डिमे वस्तु प्रसिद्धं स्याद्वृत्तयः कौशिकीं विना। दशरूपकम्, 3-57
48. ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः ख्यातोद्धतनराश्रयः। दशरूपकम्, 3-60
49. कार्यं समवकारेऽपि आमुखं नाटकादिवत्।
ख्यातं देवासुरं वस्तु निर्विमर्शास्तु संधयः।। दशरूपकम्, 3-62-63
50. अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्यं लोकसंश्रयम्। दशरूपकम्, 3-39
51. मिश्रमिहामृगे वृत्तं चतुरङ्कं त्रिसन्धिमत्। दशरूपकम्, 3-72

प्रवक्ता संस्कृत,
राजा हरपाल सिंह इण्टर कालेज, सिंगरामऊ जौनपुर (उ.प्र.)।
दूरवाणी संख्या – 9451107651,
ईमेल - arvindpandeysvdv@gmail.com

तिरश्चां विषये कालिदासस्य रसाभिव्यक्तिः

– लक्ष्मणजीतिवारी, शोधच्छात्रः
– डॉ. नीरजतिवारी, शोधनिर्देशकः

(महाकविकालिदास की अमर कृतियों में वर्णित पशुपक्षियों के प्रसंग में रसाभिव्यक्ति का विवेचन है। संस्कृतसाहित्य के क्षेत्र में नवीन ज्ञान की वृद्धि हेतु कवि की दृष्टि में पशुपक्षियों का प्रकृति के साथ सम्बन्ध एवं रसाभिव्यक्ति को आधार मानकर यह आलेख प्रस्तुत किया गया है।)

प्रस्तावनाः–

संस्कृतसाहित्यं निखिलभाषासाहित्येषु विशालतममस्ति। संस्कृतवाङ्मयं द्विविधं वैदिकं लौकिकञ्च। वैदिकवाङ्मये ऋग्वेदप्रभृतयो ग्रन्थाः सन्ति। लौकिकसंस्कृत-साहित्यस्य परम्परा आदिकवेः वाल्मीकेरारभ्य इदानीं यावत् अविच्छिन्ना विद्यते। साम्प्रतिकेऽस्मिन् विज्ञानप्रधानयुगे साहित्याध्ययनेऽपि जनानां मनः तर्कप्रधानमेव दृश्यते। संस्कृतकाव्यशास्त्रेषु तिरश्चां विषये बहुषु स्थलेषु दीर्घवर्णनं वैज्ञानिकरहस्य-मौचित्यञ्च प्राप्यन्ते। भारतीयसाहित्ये विशेषतः काव्यशास्त्रे षड् संप्रदायाः प्रचलिताः सन्ति। रसालंकाररीतिवक्रोक्तिध्वन्यौचित्यादयः एतेषां प्रवर्तकाः क्रमेण भरतभाम-हवामनकुन्तकानन्दवर्धनक्षेमेन्द्रादयः सन्ति। रस आस्वादे इत्यस्मात् धातोः अच् प्रत्यये कृते निष्पन्नो यं रसशब्दः आस्वादस्नेहाद्यर्थे प्रचलितो विद्यते। कोऽयं रसः कुतागतः किं चास्य इतिहासः इति जिज्ञासायामाह यत् संस्कृतवाङ्मयस्य प्राचीनतमं साहित्यत्वेन विद्यते ऋग्वेदः, ऋग्वेदे शब्दोऽयं मधुसोमजलगोक्षीराद्यर्थे प्रचलितो विद्यते। आदिवेदे समुट्टङ्कितं विद्यते **"स्वादू पेयो मधुपेयोवराय"**[1] अथ च **"जोवः शिवतमो रसः"** इत्येतेषु मन्त्रेषु अयं रसशब्दः लौकिकालौकिक उभयार्थे दृश्यते। कर्मकाण्डप्रधाने शुक्लयजुर्वेदे **"नमो वः पितरो रसाय"** इत्युक्त्वा पितरं स्तौति मुनिः गान्धर्ववेदे **"अन्नात्परिश्रुतो रसं ब्रह्मणः"** इति ब्रह्माणं रसत्वेन व्यवह्रियते। अन्तिमे अथर्ववेदे च **"या रसस्य वर्णस्य"** इत्यादि प्रयोगेन इदमायातं यत् तत्त्वार्थेऽपि रसशब्दस्य प्रयोगः दृश्यते। वेदानन्तरं सर्वप्राचीनरूपेण विद्यन्ते उपनिषदः तत्रापि बाहुल्येन रसशब्दस्य उपस्थितिर्दृश्यते। बृहदारण्योपनिषद्कठोपनिषत्तैत्तिरीयोपनिषत्सु **"प्राणो वा अंगानां रसः" "येन रुपं रसो गन्धम्" "रसो वै सः"** इत्यादिरुपे रसस्योपस्थितिरस्ति। ब्राह्मणादिग्रन्थेष्वपि

बाहुल्येन शब्दोऽयं विकीर्णो वर्तते। संस्कृतसाहित्यस्योपजीव्यग्रन्थयोः रामायण-महाभारतयोरपि रसशब्दप्रसक्तिः दृश्यत एव।

रामायणे यथा–

पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम् ।
जातिभिः सप्तभिर्बद्धं, तन्त्रीलयसमन्वितम् ।।
रसैः श्रृंगारकरुणहास्यरौद्रभयानकैः ।
वीरादिभिश्च संयुक्तं काव्यमेतदगायताम् ।।[2]

श्लोकेस्मिन् काव्यशास्त्रीयरसशब्दस्य साक्षात् प्रयोगः समुपलभ्यते। निर्वचनशास्त्रे निरुक्तेऽपि यास्काचार्येण समुद्घाटितं यत् जलतुषारपयः किरणादिष्वर्थे शब्दोऽयं प्रयुज्यते। मुखशास्त्रं व्याकरणम् रसास्वादनस्नेहनयोः चुरादिगणीयधातुं मूलत्वेनोपस्थापयति। व्याकरणशास्त्रीय रसप्रयोगस्यार्थः सोमरूपमधुररसगंधपर-मात्माद्यर्थेषु समुदीरितः अस्ति। यदि-शब्दस्यास्य निष्पत्तिर्पश्यामः चेत् रसति, रसयति वा रसः जलाद्यर्थे प्रसिद्धः। रसनं रसः श्रृंगारादि रसास्वाद्यर्थम् अभिव्यनक्ति। रस्यते अनेन इति रसः इति निष्पत्या गुणादयः अर्थत्वेन आयान्ति। स्वास्थ्यशास्त्रे आयुर्वेदेऽपि प्रसिद्धे चरकसंहिताग्रन्थे रसशब्दस्य उपलब्धिरस्ति। यथा–

रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा ।
स्वादुरम्लोऽथ लवणः कटुकस्तिक्त एव च ।
कषायश्चेति षट्कोऽयं रसानां संग्रहः स्मृतः ।।[3]

अमरसिंहविरचिते अमरकोशे रसशब्दस्य विवेचनं प्राप्यते ते विभिन्नार्थे रसशब्दं समुपस्थापयन्ति। यथा–

रूपं शब्दो गन्धरसस्पर्शाश्च विषया अमी ।।
तिक्तोऽम्बलश्च रसाः पुंसि तद्धत्सुषऽमी त्रिषु ।।
श्रृंगारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः ।।[4]

प्रस्तुतेस्मिन् श्लोके श्रृंगारवीर्यगुणरागादि विषयेषु रसशब्दः परिकल्प्यते।

नाट्यशास्त्रकर्ता भरतमुनिः स्वशास्त्रे भणति यत् **"विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद् रसनिष्पत्तिः"** इति अथ च **"नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते" "अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः"** इत्यादिकं लिखितं वर्तते। विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः इत्यस्मिन् सूत्रे वर्णितानां प्रत्येकपदानां क्रमेण विवरणमपि नाट्यशास्त्रे साहित्यदर्पणादिषु च अस्त्येव नाट्यशास्त्रे यथा–

बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः ।

अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः ।।[5]

अत्र इदं स्पष्टीभवति यत् विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति एते पर्यायवाचिनः शब्दाः सन्ति। अनेन माध्यमेन वाचिकाङ्गिकसात्विकाभिनयाः विभाविताः भवन्ति। **"विभाव्यन्तेऽनेन वागङ्गसत्वाभिनया इत्यतो विभावः"**। अस्मात् कारणात् अयं विभाव इति संज्ञया व्यवह्रियते।

इदानीं क्रमः वर्तते अनुभावस्य अनुभावविषयेऽपि उक्तमस्ति यत् लोके यत् कार्यम् भवति सैव काव्ये नाटके च अनुभावपदेन गृह्यते। अस्य लक्षणमपि नाट्यशास्त्रकर्त्रा भरतेन प्रदत्तं विद्यते यत्–

वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते ।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ।।[6]

अर्थात् वागङ्गाभिनयेन यत्र अर्थः अनुभाव्यते सः अनुभावः इति। **"अनुभाव्यन्तेऽनेन वागङ्गसत्त्वकृतोऽभिनय इति"** अनेन वाचिकाङ्गिकसात्विकाभिनयाः अनुभाविताः भवन्ति अनुभूतियोग्याश्च भवन्ति, अतः अस्य अनुभाव इति संज्ञा अस्ति। बहवः काव्यशास्त्रिणः कथयन्ति यत् अनुभावः क्रिया इति, अर्थात् या क्रिया विभावादिमाध्यमेन भवति सा क्रिया अनुभावत्वेन गृह्यते।

सूत्रे तृतीयमस्ति व्यभिचारिभावः अस्मिन् विषयेऽपि नाट्यशास्त्रकारः वदति यत्– **"विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः"**। **"वागङ्सत्त्वोपेताः प्रयोगे रसान्नयन्तीति व्यभिचारिणः"** अर्थात् ये विविधप्रकारैः रसानां प्रति सोन्मुखीभूय सञ्चरन्ति ते व्यभिचारिणः भवन्तीति। ये वाचिकाङ्गिकसात्विकाभिनयैः युक्तस्सन् प्रयोगेषु रसान्नयन्ति ते व्यभिचारिणः। समासेन इदं वक्तुं शक्यते व्यभिचारिभावः रसान् प्रतीतियोग्यं कुर्वन्ति। साहित्यदर्पणेऽपि व्यभिचारिभावस्य लक्षणमस्त्येव। यथा–

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः ।।[7]

इदानीं क्रमः वर्तते स्थायिभावस्य। स्थायिभावस्य लक्षणं नाट्यशास्त्रे क्रियते। यथा–

यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः ।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह ।।[8]

अर्थात् सर्वभावानां भावत्वेन स्थायिरुपेण च विद्यमानो भवति स्थायिभावः। स्थायिभाव इव सर्वदा सर्वेषु भावेषु संपृक्तो भवति। साहित्यदर्पणे यथा–

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः ।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति संमतः ।।[9]

अतः एतैः चतुर्भिः मिलित्वा रसमुद्भावयन्ति इति रसोद्भावनप्रक्रिया। मूलतः भरतोक्तः रस एव आत्माभिप्रेतः, तस्या एव परिभाषायाः विस्तारः काव्यप्रकाशकर्त्रा मम्मटेनापि चतुर्थोल्लासे कृतम्। यथा–

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ।।
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ।।[10]

रससूत्रस्य व्याख्यातृरुपेण चत्वारः आलोचकाः चर्चिताः सन्ति। तेषां नामानि भट्टलोल्लटशंकुकभट्टनायकाभिनवगुप्ताः इति ते क्रमशः उत्पत्यनुमितिभुक्त्यभि-व्यक्तिवादप्रवर्तकाः सन्ति। अस्य रसशास्त्रस्य लक्ष्यग्रन्थाः महाकाव्यनाटकादयः सन्ति।

तेन कालिदासग्रन्थेषु रसाभिव्यक्तिविषयं चर्चितुं कालिदासनिर्मितकाव्ययात्रां करोमि। संस्कृतसाहित्यस्य अन्यतमः प्रतिभावान् कविः कालिदासः। संस्कृतजगति कोऽपि नास्ति येन प्रथितयशसः अस्य कालिदासस्य नाम न श्रुतम्। कालिदासः इत्यनेन न केवलं व्यक्तिः द्योत्यते अपि तु प्राचीनभारतीयसंस्कृतेः सुवर्णयुगोपि परिप्रकाश्यते। यस्य च संस्कृतयुगस्य मूर्तप्रतीकस्वरुपः महाकविः, परन्तु दुःखस्य विषयः यत् प्राचीनसाहित्यस्य विषये यावती स्पष्टतास्ति तावती स्पष्टता महाकवेः देशकालकृतिविषये नास्ति। भारतवर्षस्य कस्यां नगर्यां कालिदासस्य जन्म अभवत् तद्विषये तु विवादस्य अन्तः एव नास्ति। महाकवेः जीवनवृत्तिविषये अनेकाः लोकविश्रुतयः अनेके वादाः च सन्ति। केचन एनं विक्रमादित्यस्य सभायां कविः इति मन्यन्ते। केचित् गुप्तकालीननरेशानाम् आश्रयं प्राप्तवानिति कथयन्ति। कालिदासस्य कृतयः कति सन्ति इत्यस्मिन् विषये अपि मतविरोधः अस्ति। तथापि बहूनां विदुषां मतानुसारेण कवेः सप्त कृतयः सन्ति। तद्यथा द्वे महाकाव्ये रघुवंशकुमारसंभवे, खण्डकाव्यद्वयं ऋतुसंहारं मेघदूतञ्च, नाटकत्रयं अभिज्ञानशाकुन्तलम्, मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम् चेति। महाकविः स्वकाव्येषु पशूनाम्, पक्षिणाम्, नदीनाम्, निर्झराणाम्, मनुष्याणाम्, देवानाञ्च मनोज्ञं वर्णनमकरोत्। महाकविरयं तिरश्चां यथा भावपूर्णवर्णनं विदधाति तथा कर्तुं कोप्यन्यः कविः नालं भवति। महाकवेः नाटकं वा भवतु महाकाव्यं वा भवतु खण्डकाव्यं वा भवतु तत्र सर्वत्र पशुपक्षिणां वर्णनं बहुलतया प्राप्यते। सर्वप्रसिद्धाभिज्ञानशाकुन्तले मृगाणां प्रति

आश्रमवासिनां वात्सल्यं वाजिनः प्रति सूतस्य वत्सलता अन्ये च बहवः विषयाः अस्माकं मनसि विशिष्टप्रकारकम् आनन्दं जनयन्ति। बहुत्र पशुभिस्सह मनुष्याणां वार्तालापं दर्शं-दर्शं प्रेक्षकाः आनन्द-तुन्दिलाः भवन्ति। वात्सल्यरसस्य अथ च रसभावस्य द्योतना सर्वत्र दरीदृश्यते।

विषयप्रवेशः–

मृगविषये भयानकरसः–

महाकविकालिदासप्रणिताभिज्ञानशाकुन्तलस्य प्रथमाङ्के दुष्यन्तद्वारा अनुगम्यमानमृगस्येयं स्थितिः भयानकरसं जनयति। यथा–

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम् ।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद् वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ।।[11]

अस्मिन् श्लोके स्वभावोक्तिः अलंकारः एवञ्च स्रग्धराछन्दः वर्तते। श्लोकेनानेन मृगस्य सात्विकतया याथार्थ्यं प्रकटीचकार। महाकविकालिदासेनोक्तं यत् भयावस्थायां तिरश्चां स्थितः कीदृशं भयानकमुपस्थापयति इति विस्तरेण वर्णितं विद्यते। रसाभिव्यक्तिविषये यदि चिन्तनं कुर्मः चेत् आगमिष्यति यदत्र स्यन्दनासीनो दुष्यन्तः आलम्बनविभावत्वेन वर्तते। तस्य शरसन्धानस्थितिः स्यन्दनावेगः सूतद्वारा रश्मि-निवारणादयः उद्दीपनविभावत्वेन सन्ति। धावन् मृगः अनुभावो दर्भावकीर्णनं ग्रीवाभंगत्वं इत्यादयः। श्रममरणभयस्वेदरोमाञ्चदीर्घनिश्वासादयः व्यभिचारिभावत्वेन वर्तन्ते। अतः श्लोकेस्मिन् विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगेन मृगस्य हृदि भयनामकः स्थायिभावः समुद्दीप्तः तेन भयानकरसस्य प्रतिपुष्टिः जाता। अतः वक्तुं पारयामः यदस्मिन् श्लोके भयानकरसः परिपुष्टिमगात्।

मृगविषये करुणरसः–

कालिदासोपस्थापिते समाजे मानवानां तिरश्चां च संबन्धः मधुरापन्नः आसीत् इति बहुधा वर्णनेन प्रतीयते। पुराकाले अभयारण्यपरम्परा इमामेव स्थितिं द्योतयति यत् मनुष्याः पशुपक्षिणां कृते स्वपुत्रवत् स्निह्यन्ति स्म उदाहरणत्वेन कालिदासवर्णिता-भिज्ञानशाकुन्तलस्य चतुर्थाङ्के प्रस्थानवेलायां मृगस्य व्यापारविशेषं द्रष्टुं शक्नुमः। यथा–

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे ।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते ।।[12]

समुपस्थापितेस्मिन् श्लोके रसस्याभिव्यक्तिः एवं प्रकारेण विद्यते, यत् शकुन्तलायाः वात्सल्यं मृगं प्रति अथ च मृगस्य प्रेम शकुन्तलां प्रति। अतः अत्र परस्परम् आलम्बनविभावत्वेन शकुन्तलामृगे विद्येते। अरण्यस्य तात्कालीनस्थितिः तत्रस्थानां जनानां मुखवैवर्ण्यम् उद्दीपनविभावत्वेनास्ति। शोकचिन्तारोमाञ्चादयः संचारि-भावत्वेन समुपस्थाय रसं प्रतिपुष्णन्ति अत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् श्रृंगारस्थायिभावसंयोगाच्च श्रृंगाररसभावस्य केषाञ्चन आचार्याणां मते तु वात्सल्यप्रभृतिः रसः भवति।

विविधतिर्यग्विषयकः श्रृंगाररसः–

महाकविकालिदासोद्भाविते विशिष्टे खण्डकाव्ये मेघदूतेऽपि रसाभिव्यक्तिस्तु अस्त्येव तस्मिन् रसाभिव्यक्तौ बाहुल्येन तिरश्चां योगदानं दृश्यते। ते बारं-बारं मेघमार्गे आगत्य रसं परिपोषयन्ति अथ च वात्सल्यप्रेमादिमाध्यमेन कथायां नावीन्यम् आनयन्ति। तत्संबद्धं प्रकरणमेकं मेघदूतस्य पूर्वमेघोक्तद्वाविंशतितमे श्लोके यदा यक्षः मेघमार्गं वर्णयति। यथा–

नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केसरैरर्धरुढैः
आविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीश्चानुकच्छम् ।
जग्ध्वारण्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाघ्राय चोर्व्याः
सारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम् ।।[13]

अस्मिन् श्लोके मन्दाक्रान्ता छन्दः वर्तते। समुदीरितेस्मिन् श्लोकविशेषे रसाभिव्यक्तिचिन्तने प्रविशामश्चेत् विभावे आलम्बनविभावत्वेन मेघः दरीदृश्यते। अथ च मेघं प्रति भ्रमरादयः आलम्बनादयः सन्ति। तथा कदम्बकेशराः वनस्पतिः उद्दीपनविभावरूपेण आयाति। अनुभावदर्शनवेलायां भ्रमराणां गुञ्जनं मृगाणां चर्वणं गजानाम् आघ्राणञ्च कार्यत्वेन वर्तन्ते। रसाभिव्यक्तिश्रृंखलायां तृतीयत्वेन वर्तते व्यभिचारिभावः तर्हि अत्र हर्षश्रममोहौत्सुक्यामर्षादयः प्रभाविरूपेण सन्ति। एतेषां विभावादीनां साकल्येनोपस्थाय स्थायिभावरुपां रतिं परिपोष्य श्रृंगारविशिष्टं रसभावमत्र उपस्थापयन्ति।

गोविषयकवात्सल्यभावः–

महाकविकालिदासग्रथितेऽप्रतिमे महाकाव्ये रघुवंशेऽपि तिरश्चामाश्रित्य रसप्रकटनं पदे-पदे दृश्यते। कामधेनोः पुत्री नन्दनी वा भवतु सिंहो वा भवतु वन प्रसङ्गे च अन्ये तिर्यञ्चः वा भवन्तु ते सर्वेऽपि काव्ये आगत्य काव्यशोभामभिवर्ध्य रसं पुष्टीकुर्वन्ति, तेन साधारणेस्मिन् महाकाव्ये असाधारण्यमागच्छति। अस्य

द्वितीय-सर्गस्थस्य त्रिषष्टितमश्लोकस्य भावमेव द्रष्टुं शक्नुमः। यत्र नन्दिनी रघुवंशप्रदीपं दिलीपं प्रति स्ववचनवात्सल्यं प्रकटीकरोति। यथा–

भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च प्रीतास्मि ते पुत्र वरं वृणीष्व ।
न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुधां प्रसन्नाम् ।।[14]

समुद्धृतेस्मिन् श्लोके दिलीपसेवया प्रसन्ना नन्दिनी निश्छलहृदयेन दिलीपं प्रति वक्ति यत् यथा योग्यं पुत्रम् आप्नुहि सा कथयति, यत् मां केवलं पयसां प्रसूतिमतीमेव मा जानीहि। अहं इदानीं तव सर्वाः अभीप्सितकामनाः पूरयितुं सिद्धास्मि। श्लोकेस्मिन् विभावत्वेन रघुवंशमणिः दिलीपः वर्तते, तस्यैव सेवया नन्दिन्यां हर्षस्थितिरियं आगतास्ति। अथ च रोमाञ्चहर्षसाध्वादिमुद्रादयः अनुभावत्वेन विराजन्ते। हर्षावेगगर्वाश्च व्यभिचारिभावेनोपस्थाय रसं अभिव्यंजयन्ति। अतः अत्र विभावानु-भावव्यभिचारिसंयोगानन्तरं विस्मयस्थायिभावस्य विशेषोपस्थित्या अद्भुतरसं हृदयगोचरी भवति।

तिरश्चां विषये श्रृंगाररसः–

अस्ति कश्चिद्वाग्विशेषः प्रसिद्धेयमुक्तिः कालिदासस्य ग्रन्थानां मंगलाचरण-विधानपूर्वकमस्ति यत् प्रतिपदं एकस्य ग्रन्थस्य प्रारम्भः तैरकारि तेनैव क्रमे अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मेति श्लोकांशेन कुमारसंभवाख्यस्य महाकाव्यस्य प्रारम्भो जातः कालिदासाः प्रकृतिकवयः आसन्, इत्यत्र न विदो विवदन्ते। अतः तेषां प्रत्येककृतिषु प्रकृतीनां पशुपक्षिणां तिरश्चां च वर्णनमागच्छत्येव। अत्रापि बहुधा रसोद्भावसमर्थाः तिर्यञ्चः दृश्यन्ते। महाकाव्यस्यास्य तृतीयसर्गे षट्त्रिंशत्सप्तत्रिंशत्तमे च श्लोके तिरश्चां माध्यमेन रसोत्पत्तिर्दृश्यते। यथा–

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्त्तमानः ।
श्रृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ।।
ददौ रसात्पङ्कजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः ।
अर्द्धोपभुक्तेन बिसेन जायां संभावयामास रथाङ्गनामा ।।[15]

अत्र वसन्तागमनस्य वर्णनमस्ति, यत् मधुमासागमनेन तिरश्चां स्थितिः कथं परिवर्त्यते इत्यस्य स्थितिः उपस्थाप्यते कालिदासेन। तेनोक्तं यत् मधुमासप्रभावेण भ्रमरहरिणहस्तीत्यादयः तिर्यञ्चः स्वभाविकतया प्रेमस्थितिम् आपुः। ते प्रेमप्रकट-नव्याजेन स्वस्त्रीपात्रेण सह एकीभूय कण्वादिक्रियाविशेषं चक्रुः। रसं मध्ये उपस्थाप्य यदि पर्यालोचनं कुर्मश्चेत् भ्रमरभ्रमर्यौ, हरिणहरिण्यौ, हस्तिहस्तिन्यौ, चक्रवाकचक्रवाकिन्यौ परस्परम् आलम्बनविभावरुपेण सन्ति। अथ च वसन्तातिरेकः पद्मसुगन्धादयः उद्दीपनकारणत्वेन वर्तन्ते। तथा च मधुपानस्पर्शसुखानन्दानु-भूतिकण्डूतीत्यादयः अनुभावाः सन्ति। व्यभिचारिभावाः

के इति जिज्ञासायामाह धृतिहर्षगर्वौत्सुक्यादयः व्यभिचारिभावाः श्रृंगाररसमत्र प्रकटीकुर्वन्ति। साकल्येन पश्यामश्चेत् भ्रमरादयः सुगन्धादयः आनन्दानुभूत्यादयः हर्षादयः च सर्वे मिलित्वा संभोगश्रृंगाररसं रतिस्थायिभावसहकारेण आयान्ति। अतोत्र श्रृंगाररसप्रकटनं तिरश्चां माध्यमेन अस्ति।

निष्कर्षः–

अतः निष्कर्षरुपेण इदमायातं यत् उपर्युक्तेषु सर्वेषु उदाहरणेषु महाकवि-कालिदासः तिरश्चामवलम्ब्य विशिष्टमेकं चमत्कारगर्भितरसस्य अनुभवं कारयति। तिरश्चां स्वाभाविकवर्णनद्वारा तेषां स्वभावोक्तेः उपस्थापनद्वारा च कालिदासः रसमुपस्थापयति। येन सहृदयाः तिरश्चां विषये सुचिन्तनं कुर्वन्तः तेषां रतिं चानुभवन्ति। रतिप्रभावात् लोकः तिरश्चां विषये सद्भावको भूत्वा तान् स्वकमेव चिन्तयन् रक्षिष्यन्ति च विभिन्नोदाहरणमाध्यमेन तैः कदाचित् श्रृंगाररसस्य कदाचित् भयानकरसस्य कदाचिच्च रसभावादेः उपस्थापनेन अस्मान् सर्वान् मोमुद्यन्ते। उपरोक्तवर्णनेन इदं ज्ञायते यत् कालिदासः बारं-बारं रसविजृम्भणे तिरश्चामव-लम्बयत्येव येन तस्य काव्यगुम्फनं सर्वातिशायि भूत्वा काव्यजगति प्रतिष्ठितमस्ति।

संदर्भग्रन्थः-

1. ऋतुसंहार, कालिदासः, चौखम्बाविद्याभवन, 2006
2. कुमारसम्भवम्, कालिदासः, चौखम्बाविद्याभवन, 2012
3. मालविकाग्निमित्रम्, कालिदासः, चौखम्बाविद्याभवन, 2000
4. विक्रमोर्वशीयम्, कालिदासः, चौखम्बाविद्याभवन, 2004
5. मेघदूतम्, कालिदासः, चौखम्बाविद्याभवन, 2001
3. रघुवंशमहाकाव्यम्, कालिदासः, चौखम्बाविद्याभवन, 2000
7. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, कालिदासः, चौखम्बाविद्याभवन, 1999
8. अमरकोशः, अमरसिंहः, चौखम्बाविद्याभवन, 1999
9. परिजातकोशः, ईश्वरचन्द्रः, परिमलपब्लिकेशन, दिल्ली, 2005
10. वाचस्पत्यम्, तारानाथवाचस्पतिः, रा.सं.सं. नई दिल्ली, 2002
11. शब्दकल्पद्रुमः, राजाराधाकान्तदेवः, रा.सं.सं. नई दिल्ली, 2002
12. संस्कृतहिन्दीकोषः, वामनशिवराज आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, 2007

---

1. ऋग्वेदः, 6.4.44.21
2. रामायण 1.2.18.40.42
3. चरक संहिता, 1.64
4. अमरकोश, पंक्ति 291.235.2789
5. नाट्यशास्त्र, 7.4
6. नाट्यशास्त्र, 7

7. साहित्यदर्पणः, 3.140
8. नाट्यशास्त्रम्, 7.8
9. साहित्यदर्पणः, 3.174
10. काव्यप्रकाशः, 4.27.28
11. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1.7
12. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 4.14
13. मेघदूतम्, 1.22
14. रघुवंशम्, 1.63
15. कुमारसंभवम्, 3.36.37

शोधच्छात्रः
संस्कृतसाहित्यविद्याशाखा,
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
लखनऊपरिसरः, लखनऊ (उ.प्र.)।
दूरवाणी संख्या - 6394704697
ईमेल – laxmantiwari671@gmail.com

शोधनिर्देशकः
संस्कृतसाहित्यविद्याशाखा,
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
लखनऊपरिसरः, लखनऊ (उ.प्र.)।

भूमेः स्वरूपम् (ज्योतिषदृष्ट्या)

– डॉ. चन्द्रश्रीपाण्डेय

(भूमि के स्वरूप को लेकर सांख्य वैशेषिक स्मृति पुराण आदि शास्त्रों की भाँति ही ज्योतिष शास्त्र में भी गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया है। ज्योतिषीय मान्यता के अनुसार भूमि समतल न होकर गोल है। हम मनुष्य आकार में छोटे होने के कारण इसे समतलाकार समझते हैं। भास्कराचार्य के अनुसार 'ब्रह्माण्डजठरे पद्माकारामही' अर्थात् पृथिवी ब्राह्माण्ड के मध्य में स्थित है। भूपृष्ठ के चारों ओर मानव, दानव, वन, उपवन आदि उसी प्रकार सुशोभित हैं जिस प्रकार कदम्बपुष्प ग्रन्थि के चारों ओर केसर। गोल परिभाषा के मत में 'स्वशक्त्या भूमिगोलोयं निराधारोस्ति खेस्थितः' अर्थात् भूमि अपनी आकर्षण शक्ति के आधार पर आकाश में स्थित है और इसी शक्ति के आधार पर पर्वत वृक्षादि पर स्थित है। प्रस्तुत शोध पत्र में भूमि के स्वरूप की मीमांसा ज्योतिषीय मतों के आलोक में की गयी है।)

भारतीयानां ज्ञानागारं वेदाः एव सन्ति। वेदस्य प्रमुखस्याङ्गस्य ज्यौतिषशास्त्रस्य यज्ञयागादिकर्मसम्पादनाय कालस्य निर्धारणमेव प्रमुखो विषयोऽस्ति। कालनिर्धारणे ग्रहपिण्डानां प्राधान्यं वर्तते। अभीष्टकाले दिग्देशग्रहताराणां निर्धारणमेको गूढतमो विषयोऽस्ति। विषयेऽस्मिन्नस्माकमाचार्याः बहुकालादेव सम्यक् ज्ञानार्थं संलग्ना आसन्। तेषामेव सततसाधनयानेकेषां विषयाणां वैज्ञानिकोप-पत्यात्मकानि विवेचनानि प्राप्तानि यस्य यथामति मया स्वरूपं निरूप्यते।

कस्यापि पिण्डस्याकृतेः प्रकृतेश्च तस्य स्वरूपज्ञानं भवति। यतोहि दूरदर्शन-वायुयान-राकेटादीनां यन्त्राणामाविष्कारस्तु साम्प्रतमेव जातस्तर्हि पुरा वैदिककाले कथं भूमेराकृतिविषये समीचीनं ज्ञानमभवत्। प्रसङ्गेऽस्मिन्नस्माकं वैदिकवैदिकेतर-साहित्येषु सुव्यवस्थितं वर्णनं सर्वत्र दरीदृश्यते। सर्वप्रथमं वेदाः एव भूमेर्वर्तुलत्वं प्रतिपादयन्तीति। पृथिवी गोलाकारेति सिद्धान्तोऽतिप्राचीनः ऋग्वेदसंहितायामस्य विषयस्य चर्चा अनेन प्रकारेण मिलति–

यथा– **चक्रणासः परीणाहं पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुम्भमाना ।**
न हिम्वानासस्तितिरुस्त इन्द्रं परीस्पर्शो अदधत् सूर्येण ।।[1]

आकृत्याऽपि सूर्योदयस्य असमकालत्वात् पृथिव्यां समतलत्वं निराकृतमस्ति।

यथा– **आप्रारजांसि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देवः कृणुतेस्वायधर्मणे ।**
प्रबाहु अस्राक सविता सवीमनि निवेशयन् प्रसुवन्ननक्तभिर्जगत् ।।[2]

एवमेव गोपथब्राह्मणेऽप्यनेकानि वाक्यानि दृश्यन्ते। पुराणेष्वपि सर्वत्र भूमेस्तादृशमेव विवेचनं वर्तते। ज्योतिषशास्त्रेऽपि प्रमाणपुरस्सरं भूमेर्वर्तुलत्वं प्रतिपाद्यन भूमिसम्बन्धिनोऽन्ये विषया अपि विवेचिताः सन्ति। सर्वैरेव ज्योतिर्विद्भि-गोलाकारत्वं प्रमाणपुरस्कारं स्वस्वग्रन्थेषु प्रदर्शितम्। भूगोल इति शब्दः भुवो गोलत्वं प्रकटयति। भास्कराचार्येण भूर्वर्तुलाकारा कथिता–

भूमेः पिण्डः शशाङ्कज्ञकविरविकुजेज्यार्किनक्षत्रकक्षा
वृतैर्वृतो वृतः सन् मृदनिलसलिलव्योमतेजोमयोऽयम् ।
नान्याधारः स्वशक्त्यैव वियतिनियतं तिष्ठतीहास्य पृष्ठे
निष्ठं विश्वं च शश्वत्सदनुजमनुजादित्यदैत्यं समन्तात् ।।
सर्वतः पर्वतारामग्रामचैत्यचयैश्चितः ।
कदम्बकुसुमग्रन्थिः केसरप्रसरैरिव ।।[3]

योऽयं मृदनिलसलिलव्योमतेजोमय इति पाञ्चभौतिको भूमेः पिण्डो वृत्तो वर्तुलाकारस्तद्बहिःस्थैः शशाङ्कादिकक्षावृतैरावृत्तः सन्नन्याधारस्वशक्त्यैव नियतं निश्चितं वियत्याकाशे तिष्ठति तत्पृष्ठनिष्ठं च जगत्। सदनुजमनुजादित्यदैत्यम्। दनुजा दानवाः मनुजा मानवाः आदित्या देवाः। दैत्या असुराः तैः समेतैः समन्तात् तिष्ठति। परिदृश्यमानो भूगोलः कदम्बकुसुमकेशरकलापैरिव समन्तात् पर्वतैश्चैत्यैर्मनुष्यैर-सुरैर्देवगणैश्च वेष्टितो वर्तते। एवञ्चायं चन्द्रबुधशुक्रसूर्यभौमगुरुशनिनक्षत्राणाञ्च कक्षावृतैः परिवृत्तो लक्ष्यते। अर्थाच्चन्द्रादयो ग्रहाः सनक्षत्रा भूमेरुपर्युरि सदा परिभ्रमन्ति सूर्यसिद्धान्तानुसारेण ग्रहाणां भ्रमणव्यवस्था–

ब्रह्माण्डमध्ये परिधिर्व्योमकक्षाऽभिधीयते ।
तन्मध्ये भ्रमणं भानामधोऽधः क्रमशस्तथा ।।
मन्दामरेज्यभूपुत्रसूर्यशुक्रेन्दुजेन्दवः ।
परिभ्रमन्त्यधोऽधःस्थाः सिद्धाविद्याधरा घनाः ।।[4]

एतत् प्रागुदितं ब्रह्माणाधिष्ठितं हैममण्डं सुषिरं छिन्द्रमनन्तरावकाशं तत्ताकाशे भूर्भुवादिकमिदं विश्वम्। कटाहद्वितयस्य सम्पुटमिव ब्रह्माण्डं गोलाकृतिः। व्यासस्योपरि समन्ताद् वृत्तार्धभ्रमणेन यत् क्षेत्रं स एव गोलो गोलको वा तद्वदाकृतिरिवाकृतिर्यस्य तदिति। ब्रह्माण्डसस्य मध्ये कटाहद्वितयस्य सन्धौ परिधिः सा व्योमकक्षा अभिधीयते इति।

तस्य मध्ये भानां नक्षत्राणां भ्रमणकक्षा तथा क्रमशोऽधोऽधः शनिगुरुभौम-सूर्यशुक्रबुधचन्द्रा भ्रमन्ति। तेषामधोऽधः स्थिताः सिद्धविद्याधरा घना मेघाश्च

तिष्ठन्ति। अर्थादूर्ध्वक्रमेण भूमेरुपरि चन्द्रस्ततो बुधस्ततः शुक्रस्ततो रविस्ततो भौमस्ततो गुरुस्ततः शनिस्ततो नक्षत्राणां च कक्षा वर्तते। भूमेरुपरि चन्द्रादधः सिद्धविद्याधरा मेघाश्च भवन्ति। सम्प्रति सिद्धमिदं विविधप्रयोगैर्यच्चन्द्रो भुवं परितो भ्रमति तथा सूर्यं परितः क्रमेण बुधशुक्रभूमिभौमगुरुशनिग्रहा भ्रमन्तीति। ततः परं नक्षत्राणां स्थिति: वर्तते। अनेन इदं सिद्धं–

वृत्तभयञ्जरमध्ये कक्षापरिवेष्टितः खमध्यगतः ।
मृज्जलशिखिवायुमयो भूगोलः सर्वतो वृत्तः ।।[5]

प्राचीनमतेन सर्वे ग्रहा भुवं परितः परिभ्रमन्तीति परमेषां ग्रहाणां कक्षा मध्ये भुवः स्थितिर्नास्ति यथोक्तं श्रीमता भास्करेण– 'यमस्मिन् वृते भ्रमति खचरो नास्ति मध्ये कुमध्ये।[6]

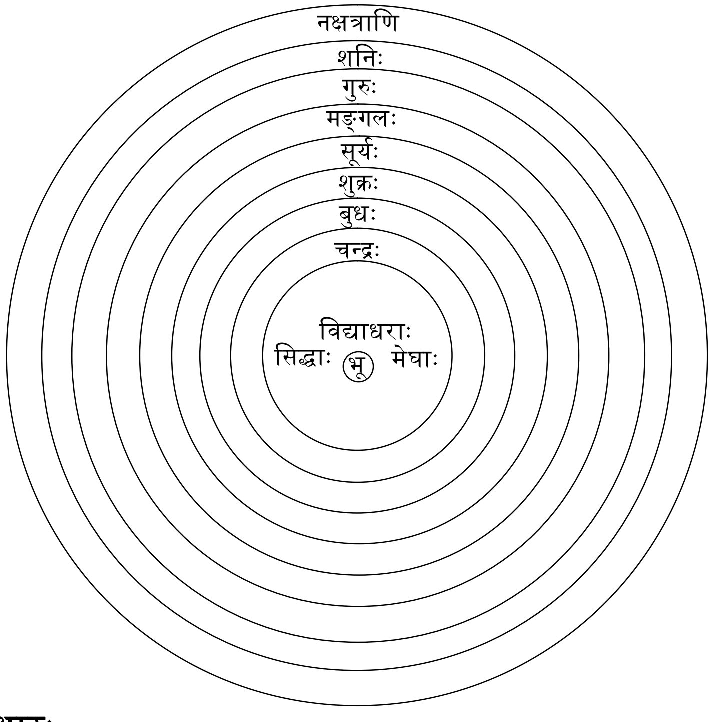

भूमेराधारः–

प्रायशः सर्वेषां पदार्थानां कश्चन आधारोऽस्माभिर्दृश्यते। इयं पृथिवी कुत्र स्थिता वर्तते अस्या आधारश्च कः इति स्वभाविकी जिज्ञासा। अस्याः समाधानं पुराणेषु वर्तते। इयं पृथिवी शेषनागस्य सहस्रफणानामुपरि स्थिता वर्तते।

परमत्रापि जिज्ञासा समुद्भवति यत् शेषनागस्य क आधारः। तत्रैवं कल्प्यते शेषः सूर्यः सहस्रकिरण: सूर्यस्य सहस्ररश्मय एवाधारः।

वस्तुतो ज्योतिषशास्त्रे भूमेराधारकल्पना एव नास्ति, तत्र स्पष्टमेवोल्लिखितं वर्तते यद् भूमिर्निराधारः आकाशे वर्तते।

यद्यस्याधारः कश्चित् कल्प्यते, तर्हि तस्याप्याधारः कल्पनीयः। एवमनन्ताधारकल्पनायामनवस्थादोषो भवति। यद्यन्तिमाधारे काचिद् विशिष्टा शक्तिः कल्प्यते तर्हि सा विशिष्टा शक्तिः पृथिव्यामेव कथं न कल्पनीया। भास्करेण उक्तं

मूर्तो धर्ताचेद्धरित्र्यास्ततोऽन्यस्तस्याप्यन्योऽस्यैवमत्रानवस्था।
अन्त्ये कल्प्या चेत् स्वशक्तिः किमाद्ये किं नो भूमेः साष्टमूर्तेश्मूर्तिः।।[7]

भुवस्य आधारविषये उक्तश्चाभिज्ञानशाकुन्तलनाटकस्य मङ्गलाचरणे कविकुलगुरुणा कालिदासेन–

प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः।[8]

अत इयं भूर्निराधारा आकाशे स्वशक्त्या तिष्ठति। भुव आकर्षणप्रभावादेव खस्था गुरुपदार्था भूमौ आकृष्टा भवन्ति। यथोक्तं भास्करेण–

आकृष्टशक्तिश्च महीतया यत् खस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत्पततीव भाति समे समन्तात् क्व पतत्वयं खे।।[9]

अस्माकं दृष्ट्या अयमेवाचार्य आकर्षणप्रभावस्य प्रथम आविष्कारकः। यस्मिन् समयेऽनेनास्याः शक्तिर्ज्ञानमाविष्कृतं तस्मिन् समये पाश्चात्यदेशेष्वाकर्षण-शक्तेश्चर्चाऽपि नासीत्।

महदाश्चर्यमाविष्कृतमनेन अनन्तरं पञ्चशतवर्षानन्तरं सप्तदशशताब्द्यां सर आइजकन्यूटनमहोदयेनाऽप्यस्याकर्षणशक्तेश्चर्चा कृता। मूलसिद्धान्तो भास्करस्य परमस्य श्रेयः न्यूटनं प्रति गच्छति। भुवमधिकृत्य भास्करस्य ज्ञानं तदानीन्तने कालेऽतीवश्लाघनीयमासीत्। परमस्मिन् विषये बौद्धानां मतमस्ति यद् भूरधोऽधः सततं पतति। परमाकाशे निराधारा भूमेः स्थितिरुक्तशङ्कां निवारयति। अनेनैको महत्त्वावहः सङ्केतोऽपि वर्तते यद् भूमेरधः पतनं स्वीकृत्य बौद्धा भूमेर्गतिं प्रतिपादितवन्तः, स्वकक्षायामस्या भ्रमणमेवाधोपतनमिव भाति। बौद्धानामपि समीचीनः पक्षः यथोक्तम्–

भयञ्चरस्य भ्रमणावलोकादाधारशून्या कुरिति प्रतीतिः।
खस्थं न दृष्टं च गुरूक्षमातः रवेऽधः प्रयातीति वदन्ति बौद्धाः।।[10]

बौद्धजैनग्रन्थयोः केचन सिद्धान्ता इदानीमप्रासङ्गिकाः सन्ति परं तत्रापि किञ्चित् वैशिष्ट्यमवलोक्यते, अयमेव सिद्धान्त आर्यभट्टस्याप्यासीत् तेनोक्तम्–

यथा नौस्थो द्रष्टा नावं गच्छन्तीमपि न वेत्ति परं तीरस्थं वृज्ञादिकं गच्छन्तमवलोकयति तथैव भूस्थो द्रष्टा सूर्यादीन् ग्रहान् नक्षत्राणि च पश्चिमाभिमुखं गच्छन्तम् अवलोकयति अत्र प्रसङ्गाद् भास्करेण जैनमतमुपस्थापयता भूमेरधोपतनं–

भूः रवेऽधः खलु यातीति बुद्धिबौद्धं मुधा कथम् ।
जाता यातं तु दृष्ट्वापि रवे यत्क्षिप्तं गुरुक्षितिम् ।।[11]

भूमेर्गोलत्वनिर्धारणम्–

भूगोलविषये पुराकाले विदुषां भिन्नभिन्नानि मतान्यासन्। केषाञ्चनमते इयं पृथिवी समतलाकारा, केषाञ्चनमते कूर्मपृष्ठाकारा, केषाञ्चनमते कमलपुष्पाकारा, केषाञ्चनमते कपित्थफलवद् गोलाकारा, कपित्थाकार भूगोलमध्यगो मेरुः पर्वतः एवं कदम्बपुष्पनिचयग्रन्थिसमं कथितम्, बहुसम्मता च गोलाकारा वर्तते। पृथिवी गोलाका इति सिद्धान्तोऽतिप्राचीनः।

पृथिव्या: गोलाकारत्वमेव न केवलं प्राचीनैः अपितु आधुनिकज्योतिर्विद्भिः अपि सुप्रमाणितम्।

भारतीयगणकानामनुसारेण पृथिव्या गोलत्वे भ्रमत्वं नासीत्। गोलत्वविषये भास्कराचार्यसदृशानां सर्वेषां भारतीयाचार्याणां मतमेकमेवासीत्–

अल्पकायतया लोकाः स्वस्थानात् सर्वतोमुखम् ।
पश्यन्ति वृत्तमप्येतां चक्राकारां वसुन्धराम् ।।[12]

भूमेर्गतिसमीक्षाः–

भारतीयासु विद्यासु प्राचीनतमो ज्ञानागारे वेदे भूमेश्चलत्वं स्थिरत्वं वा इति विचारणीयविषयो नास्ति परमाचार्यैर्ज्ञानिद्वारा भूमेः स्थिरत्वं प्रतिपादितं स्वकीयग्रन्थे।

बहुषु स्थलेषु पुराणेष्वपि भूमिः स्थिरा इत्यपि प्रतिपादितं वर्तते ।[13]
सामान्यदृष्ट्या स्थिरत्वमेव प्रतिपादितम्
यस्या कृष्णमरूणं च सहितं अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि ।
वर्षेण भूमिः पृथिवी वृत्ता सा नोदधातु भद्रया प्रिये धामनि धामनि ।।[14]

पुराणेऽपि अस्मिन् विषये वर्णनं वर्तते।

यथा– **समुद्रादिवनोपेता सा सरोह मही नभः ।**[15]
वेदेतरशास्त्रेषु भूमेः स्थिरत्ववर्णनमपि बहुषु स्थलेषु दृश्यते ।[16]

अमरकोशेऽपि भूरचला इति वर्णनमस्ति–

यथा– **भूर्भूमिरचलानन्ता रसा विश्म्भरा स्थिरा ।**
धरा धरित्री धरणी क्षोणिर्ज्या काश्यपी क्षितिः ।।[17]

भूपरिमाणम्–

पृथ्वी गोलाकारा विद्यते नास्त्यत्र सन्देहः सर्वैरनुमतमिदम्। अस्या परिधिमानं स्वल्पान्तरेण सर्वत्र समानमेव दृश्यते। एवमेव परिधिमानज्ञानाद् व्यासमानमपि समानमेव तयोर्विवेचनमत्र प्रदश्यते।

अत्राचार्यभेदेन–

परिधिः = व्यास × ग

अत्र ।। (पाई) स्थिराङ्कस्य मानं दीयते[18]

सूर्यसिद्धान्तः– **योजनानि शतान्यष्टौ भूकर्णो द्विगुणानि तु ।**
तद्वर्गतो दशगणात् पदं भूपरिधिर्भवेत् ।।[19]

प्रथमार्यभट्टः 62832/20000 = 3.1416

भास्कराचार्यो द्वितीयः 22/7 = 3.1428517 स्थूलमानम्।

3927/1250 = 3.1416 सूक्ष्ममानम्।

व्यासे भनन्दाग्निहते विभक्ते खबाणसूर्ये परिधिः स सूक्ष्मः ।
द्वाविंशतिघ्ने विहृतोऽथ शैलैः स्थूलोऽथवा स्याद्व्यवहारयोग्यः ।।[20]

प्रथमार्यभट्टस्य भास्कराचार्यस्य च सूक्ष्ममानं पूर्णतयाधुनिकगणितशास्त्र-सम्मतमस्ति भास्करोक्तं भूपरिधिमानज्ञानप्रकारश्चैवम्–

पुरान्तरं चेदिदमुत्तरं स्यात् दक्षविश्लेषलवैस्तदा किम् ।
चक्रांशकैरित्यनुपातयुक्तयायुक्तं निरुक्तं परिधेः प्रमाणम् ।।[21]

निरक्षदेशः स्वदेशाद् यथा यथा दक्षिणतो भवति, तया तया खस्वस्तिका-द्विषुवद्वृत्तं नतम्, तयोरन्तरेऽक्षांशाः। ते च निरक्षदेशदयसारयोजनैरनुपातेनोत्पद्यन्ते। अतः कस्मिश्चित्पुरोऽक्षांशाञ्ज्ञात्वा तस्मात्पुरादुत्तरतोऽन्यस्मिन् पुरे ज्ञेयाः। ततस्तेषा-मन्तराशैः पुरान्तरयोजनैश्चानुपातः यद्यन्तरांशैः पुरान्तरयोजनानि लभ्यन्ते तदा चक्रांशैः (360 डिग्री) किमिति। फलं भूपरिधियोजनानि।

भूपरिधिव्यासविषये भास्कराचार्यस्य मतम्–

प्रोक्तो योजनासंख्यया कुपरिधिः सप्ताङ्गनन्दब्धय- 4967
स्तद्व्यासः कुभुजङ्गसायकभुवो 1581 ऽयप्रोच्यते योजनमद्या
याम्योदक्पूरयोः पलान्तरहतं भूवेष्टनं भांश360हृत्
तद्भक्तस्य पुरान्तराध्वन इह ज्ञेयं समं योजनम् ।।[22]

सन्दर्भग्रन्थः-

1. ऋग्वेद संहिता-चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान 2019
2. विद्यानिधि प्रकाशन दिल्ली-डॉ. जियालाल कम्बोज 2004
3. सिं शि. बापूदेव शास्त्री चौखम्बा संस्कृत संस्थान 1999
4. सूर्य सिद्धान्त कपिलेश्वर शास्त्री चौखम्बा संस्कृत भवन (वाराणसी) 2012
5. आर्यभट्टीयम्-सत्यदेव शर्मा 2008 चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन (वाराणसी) 2008
6. सिद्धान्त शिरोमणि (छेद्यकाधिकार) बापूदेव शास्त्री चौखम्बा संस्कृत संस्थान 1999
7. सिद्धान्त शिरोमणि (गोल भू. अधिकार) बापूदेव शास्त्री चौखम्बा संस्कृत संस्थान 1999
8. अभिज्ञान शाकुन्तलम् डॉ. आचार्य धुरन्धर शास्त्री कर्मयोगी-भारतीय विद्या संस्थान वाराणसी 2021
9. सिद्धान्त शिरोमणि (गोल भू. अधिकार) केदारदत्त जोशी-मोतीलाल बनारसीदास नई दिल्ली 1988
10. सिद्धान्त शिरोमणि (गोल भू. अधिकार) केदारदत्त जोशी-मोतीलाल बनारसीदास नई दिल्ली 1988
11. सूर्य सिद्धान्त कपिलेश्वर शास्त्री चौखम्बा संस्कृत भवन (वाराणसी) 2012
12. तैत्तरीय ब्राह्मण न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन नई दिल्ली 2012
13. शतपथ ब्राह्मण-बी.बी. चौबे भारतीय विद्या प्रकाशन 1994
14. अथर्ववेद श्री पाद दामोदर सातवेलकर-स्वाध्याय मण्डल पारडी 10/7/2020
15. मनुस्मृति-परिमल पब्लिकेशन नई दिल्ली 1992 महामोहोपाध्याय गंगानाथ झा
16. अमरकोष-चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान 1985 लक्ष्मणा शास्त्री
17. अर्वाचीन ज्योर्तिविज्ञान-वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय 1964 रामनाथ सहाय
18. सूर्य सिद्धान्त कपिलेश्वर शास्त्री चौखम्बा संस्कृत भवन (वाराणसी) 2012
19. लीलावती-श्री सीताराम झा चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी 2021
20. सिद्धान्त शिरोमणि (भू. अधिकार) बापूदेव शास्त्री चौखम्बा संस्कृत संस्थान 1999
21. सिद्धान्त शिरोमणि (ग्र. म. भू. अधिकार) बापूदेव शास्त्री चौखम्बा संस्कृत संस्थान 1999

---

1. ऋग्वेदसंहिता, 1.33.8
2. ऋग्वेदसंहिता, 4.53.3
3. कदम्बकुसुमग्रन्थिः केसरप्रसरैरिव- सि.शि.गो.भु.-2,3
4. सू.सि.भू. श्लो. 30,31
5. आर्यभट्टभ्ये, गो.श्लो. 6
6. सि.शि. छेद्य. श्लोक 7
7. सि.शि.गो.भु. श्लो 4
8. अभि. शा. श्लो 1
9. शि.शि. गो.भु. श्लोक 6
10. सि.शि. गो.भु. श्लोक 7

11. सि.शि. गो.भु. श्लोक 9
12. सू.सि.भू.श्लो 54
13. तै.ब्रा. 3.3.1.2, 3.3.6.11, श.ब्रा. 1.3.2.4, 6.2.1.29, 6.2.2.32, 2.2.1.20
14. अथर्व. 12.5
15. भावी. पु. 306.42
16. मनुस्मृतिः 4.105, हनुमन्नाटकम् 1.21
17. अमरकोषः 2.2
18. अर्वाचीनं ज्योतिर्विज्ञानम्, पृ. 47
19. सू.सि.म.श्लो. 59
20. लीलावती क्षेत्र, 40
21. सि.शि.भु.श्लो. 14
22. सि.शि.ग.म.धि.भू. श्लो. 1

सहायकाचार्यः (संविदा)
ज्योतिषशास्त्रविद्याशाखा,
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
लखनऊपरिसरः, लखनऊ (उ.प्र.)।

वैदिकवाङ्मये चन्द्रस्योत्पत्तिः स्वरूपं च

– डॉ. नन्दनकुमारतिवारी

(वैदिक वाङ्मय में चन्द्रमा को सुधाकर, चन्द्र, कुमुदप्रिय, रजनीपति, शुभ्रभानु, रोहिणीपति, कलानिधि, उडुपति तथा शीतकर नाम से सम्बोधित किया गया है। चन्द्रमा की उत्पत्ति और उसके स्वरूप के बारे में संस्कृत वाङ्मय में कई उद्धरण प्राप्त होते हैं। वस्तुतः चन्द्रमा की उत्पत्ति कैसे हुई है? उसका स्वरूप कैसा है? वैदिक वाङ्मय में वर्णित चन्द्रमा की उत्पत्ति एवं स्वरूप के बारे में यदि देखा जाय तो वेद-पुराणों में तत्सम्बन्धित अलग-अलग मत-मतान्तर प्राप्त होते हैं। ऋग्वेदसंहिता के अनुसार एक ही कालखण्ड में सूर्य-चन्द्र की उत्पत्ति ब्रह्मा जी के नेत्रों तथा मन से हुआ है। ऐतरेयब्राह्मण के अनुसार सूर्य से चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई है। पुराणों के अनुसार भी चन्द्रमा की उत्पत्ति सूर्य के कारण ही बतलायी गयी है। निरुक्तकार यास्क के मत में चन्द्रमा को लोक का रक्षक, कान्तिप्रदाता तथा देवस्वरूप कहा गया है। ज्योतिषशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ सिद्धान्तशिरोमणि के अनुसार चन्द्रमा की उत्पति के बारे में आचार्य भास्कर का कथन है कि– हरिहर भगवान् से ब्रह्मा ने वर प्राप्त करके सहर्ष पुत्र की कामना की तो उनके त्रिनेत्र से पिघले हुए जल बिन्दुओं को एकत्रित करके पितामह ने आकाश में निवेशित कर दिया। इस प्रकार चन्द्रमा को जलमय कहा गया है। चन्द्रमा की श्यामलता निजमूर्ति की छाया के रूप में है। ऐसा हम स्मृति-पुराणों में भी सुनते हैं। ‘विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्तः’ के अनुसार चन्द्रमा के पृष्ठ भाग पर ‘पितरों का लोक’ स्थित है। ज्योतिषशास्त्र में चन्द्रमा सर्वाधिक तीव्रगति वाला ग्रह कहा गया है। चन्द्रमा वृष राशि में उच्च का तथा वृश्चिक राशि में नीच का होता है। चन्द्रमा की दशा 10 वर्षों की होती है। इसके अधिदेवता उमा तथा प्रत्यधिदेवता ‘जल’ है। आधुनिक मतानुसार चन्द्रमा को पृथ्वी का उपग्रह बताया जाता है।)

सुविदितमेव वैदिकवाङ्मयस्य क्षेत्रम् अत्यन्तं विस्तृतमेव। तत्र चन्द्रस्योत्पत्तिः कथं, स्वरूपं च कीदृशं? प्रश्नोऽयं विचार्यते–वस्तुतः चन्द्रस्योत्पत्तिविषये वेदपुराणादिषु मतान्तरमुपलभ्यते। ऋग्वेदसंहितानुसारेण एककालावच्छेदेनैव सूर्यचन्द्रमसोरुत्पत्ति: क्रमशः ब्रह्मणो नेत्राभ्यां मनसश्चाभवत्। ऐतरेयब्राह्मणम् ‘आदित्याद्वै चन्द्रमा जायते’ इत्युक्त्वा सूर्यसकाशादेव चन्द्रोत्पत्तिं स्वीकरोति। कतिचन पुराणान्यपि ‘ऋक्षचन्द्रग्रहाः सर्वे विज्ञेयाः सूर्यसम्भवाः।’ ‘शीतरश्मिः समुत्पन्नः कृत्तिकासु निशाकरः’ इत्यादिना एतदेव प्रमाणयन्ति। सिद्धान्तशिरोमणौ श्रृंगोन्नत्यधिकारस्य 8-9 श्लोकयोरुपपत्तौ भास्करेण “अत्र हरिहरविरंचिवरलाभश्रवणसहर्षपुत्रकामात्रिनेत्रविगलितजलबिन्दु-रयमिन्दु: पितामहेन ग्रहत्वेनाकाशे निवेशित इति श्रूयते स्मृतिषु पुराणेषु” इति चन्द्रोत्पत्तिकारणं लिखितमस्ति। परन्त्वाधुनिकी धारणा भिन्नास्ति आधुनिकमतेन

पुराकाले चन्द्रः पृथिव्या एकमङ्गमेवासीत्। अयं चन्द्रोऽस्माकं पृथिव्या एकमात्रं उपग्रहोऽस्ति। यस्य कक्षीयाक्षीयभ्रमणं च तुल्यकालेन भवति।

अनन्तेऽस्मिन् नीलाकाशनिलये समाकीर्णानां दीप्तिजुषां नक्षत्रपुञ्जानामधीशः, विभावर्या विभूषणं, कौमुदीनामाकरः, अनुपमसुषमासमन्वितः, अशेषजन्तुलता-वीरुधाञ्च पालकश्चन्द्रः न केवलमाबालवृद्धानां जनानामेवाकर्षणहेतुः, अपि तु पशुपक्षिणामपि चेतसि तथैव प्रमोदमुत्पादयति। चकोरश्चन्द्रपिण्डभ्रान्त्या ज्वलदङ्गारमत्ति इति लोकप्रसिद्धिरस्ति। अस्य चन्द्रं प्रति अनिमिषमवलोकनं काव्येष्वपि दृश्यते[1]। यथा–

चकोर्य एवं चतुराश्चन्द्रिकाचामकर्मणि[2]।

'चदि' धातोः सकाशाच्चन्द्रशब्दः सिध्यति। 'चदि' धातोः सकाशाच्चन्दनमपि सिध्यति। यथा चन्दनं कस्यचिन् मस्तके शोभां पुष्णाति तथैव चन्द्रोप्याकाशे बिन्दुरूपेण शोभां धत्ते। अस्य गतिः शोभना वर्तते। अर्थाद् गच्छन्नाकाशे चन्द्रोऽतीव शोभां प्राप्नोति। अयं चिरकालं यावद् भ्रमति। चन्द्रोऽयं कृष्णपक्षे सूर्येणाऽऽपीतो भवति। पश्चात् शुक्लपक्षे तस्य सूर्यकिरणेनैव पूर्तिरपि भवति।

यास्कवचनेन चन्द्रमसि देवत्वं ग्रहत्वं चापि सिध्यति। यथा– चन्द्रो लोकस्य रक्षकः, जनानां जननी, कान्तिप्रदाता इत्येते गुणधर्मास्तस्मिन् देवत्वं साधयन्ति। अस्य कान्तिकर्मसम्पादनं, कालनिर्धारणम् (वर्षमासर्तुप्रभृतीनाम्), आकाशे भ्रमणादीनि कर्माण्यस्य ग्रहत्वं साधयन्ति। तथा चास्याऽऽह्लादकत्वं चन्दनबिन्दुसदृशं वर्तुलत्वं चास्य गुणस्वरूपे प्रकटयतः। एवं चन्द्रः स्वरूपद्वयेन (पार्थिवपिण्डरूपेण देवस्वरूपेण च) अस्माकं सम्मुखं समायाति। यत्र चन्द्रो देवत्वेन स्वीकृतस्तत्र तस्य पूजनविधिरपि प्रदत्तो वर्तते। अस्य स्थाने स्थाने मानवीयविग्रहोऽपि दृश्यते।

चन्द्रोत्पत्तिः–

सृष्ट्यारम्भकाले यदा केवलं शून्यमेवासीत् तदा केन प्रकारेण केन क्रमेण च सृष्टिरचना जाता इति निम्नमन्त्रेषु वर्णितम्–

"ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः। समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी। सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् दिवञ्च पृथ्वीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः[3]।"

एषु सूर्यचन्द्रयोः सृष्टिः एककालावच्छेदेन ब्रह्मणा तथैव कृता यथा पूर्वकल्पे कृता आसीत्। चन्द्रे प्रकाशकत्वं ब्रह्मणः सर्वभूतगतमनसः सकाशाज्जातम्। अत एवोक्तम्– **"चन्द्रमा मनसो जातः"[4]**। अस्य वैदिकतत्वस्य सम्यग् व्याख्या

महाभारते वर्तते। नरनारायणौ नारदं प्रत्यूचतु: यत्तस्माद्देवात् सर्वभूतगतं मन: उद्गच्छति। येन युक्तो भूत्वा चन्द्रः प्रकाशकत्वं गुणं धारयति[5]। इयमेव व्याख्या अन्यत्राप्युपलभ्यते, यथा– **"अथ यन्मन आसीत् स चन्द्रमा अभवत्[6]।"**

शतपथब्राह्मणे चन्द्रोत्पत्तिः वृत्राज्जाता इति निर्दिष्टम्। यथा– इन्द्रस्तं (वृत्रं) द्वेधा अन्वभिनत्तस्य सौम्यं न्यक्तभास तं चन्द्रमसं चकार। अथ यदस्यासुर्यमास तेनेमाः प्रजा उदरेणाविध्यत्[7]।

अस्य सामान्योऽर्थस्तु समीचीनः न प्रतिभाति, अतोऽस्य विशिष्टार्थो-ऽन्वेष्टव्य:। यथा– वृत्रशब्दो मेघार्थे प्रयुज्यते। आकाशे मेघस्थानादुपरि मेघसदृशः एकः पदार्थो यो 'नीहारिका' पदेन व्यवह्रियते। सूर्यादीनां ग्रहाणामुत्पत्तिः तस्मादेव नीहारिकाख्यपदार्थाज्जाता इत्याधुनिकानां वैज्ञानिकानां मतम्। अत्रापि वृत्रशब्दो नीहारिकापदवाच्यः। इन्द्रेण छिन्नस्य वृत्रस्य यः उत्तमांशः सौम्यांश भाग आसीत् तं चन्द्रमसं चकार, अत्रायमभिप्राय: प्रतिभाति।

शतपथब्राह्मणे एव यज्ञचयनप्रसङ्गे चन्द्रोत्पत्तिविषये माध्यन्दिनमुनिः वक्ति– "सोऽकामयत। भूय एव स्यात्। प्रजायेतिति स आदित्येन दिवं मिथुनं समभवत्। तद् आण्डं समवर्तत। तद् अभ्यमृशत् रेतो बिभृहीति। ततश्चन्द्रमा असृज्यत। एष वै रेतः। अथ यदश्रु संक्षरितमासीत्, तानि नक्षत्राण्यभवन्। अथ य: कपाले रसो लिप्त आसीत् ता अवान्तरदिशोऽभवन्। अथ यत् कपालमासीत् ता दिशोऽभवन् इति।"[8]

अस्यां ऋचायां चन्द्रोत्पत्तिरण्डाज्जाता इति वर्णितम्। अत्र प्रथमं दिवसूर्ययोः परस्परं मिथुनं सञ्जातमितिनिर्देशो वर्तते। अस्याभिप्रायोऽपि विज्ञानेन साम्यमुपैति। अनेनान्तरिक्षे सूर्यमण्डले वा काचिद् आप्लावा समागता आसीद् या मिथुनशब्देन निर्दिष्टा ऋषिणा इत्यनुमीयते। इदमपि सम्भाव्यते यत् सूर्यः भ्रमन्नाकाशे कांचिन्नीहारिकामन्यपिण्डं वा आकृष्टवान्, पश्चादुभयोः परस्पराकर्षणविकर्षणा-भ्यामण्डाकारिता जाता, तत: पिण्डो भग्नो भूत्वा भूचन्द्रादिविविधानाम् अनेकेषां लघुपिण्डानां स्वरूपे परिवर्तितो जात:। अद्यापि ते पिण्डाः स्वीयकक्षोत्पत्तौ कारणभूतं सूर्यं परितः भ्रमन्ति। अमुमेवाभिप्रायं सम्प्रधार्य। महर्षिकृष्णद्वैपायनेन मत्स्यपुराणे लिखितम्–

नक्षत्रग्रहसोमानां प्रतिष्ठा योनिरेव च।
चन्द्रऋक्षग्रहा: सर्वे विज्ञेया: सूर्यसंभवा: ।। (127/29)

पुराणेषु चन्द्रोत्पत्तिविषये बह्व्यः कथाः समुल्लिखिताः सन्ति। यथा– समुद्रमन्थनाच्चन्द्रोत्पत्तिः, कृत्तिकाभिश्चन्द्रोत्पत्तिः, अत्रेर्नेत्राभ्यां चन्द्रोत्पत्तिः, अनुसूयायाः गर्भेण च चन्द्रोत्पत्तिः। तेषु समुद्रमन्थनाच्चन्द्रोत्पत्तिरेवम्[9]।

यदा सुरासुरौ समुद्रमन्थनमकुरुतां तदा तस्मान्महासागराच्चतुर्दश रत्नानि नि:सृतानि–

लक्ष्मीकौस्तुभपारिजातकसुरा धन्वन्तरिश्चन्द्रमाः ।
गाव: कामदुघा: सुरेश्वरगजो रम्भादिदेवांगनाः ।।
अश्व: सप्तमुखो विषं हरधनु: शंखोऽमृतं चाम्बुधेः ।
रत्नानीह चतुर्दश प्रतिदिनं कुर्वन्तु वो मंगलम् ।।

तेष्वेकःशतसूर्यसमो दीप्तिमान् प्रशस्तकान्तिसम्पन्नः शीतरश्मिसंवलित-श्चन्द्रोऽप्यासीत्।[10] अत्र वैदिकविज्ञानेनायं संकेतो प्राप्यते यदिदमाख्यानमतीव वैज्ञानिकम्, यतोऽन्तरिक्षमपि समुद्रपदेन व्यवहृतं दृश्यते वेदेषु। तत्र पर्वता अपि दृश्यन्ते इति श्रुति:। तयोः पर्वतसमुद्रयोः परस्परं संघर्षणेन चन्द्रोत्पत्तिर्जाता।

अस्मिन् विषयेऽन्याप्येका युक्तिः विज्ञानसम्मता वर्तते। यत् समुद्राः पर्वताश्च पृथिव्युपरि वर्तन्तेऽतः समुद्रमन्थनमपि पृथिव्यामेव संजातम्। एवं भूमे: सकाशादेव चन्द्रोत्पत्तिरपि जाता। यस्मात् स्थानाच्चन्द्रो विनिर्गतस्तस्मिन् स्थाने महान् गर्त: प्रादुरभवत्। स एवाद्य प्रशान्तमहासागरनाम्ना प्रथितः पृथिव्याम्। अत्र समुद्रमंथनेन कस्यचिद् विप्लवस्याभिप्रायो ग्रहीतव्य:। आधुनिकैरपि मतमिदं समर्थितम्। अन्यच्च ब्रह्माण्डपुराणे चन्द्रोत्पत्तिविषये लिखितं वर्तते, यत्–

त्विषिमान् धर्मपुत्रस्तु सोमो देवो वसोस्सुत: ।
शीतरश्मि: समुत्पन्न: कृत्तिकासु निशाकर: ।।

ब्रह्माण्डपुराणम्–(2/24/130)

अत्र कृत्तिकानक्षत्रपुञ्जाच्चन्द्रोत्पत्तिर्निर्दिष्टा। पुराणपक्षे कथाप्रसंगेऽस्य जन्म षट्सु कृत्तिकासु भवितुमर्हति इति। एवमेव स्कन्दपुराणे अनुसूयायां चन्द्रोत्पत्तिर्वर्णिता। परमस्य वास्तविकाभिप्रायोऽद्यावधि न स्पष्टतां गत:। अन्यच्च वेदेषु पुराणेषु च अत्रिनेत्राभ्यां समुद्भूतस्य चन्द्रस्य वर्णनं दरीदृश्यते सर्वत्र। तत्कथमिति प्रदर्श्यते–

“यदोर्ध्वरेता अत्रिनामा महर्षि: पुत्रकाम्यया तपस्यायां संलग्न आसीत् तदा तस्योपरि प्रीता भूत्वा ब्रह्मविष्णुशंकराश्च त्रयो देवास्तस्मै वरं दत्तवन्तः यच्चन्द्रं पुत्ररूपेण लभस्व। एवमाशीर्वचनं श्रुत्वैव अत्रेर्नेत्राभ्यां सोमसंज्ञकं वारि सुस्राव, येनाखिलं भूमण्डलं प्रकाशितं जातम्, ब्रह्मा आदिष्टा दश दिशः स्वगर्भेषु तमधारयन्। परमन्ततो दिशोऽपि तत्तेजो धारयितुमक्षमा जाताः। अतस्ताभि: सोमः भूमौ प्रक्षिप्तः। तदा भूमौ पतितं सोमं दृष्टवा ब्रह्मा तं रथे संस्थाप्याऽऽकाशं नीतवान्। स एव सोमश्चन्द्रो जात:”[11]

उक्तकथायामत्रिनेत्रजश्चन्द्र इत्युक्तम्। अयं साहित्यिकप्रयोगः न तु सामान्य-व्यवहारोपयोगिभाषायाः, अतोऽस्य तात्पर्यार्थ एव ज्ञातव्यः। शरीरे सर्वाङ्गापेक्षया प्रियतममङ्गं चक्षुरस्ति। अत: सर्वप्रियवस्तूनामुपमा नेत्राभ्यां दीयते। अत्रापि सैव स्थितिरस्ति। चन्द्रः अत्रेः कृते पुत्र इव प्रिय आसीत्। अद्यापि पुत्रश्चक्षुषा उपमीयते। यथा हिन्दीभाषायां गोस्वामिना तुलसीदासेन कथितं रामचरितमानसे– "मोरे रामभरत दोऊ आंखी"।[12] पौराणिके– रूपकेऽस्मिन् चन्द्रस्यात्रेर्नेत्राभ्यां सह सम्बन्धः प्रदर्शितस्तत्रायमेव हेतुः यत्तदानीमत्रिगोत्रीया जना एवं चन्द्रविषयकं ज्ञानमधारयन्। कदा ग्रहणारम्भो भविष्यति कदा तस्यावसानं भविष्यति। कदा चन्द्रोदय-श्चन्द्रास्तश्च कदा भविष्यति इत्यादिविषयाणां गणनाम् अत्रिगोत्रीया जना एवं कुर्वन्ति स्म। अन्ये जना: विषयेऽस्मिन्ननभिज्ञा एवासन। ईदृशः संकेतः ऋग्वेदे दृश्यते।[13] स च ऋग्वेदीयमन्त्रस्याभिप्रायः पुराणे मनोरंजकं रूपकं विधाय कथारूपेणोपस्थापितो वर्तते।

चन्द्रस्वरूपम्–

ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयान्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति ।

(कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषत् 1.2)

भूलोक इव चन्द्रलोकोऽपि वर्तते। तत्र पितृणां निवासो वर्तते, यथा उक्तकोषीतकीयोपनिषद्वाक्येन स्पष्टं भवति। परमनेन वाक्येन केवलमिदमेव प्रतीयते यच्चन्द्रोऽपि भूरिव घनीभूतेन पदार्थेन युक्तो वर्तते। पुराणेष्वपि चन्द्रमण्डलस्य स्पष्टोल्लेखो न दृश्यते। तत्रापि केवलं संकेतेनैव तस्य वर्णनं कृतम्, यथा–

सूर्याचन्द्रमसोर्दिव्ये मण्डले भास्वरे खगे ।
जलतेजोमये शुक्ले वृत्तकुवभनिभे शुभे ।।
घनतोयात्मकं तत्र मण्डलं शशिनः स्मृतम् ।
घनतेजोमयं शुक्लं मण्डलं भास्करस्य तु ।।

(ब्रह्माण्ड पुराण 2/24/78-79)

अत्र वृत्ताकारं घनतोयात्मकं च शशिनः मण्डलं वर्णितम्। अनेन तत्र निवासयोग्या भूमिरस्तीति सिध्यति। पुराणेऽपि स्थाने स्थाने देवानां ऋषीणां च चन्द्रलोकगमनस्य कथा दरीदृश्यते।[14] तस्योर्ध्वभागे तु पितृणां निवासः निर्दिष्टः। तत्र तेषां रात्रिदिनव्यवस्थाऽपि पूर्वनियोजिता वर्तते।[15] सारांशरूपेण इदमेव वक्तव्यमस्ति यद् वैदिककालादेव चन्द्रः एकेन स्वतन्त्रलोकरूपेण प्रसिद्धोऽस्ति। अस्य लोकस्य परिमाण विषये मत्स्यपुराणोक्तवचनमुपस्थाप्यते–

अस्य भारतवर्षस्य विषकम्भात्तुल्यविस्तृतिम्।
मण्डलं भास्करस्याथ योजनैस्तन्निबोधत।।
विस्ताराित्रिगुणश्चापि परिणाहोत्र मण्डले।
विषकम्भान् मण्डलाच्चैव भास्कराद्विगुणः शशी।।

(मत्स्यपुराणे – 123/6-8)

एतदनुसारं भास्करस्य बिम्बव्यासः 9000 योजनात्मकोऽस्ति। अतोऽस्य त्रिगुणितं 27000 योजनात्मकं सूर्यस्य परिधिमण्डलम्। अस्माद्विषकम्भाद् व्यासाद् वा चन्द्रस्य मानं द्विगुणमस्ति। अर्थाच्चन्द्रस्य व्यासप्रमाणं 1800 योजनात्मकं परिधि-प्रमाणं च 54000 योजनात्मकमिति। परन्त्वेतानि प्रमाणानि अद्याऽऽधुनिकानुसन्धानेन प्राप्तपरिणामेन सह साम्यं न भजन्ते। एतदतिरिक्तं वेदेषु पुराणेषु च चन्द्रस्यापर-रूपमपि दृश्यते। यतश्चन्द्रः कुत्रचिद्देवत्वेन स्वीकृतः। अतोऽर्चनाङ्गभूतत्वेनास्य प्रतिमायाः कल्पनाऽपि वर्तते यथा–

श्वेतः श्वेताम्बरधरः श्वेताश्वः श्वेतवाहनः।
गदापाणिद्विबाहुश्च कर्तव्यो वरदः शशी।। मत्स्यपुराणम्-(93/2)

ईदृशं मूर्तिनिर्माणं कर्तव्यम्। परन्तु सामान्यपूजाविधौ एतदतिरिक्तमपि स्वरूपं दृश्यते। यथा वासिष्ठीहवनपद्धतौ–

"भास्करं वर्तुलं विद्याद् अर्धचन्द्रं निशाकरम्।"

एवं स्थलभेदेन प्रसंगभेदेन च चन्द्रस्य पृथक्-पृथक् स्वरूपं दृश्यते। परन्तु कुत्रचिदपि चन्द्रपिण्डस्य विस्तृतं वर्णनं न प्राप्यते। तत्रस्थानां पदार्थानां विषये तु अस्माकं शास्त्रेऽत्यल्पमेव विवरणं प्राप्यते। यथा–

अपां पुष्पमसि ताण्ड्यब्राह्मणम् (1/6/8)

अत्र सोमसम्बन्धेन् चन्द्रस्य जलमयत्वं साधितम्। हे (सोम) त्वमपां जलस्य पुष्पमसि। सोमचन्द्रयोः परं घनिष्ठसम्बन्धत्वात् चन्द्रो जलमय इति स्पष्टम्। अमुमेवाऽऽशयं प्रगृह्य वायुपुराणेऽपि महर्षिव्यासेन लिखितम्–

महादेवोऽमृतात्मासौ ह्यम्मयश्चन्द्रमाः स्मृतः। (1/27/48)

कुत्रचित् शिवः आग्नेयपरमाणूनां मानवीयविग्रहरूपेण मन्यते। अतोऽयं शिवः यस्य हृदि अमृतो दिव्या आपो वा वर्तन्ते। जलमयं चन्द्रमसं सस्मार। अर्थाज्जल-संसर्गादस्य रचना जाता– उदकाश्चन्द्रमा स्मृतः (वायु.पु. 1/50/4)। अतोऽस्मिन् जलाधिक्यं स्वाभाविकम्। ईदृश एव विचारः ज्योतिषशास्त्रेऽपि मिलति। यथा भास्कराचार्येण सिद्धान्तशिरोमणौ लिखितम्– 'तरणि किरणसंगादेष पीयूषपिण्डः'[16] एवमेव कुत्रचिज्जलमयः पिण्ड इति निर्दिष्टम्।

चन्द्रेऽमृतत्वं वैदिककालादेव स्वीकृतमस्ति। अमृतत्वेनायमायुरारोग्यप्रदातेति प्रसिद्धम्।[17] सोमगायत्र्यां चन्द्रः कालरूपेण प्रदर्शितोऽस्ति। चन्द्रः शत्रुनाशकस्तेजसः शक्तेश्च प्रदाताऽप्यस्ति।

हरिवंशपुराणे चन्द्रस्य कानिचिन नामान्युल्लिखितानि सन्ति। यैस्तस्य गुणदोषस्वरूपापि प्रकटीभवन्ति। तानि नामानि श्लोकद्वयेन तत्र दर्शितानि विद्यन्ते–

श्वेतभानुर्हिमतनुर्ज्योतिषामधिपः शशी ।
अब्दकृत् कालयोगात्मा इज्यो यज्ञरसोऽव्ययः ।।
ओषधीशः क्रियायोनिरम्भोनिधिरनुष्णभाक् ।
शीतांशुरमृताधारश्चपलः श्वेतवाहनः ।। (1/46/7-8)

एतानि नामानि प्रायशश्चन्द्रस्य पिण्डत्वमेव समर्थयन्ति। परं नवग्रहस्तोत्रे यानि नामानि[18] सन्ति तानि केवलं चन्द्रे देवत्वमेवाङ्गीकृत्य उल्लिखितानि। उक्त श्लोके चन्द्रः 'अब्दकृत् कालयोगात्मा' इति शब्दाभ्यां सम्बोधितः। चन्द्रः कथमब्दकृत् इत्यस्य स्पष्टीकरणं ताण्ड्यब्राह्मणस्याऽधोङ्कितवचनाद् भवति–

अग्निः संवत्सरः सूर्यः परिवत्सरः चन्द्रमा इदावत्सरः वायुः अनुवत्सरः।।

(ताण्डयब्राह्मण 17/13/17)

अत्र संवत्सरेण सावनवर्षम्, परिवत्सरेण सौरवर्षम्, इदावत्सरेण चान्द्रवर्षं तथा चानुवत्सरेण नाक्षत्रवर्षमिति बोध्यम्। इदमेवाधारीकृत्य सूर्यसिद्धान्ते इयं कल्पना कृता वर्तते– **ब्राह्मं दिव्यं तथा पैत्र्यं प्राजापत्यं च गौरवम्।**
सौरं च सावनं चान्द्रमार्क्षमानानि वै नव ।। (सूर्यसिद्धान्त: 14/1)

एवमेव ओषधीशपदेनापि संबोधितोऽयमुक्तश्लोके। ग्रन्थान्तरे न केवलमोषधीननामीशश्चन्द्रः अपि त्वन्येषामप्यधीशो वर्तते। यथोक्तं हरिवंशपुराणे–

द्विजानां वीरुधां चैव नक्षत्रग्रहयोस्तथा ।
यज्ञानां तपसां चैव सोमं राज्येऽभ्यसेचयत् ।। (1/4/2)

ओषधीशस्य चन्द्रस्य स्पष्टाभिप्रायः पुराणेषु व्याख्यातो वर्तते। यच्चन्द्र एव स्वाद्वम्ललवणानां रसानामुत्पादकोऽस्ति[19]। चन्द्रस्योषध्या सह घनिष्ठः सम्बन्धो वर्तते। चन्द्राद्यः सोमः (तेजः) पतति पृथिव्यां तस्मादेवौषध्यः प्रादुर्भवन्ति। अस्योल्लेखः हरिवंशपुराणे दृश्यते–

तस्य यच्च्यावितं तेजः पृथिवीमन्वपद्यत ।
ओषध्यस्ताः समुद्भूतास्तेजसा प्रज्ज्वलन्त्युत ।। (1/25/26)

श्लोकोऽयं वायुपुराणे 90 अध्यायेऽपि वर्तते। चन्द्रः कथमोषधीशः इत्यस्मिन् विषये एका कथा हरिवंशपुराणे वर्तते।[20] एकदा प्रचेतसः क्रुद्ध भूत्वा

वृक्षानुन्मूलयि-तुमुद्यता:। तदा वृक्षराज: सोमस्तत्रागत्य प्रचेतस: प्रत्यवोचत्– इयं मारिषा नाम्नी वृक्षाणां दुहिता वर्तते। अनया सह परिणीता भूत्वा प्रसीदन्तु भवन्त:। प्रचेतसस्तया सह परिणयं चक्रु:। इयं कथा अत्यन्तमसाधारणी परमस्या गूढार्थोऽपि विद्यते, य: नीलकण्ठेनोक्तश्लोकस्य टीकायां प्रदर्शित:–

"वृक्षान् शोषयती वायुना तेषां सारांशो यथा स्वकरेण सौरतेजसि प्रक्षिप्तः। एवं कन्यारूपं वार्क्षं रेतः सोमस्य गर्भे धृतमिति युक्तम्।" अत्र नीलकण्ठेनैकं श्रुतिवाक्यमुद्धृतम्–

"वृष्टिर्वै वृष्ट्वा चन्द्रमसमनुप्रविशति"

श्रुतेरपि ओषधिसाररूपेण वृष्टेश्चन्द्रप्रवेशोऽवगम्यते। वर्णनेनानेन वृष्ट्यो-षधिचन्द्राणां परस्परमभिन्नः सम्बन्धो लक्षितः। चन्द्रसम्बन्धेन वर्षायाः वर्णनं वायुपुराणेऽपि दृश्यते, यथा–

आदित्यपीतं सूर्याग्नेः सोमं संक्रमते जलम् ।
नाडीभिर्वायुयुक्ताभिर्लोकाधाने प्रवर्तते ।।
यत्सोमात्स्रवते सूर्यं तदभ्रेष्ववतिष्ठते ।
मेघां वायुनिघातेन विसृजन्ति जलं भुवि ।। (1/51/14-15)

सूर्य: जलाशयाद् वनस्पतिभ्यः जीवानां शरीराच्च जलांशं परिशोष्य चन्द्रस्य पोषणं करोति। चन्द्रस्तान् जलकणान् वायुनाडीभिः मेघान् प्रतियच्छति। मेघास्तान् जलकणान् स्वोदरीकृत्य यथाकालं वर्षन्ति। विवरणमिदं विष्णुपुराणेऽपि अष्ट-माध्यायस्य 12 श्लोकादारभ्य 16 श्लोकं यावन्निरूपितं वर्तते।

ज्योतिषशास्त्रे चन्द्रस्य जीवमात्रेण सहात्यन्तो घनिष्ठसम्बन्धः प्रदर्शितः। यथा रात्रौ चन्द्रोदयसम्बन्धेन कुमुदनीकुलं प्रस्फुटितं भवति जलजाश्च मुकुलिताः भवन्ति। तथैव चन्द्रस्यानुकूलत्वे जातकस्य प्रकर्षः प्रतिकूलत्वे चापकर्षो भवति।

चन्द्रे जीवनधारणस्य विनाशस्य च शक्तिर्विद्यते। ज्योतिषशास्त्रे चन्द्रस्यान्येषां ग्रहाणां च प्रकृतेरध्ययनं समुचितं विधाय तत्तद्ग्रहेण सम्बद्धानामवयवानां पृथक् पृथगुल्लेखः कृतः, यथा चन्द्रेण सम्बद्धा अवयवा निम्नांकिताः सन्ति। प्रमुखतया चन्द्रस्याङ्गं मनो वर्तते। परमस्मादतिरिक्ता अन्येऽप्यवयवा: सन्ति यथा–

स्वच्छः प्राज्ञो गौरश्चपल: कफवातिको रुधिरसारश्च ।
मृदुवाग्घृणी प्रियसखस्तनुवृत्तश्चन्द्रमा प्रांशुः ।।

(लघुजातकम्, अध्याय: 4, श्लोक: 2)

श्लोकेनानेन चन्द्रस्य स्वरूपं तस्य गुणधर्मौ च परिज्ञातौ। परं स्वरूपवर्णन-व्याजेनानेन सम्बद्धा अवयवाः निर्दिष्टा आचार्यैः।

चन्द्रस्वरूपस्थित्यनुसारेणैतेऽवयवाः विशेषेण प्रभाविताः भवन्ति। यदि चन्द्रः शुभः पुष्टिकरः स्यात्तदा एतेऽवयवाः वृद्धिं गताः भवेयुः। अन्यथा प्रथममेतेषु अवयवेष्वेव विकारो भविष्यति। ग्रहाणां प्रकृतेः स्थितेश्च ज्ञानेन जातकस्य सौख्यानिष्टयोर्ज्ञानं सम्यक्तया कर्तुं शक्यते।

सन्दर्भग्रन्थः-

1. चन्द्रगोलविमर्शः- प्रोफेसर रामचन्द्रपाण्डेयः, भूमिका
2. वाल्मीकीरामायणम्-10/82
3. ऋग्वेदसंहिता-10/190/1-3
4. ऋग्वेदः– 10/90/13
5. तस्माज्ज्योतिष्ठिते देवात् सर्वभूतगतं मनः। चन्द्र मा येन संयुक्त : प्राकशगुणधारणः। (महाभारत 12/354/11)
6. जैमिनीयब्राह्मणम्-2/2/2
7. शतपथब्राह्मणम्-1/6/3/17
8. शतपथब्राह्मणम्-6/1/2/4
9. भागवतमहापुराणम्- 8/7/1-9/29
10. स्कन्द-पुराणे लिखितं वर्तते यच्चन्द्रमा सर्वप्रथमं रत्नटमासीत्।
    यथा– मध्यः माने महाब्धौप तु निर्गतश्चान्द्रा अग्रतः।
11. पीयूषपूर्णः सर्वेषां देवानां कार्यसिद्धये।। स्कवन्दत-1/11/26
12. वायपुराणम्-2/28/5-18
13. रामचरितमानस-2/30/6
14. ऋग्वेदः-5/40/5-9
15. भविष्यत्पुराणम्-3/2/23
16. पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तुच पक्षयोः।
    कर्मचेष्टा स्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नायि शर्वरी।। मनुस्मृति-1/66
17. सिद्धान्तशिरोमणि-गोलाध्यायः श्रृंगोन्नकति अध्यायः- श्लोकः-1
18. भागं देवेभ्यो विदधात्यायन् प्र चन्द्र मास्तिरते दीर्घमायुः। ऋग्वेदः 10/85/19
19. सुधाकरश्च सोमश्च ग्लौयरजः कुमुदप्रियः। लोकप्रियः शुभ्रभानुश्चन्द्र रोहिणीपतिः।।
20. शशी हिमकरो राजा द्विजराजो निशाकरः। आत्रेय इन्दुः शीतांशुरोषधीशः कलानिधिः... (नवग्रहस्तोत्रे चन्द्रास्तोतत्रम्।)

21. रसाः स्वरद्वम्ल्येयवणाः सोमजाः परिकीर्तिताः- (अग्नि पुराण 281/2)

22. इयं कथा विस्तरेण परिशिष्टे प्रदत्ता विष्णुतपुराणमाधारीकृत्य।

सहायकाचार्यः,
ज्योतिषविभागः,
उत्तराखण्डमुक्तविश्वविद्यालयः,
हल्द्वानी ।

अधिव्याकरणं पक्षत्रयी

– डॉ. गोविन्दपौडेलः

(संस्कृत व्याकरण में पाणिनीय व्याकरण का निरुपम स्थान है। इससे लौकिक एवं वैदिक दोनों शब्दों की सिद्धि की जाती है। इसीलिए इस शास्त्र को शब्दानुशासन ऐसा प्रयोग भगवान् पतञ्जलि महाभाष्यके आदि में करते हैं। शब्दों का अनुशासन करते हुए भी यह शास्त्र दर्शन एवं परिष्कार पक्षों में भी अपना विशिष्ट स्थान रखता है। पाणिनीय व्याकरण दर्शन, परिष्कार एवं शब्दानुशासन में समानतया मूर्धन्य स्थान मे है ऐसा इस निबन्ध मे प्रतिपादन किया गया है।)

(प्रकृतेस्मिन् निबन्धे व्याकरणशास्त्रस्य त्रयः पक्षा भवितुमर्हन्तीति प्रतिपाद्यते। यद्यपीदं विशिष्य शब्दधर्मिकसाधुत्वप्रकारकप्रमाजनकं शास्त्रं तथाप्यस्य दर्शनत्वमप्यक्षुण्णमेवेति विदन्त्येव विपश्चितः। यथा ब्रह्मणश्शक्तेस्सृष्टेर्विवर्तादेश्च विचारा दर्शनान्तरेषु विचार्यन्ते तद्वदत्रापि तद्विषयका विचाराः कूलङ्कषं विचारिताः। एवमेव तर्ककर्कशविचारणपरायणैरसन्दिग्धबोधाय यतमानैः प्रज्ञाप्रकर्षवद्भिरत्र शास्त्रे बहूपक्रान्तत्वात् परिष्कारसरणिरप्यदसीयां कामप्यतुलां शोभामातनुते। तेन च शास्त्रस्यास्य पक्षत्रयोपेतत्वमस्तीति कृतिविषयस्यास्य निबन्धस्य सारांशः।)

कूटशब्दः– अष्टकम्, पक्षत्रयी, परिष्कारपक्षः, प्रक्रियापक्षः, दर्शनपक्षः, विषयप्रवेशः

व्याकरणं नाम शब्दानुशासनं शास्त्रमत एवानुजग्राहैदम्प्राथम्येन तत्रभवान् भाष्यकृत् "अथ शब्दानुशासनम्"[1] इति। अयं शब्दस्साधुरयं चासाधुरिति ज्ञानं व्याकरणायत्तमेव। अर्थश्चायं योगत एव लभ्यते। तथा हि व्याक्रियन्ते अनेनेति व्याकरणम्। कस्मात्कस्य व्यावृत्तिरिति जिज्ञासायां पृथक्करणं च साधुशब्दानामसाधुशब्देभ्यः। तेनासाधुशब्दावधिकसाधुशब्दकर्मकपृथक्कृतिनियमविशेषो व्याकरणमिति फलति। तच्च व्याकरणं पाणिनीयमष्टकरूपम्। यद्यपि पाणिनीयात्प्रागपि व्याकरणान्यासन्। अत एव सूत्रेष्वेव बहूनाचार्यानस्मरत् पाणिनिः यथा–

वा सुप्यापिशलेः[2]
सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे[3]
इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य नोदात्तस्वरितोदयगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्[4]
ओतो गार्ग्यस्य[5]
अवङ् स्फोटायनस्य[6]
ई चाक्रवर्मणस्य[7]
लोपः शाकल्यस्य[8]

इत्यादि। अनेन ज्ञायते यत् पाणिनेः पूर्वममीषामाचार्याणां व्याकरणानि प्रासिद्ध्यन्निति। अष्टसु नवसु वा संख्यासु व्याकरणानि विभक्तान्यासन्। उच्यते च

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ।

ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम्।
सारस्वतञ्चापिशलं शाकलं पाणिनीयकम्।। इति।

कातन्त्रादीनि बहूनि व्याकरणान्यपि श्रूयन्ते, जैनादीनां च व्याकरणान्यद्भुतानि श्रवणगोचराणि भवन्ति, हरिनामामृतादिव्याकरणानि च सर्वथा चेतश्चमत्कुर्वते तथाप्यद्यत्वे पाणिनीयमेव व्याकरणं वेदाङ्गतया समाद्रियते सर्वैः। अत एवाभ्यधायि भट्टनागेशेन "श्रुतिमूलकत्वादस्यैव वेदाङ्गत्वम्"[9] इति। अत्रैवकारो भिन्नक्रमस्तेन वेदाङ्गत्वमेवेत्यर्थः।

व्याकरणमिदमक्षरसमाम्नायमूलकमिति प्रसिद्धमेव। अइउणित्याद्यक्षरसमाम्नायमुपक्रम्य ऋक्तन्त्रे प्रोक्तम्– इदमक्षरच्छन्दो वर्णशः समनुक्रान्तं यथाचार्या ऊचुर्ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच बृहस्पतिरिन्द्रायेन्द्रो भरद्वाजाय भरद्वाज ऋषिभ्य ऋषयो ब्राह्मणेभ्यस्तं खल्विममक्षरसमाम्नायमित्याचक्षते, न भुक्त्वा न नक्तं प्रब्रूयाद् ब्रह्मराशिः इति।

यद्यपि कृत्स्नं व्याकरणमेकमेव तथापि तत्र विस्तरस्य सत्त्वात् पक्षत्रये तस्य विभागः कर्तुं शक्यः।

1. प्रक्रियापक्षः

2. दर्शनपक्षः

3. परिष्कारपक्षः

अत्रामीषां पक्षाणामीषत्परिचयः प्रस्तूयते।

1. प्रक्रियापक्षः–

मनागेषां प्रतिपादनं विधीयते। प्रक्रियापक्षे यत्किञ्चिल्लक्ष्यं सिसाधयिषया सूत्राणि प्रवर्त्यन्ते। कदाचिच्च सूत्रद्वयस्य बहूनां सूत्राणां वा यौगपद्येन प्राप्तौ सत्यां "विप्रतिषेधे परं कार्यम्"[10], "पूर्वपरनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः"[11] इत्यादिनियमान् परिशील्यान्यतरस्यान्यतमस्य वा सूत्रस्य प्रवृत्तिः कार्यते। पक्षेऽस्मिन् शब्दसाधुत्वान्वाख्यानं विशेषतो विधीयते। पुण्यजनकतावच्छेदकसाधुशब्दव्युत्पादनादयं पक्षो नितान्तं महिमशाली विद्यते।

पूर्वस्मिन् काले पाणिनीयाष्टाध्यायीमधीत्य ततः प्रक्रियामवगत्य शब्दानन्वशासन्। अष्टाध्यायीक्रमेऽनितरसाधारणानि वैशिष्ट्यानि सन्ति, यानि तदधीत्यैव ज्ञायन्ते। "विप्रतिषेधे परं कार्यम्", "असिद्धवदत्राभावात्"[12], "पूर्वत्रासिद्धम्"[13] इत्यादीनामधिकारसूत्राणाञ्च यथायथं बोधः अष्टाध्यायीपाठादेव सम्भवति नेतरथा।

अस्मिन् सन्दर्भे वामनजयादित्ययोः काशिकाभिधो ग्रन्थः प्रसिद्धः। तत्र प्रत्येकं सूत्रस्यार्थनिर्देशपुरस्सरमुदाहरणान्यपि प्रस्तुतानि। तत्र महामहोपाध्यायस्य श्रीहरदत्तमिश्रस्य पदमञ्जरीटीका जिनेन्द्रबुद्धिमहोदयस्य न्यासटीका च सविशदं काशिकार्थविस्फोरणेन सह व्याकरणीयं गूढं तत्त्वमुपस्थापयतः। महत्त्वातिशयादेवेमौ ग्रन्थौ पठने

पाठने च समादरणीयतां भजेते। अन्येऽपि बहवो ग्रन्था अष्टाध्यायीमाधृत्य टीकारूपेण विरचिताः। तत्सर्वमपि विस्तरभयान्नेह वितन्यते। प्रक्रियापक्षेऽन्यापि धारा प्राचलत् या खलु लक्ष्यानुसारिणी। समग्रामष्टाध्यायीं पठितुं धारयितुं तदनुसारञ्च प्रक्रियां ज्ञातुं काठिन्यमवधार्य, अल्पबुद्धिभ्यश्च हिताय खवेदररुद्रमिते वैक्रमे बौद्धभिक्षुः धर्मकीर्तिः प्रक्रियानुसारिणीं रूपावतारनाम्नीं कृतिं जग्रन्थ। यत्र स्वरवैदिकं प्रकरणं विहाय लक्ष्यानुसारमन्यानि सूत्राणि व्याख्यातानि।

तस्मिन्नेव क्रमे वियद्वसुवेदब्रह्ममितवैक्रमे रामचन्द्राचार्यः प्रक्रियाकौमुदीं निरमात्। ग्रन्थोऽयं सिद्धान्तकौमुद्या आधाररूपेण विद्यते।

गच्छता कालेन श्रीमान् भट्टोजिदीक्षितः प्राचीनं ग्रन्थजातं निभाल्य सिद्धान्तकौमुदीनामकमनुपमं ग्रन्थरत्नं निरमासीत्। तदेतावन्महत्त्वमावहति यदद्यत्वे ग्रन्थमिममनधीत्य कोपि विद्वान् न भवति प्रायः। एतदीयं महिमानं विलोक्यैवा-भियुक्ताः प्राहुः–**कौमुदी यदि कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः।**

कौमुदी यद्यकण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः।। इति।

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्याश्च बह्व्यष्टीका विद्वद्भिर्विरचिताः। स्वयं भट्टोजिदीक्षितस्यैव स्वोपज्ञटीका प्रौढमनोरमानाम्नी चकास्ति यत्र प्राचीनाचार्याणां मतानि खण्डयित्वा भाष्यानुमोदितः सिद्धान्तः सयुक्ति प्रतिपादितः। प्रौढमनोर-मायामपि बहूनि व्याख्यानानि विद्वत्तल्लजैः विहितानि सन्ति। तत्र हरिदीक्षितकृतं शब्दरत्नं विशिष्य पाठनपाठनादिष्वाद्रियते। नव्यवैयाकरणस्य श्रीमतो नागेशभट्टस्य कौमुद्यामेव व्याख्यानरूपः लघुशब्देन्दुशेखरनामा ग्रन्थः सुनिशितधिषणानां विदुषां प्रीतिपात्रमस्ति। तत्र हि नव्यन्यायशैल्या विषयाः सम्यक् परिशीलिताः। भाष्यतत्त्वस्य हार्दमभिव्यज्य तद्विरुद्धानामर्थानां खण्डनमपि महता समारम्भेण निर्व्यूढम्। इत्थं प्रक्रियापक्षे वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्याः विशिष्टं स्थानं परिलक्ष्यते। छात्राणां बुद्धिमान्द्यं विलोक्य ततोऽपि ऋजुतरं पन्थानमाविष्कर्तुं दीक्षितस्यैव शिष्यो वरदराजनामा मध्यसिद्धान्तकौमुदीं लघुसिद्धान्तकौमुदीञ्च व्यरचयत्।

2. दर्शनपक्षः–

व्याकरणशास्त्रस्यापि दर्शनत्वमित्यत्र नास्ति संशीतिलेशः। सर्वन्यायबी-जात्मके महाभाष्ये यथाप्रसङ्गं दार्शनिकतत्त्वानि निरूपितानि। गभीरपारावार-रूपान्महाभाष्यात् दार्शनिकं तत्त्वं चायं चायमयं श्रीमान् भर्तृहरिः वाक्यपदीयाभिधं ग्रन्थं प्रणिनाय।

यद्यपि भर्तृहरेः प्रागपि व्याकरणदर्शनसम्बन्धिनो ग्रन्था अवर्तन्त। अत एव स स्वयमेवाह– **पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः।**

स नीतो बहुमार्गत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः।।[14]

न्यायप्रस्थानमार्गांस्तानभ्यस्य स्वं च दर्शनम्।

प्रणीतो गुरुणास्माकमयमागमसङ्ग्रहः।।[15] इति।

इत्थं महाभाष्यापेक्षयाऽर्वाचीना अपि वैयाकरणाः ग्रन्थान् प्रकाशयामासुरिति स्पष्टमवगम्यते। तथापि सम्प्रत्युपलब्धेषु व्याकरणदर्शनग्रन्थेषु भर्तृहरिप्रणीतं वाक्यपदीयमेव सर्वापेक्षया प्राचीनम्। विषयगरिम्णा चायं ग्रन्थो महतीं प्रतिष्ठामवापेति विदन्त्येव विपश्चितः। तदनन्तरकालिका कैयटभट्टोजिदीक्षितनागोजिभट्टप्रभृतयो महान्तो वैयाकरणा वाक्यपदीयमुपजीव्यत्वेन स्वीचक्रुः। स्वीयोक्तसिद्धान्ते प्रामाण्यमापादयितुञ्च हरिवचनमेवोदाहार्षुः।

वाक्यपदीयस्यादिममागमकाण्डं ब्रह्मकाण्डनाम्ना प्रथितं महाभाष्यस्य पस्पशाह्निकमेवाधारीकृत्य प्रवृत्तम्। यः स्फोटसिद्धान्तः पस्पशायां श्रीमता पतञ्जलिना प्रतिपादितः तस्य सविशदं निरूपणं भर्तृहरिणा ब्रह्मकाण्डे व्यधायि। एवम्प्रकारेण महाभाष्यस्य सारं ग्राहं ग्राहं प्रवृत्तमिदं ग्रन्थरत्नं व्याकरणदार्शनिकसिद्धान्तान् प्रकामं प्रकाशयति।

शास्त्रान्तरीया अपि विद्वांसः स्वाशयमुपोद्बलयितुं, स्वीयमते प्रामाण्यं चाधातुं वाक्यपदीयसन्दर्भान् साक्षात्, स्वशब्दैर्वा समुपन्यस्यन्ति। महामाहेश्वराचार्योऽभिनवगुप्तपादः स्वीयेषु तन्त्रग्रन्थेषु साहित्यग्रन्थेषु च भर्तृहरिग्रन्थमुपन्यस्य स्वमतं पुष्णाति।

ये खलु जयन्तभट्टादयः शब्दाद्वैतवादान् स्फोटवादादींश्च खण्डयन्ति तेऽपि हरिग्रन्थसन्दर्भमेव साक्षात् पूर्वपक्षरूपेण संगिरन्ते। किम्बहुना सर्वतन्त्रस्वतन्त्रः श्रीमान् वाचस्पतिमिश्रः, आचार्यमण्डनमिश्रादयश्च तत्तत्प्रसङ्गे वाक्यपदीयं स्मरन्तोऽवलोक्यन्ते।

इत्थं व्याकरणदर्शनपक्षः नितान्तं गभीरः सुसमृद्धश्चेति स्पष्टं भवति। भर्तृहरेरनन्तरमपि बहवो वैयाकरणा अर्थमात्रविषयकविचारपरान् ग्रन्थान् प्राणैषुः। तत्र शेषकृष्णस्य स्फोटचन्द्रिकानाम्नी स्फोटविषयिणी कृतिः सुप्रसिद्धा। कौण्डभट्टस्य बृहद्वैयाकरणभूषणम्, वैयाकरणभूषणसारश्चेति ग्रन्थौ व्याकरणदर्शनं नितान्तमुपकुर्वाते। श्रीमता भट्टोजिदीक्षितेन वैयाकरणसिद्धान्तकारिका वैयाकरणमतोन्मज्जिनीत्यपरपर्याया विरचिता तद्व्याख्यारूपेणैव कौण्डभट्टस्य ग्रन्थौ विद्येते। दीक्षितस्य शब्दकौस्तुभाख्योऽपि ग्रन्थः शाब्दिकसमाजेऽभ्यर्हितश्चकास्ति।

नव्यव्याकरणपरम्परायां श्रीमतो नागोजिभट्टस्य नाम को वा न जानीयात्। स्वीययानवद्यया धिषणया भाष्यानुमोदितेन च विषयेण च स व्याकरणदर्शनमतितरां समार्धयिष्ट।

नागेशो वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषां वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषां परमलघुमञ्जूषां च रचयामास। यत्र दार्शनिका सिद्धान्ता भृशं विचारिताः। महाभाष्यस्य भाष्यप्रदीपोद्योतव्याख्यानेऽपि यथाप्रसङ्गं दार्शनिकराद्धान्ता विवेचिता विद्यन्ते।

निरुक्तानामेषां ग्रन्थानां टीकाः उपटीकाश्च शब्दशास्त्रीयां दार्शनिकीं सुषमां वितन्वते।

3. परिष्कारपक्षः–

व्याकरणेष्वन्यतमोऽयं पक्षः तर्ककर्कशधियां विदुषां समाजे समादृतो विद्यते। पूर्वं सूत्रस्य कस्यचनार्थः आपातप्रतीयमानो निर्धार्यते। तत्र समापतितान् दोषानुद्धर्तुं लक्षणे सूत्रार्थे वा किञ्चित् परिवर्त्यते। यावद्दोषाः सम्भाव्यन्ते तावद् लक्षणं परिष्कृत्य सर्वान्ते निष्कृष्टं सर्वलक्ष्योपकारकं लक्षणं स्थिरीक्रियते।

अनया रीत्या सूत्रादीनां तत्त्वमाञ्जस्येनावगम्यते। यथा "स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ"[16] इति सूत्रघटकस्यानल्विधावितिपदस्य परिष्कारपद्धत्याऽर्थेऽवगम्यमाने प्राचीननवीनयोः मतं स्फीततयावबुध्यते। तथैव "कर्तुरीप्सिततमं कर्म"[17] इत्यादीनां सूत्राणां यथार्थबोधः परिष्कारपद्धत्याञ्जसा जायते। नागेशभट्टस्य लघुशब्देन्दुशेखरः परिष्कारसरणीं बहुत्रानुसरति। विशिष्य काश्याः व्याकरणपरम्परायां पद्धतेरस्याः समृद्धा परम्परा दरीदृश्यते। नागेशविरचिते परिभाषेन्दुशेखरे तात्याशास्त्रिणो भूतिटीका परिष्कारग्रन्थेषु किमप्यनुपमं मूर्धस्थानं बिभर्ति। तदनन्तरं विद्वद्भिः शास्त्रार्थरत्नावली, नागेशोक्तिप्रकाशिका, परिष्कारदर्पणः, वादरत्नावलीत्यादयो नैके ग्रन्थाः परिष्कारपक्षे विरचिताः।

इत्थं त्रिभिरपि पक्षैः सुसमृद्धमिदं व्याकरणशास्त्रम् स्वज्योतिषा कृत्स्नमपि संस्कृतं जगदालोकयति।

निष्कर्षः– इत्थं प्रक्रियांशे शब्दानां व्युत्पत्तिः प्रतिपाद्यते। यथा सुधी + उपास्य इत्यत्र यण्सन्धिः। रामः इत्यत्र च रम् धातुः घञ् प्रत्ययः। पक्षेस्मिन् अष्टाध्यायी, काशिका, वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीत्यादयो ग्रन्थाः प्रसिद्धाः।

दर्शनपक्षे स्वरूपं कीदृक्, शब्दस्य च स्फोटरूपत्वं तस्य च जगत्कारणत्वमित्यादयः विषयाः विमृश्यन्ते। यथा व्यञ्जकश्शब्दः प्राकृतध्वनिरिति व्यवह्रियते व्यङ्ग्यश्च शब्दः स्फोटनाम्नाभिधीयते। तथा चाभ्यधायि हरिणा

द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः।
एको निमित्तं शब्दानामपरोर्थे प्रयुज्यते।।[18]

इत्यादि। साम्प्रतिका भाषावैज्ञानिका कण्ठताल्वाद्यभिघातजन्यं श्रोत्रा श्रूयमाणं बाह्यं स्वरूपमेव प्रतिपादयन्ति परमत्र शब्दस्य कारणत्वं, परापश्यन्तीमध्यमावैखरीभेदेन तस्य चातुर्विध्यमित्यादिविषयजातं न्यक्षेण विचार्यत इति महदिदं वैशिष्ट्यं पाणिनीयव्याकरणस्य। एवं सर्वथाप्यप्रकम्प्यो दार्शनिकत्वपक्षो व्याकरणस्य। अत्र महाभाष्यम्, वाक्यपदीयम्, वैयाकरणभूषणम्, वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषेत्यादयो ग्रन्थाः प्रथन्ते।

परिष्कारपक्ष इति तार्तीयः पक्षः। यथा अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्[19] इत्यत्र वृत्तिमत्त्वमर्थवत्त्वमिति प्राचीनाः नव्यास्तु एतत्संज्ञाफलभूतविभक्तीतरसमभिव्याहारानपेक्षया लोकेर्थविषयकबोधजनकत्वम्[20] अर्थवत्त्वमित्याहुः। इत्थं बहुषु बाध्यबाधकभावादिस्थलेषु परिष्कारसरण्याञ्जस्येन बोधः सम्पद्यते। पक्षेस्मिन्

लघुशब्देन्दुशेखरः, परिभाषेन्दुशेखरे तात्याशास्त्रिणो भूतिटीका, शास्त्रार्थरत्नावली, वादरत्नमित्यादयो ग्रन्थाः प्रसिद्ध्यन्ति।

एवं च व्याकरणं शब्दसाधुत्वप्रयोजकं सदपि सर्वात्मना पक्षत्रयोपेतमस्ति। अत्र दार्शनिकं तत्त्वं परिष्कारसौरभं प्रक्रियापक्षश्चाहमहमिकया स्वीयं वैशिष्ट्यं स्फारीकुर्वन्ति। तेन व्याकरणस्य त्रिष्वपि पक्षेष्वनितरसाधारणं माहात्म्यमिति निष्कर्षः।

सन्दर्भग्रन्थः–

1. महर्षिपतञ्जलिः, व्याकरणमहाभाष्यम् , चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली 2018
2. महर्षिपाणिनिः, अष्टाध्यायीसूत्रपाठः, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-1, 1950
3. नागेशभट्टः, लघुशब्देन्दुशेखरः, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी वि.सं. 2064
4. नागेशभट्टः, परिभाषेन्दुशेखरः, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी 2012
5. भर्तृहरिः, वाक्यपदीयम्, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-1, वि. सं. 2018

---

1. महाभाष्यीयमादिमं वाक्यम्
2. अष्टाध्यायी 6.1.95
3. अष्टाध्यायी 1.1.16
4. अष्टाध्यायी 8.4.67
5. अष्टाध्यायी 8.3.20
6. अष्टाध्यायी 6.1.123
7. अष्टाध्यायी 6.1.130
8. अष्टाध्यायी 8.3.19
9. लघुशब्देन्दुशेखरे संज्ञाप्रकरणे
10. अष्टाध्यायी 1.4.2
11. परिभाषेन्दुशेखरः 38 तमी परिभाषा
12. अष्टाध्यायी 6.4.22
13. अष्टाध्यायी 8.2.1
14. वा. प. 2.49
15. वा. प. 2.490
16. अष्टाध्यायी 1.1.56
17. अष्टाध्यायी 1.4.49
18. वाक्यपदीये ब्रह्मकाण्डे
19. अष्टाध्यायी 1.2.45
20. लघुशब्देन्दुशेखरः अजन्तपुंलिङ्गप्रकरणम्

सहायकाचार्यः (अतिथिः),
व्याकरणविद्याशाखा, केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
लखनऊपरिसरः, लखनऊ।

संस्कृतवाङ्मये वैज्ञानिकत्वम्

– मेघाजैनः

(संस्कृत साहित्य का वैज्ञानिक स्वरूप उसकी ज्ञान व्यवस्था का प्रतीक है जिसमें साहित्य के विविध पक्षों के विश्लेषण, वर्गीकरण एवं परिभाषा के माध्यम से अध्ययन किया जाता है। संस्कृत साहित्य में केवल धार्मिक-दार्शनिक विचार ही नहीं होते हैं, अपितु विज्ञान, गणित, खगोलशास्त्र, आयुर्वेद, वास्तुकला तथा ध्वनिशास्त्र आदि विषय भी विस्तृत रूप से आच्छादित हैं। संस्कृत साहित्य की वैज्ञानिकता वैदिक ज्ञान से आरम्भ होती है। वैदिक साहित्य न केवल धार्मिक, आध्यात्मिक ज्ञान का स्रोत है अपितु प्राकृतिक विज्ञान, खगोल विज्ञान, चिकित्सा आदि विज्ञानों का आधार भी है। संस्कृतसाहित्य की विविधता को देखते हुए यह भाषा न केवल काव्यनाट्यभूमि अपितु वैज्ञानिकगणितीय कल्पना, दर्शनशास्त्र और तत्त्वज्ञान के महान् ग्रन्थों का आधार भी है। पाणिनीय अष्टाध्यायी आदि व्याकरणिक ग्रन्थ भाषा संरचना की सूक्ष्मता को प्रकाशित करते हैं। संक्षेप में संस्कृत साहित्य के वैज्ञानिकत्व को उसके तार्किक अनुभवात्मक व प्रमाणाधारित पद्धति से जाना जा सकता है। यह न केवल प्राचीन भारतीय ज्ञान परम्परा का वैज्ञानिक आधार है, अपितु वर्तमान में आधुनिक विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी संशोधन का प्रेरणास्रोत भी है।)

(संस्कृतसाहित्यस्य वैज्ञानिकस्वभावः तस्य ज्ञानव्यवस्थायाः प्रतीकः भवति या च विश्वस्य विविधाः पक्षाः विश्लेषणेन, वर्गीकरणेन, परिभाषायाः माध्यमेन च अध्ययनं कृतमस्ति। संस्कृतसाहित्ये न केवलं धार्मिकदार्शनिकविचाराः व्यज्यन्ते, अपितु विज्ञानम्, गणितम्, खगोलशास्त्रम्, आयुर्वेदः, वास्तुकला, ध्वनिशास्त्रम् इत्यादयः विषयाः अपि विस्तृतरूपेण आच्छादिताः सन्ति। अस्य वैज्ञानिकपद्धतिः तर्कस्य, अनुभवस्य, प्रमाणस्य च आधारेण भवति, येन एतत् अद्वितीयं प्रामाणिकं च ज्ञानसंस्कृतिवस्तु इति प्रस्तुतं भवति।

संस्कृतसाहित्यस्य वैज्ञानिकता वैदिकसाहित्यतः आरभ्यते। ऋग्वेदः, सामवेदः, यजुर्वेदः, अथर्ववेदः इत्यादीनां संस्कृतभाषायां वैदिकसाहित्यस्य महत्त्वम् अपि अपारमस्ति, ये न केवलं धार्मिकाध्यात्मिकज्ञानस्य स्रोतः अपितु प्राकृतिकविज्ञानं, खगोलशास्त्रं, चिकित्साविज्ञानम् इत्यादीनां विज्ञानानाम् आधारः अस्ति। यथा ऋग्वेदस्य कस्मिंश्चित् मन्त्रे उक्तम्– 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' अर्थात् सत्यं एकम्, विद्वांसः भिन्ननाम्ना वदन्ति। अनेन मन्त्रेण ज्ञायते यत् संस्कृतसाहित्ये एकवादस्य समावेशित्वस्य च विचाराः प्रबलाः सन्ति। वेदेषु न केवलं धर्मकर्ममन्त्राणां वर्णनं भवति, अपितु प्रकृतेः, खगोलशास्त्रस्य, वैद्यस्य, ज्योतिषस्य च सिद्धान्ताः अपि आसन्। वेदेषु निहिताः श्लोकाः सूत्राणि च वैज्ञानिकसंकल्पनानां प्रामाणिकमाधारं प्रस्तुवन्ति, ये कालान्तरेण भारतीयज्ञानपरम्परायाः विकासे सहायकाः अभवन्। अथ च

वेदोपनिषद्ब्राह्मणारण्यकदर्शनादिषु सर्वेषु संस्कृतशास्त्रेषु प्रकृतिब्रह्माण्डद्रव्य-चैतन्यविषयानामधिकृत्य वैज्ञानिकसिद्धान्तान् प्राप्नुमः।

एवं संस्कृतसाहित्ये शास्त्राणां महत्त्वपूर्णं योगदानमस्ति। अत्र व्याकरणगद्या-लङ्कारन्याययोगायुर्वेदवास्तुशास्त्राणि प्रमुखशास्त्राणि सन्ति। संस्कृतसाहित्यस्य विविधतां दृष्ट्वा एषा भाषा न केवलं काव्यनाट्यभूमिः, अपितु वैज्ञानिकगणितीयसंकल्पनानां, दर्शन-शास्त्रस्य, तत्त्वज्ञानस्य च महान् ग्रन्थानामाधारोऽपि अस्ति। पाणिनेः अष्टाध्यायी इत्यादयः व्याकरणिकग्रन्थाः भाषासंरचनायाः सूक्ष्मतां प्रकाशयन्ति। ततश्च वाल्मीके: रामायणम्, महाभारतम् इत्यादीनि महाकाव्यानि संस्कृतसाहित्यस्य पाठ्योत्कृष्टतामाख्यानगहनतां च प्रकाशयन्ति। इतोऽपि चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता च आयुर्वेदस्य महत्त्वपूर्णग्रन्थाः सन्ति, येषां प्रयोगः अद्यत्वे चिकित्साशास्त्रे भवति।

संक्षेपेण संस्कृतसाहित्यस्य वैज्ञानिकत्वं तस्य तार्किकानुभवात्मकप्रमाणाधारित-पद्धत्या अवगन्तुं शक्यते। एतत् न केवलं प्राचीनभारतीयज्ञानपरम्परायाः वैज्ञानिकमाधारं भवति, अपितु अद्यतनस्य आधुनिकविज्ञानस्य प्रौद्योगिकीसंशोधनस्य च प्रेरणास्रोतरूपेणापि कार्यं करोति।)

कूटशब्दाः–

संस्कृतवाङ्मयः, वैज्ञानिकत्वम्, वैज्ञानिकस्वरूपम्, वैदिकसाहित्यम्, शास्त्रीयसाहित्यम्, वेदः, व्याकरणम्, दर्शनम्।

प्रस्तावनाः–

संस्कृतसाहित्यस्य रूपम् अत्यन्तं विस्तृतं बहुमुखि चास्ति। यत्र भारतीयज्ञान-परम्परायाः विशिष्टता, गम्भीरता च स्पष्टतया प्रतिबिम्बिता भवति। तत्र वैदिकसाहित्यम्, शास्त्रीयसाहित्यम्, पुराणम्, दर्शनम्, नाटकम्, काव्यम् अन्ये च अनेकाः प्रकाराः सन्ति। अस्य महत्त्वं न केवलं धार्मिकाध्यात्मिकक्षेत्रेषु दृश्यते, अपितु साहित्यिक-दार्शनिक-वैज्ञानिक-सांस्कृतिकदृष्ट्या अपि दृश्यते। संस्कृतसाहित्यस्या-ध्ययनेन भारतीयसमाजस्य, संस्कृतेः, परम्परायाः, ज्ञानव्यवस्थायाः च गहनविश्लेषणं प्राप्यते। संस्कृतशास्त्रीयसाहित्यस्य मूलरूपं वेदोपनिषत्स्मृतिमहाभारतरामायण-पुराणदर्शनादिशास्त्रीयसाहित्यरूपेण प्रतिष्ठितमस्ति। तस्यावगमनाय एतेषां विविध-साहित्यिकदार्शनिकग्रन्थानाम् उद्धरणं सन्दर्भाश्च आवश्यकाः, येन तस्य मूलभूत-तत्त्वानि तस्य प्रासंगिकतां च प्रकाशयिष्यन्ति। अत्र एतत् प्रारूपं प्रदर्शितमस्ति–

वेदरूपम्–

संस्कृतसाहित्यस्याधारः वेदाः सन्ति, ये 'अपौरुषेयः' अर्थात् 'ईश्वरप्रदाः' इति मन्यन्ते। ऋग्वेदः, यजुर्वेदः, सामवेदः, अथर्ववेदः इति विभक्ताः संस्कृतशास्त्रीय-साहित्यस्य वेदाः मुख्यानि स्रोतांसि सन्ति। वेदः ज्ञानस्य महत्त्वपूर्णः भण्डारोऽस्ति।

ऋग्वेदे भौतिकाध्यात्मिकविषयाणां प्रधानता वर्तते। अस्य मन्त्रेषु सृष्टिः, प्राकृतिकशक्तयः, देवताः च वर्णिताः सन्ति। **यजुर्वेदे** यज्ञविधेः विस्तृतव्याख्यानं विद्यते, येन संस्कारानुष्ठानानां महत्त्वं स्पष्टं भवति। 'यजुर्वेदीयं कर्मकाण्डस्य सूत्रमिति निर्दिश्यते'[1]। **सामवेदः** सङ्गीतस्य, गद्यस्य च आधारः, तत्र मन्त्राः सङ्गीतरूपेण प्रस्तुताः भवन्ति। **अथर्ववेदे** औषधस्य, तन्त्रमन्त्रस्य च विवरणं प्राप्यते, यत् चिकित्साशास्त्रस्य भौतिकशास्त्रस्य च दृष्ट्या महत्त्वपूर्णमस्ति। एते चत्वारः वेदाः न केवलं यज्ञस्य, संस्कारस्य च उपयोगिनो मन्यन्ते, अपितु तेषु प्रकृतेः, जगतः, जीवानां, मनुष्याणां च गहनविमर्शाः अपि सन्ति।

उपनिषदः प्रकृतिः–

वैदिकसाहित्यानन्तरं ब्राह्मणः, आरण्यकः उपनिषदः चापि भवन्ति। उपनिषत्सु षड्दर्शनस्य प्रश्नानां विस्तरेण विश्लेषणं क्रियते। एतेषु ग्रन्थेषु आत्मा, ईश्वरः, ब्रह्मः, मोक्षः, दर्शनं चेति गूढविषयाणां चर्चा कृता। तथा च **'बृहदारण्यकोपनिषदि'**[2] आत्मा-ब्रह्मयोर्सम्बन्धः स्पष्टः कृतः, यत्र 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्युक्तम्, यस्यार्थः 'अहं ब्रह्मा' इति। उपनिषदानां मुख्योद्देश्यं ज्ञानप्राप्तिम् आत्मसाक्षात्कारं च प्रति प्रेरयितुं भवति– **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**[3] वाक्येऽस्मिन् ब्रह्मणः सर्वव्यापित्वं प्रदर्श्यते।

स्मृतयः महाकाव्यानि च–

स्मृतिषु धर्मशास्त्रस्य, नीतिशास्त्रस्य, सामाजिकपद्धतीनां च वर्णनानि सन्ति। मनुस्मृतिः, याज्ञवल्क्यस्मृतिः इत्यादयः स्मृतयः सामाजिकाचरणस्य नैतिकतायाश्च नियमान् स्थापयन्ति। महाभारतम्, रामायणम् इत्यादीनि महाकाव्यानि अपि संस्कृतशास्त्रीयसाहित्यस्य अभिन्नभागाः सन्ति, येषु नैतिकता, धर्मः, जीवनस्य आदर्शाः च उपदिश्यन्ते– **'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः'**[4] अत्र धर्मानुसरणस्य रक्षणस्य च आवश्यकतायाः सन्देशः प्राप्यते। वाल्मीकिरामायणे आदर्शनायकस्य कथामाध्यमेन धार्मिकनैतिकमूल्यानां वर्णनं कृतम्। तथा च महाभारते नीतिधर्मयुद्ध-सामाजिकजीवनस्य च प्रत्येकं पक्षं

स्पृष्ट्वा गभीरतया वर्णितम्। महाभारतस्य भागभूता भगवद्गीता कर्मभक्तिज्ञानस्य च मार्गस्य समन्वयं करोति।

पुराणरूपम्–

सृष्टेः, पौराणिककथानां, वंश-इतिहासस्य, धार्मिक-संस्कारस्य च वर्णनं पुराणसाहित्यस्य महत्त्वपूर्णः भागोऽस्ति। संस्कृतसाहित्यस्य पुराणानि अन्यतमानि सन्ति। तेषामुद्देश्यं ज्ञानस्य प्रसारणं धर्मस्य रक्षणं चास्ति। भागवतविष्णुशिव-देवीभागवतादि पुराणेषु नानादेवदेवतानां महत्त्वं तेषां लीलानां च वर्णनं भवति। अत्र भक्तिभावनाभक्तिमार्गस्य महत्त्वम् ईश्वरप्रेमश्च पुराणादि ग्रन्थेषु प्राप्यते। अत्र पुराणानां पञ्चलक्षणान्यपि (सर्ग-प्रतिसर्ग-वंश-मन्वन्तर-वंशानुचरितानि) निर्दिश्यन्ते।

दर्शनशास्त्रम्–

संस्कृतशास्त्रीयसाहित्ये षड्दर्शनस्य (सांख्य-योग-न्याय-वैशेषिक-मीमांसा-वेदान्तदर्शनस्य) अत्यन्तं महत्त्वपूर्णं स्थानमस्ति। अनेन षड्दर्शनेन जीवनस्य जगतः च रहस्यं प्रकाश्यन्त्, दर्शनानि आत्मनः स्वरूपं तस्य मुक्तिमार्गं च स्पष्टयन्ति– **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध'**[5] सूत्रेऽस्मिन् योगस्य प्रयोजनं प्रक्रियां च सारांशतः प्रदशर्यते।

शास्त्रीयकाव्यं नाटकञ्चः–

संस्कृतशास्त्रीयसाहित्यस्य अन्यः महत्त्वपूर्णः पक्षः काव्यं नाटकं च। संस्कृतकाव्यपरम्परायां महाकाव्यस्य, खण्डकाव्यस्य, मुक्तककाव्यस्य च स्वकीयं महत्त्वं वर्तते। भासकालिदासभवभूतिमाघबाणभट्टादिकविभिः महाकाव्यैः, नाटकैः, अन्यैः काव्यरचनाभिः संस्कृतसाहित्यं समृद्धं कृतम्। कालिदासस्य 'अभिज्ञानशकुन्तलम्' विश्वसाहित्यस्य एकमद्वितीयं नाटकं मन्यते, यत्र प्रेम-सौन्दर्य-प्रकृतेः अद्भुतः सङ्गमोऽस्ति। भरतमुनिविरचिते नाट्यशास्त्रे नाटकस्य नाट्यशास्त्रस्य च तान्त्रिकशृङ्गारस्य विस्तरेण वर्णनमस्ति– **'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये'**[6] काव्यस्य उपयोगिता चतुर्धा (यश-अर्थ-व्यवहार-कल्याणम्) विभज्यते।

व्याकरणशास्त्रम्–

संस्कृतवाङ्मये भाषासंरचना व्याकरणव्यवस्था चास्ति। पाणिनेः 'अष्टाध्यायी' व्याकरणस्य, ध्वनिशास्त्रस्य, भाषाविज्ञानस्य च दृष्ट्या एकः अद्वितीयः ग्रन्थोऽस्ति, ग्रन्थेऽस्मिन् वैज्ञानिकपद्धत्या भाषायाः, शब्दानाम्, वाक्यानाम् च अध्ययनं प्रस्तूयते। पाणिनेः चतुरदृष्टिः व्यवस्थितता च न केवलं

संस्कृतभाषायाः अध्ययनं सरलीकरोति अपितु अन्यभाषायाः अध्ययनस्य अन्वेषणस्य च मानकरूपरेखां स्थापयति।

वास्तुशास्त्रम्–

वास्तुशास्त्रं भवननिर्माणं संस्कृतसाहित्यस्य अभिन्नो भागोस्ति। भवननिर्माणस्य सिद्धान्ताः, दिशाज्ञानं, निर्माणसामग्रीचयनस्य वैज्ञानिकमाधारः च वास्तुशास्त्रे प्रस्तुतमस्ति। अस्य शास्त्रस्य सिद्धान्ताः अद्यत्वेऽपि वास्तुकलायां भवननिर्माणे च प्रयुक्ताः, येन तस्य वैज्ञानिकता, प्रासंगिकता च स्पष्टा भवति।

वैदिकज्योतिषशास्त्रस्य (अर्थात् वेदाङ्गज्योतिषशास्त्रस्य) उल्लेखोपि आवश्यक:, तत्र ग्रहगतिः, कालगणना, खगोलघटना च वैज्ञानिकरूपेणास्ति।

संस्कृतसाहित्यस्य सौन्दर्यं विशेषतः तस्य भाषा-शैल्यां निहितमस्ति। अत्र छन्दः प्रयोगः, अलङ्कारसौन्दर्यम्, शब्दानां संयोजनं च दरीदृश्यते। भावविचारगहन-ताप्रस्तुतिकलानां प्रयोगः संस्कृतसाहित्येऽद्वितीयोऽस्ति।

एवं संस्कृतसाहित्यस्य रूपं बहुविधं भवति, यत्र ज्ञानदर्शनकलाविज्ञान-संस्कृतेः समन्वयः दृश्यते। साहित्यमेतत् न केवलं भारतीयसंस्कृतेराधारशिला, अपितु विश्वसाहित्यस्य ज्ञानव्यवस्थानां च प्रेरणास्रोतोऽप्यस्ति। संस्कृतसाहित्यस्य विशेषता तस्य विशिष्टतायामुत्कृष्टतायां च निहितं भवति, यत् ज्ञानसाहित्यदर्शनविज्ञानक्षेत्रेषु अपूर्वं योगदानं दृश्यते। संस्कृतसाहित्ये विचारगहनता, भाषासमृद्धिः, शाब्दिक-सटीकता चेति विशेषः, अतएव अन्यभाषाभिः विशिष्टा भवति।

संस्कृतवाङ्मये वैज्ञानिकत्वम्–

संस्कृतसाहित्यस्य स्वरूपं स्वयमेव विशिष्टं वैज्ञानिकं दृष्टिकोणं प्रतिबिम्बयति। न केवलं धार्मिकाध्यात्मिकग्रन्थेषु, अपितु गहनतर्कगणितज्योतिषचिकित्सादिवैज्ञानिकविषयेष्वपि अस्य विकासोऽभवत्। वस्तुतः संस्कृतसाहित्यस्य प्रत्येकशाखा विज्ञानस्य विविधपक्षेषु परिभाषयति, संगठने च महती भूमिका निर्वहति। अनेन ज्ञायते यत् संस्कृतसाहित्येन न केवलं धार्मिकाध्यात्मिकविचाराः प्रवर्धिताः अपितु खगोलशास्त्रम्, कालमापनम् इत्यादिषु वैज्ञानिकाध्ययनक्षेत्रेष्वपि बहुमूल्यं योगदानं कृतम्। अथ च संस्कृतवाङ्मये वैज्ञानिकतत्वं विविधैः उद्धरणैः एवं प्रस्तूयते–

वेद-वैदिकविज्ञानं चः–

विज्ञानसंकल्पनाः प्रथमं वेदोपनिषदेषु उल्लिखिताः सन्ति। एतेषु ग्रन्थेषु सृष्टिब्रह्माण्डजीवविज्ञानमानवशरीरतत्त्वानां विस्तृतविश्लेषणं प्रस्तुतमस्ति। यजुर्वेदे

वर्णितः पृथिवीजलतेजवाय्वाकाशः इति पञ्चतत्त्वसिद्धान्तः आधुनिकविज्ञानस्य भौतिकसिद्धान्तैः सह सङ्गतः वैज्ञानिकदृष्ट्या महत्त्वपूर्णः इति मन्यते **'पृथिव्या आपः, आपोऽग्निर्वायुराकाशं च...** 'यजुर्वेदस्य एतेन उद्धरणेन पञ्चतत्त्वानां वैज्ञानिकमहत्त्वं स्पष्टं भवति। यथा ऋग्वेदे **'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म'**[7] इति उक्तम्, तत्र ब्रह्माण्डीयनियमानां सत्यस्य वैज्ञानिकत्वस्य च चर्चा कृता। तथा यजुर्वेदे **'ओम् खं ब्रह्म क्षरं परम्'**[8] द्वारा ब्रह्मणः अनन्तं शाब्दिकं च स्वरूपं व्याख्यातमस्ति। सामवेदे **'सप्त स्वराः स्वरयन्ति'**[9] इत्यस्योल्लेखोऽस्ति, यया सङ्गीतस्य ध्वनिविज्ञानस्य च आधारः स्थापितः इति ध्वनिविज्ञानस्य सिद्धान्तानां चित्रणं कृतम्। अथर्ववेदः जीवनं स्वास्थ्यं च सम्बद्धं वैज्ञानिकं दृष्टिकोणमपि प्रस्तुतं करोति।

गणितम् ज्योतिषविज्ञानं चः–

गणितस्य ज्योतिषस्य च संस्कृतग्रन्थेषु विस्तरेण चर्चा कृता। आर्यभटीयम्, लीलावती इत्यादिषु ग्रन्थेषु पाई (π), त्रिकोणमिति, शून्यम् इत्यादीनामवधारणानामुल्लेखोऽस्ति, ये आधुनिकगणितस्य मौलिकतत्त्वानि सन्ति। आर्यभट्टीयब्रह्मस्फुटसिद्धान्तादिग्रन्थेषु प्राचीनभारतस्य वैज्ञानिकसाधनानां प्रमाणानि गणितस्य, ज्यामितिः, खगोलशास्त्रस्य च सिद्धान्तानामुल्लेखोऽस्ति 'कालं ज्ञात्वा समोत्रशं...' उद्धरणमेतत् ज्योतिषगणनासु कालस्य महत्त्वं दर्शयति।

स्वरविज्ञानं व्याकरणं चः–

पाणिनेः अष्टाध्यायी पतञ्जलेः महाभाष्यञ्च संस्कृतव्याकरणस्य, ध्वनिशास्त्रस्य च वैज्ञानिकमाधारं प्रदत्तवन्ती। ध्वनेः संरचना, उच्चारणं, परिवर्तनशीलता च विस्तरेण चर्चिता, यस्य भाषाविज्ञानक्षेत्रे महत्त्वपूर्णं योगदानमस्ति– **'वर्णसमाम्नायः स्पष्टः...'** [10] उद्धरणेऽस्मिन् ध्वन्यात्मकतायाः संरचनायाः विश्लेषणं कृतमस्ति।

अद्यतनस्य आधुनिकसङ्गणकशास्त्रे प्राकृतिकभाषासंसाधने च प्रयुक्तस्य पाणिनीयभाषायाः व्याकरणनियमानामनुसरणं कृत्वा भाषायाः सम्पूर्णसंरचना व्यवस्थितास्ति। पाणिनेः एतत् व्याकरणं भाषाविज्ञानस्य विकासस्याधारः, संस्कृतसाहित्यस्य वैज्ञानिकपद्धतेः प्रमाणत्वेन च मन्तव्यम्।

सृष्टिः ब्रह्माण्डविज्ञानं चः–

सृष्टेः वैज्ञानिकवर्णनं संस्कृतसाहित्येऽपि उल्लिखितमस्ति। आधुनिकब्रह्माण्ड-विज्ञानसम्बद्धानां बहूनां सिद्धान्तानां समर्थनं कृत्वा उपनिषत् पुराणेषु ब्रह्माण्ड-स्योत्पत्तिः कार्याणि इतीमे विषयाः चर्चिताः– **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति...'**[11] एतेन उद्धरणेन सृष्टेः विभिन्नरूपेषु वैज्ञानिकदृष्टिः स्पष्टा भवति।

दर्शनं विज्ञानं चः–

संस्कृतवाङ्मये षड्दर्शनानि-सांख्य-योग-न्याय-वैशेषिक-मीमांसा-वेदान्तश्च प्रकृतेः द्रव्यस्य च सिद्धान्तानां विश्लेषणं कुर्वन्ति, येन वैज्ञानिकं दृष्टिकोणमधिकं सुदृढं भवति– **'तत्त्वानां तत्त्वविज्ञानं...'** उद्धरणेऽस्मिन् तत्त्व-मीमांसायाः वैज्ञानिक-व्याख्यायाः प्रकाशनं क्रियते।

न्यायवैशेषिकदर्शनयोः द्रव्यस्य तस्य गुणविश्लेषणस्य, तयोः परस्परसम्बन्धा-ध्ययनस्य, तर्कस्य च सिद्धान्तानां वर्णनं भवति। सांख्यदर्शने मनुष्यस्य सृष्टिः, प्रकृतिः, विभागः च इति तत्त्वानां विस्तृतं वैज्ञानिकं विश्लेषणं भवति। योगदर्शने मनोविज्ञानस्य, चैतन्यस्य अवस्थानां च वर्णनानि सन्ति, ये अद्यापि ध्यानस्य, मानसिकस्वास्थ्यस्य च अध्ययने महत्त्वपूर्णाः सन्ति। वेदान्तदर्शनेन ब्रह्म-आत्मनो: ज्ञानं तर्क-व्याख्याद्वारा प्रस्तुतमस्ति, येन ज्ञानस्वरूपस्य वैज्ञानिक-अध्ययनं व्यज्यते।

आयुर्वेदः मानवविज्ञानं चः–

आयुर्वेदस्य वैज्ञानिकस्वभावोऽपि संस्कृतसाहित्यस्य महत्त्वपूर्णः भागोऽस्ति। मानवशरीरस्य संरचना, रोगानां स्वरूपं, तेषां चिकित्साविधिः च चरकसंहितायां सुश्रुतसंहितायां च वैज्ञानिकरूपेण प्रस्तुतोस्ति। अत्र मानवशरीरस्य संरचना, रोगप्रकारः, निदानम्, चिकित्साविधिः, औषधानां प्रयोगस्य च विषये सूचनाः वैज्ञानिकदृष्ट्या सम्प्राप्ताः। सुश्रुतसंहिता शल्यक्रियाविषये प्रथमः ग्रन्थः इति मन्यते, यस्मिन् विविधाः शल्यक्रियाविधयः उल्लिखिताः सन्ति। एतेषु ग्रन्थेषु वर्णिताः चिकित्साविधयः अद्यत्वे अपि आरोग्यचिकित्साक्षेत्रे उपयोगिनो सिद्धाः भवन्ति। आयुर्वेदिकचिकित्साव्यवस्थाभिः सह सम्बद्धं **'विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव'**[12] इति विहितं करोति।

संस्कृतसाहित्यस्य गणितीयदृष्टिकोणः–

संस्कृतसाहित्ये गणितस्य ज्योतिषस्य चापि विशेषस्थानमस्ति। आर्यभटः, भास्कराचार्यः, ब्रह्मगुप्तः इत्यादयः महान्तः गणितज्ञाः स्वग्रन्थान् संस्कृतभाषायां लिखित्वा गणितसिद्धान्तानां खगोलशास्त्रस्य च जटिलतां व्याख्यायन्ति स्म। संस्कृतग्रन्थेषु विकसिता शून्यस्य अवधारणा, त्रिकोणमितिः, गणितस्य विविधसूत्राणि च आधुनिकविज्ञानस्य, प्रौद्योगिक्याः विकासस्य च आधारभूताः सिद्धाः अभवन्। प्राचीनगणितविदः संस्कृतग्रन्थस्य उपयोगेनापि अनेकानि सूत्राणि प्रमेयान् च विकसितवन्तः। एताः गणितीयसिद्धयः संस्कृतभाषायाः वैज्ञानिकत्वं

साधयन्ति। यथा– **'व्यासार्धं तद्रूपं तच्च...'** सिद्धांतशिरोमणि ग्रन्थस्य उद्धरणमेतत् गणितीयसिद्धान्तानां विकासस्य महत्त्वं दर्शयति।

चिकित्साशास्त्रे तंत्रिकातन्त्रम्–

नाडीतन्त्रस्य वर्णनं सुश्रुतसंहितायां कृतमस्ति, तत्र रक्तसञ्चारस्य, हृदयस्य, मस्तिष्कस्य च कार्यानुष्ठानस्य वैज्ञानिकव्याख्यानं प्राप्यते, यत् आधुनिकचिकित्सा-विज्ञानस्य सदृशमस्ति। यथा– **'नाड़ीतन्त्रविधानं...'** सुश्रुतसंहिता अनेन उद्धरणेन नाडीतन्त्रस्य वैज्ञानिकत्वं स्पष्टं भवति।

खगोलशास्त्रं ब्रह्माण्डं चः–

खगोलशास्त्रस्य वैज्ञानिकविश्लेषणं संस्कृतग्रन्थेष्वपि दरीदृश्यते। आचार्य-वराहमिहिर् इत्यनेन खगोलशास्त्रस्य ज्योतिषशास्त्रस्य च आधारः अद्यापि खगोलशास्त्रस्याध्ययने सहायकः भवति। यथा– **'तारकासङ्घः...'** बृहत्संहितायाः उद्धरणेऽस्मिन् खगोलशास्त्रस्य वैज्ञानिकमध्ययनं व्याख्यातमस्ति ।

ध्वनिविज्ञानस्य उपयोगिताः–

ध्वनिविज्ञानक्षेत्रे संस्कृतसाहित्यस्य योगदानं महत्त्वपूर्णं जातम्। संस्कृतध्वनिप्रकृतिः, तेषामुच्चारणम्, तयोः भेदाः च स्पष्टतया विवक्षिताः सन्ति। ऋग्-यजुर्मन्त्रेषु शब्द-गतितालयोः वैज्ञानिकमध्ययनं प्रतिबिम्बितमस्ति। एते ध्वनयः न केवलं मन्त्राणां प्रभावं वर्धयन्ति अपितु मानसिक-शारीरिक-स्वास्थ्येऽपि प्रभावं कुर्वन्ति। यथा– **'मंत्रस्य शक्तिरेव...'** उद्धरणेऽस्मिन् ध्वनिविज्ञानस्य चिकित्साशक्तिः वर्णितास्ति ।

संस्कृतवाक्पटुता आधुनिकप्रौद्योगिकी चः–

संस्कृतवाङ्मयस्य वैज्ञानिकसिद्धान्तानाम् उपयोगः आधुनिकप्रौद्योगिक्यामभियांत्रिक्याञ्च कुर्वन्ति, यथा– वायुयानशास्त्रे ऊर्जाविज्ञानं च क्रियते। यथा– 'विमानानां रहस्यं... वैमानिकशास्त्रस्य उद्धरणमेतत् विमानविज्ञानस्य सिद्धान्तान् निर्दिशति।

अथ च वैज्ञानिकपद्धतेः व्याख्या अन्येषु शास्त्रीयग्रन्थेषु अपि प्राप्यते। महाभारते **'धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ'**[13] इत्युल्लेखं कृत्वा चतुर्णां पुरुषार्थानां वैज्ञानिकविभागः क्रियते। समाजस्य धर्मस्य च संरचनात्मकसिद्धान्ताः **'धर्मो रक्षति रक्षितः'**[14]इत्यस्य माध्यमेन मनुस्मृतौ प्रकाशिताः सन्ति। पतञ्जलि-महाभाष्ये **'शब्दानुशासनं वेदव्याससूत्रेण'**[15]मार्गेण भाषा-ध्वनिविज्ञानं विस्तरेण व्याख्यातमस्ति। तैत्तिरीयोपनिषदि **'असतो मा सद्गमय'**[16] इति निर्देशः जीवनस्य सत्यस्य ज्ञानस्य च वैज्ञानिकमध्ययनं प्रति संसूचयति। काल-ग्रह-नक्षत्र-काल-

विज्ञानानां वैज्ञानिकाधारः सूर्यसिद्धान्त-वेदाङ्गज्योतिषादिषु ग्रन्थेषु अपि अस्ति, यथा **'कालः स्वभावो नियतिः'**[17] **'पञ्चमहायज्ञः'**[18]। अन्ते काव्यप्रकाशे मम्मटाचार्यः साहित्यस्य काव्यस्य च वैज्ञानिकत्वस्य वर्णनं **'सहितार्थं शब्दः काव्यम्'**[19] इत्यस्य माध्यमेन अपि कृतः।

एतेभ्यः सर्वेभ्यः उदाहरणेभ्यः स्पष्टं भवति यत् संस्कृतसाहित्यस्य रूपं वैज्ञानिकं तर्कयुक्तं च दृष्टिकोणं प्रस्तुतं करोति, यत् स्वकालस्य कृतेऽत्यन्तमुन्नतं प्रासंगिकं च आसीत्, अद्यत्वे अपि वैज्ञानिकजगति अध्ययनस्य महत्त्वपूर्णा भूमिका वर्तते।

निष्कर्षः–

संस्कृतसाहित्यस्य वैज्ञानिकस्वभावः प्रमाणं यत् एतत् न केवलं भाषा अस्ति, अपितु विज्ञानस्य, गणितस्य, चिकित्साशास्त्रस्य च गहनसंकल्पनाभिः परिपूर्णं समृद्धः पुस्तकालयोपि अस्ति। अस्य अध्ययनं संशोधनं च आधुनिकविज्ञानस्य विभिन्नक्षेत्रेषु नूतनानि दृष्टिकोणानि प्रदातुं शक्नोति। अस्य वैज्ञानिकत्वं सर्वेषु वेदेषु, शास्त्रेषु, उपनिषत्सु च गभीरतया तर्केन च व्यंज्यते। एतत्केवलं धार्मिकाध्यात्मिकदृष्टिकोणेषु एव सीमितं नास्ति, अपितु प्रकृतिः, भाषा, गणितं, ज्योतिषशास्त्रं, ध्वनिशास्त्रम् इत्यादयः विविधाः वैज्ञानिकविषयाः अपि अत्र समाविष्टाः सन्ति। संस्कृतसाहित्यस्य अन्येषु क्षेत्रेषु वास्तुशास्त्रस्य, योगस्य, पर्यावरणविज्ञानस्य च महत्त्वपूर्णं योगदानमस्ति। वास्तुशास्त्रे भवननिर्माणस्य वैज्ञानिकपद्धतीनां, तेषां पर्यावरणीयप्रभावानाञ्च विस्तरेणाध्ययनं कृतमस्ति। योगप्राणायामादीनां च विधयः मनुष्याणां शारीरिक-मानसिक-स्वास्थ्यस्य उन्नतिं कर्तुं वैज्ञानिकतया सिद्धाः सन्ति, येन न केवलं शरीरम् अपितु मनः-आत्मा अपि शुद्धं भवति।

एवं संस्कृतसाहित्यस्य वैज्ञानिकत्वं न केवलं तस्य व्याकरणभाषा-संरचनायामपितु तस्य दर्शनतर्कचिकित्साखगोलशास्त्रभौतिकशास्त्रेषु सिद्धान्तेषु अपि प्रतिबिम्बितमस्ति। प्राचीनभारतीयमीमांसकाः जीवनस्य विश्वस्य च गहनतया अन्वेषणं कृत्वा संस्कृतग्रन्थानां माध्यमेन स्वनिष्कर्षान् संरक्षितवन्तः इत्यपि एषा वैज्ञानिकता अस्मान् आभासयति।

शोधपत्रेऽस्मिन् उदाहरणानि सन्दर्भाः च विस्तरेणोल्लिखिताः, येन संस्कृतग्रन्थेषु शास्त्रेषु च वर्तमानं वैज्ञानिकतथ्यम् अधिकं स्पष्टं भविष्यति। यतोहि भारतीयपरम्परायाः अमूल्यनिधिः संस्कृतसाहित्यं न केवलं साहित्यस्य धर्मस्य च प्रतिनिधित्वं करोति अपितु गहनतया निहितं वैज्ञानिकसंकल्पनामपि प्रतिनिधिरूपेण अस्ति। अस्य मूलं वेदोपनिषदादिशास्त्रेषु अस्ति, येषु शास्त्रेषु

प्राकृतिकविज्ञानम्, गणितः, चिकित्साशास्त्रम्, ध्वनिविज्ञानम्, खगोलशास्त्रम्, दर्शनञ्च इत्यादिषु विविधक्षेत्रेषु महत्त्वपूर्णं योगदानं भवति। एतेषां क्षेत्राणां गहनविमर्शं वर्णनं च संस्कृतग्रन्थेषु प्राप्यते, येन वैज्ञानिकदृष्ट्या अत्यन्तं समृद्धं भवति।

सन्दर्भसूचीः-

1. अष्टाध्यायी, ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, हरियाणा सोनीपत, रामलालकपूर ट्रस्ट, रेवली, 2010
2. ईशादि नौ उपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर
3. ऋग्वेद, सायणाचार्यभाष्य, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, 1972
4. काव्यप्रकाशः,व्याख्याकार-विश्वेश्वर, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2009
5. महाभाष्य, (पं. युधिष्ठिरमीमांसकः), चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2017
6. मनुस्मृति, परिमल प्रकाशन, दिल्ली, 1992
7. महाभारत (महर्षि व्यास), गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2055
8. यजुर्वेदसंहिता, संपा-कुंवर चन्द्रप्रकाश, भुवन वाणी ट्रस्ट, लखनऊ, 1995
9. योगदर्शन, डॉ. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 2015
10. वैदिकसाहित्येतिहासः, शिवप्रसादद्विवेदी, चौखम्बासुरभारतीप्रकाशनम्, वाराणसी, 2012
11. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, डॉ. कपिलदेवद्विवेदी, विश्वविद्यालयप्रकाशनम्, वाराणसी, 2015
12. संस्कृत साहित्य का इतिहास, बलदेव उपाध्याय, शारदा निकेतन, वाराणसी, 1987

---

1. यजुर्वेद, 3.4
2. बृहदारण्यकोपनिषद्, 2.4.5
3. छान्दोग्योपनिषद्, 3.14.1
4. मनुस्मृति, 8.15
5. योगसूत्र, 1.2
6. काव्यप्रकाशः, 1.2
7. ऋग्वेद, 1.164.39
8. यजुर्वेद, 32.8
9. सामवेद, उत्तरार्चिका, 3.5
10. अष्टाध्यायी
11. ऋग्वेद
12. अथर्ववेद, 7.14.1
13. महाभारत, शांतिपर्वः, 109-10
14. मनुस्मृति, 8.15
15. महाभाष्य, प्रथमाध्याय, पाणिनीयसूत्रम्

16. तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली, श्लोक-1.3
17. सूर्यसिद्धान्त, 1.4
18. वेदङ्गज्योतिषः, 6.12
19. काव्यप्रकाशः, 1.3

शोधच्छात्रा,
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः
लखनऊपरिसरः, लखनऊ (ऊ.प्र.)।
दूरवाणी संख्या - 7895054099

भारतीयज्ञानपरम्परायां कामसूत्रग्रन्थस्य ग्रन्थविषयकभ्रमाः वर्ण्यविषयश्च

– मयंकतिवारी, शोधच्छात्रः
– डॉ. नीरजतिवारी, शोधनिर्देशकः

(सम्पूर्ण जगत इस बात को निर्विवाद रूप से यह स्वीकार करता है कि भारतीय ज्ञान परम्परा अत्यन्त समृद्ध है इसी परम्परा में काम नामक पुरुषार्थ के विषय में बहुत सारे ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है परन्तु कामशास्त्र के विषय में लोगों में पर्याप्त भ्रांतियाँ प्राप्त होती हैं उसके कई कारण हैं। उसमें भी कामसूत्र के विषय में लोग अश्लील नामक दोष का आरोपण करते हैं अतः प्रस्तुत शोध लेख में शोधार्थी के द्वारा कामसूत्र के वर्ण्यविषय को समुपस्थापित कर मुख्य विषय को लोक के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। जिससे कि ग्रन्थ की समग्र विषयवस्तु लोक के समक्ष आ सके।)

(पुरुषार्थचतुष्टयेऽन्यतमं काममुद्दिश्य बहवः ग्रन्थाः अभूवन्, तेषु वात्स्यायनाचार्यप्रणीतं कामसूत्रं विशिष्टं स्थानं भजते। पाश्चात्यहस्तसहायकाः वयं भारतीयाः तदुत्पादितां कुव्याख्यां दृष्ट्वा कामसूत्रं प्रति अश्लीलत्वारोपं विदध्मः परन्तु ग्रन्थः केवलं सम्प्रयोगमेव नैवोपदिशति। एतादृशानां प्रवादानामुच्छेदप्रयासोऽत्र करिष्यते, अथ च लोकेषु कामसूत्रं प्रति आकर्षणं भवेदित्यतः कामसूत्रस्थ समस्ताधिकरणानां, अध्यायानां, प्रकरणानां च सारसंक्षेपोऽत्र प्रस्तूयते)

कूटशब्दाः–

मल्लनागः, वात्स्यायनः, साधारणाधिकरणम्, साम्प्रयोगिकाधिकरणम् कन्यासंप्रयुक्तकम् अधिकरणम्, भार्याधिकारिकम् अधिकरणम्, पारदारिकम् अधिकरणम् , वैशिकम् अधिकरणम्, औपनिषदिकम् अधिकरणम्।।

प्रास्ताविकम्–

संस्कृतभाषायाः समस्तसाहित्यम् ऋषिभिः व्यलेखि। लोकोपयोगिषु प्रायः समस्तविषयेषु शास्त्राण्यत्र समुपलभ्यन्ते। भारतीयसंस्कृतौ धर्मार्थकाममोक्षाख्याः चत्वारः पुरुषार्थाः आधारस्तम्भत्वेन प्रथितास्सन्ति। ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थ-सन्यासाख्याः चत्वारः आश्रमाः[1] भवन्ति। पुरुषार्थचतुष्टयोपर्यपि ग्रन्थाः प्राप्यन्त एव। ग्रन्थानां प्रामाण्यादेवं प्राप्यते यत् ब्रह्मणा प्रजानियमनाय विविधशास्त्राणां प्रणयनमकारि। विविधशास्त्रैः वार्तेयं प्रमाणीभवति [2] । ततः ऋषयः स्वानुकूलविषया-नादाय पृथग्ग्रन्थान् रचयामासुः

"प्रजापतिर्हि प्रजाः सृष्ट्वा तासां स्थितिनिबन्धनं त्रिवर्गस्य साधनमध्यायानां शतसहस्रेणाग्रे प्रोवाच" का.सू. 1/1/5

यथा धर्मशास्त्रस्योपरि मनुयाज्ञवल्क्यप्रभृतयः आचार्याः ग्रन्थान् व्यरचयन्। अर्थशास्त्रामाधारीकृत्यापि चाणक्यप्रभृतयः आचार्याः कौटिलीयार्थशास्त्रमित्यादीन् ग्रन्थान् निबबन्धुः। तृतीयपुरुषार्थस्योपर्यपि कामपुरुषार्थविषयेऽपि प्राचीनकालादेव ग्रन्थकरणपटवः ग्रन्थान् रचयामासुः। अत्र वात्स्यायनाचार्यस्य ख्यातिः विद्यते। एषः कामसूत्रनामकस्य ग्रन्थस्य रचनां व्यदधात्। सप्ताधिकरणात्मकेऽस्मिन्कामसूत्रे कामस्य विविधाः अवस्थाः कर्तव्याकर्तव्यं निर्दिश्य विहितेषु प्रवृत्तिः निषिद्धान्निवृत्तिरिति च समुपवर्णितमस्ति। लोकस्थाः बहवः काममजानन्तोऽपि चिकामयिषन्ते येन कष्टकूपपतिताः तृणवच्च जीवन्ति। तेषां कृते साधुसूचनाद्वारा जागरुकतासम्पादन-मत्यावश्यकस्तीति कृत्वा कामसूत्रस्थविषयान् विवेचयामि साम्प्रतिके लोके कामसूत्रविषये अन्य एव प्रवादो वर्तते यत् पुस्तकमिदं रतिक्रियासम्बद्धा-न्यासनान्येवोपदिशति। यत्तु सर्वथा अलीकमेव (द्वितीयमधिकरणमेव स्त्रीपुरुषसंसर्ग-विशिष्टमुपस्थापयति)। एतादृशाः विविधा भ्रमाः सन्ति। कामसूत्रे विरुद्धकाम-प्रभावादुत्पन्नाः समस्याः तस्याः उपायाः शास्त्रीयकामप्रवर्तनं सविस्तरं विवेचितमस्ति।

कामसूत्रविषयकभ्रमाः–[3]

1. कामसूत्रे यौनासनानामेव वर्णनं विद्यते– लोके एका घोरा स्थितिः विद्यते यत् वात्स्यायनशास्त्रं साम्प्रयोगिकासनान्युपदिशति। अतः अस्य पठनपाठनं नैव सुकरमिति। चारित्र्येण भ्रष्टाः पतिताः जना एवास्य अध्ययनं विदधति। ग्रन्थस्यास्य वर्ण्यं गोपनीयं स्वतन्त्रतयास्य प्रचारः नैव सम्भवति। ईदृशां भ्रमाणां कारणादेवास्य वास्तविकं ज्ञानमद्यावधि लोकेषु नैवासंक्रामत्। तस्य दुष्प्रभावः ईदृशः यत् लोकाः कुत्सितमाध्यमैः दुःसूचनाः प्राप्य स्वगात्रं स्वजीवनञ्च कदर्थीकुर्वन्ति। भ्रमस्यास्य कारणं 1980तमे वर्षे प्रकाशितपुस्तकं (LOVE POSITIONS) इति विद्यते। [4] सूत्रग्रन्थे सप्ताधिकरणानि विद्यन्ते। तेषु द्वितीयमधिकरणं साम्प्रयोगिकाधिकरणत्वेन प्रसिद्धमिति तत्रैव केवलं सम्प्रयोगस्य विस्तृतं वर्णनं वर्तते। तस्मिन्नेव वर्णनक्रमे आचार्यैः साम्प्रयोगिकासनानां वर्णनमक्रियत। वात्स्यायनेन सम्पूर्णस्य ग्रन्थस्य विंशतिः प्रतिशतमत्र निक्षेपितम्। अवशिष्टांशे कामप्रवृतेः विशदविवेचनपुरःसरं कामस्योद्भवादन्तं यावत् विस्तृतं विवरणं प्राप्यते। कामसूत्रे विशिष्य कामदर्शनविषये मुख्यतया बलं दीयते। कामपुरुषार्थस्य धर्मोत्पादितार्थप्राप्तकामस्य च उदात्तवर्णनं समुपलभ्यते,

यस्याध्ययनं सर्वैरेवापेक्ष्यते। ग्रन्थकर्त्रा वात्स्यायनेनावादि यदस्य शास्त्रस्य तत्त्वज्ञः कश्चिज्जितेन्द्रियः भवितुमर्हति। जितेन्द्रिय एव शास्त्रस्यास्य याथातथ्यं ज्ञातुं उपपादयितुं च शक्ष्यति।

रक्षन्धर्मार्थकामानां स्थितिं स्वां लोकवर्तिनीम् ।

अस्य शास्त्रस्य तत्त्वज्ञो भवत्येव जितेन्द्रियः ।। कामसूत्रम् 7.2.57

स्वयं ग्रन्थकारेणाभाणि यदहं ब्रह्मचर्यावस्थायां भूत्वा अस्य ग्रन्थस्य प्रणनयम् अकुर्वम्।

बाभ्रवीयांश्च सूत्रार्थान् आगमय्य विमृश्य च ।

वात्स्यायनश्चचकारेदं कामसूत्रं यथाविधि ।।

तदेतद् ब्रह्मचर्येण परेण च समाधिना ।

विहितं लोकयात्रार्थं न रागार्थोऽस्य संविधिः ।। कामसूत्रम् 7.2.56-57

अथ च अस्य शास्त्रस्य पाठकोऽपि जितेन्द्रियो भूत्वा पठेदिति तैरुपपादितम्। जीवनस्य एकस्यामवस्थायां अस्य पुरुषार्थविशेषस्य परिपालनं प्रजायै अतीवाश्यकमिति मे मतिः।

2. कामसूत्रमेकं यौनानुदेशपुस्तिका (SEX MANUAL) अस्तिः– भारतीयसंस्कृतौ काम एका विस्तृता अवधारणारूपेण विद्यते, परन्तु पाश्चात्यातिप्रभावादद्य लोकाः कामसूत्रं यौनानुदेशपुस्तिकारूपेण गृह्णन्ति। यत्तु भ्रामकमेव भारतीयज्ञानपरम्परायां कामशब्दस्यार्थः केवलं ऐन्द्रिकं सुखमेव न अपितु ऐन्द्रिकं भावनात्मकं सामान्य-विशिष्टेच्छा च भवति। वात्स्यायनस्योद्देश्यमासीत् स्त्रीपुरुषयोः मध्ये सम्बन्धस्य पूर्णत्वप्रदानम्। शास्त्रस्यास्याज्ञानेन जनः केवलं कामवासनया पीडितो भूत्वा कामसुखमजानन्तोऽपि कथञ्चिज्जीवनयापनं मा विदध्यात्। ये अस्य शास्त्रस्य अधिकारिणः सन्ति त एव कालेनास्योपासनं कुर्वन्तु येन शिक्षिताः अकुण्ठिताश्च प्रजाः जायेरन् धर्मार्थशास्त्रयोः विषयविधानं वर्तते तर्हि कुप्रवृत्तिः लोकेषु मा प्रसरेत् अथ च पराधीनत्वादस्य शास्त्रस्यापि विवेचनमावश्यकमित्यतः विस्तरेण अस्मिन् पक्षे बलं ददाति ऋषिः[5]।

अत्र शास्त्रे प्रप्रथमं जनेषु नागरिकत्वं कथमागच्छेत् ते कीदृशे वातावरणे निवसेयुः किं भक्ष्यं किञ्चाभक्ष्यमित्यादिकं सर्वं विधाय आन्तरं परिशोद्ध्य जनः सम्प्रयोगे प्रविशेत्। कामः जनस्योपरि स्वामित्वं मा कुर्यात् अपितु मनुष्यः प्रजायै कामं सेवेदिति भावनयास्य शास्त्रस्य प्रणयनमभूत्। प्रारम्भे कामवशगाः विनष्टाः समभूवन्निति प्रतिपादयति आचार्यः।[6]

कामसूत्रे प्रकरणसमुद्देश्यः– कामसूत्रे सप्ताधिकरणानि सन्तीति स्पष्टमेव। प्रत्येकेष्वधिकरणेषु वर्ण्यविषयाः भिन्नाः सन्ति। अधिकरणेष्वपि अध्यायाः विलसन्ति। अध्यायेषु प्रकरणानि विद्यन्ते।

तावदत्र शास्त्रे विद्यमानविषयाणां सारसंक्षेपेण विषयजातं विविच्यते।

1. साधारणाधिकरणम्– प्रकरणसमुद्देशेनात्र विषयस्य विवेचनं कृतं वर्तते।[7] अत्र विशिष्य शास्त्रस्य सामान्यपरिचयः समुपवर्णितो वर्तते। यत्र पञ्च प्रकरणानि पञ्चाध्यायाश्च सन्ति। क्रमशः शास्त्रसंग्रहः. त्रिवर्गप्रतिपत्तिः, विद्यासमुद्देशः, नागरिक-वृत्तम्, नायकसहायदूतीकर्मविमर्शः, इत्याख्याः पञ्चाध्यायाः सन्ति।

शास्त्रसंग्रहः. त्रिवर्गप्रतिपत्तिः. विद्यासमुद्देशः. नागरिकवृत्तम्. नायकसहाय-दूतीकर्मविमर्शः. इति साधारणं प्रथमाधिकरणं अध्यायः पञ्च प्रकरणानि पञ्च. ।। का.सू. 1.1.16 ।।

1.1 शास्त्रसंग्रहः– [8] शास्त्रसंग्रहनामकेऽस्मिन्नध्याये शास्त्रस्यास्य संग्रहः कथमभूत्। कैराचार्यैः निरमायि। अस्य शास्त्रस्य परम्परा कियती प्राचीना कुतः अस्य शास्त्रस्य संग्रहोऽभूदिति। आनन्दिकेश्वरात् वात्स्यायनं यावत् आचार्यपरम्परावर्णनं विविधशास्त्राणां विषयाणां वर्णनमत्राध्याये वर्णितम्।

1.2 त्रिवर्गप्रतिपत्तिः– त्रिवर्गस्य[9] धर्मार्थकाममोक्षाख्यस्य ज्ञानमत्र क्रियते। धर्मार्थकामानां परिभाषाः अत्राध्याये प्रस्तुताः सन्ति। धर्मार्थकामानां प्राप्त्युपायाः समुपवर्णिताः विद्यन्ते। प्राप्त्युपाये शंकायाः उपस्थापनं तासां समाधानं अत्राध्याये विवेचितमस्ति।

1.3 विद्यासमुद्देशः–[10] विद्यासमुद्देशात्मकेऽस्मिन्नध्याये कामशास्त्राख्यस्य शास्त्रस्य पाठकाः के भवन्ति। अस्य शास्त्रस्य अधिकारिणः के कस्मिन् काले अस्य शास्त्रस्याध्ययनं कर्तव्यम्। कामशास्त्रस्य चतुःषष्टिकलानां वर्णनं तस्योपयोगविषयकाः चर्चाः प्राचुर्येण वर्तते। संक्षेपेण गीतवाद्यादीनां विषयविवेचनमप्यत्र दृश्यते।

1.4 नागरिकवृत्तम्– [11] अस्मिन्नध्याये कामशास्त्रचतुराणां पुरुषाणां स्त्रीणाञ्च कर्तव्याकर्तव्यं विवेच्यते। अग्रे कामशास्त्रे प्रावीण्यमाप्तुम् आचारव्यवहार-विषयिण्यः वार्ताः वर्णिताः। विहितकर्माणि निषिद्धकर्मणि चोपपाद्य विहितेषु प्रवृत्तिः निषिद्धान्निवृत्तिश्च शिक्ष्यते। नैपुणीसम्पन्नां पुरुषाणां दूतानां दूतीनां सहायकानाञ्च वर्णनं विद्यते।

1.5 नायकसहायदूतीकर्मविमर्शः–[12] पञ्चमेऽध्याये नायकस्य नायिकायाः वा सहायकस्य दूतस्य सहायिकायाः दूत्याश्च कर्तव्यकर्मणामुपदेशः वर्तते। कस्याम् अवस्थायां कीदृशः व्यवहारो विधेयः। एवं प्रथमाधिकरणस्यात्रैव समाप्तिरभूत्।

साम्प्रयोगिकाधिकरणम्– क्रमप्राप्तस्य द्वितीयेऽधिकरणस्य विषयजातमत्र प्रस्तूयते। अधिकरणेऽस्मिन् दशाध्यायाः सप्तप्रकरणानि च सन्ति।

प्रमाणकालाभावेभ्यो रतावस्थापनम्। प्रीतिविशेषाः। आलिङ्गनविचाराः। चुम्बनविकल्पाः। नखरदनजातयः। दशनच्छेद्यविधयः। देश्या उपचाराः। संवेशनप्रकाराः। चित्ररतानि। प्रहणयोगाः। तद्युक्ताश्च। सीत्कृतोपक्रमाः। पुरुषायितम्। पुरुषोपसृप्तानि। औपरिष्टकम्। रतारम्भावसानिकम्। रतविशेषाः। प्रणयकलहः। इति सांप्रयोगिकं द्वितीयमधिकरणम्। अध्यायाः दश। प्रकरणानि सप्तदश ।।का.सू.1.1.17।।

अत्र सम्प्रयोगासनानां सम्प्रयोगसहायकक्रियान्तराणाञ्च विशदतया वर्णनं दृश्यते।

2.1.1 रतावस्थापनम्– [13] पुरुषस्त्रियोः यन्त्रपरिमाणाधारेण परस्परसंयोगस्य व्यवस्थाऽत्र वर्णिता वर्तते। अत्रैव शुक्रक्षयकालभेदादीनां विषये वर्णना प्राप्यते। कालभेदाधारेणाऽपि परस्परं सहवासव्यस्था वर्ण्यते।

2.1.2 प्रीतिविशेषाः– अत्र अभ्यास-अभिमान-सम्प्रत्य-विषयभेदैः प्रीतिचतुष्टयं विवृण्वते।

2.2 आलिङ्गनविचाराः– अत्र आलिङ्नानां विशदविवेचनं प्राप्यते। क्रमशः आचार्याणां मतानुसारेण संख्यायाः विभागः प्रस्तूयते। वाभ्रव्यस्य अष्टविभागाः, सुवर्णनाभेन द्वादशप्रकारणां वर्णनं क्रियते। अत्र आलिङ्नम् उपगूहनं नाम्ना वर्ण्यते।

2.3 चुम्बनविकल्पाः– रतिसाधनस्य चुम्बनस्य विषये साङ्गोपाङ्ग-निदर्शनमत्र वर्तते।

2.4 नखरदनजातयः–[14] अत्र रतिसमुत्कर्षकस्य नखच्छेदनस्य विधिः तस्य गुणाः च वर्णिताः सन्ति।

2.5 दशनच्छेद्यविधयः– [15] प्रकरणेऽस्मिन् कामिकामिन्योः रतिक्षणे परस्परं गात्रे दशनमाध्यमेन छेदनप्रक्रियायाः वर्णनं लाभस्य च सविस्तरं वर्णनं प्राप्यते।

2.6 देश्या उपचाराः– अत्र विभिन्नप्रदेशीयेषु लोकेषु कामप्रवृत्तयः कीदृश्यः भवन्ति। विशेषतः स्त्रियः रतिकाले कीदृशीं रतिम् अभिलषन्ति। स्वभावपरिज्ञानम् अतीव आवश्यकमिति कृत्वा सविस्तरेण वर्णितो विद्यते।

2.7.1 संवेशनप्रकाराः– प्रकरणस्यास्य वस्तुजातं मैथुनमाधृत्य प्रवर्तते। मैथुनस्य वैविध्यपूर्णविधीनां वर्णनं सविस्तरं कृतमस्ति। यौनासनानां वर्णनम् अत्रैव समुपलभ्यते।

2.7.2 चित्ररतानिः– अत्र असाधारणं चित्ररतेः वर्णना विद्यते। रतौ स्वारस्यावाप्तये चित्रविचित्रक्रियाः कथं सम्पादनीया इति आकर्षक-शैल्या वर्णितमस्ति।

2.8 प्रहणनयोगाः–[16] रतौ समुत्कर्षप्रदानाय मुष्ट्यादिना विशिष्टाङ्गेषु प्रहारोऽस्य वर्ण्यविषयो वर्तते।

2.9 तद्युक्तताः– सम्प्रयोगपूर्वकालिक्याः स्पर्शादिक्रियायाः विवेचनमत्र विद्यते।

2.10 सीत्कृतोपक्रमाः– रतिकाले क्रियमाणेन प्रहारेण विभिन्नाः सीत्काराः समुत्पद्यन्ते। तेषां विशदवर्णनमत्र प्रस्तुतोऽस्ति।

2.11 पुरुषायितम्– [17] नायकं समुद्दीपयितुं पुरुषवदाचरणप्रक्रिया नायिकया आचर्यते।

2.12 पुरुषोपसृतानिः–नायिकायाः पुरुषं प्रति सामीप्यसम्पादनमत्र विवेचितमस्ति।

2.13 औपरिष्टकम्– मुखमैथुनोपायाः तस्य निन्दा, अधमेष्वेव तस्य प्रसक्तिः। सौख्याय तस्य परित्यागः इत्यादि वर्णनमत्र विद्यते।

2.14 रतारम्भावसानिकम्– अत्र रतेः आदौ के कार्याः करणीयाः अन्ते च किं विधेयमित्यस्य विशदविवेचनं प्राप्यते।

2.15 रतविशेषाः– पृथग्रूपेणास्थितस्येन्द्रियद्वितयस्य स्वकीयाधिष्ठातृदेवतया सह साङ्कर्येण एकस्वरूपकरणावस्थायाः विशिष्टक्रियाणां विवेचनं वर्तते।

2.16 प्रणयकलहः– [18] प्रणये समुत्पन्नां विविधकलहानां विवरणं ततः निवृत्युपायादारभ्य सविस्तरं विवरीतमस्ति।

3. कन्यासम्प्रयुक्तकमधिकरणम्– कन्यासम्प्रयुक्तेऽस्मिन् तृतीयेऽधिकरणे कन्यावर-णादिविधानपरिचर्चा भवति। साकल्येनात्र पञ्चाध्यायाः नवप्रकरणानि च विद्यन्ते।

वरणविधानम्। सम्बन्धनिर्णयः। कन्याविस्रम्भणम्। बालाया उपक्रमाः। इङ्गिताकारसूचनम्। एकपुरुषाभियोगः। प्रयोज्यस्योपावर्तनम्। अभियोगतश्च कन्यायाः प्रतिपत्तिः विवाहयोगः। इति कन्यासम्प्रयुक्तकं तृतीयमधिकरणम्। अध्यायाः पञ्च। प्रकरणानि नव ।। का. सू. ॥ 1.1.18 ॥

3.1.1 वरणविधानम्– नाम्नैव स्पष्टं यदत्र कन्याया: वरणविधानं कथ्यते। कीदृशी कन्या कीदृशं नायकं वृणोति। वैवाहिकक्रिया सुचारुतया भवेदित्यतः ईदृशं विधानं अपेक्षितं वर्तते।

3.1.2 सम्बन्धनिर्णयः– अत्र कीदृशस्य कुलस्य कन्या वरणीया। येन वैवाहिक-स्वारस्योपस्थापनं सुवंशवृद्धिश्च भवेत्।

3.2 कन्याविस्रम्भणम्–[19] कन्यायाः हृदि विस्रम्भः कथमुत्पादनीयः येन स्वगृहं परित्यज्य वरेण साकम् आगमनाय सिद्धा भवेत्। साम्प्रतिके काले विवाहे वरवध्वोः हृदि विश्वासस्यैव अल्पता दृश्यते। तदर्थं पठनीयम्।

3.3.1 बालाया उपक्रमाः– कन्यायां प्रेमविधानं कथं स्यादित्यस्य विवेचनमत्र प्राप्यते येन सा स्वपितृगृहं अधिकतया न स्मरेत।

3.3.2 इङ्गिताकारसूचनम्–[20] प्रेमोपस्थापनेन कन्यायाः चेष्टाः समालो-चनीयाः यत् सा किं वाञ्छति तस्यामपि भवदर्थं रागो वर्तते न इत्यादिकस्य वर्णनमत्र प्राप्यते।

3.4 एकपुरुषाभियोगः– परीक्षात: परं स्वानुकूले एकस्मिन् अभिलषिते वरे अनुरक्तायाः कन्यायाः विवाहविधिरत्र सारल्येन समुपवर्णितो वर्तते।

3.5.1 प्रयोज्यस्योपावर्तनम्– अत्र आचार्यः स्वाभिलषितपुरुषमाक्रष्टुमुपायाः यदि अन्यस्यां तस्यानुरक्तिरस्ति चेत् तं कथं स्वानुकूल्यतासम्पादनं कथं कर्तव्यमिति उपस्थाप्यते।

3.5.2 अभियोगतश्च कन्यायाः प्रतिपत्तिः विवाहयोगः– कन्या अभिलषितपुरुषं कथं प्राप्नुयात्। तदर्थं के अभियोगाः करणीयाः इति विविच्य विवाहप्रकारान् निर्दिशति।

4 भार्याधिकारिकमधिकरणम्– वात्स्यायनशास्त्रस्य चतुर्थमधिकरणं भार्याधि-कारिकमधिकरणमिति नाम्ना प्रसिद्धं वर्तते। अधिकरणेऽत्र द्वावध्यायौ अष्टौ प्रकरणानि च सन्ति।

एकचारिणीवृत्तम्। प्रवासचर्या। सपत्नीषु ज्येष्ठावृत्तम्। कनिष्ठावृत्तम्। पुनर्भूवृत्तम्। दुर्भगावृत्तम्। आन्तःपुरिकम्। पुरुषस्य बह्वीषु प्रतिपत्तिः। इति भार्याधिकारिकं चतुर्थमधिकरणम्। अध्यायौ द्वौ। प्रकरणान्यष्टौ।। का.सू.1.1.19 ।।

प्रथमेऽध्याये प्रकरणद्वयं विद्यते।

4.1.1 एकचारिणीवृत्तम्– [21] अत्र विवाहिता _ पतिप्राणा _ सदाचारिणी _ एकचारिण्यादीनां स्त्रीणां व्यवहारशिक्षा, पुनः पुनर्भूवेश्यादीनां व्यवहारज्ञानशिक्षणं प्रत्तमस्ति येन गुणैः स्वपतिं समाकर्ष्टुं क्षमाः भवेयुः।

4.1.2 प्रवासचर्याः– प्रकरणेऽत्र प्रवासप्रस्थितस्य पत्युरनुपस्थित्या पत्न्याः कर्तव्याकर्तव्यं विवेच्यते। सा कथं व्यवहरेत् विचलिता मा भवेदित्यादेः समुपस्थापना वर्तते।

भार्याधिकारिकाधिकरणस्य द्वितीयेऽध्याये षट्प्रकरणानि सन्ति।

4.2.1 सपत्नीषु ज्येष्ठावृत्तम्– बहुविवाहप्रथायां कस्याऽपि राज्ञः यदि बह्व्यः पत्न्यः सन्ति चेत् सर्वासु या ज्येष्ठा पत्नी तस्याः अन्यासां व्यवहारः कथं स्यात् येन कलहादिकं अल्पमात्रायां भवति। अनेन कनिष्ठाः तां प्रति सुष्ठु समाचरन्ति।

4.2.2 कनिष्ठावृत्तम्– अत्र कनिष्ठायाः व्यवहारः ज्येष्ठां प्रति कथं स्यादित्यस्य वर्णना सारल्येन वर्तते। येन परस्परं सद्भावो समागच्छेत्।

4.2.3 पुनर्भूवृत्तम्– याः विधवास्त्रियः दुर्वृत्ताः भूत्वा कस्यापि भोगिना सह संयुक्तो मा भवेदिति प्रवृत्ते सति ततः निवृत्तिः कथं कुर्यादिति विश्लेषणं प्राप्यते।

4.2.4 दुर्भगावृत्तम्– अत्र सपत्नीभिः प्रताडिताः दुर्भगाः प्रति सदुपदेशः प्रददाति। येन सा आनन्देन शेषजीवनं यापयेत्।

4.2.5 आन्तःपुरिकम्– प्रकरणेऽस्मिन् राज्ञः अन्तःपुरेविद्यमानाः परिणीताः अपरिणीताः याः स्त्रियः तासां प्रति कथं व्यवहारः करणीयः। येन सद्भावपूर्णव्यवहारः अन्तःपुरे भवेत्।

4.2.6 पुरुषस्य बह्वीषु प्रतिपत्तिः– अत्र पुरुषजीवनस्य कृते व्यावहारिकी शिक्षायाः वर्णनं सारल्येन वर्तते, येन पुरुषस्य जीवनयात्रा सौविध्यपूर्णा स्यादिति। सद्वयवहारकारणादन्यान् प्रसाद्य आत्मानं च प्रसादयति।

5 पारदारिकम्– पञ्चमाधिकरणे पारदारिकेऽधिकरणे षडध्यायाः दश प्रकरणानि सन्ति। परदाराः ये सन्ति तान् प्रति संप्रयोगाय ये उपायाः सन्ति तेषां वर्णनत्र प्रकरणे विद्यते।

स्त्रीपुरुषशीलावस्थापनम्। व्यावर्त्तनकारणानि। स्त्रीषु सिद्धाः पुरुषाः। अयत्नसाध्या योषितः। परिचयकारणानि। अभियोगाः। भावपरीक्षा। दूतीकर्माणि। ईश्वरकामितम्। अन्तःपुरिकं दाररक्षितकम्। इति पारदारिकं पञ्चममधिकरणम्। अध्यायाः षट्। प्रकरणानि दश ।। का.सू.1.1.20 ।।

प्रथमेऽध्याये प्रकरणचतुष्टयमस्ति।

5.1.1 स्त्रीपुरुषशीलावस्थापनम्– [22] प्रकरणेऽस्मिन् स्त्रीपुरुषयोः स्वभाववर्णनं साकल्येन कृत्वा रतिविषयकं विशिष्टं शीलं प्रतिपादयति। स्त्रीचेष्टा-दीनाञ्च वर्णनं विस्तरेणोपलभ्यते।

5.1.2 व्यावर्त्तनकारणानिः– क्लिष्टा परकीया यदि सामान्येन स्ववशे नैव समागच्छति। तदर्थं कथं तां स्ववशमानयेत्। स्ववशमानयनोपायाः अत्र विशेषतया वर्णिताः सन्ति। प्रतीकारमाध्यमेन प्राप्तोपायाः सन्ति।

5.1.3 स्त्रीषु सिद्धाः पुरुषाः– प्रकरणेऽस्मिन् स्त्रीणां विषये सिद्धाः पुरुषाः वर्णिताः सन्ति। ये स्त्रीणां विषये सिद्धहस्ताः भवन्ति तेषामुपदेशोऽत्र प्राप्यते।

5.1.4 अयत्नसाध्या योषितः– अत्र तु सर्वसुलभानां स्त्रीणां विषये विचारः अस्ति। याः अप्रयत्नसाध्याः भवन्ति। तेषां प्राप्तिः कथं करणीया प्राप्ते सति व्यवहारादिकं कथं करणीयम्।

द्वितीयाध्याये प्रकरणद्वये सम्विभक्तमस्ति।

5.2.1 परिचयकारणानिः– प्रकरणेऽस्मिन् परस्परस्त्रीपुरुषयोः मध्ये परिचय-कारणानां कारणानि समुपस्थितानि। परिचयः कथं स्यात् परिचयात् परं व्यवहारः कथं स्यादिति विषयमवलम्ब्य चर्चा प्रवर्तते।

5.2.2 अभियोगाः– परिचयानन्तरं कथं सम्बन्धः दृढो भवेत्। परिचितायाः प्राप्तिः केन विधिना भवेदित्यादिकमत्रप्रकरणे समुपवृंहितं दृश्यते।

5.2.3 भावपरीक्षाः– तृतीये प्रकरणे प्रकृत्या चेष्टाभिश्च हृद्गतभावानां परीक्षा क्रियते। भावं सुपरीक्ष्य तनुरूपव्यवहारकरणप्रेरणं प्रस्तूयते।

5.2.4 दूतीकर्माणिः– अध्यायेऽस्मिन् दौत्यकर्मानुकूलानां स्त्रीणां तासां कर्माणि सविभागं वर्णयित्वा दूतीप्रयोगस्थलानि तासां कार्याणां विवरणं प्राप्यते।

5.2.5 ईश्वरकामितम्– अत्र समर्थपुरुषाणां पूजाविधयः तेषां कामाचाराः सविस्तरं वर्णिताः सन्ति। सामर्थ्यवतः पुरुषस्य सपर्या सर्वत्र भवतीति विविच्यते।

5.2.6 अन्तःपुरिकं दाररक्षितकम्– स्त्रीणां समवायात् समाकुलिते अन्तःपुरे प्रवेशः कथं विधातव्यः प्रवेशात् परं ततः कार्यसमाप्त्यवसरे कथं निःसर्तव्यमित्यादिकं वर्णितमस्ति। प्रकरणान्तरे दाराः रक्षणीयाः इत्यतः बहुशः रक्षणोपायाः प्रदर्शिताः विद्यन्ते।

6 वैशिकमधिकरणम्– वैशिकाधिकरणं समग्रतया वेश्यामाधृत्य शिक्षां प्रददाति। यत् वेश्याः काः भवन्ति तासां कर्तव्याकर्तव्यं किं भवति। अस्मिन्नधिकरणे षडध्यायाः द्वादशप्रकरणानि च सन्ति।

गम्यचिन्ता। गमनकारणानि। उपावर्तनविधिः। कान्तानुवर्तनम्। अर्थागमोपायाः। विरक्तलिङ्गानि। विरक्तप्रतिपत्तिः। निष्कासनप्रकाराः। विशीर्णप्रतिसन्धानम्। लाभविशेषः। अर्थानर्थानुबन्धसंशयविचारः। वेश्याविशेषाश्च इति वैशिकं षष्ठमधिकरणम्। अध्यायाः षट्। प्रकरणानि द्वादश ।। 1.1.21 ।।

प्रथमेऽध्याये त्रीणि प्रकरणानि वर्तन्ते।

6.1.1 गम्यचिन्ताः–[23] अत्र वेश्यानामनुकूलाः पुरुषाः चेतव्याः भवन्ति। येन ताः तेभ्यः धनादिकं लप्स्यन्ति। वेश्यायै कीदृशाः नायकाः उपयुक्ताः अस्य विशदं विवेचनं प्राप्यते। नायकगुणाः, त्याज्यनायकाः, धनार्जनोपायाः अपि कथ्यन्ते।

6.1.2 गमनकारणानिः– नायकोपसर्पणकरणवेलायां ध्येयांशाः के कीदृशस्य नायकस्य वाञ्छा करणीया कथञ्च करणीयः इत्यादि व्यवस्था अत्र विद्यते।

6.1.3 उपावर्तनविधिः– वाञ्छितनायकमवाप्य कथं स्वीकरणीयः। स्वीकारे आचारोपस्थापना च वर्णिता वर्तते।

6.2 कान्तानुवर्तनम्– [24] वेश्या स्वनायकेन सह विवाहितावदाचरणं कुर्यात्। एषा एकचारिणी वेश्या एकस्मिन्नेव नायके रमते। एनां प्रति विशिष्टां शिक्षां प्रयच्छति ऋषिः।

तृतीयाध्याये प्रकरणचतुष्टयं विद्यते।

6.3.1 अर्थागमोपायाः– सन्नद्धमपि जनमेताः वेश्याः स्ववशमानीय चातुर्येण धनोपार्जनं विधास्यन्ति। नित्यगमनेन जनं शोषयन्ति एताः, अतोऽत्र सावधानैर्भाव्यमित्यस्ति सारोऽस्य प्रकरणस्य।

6.3.2 विरक्तलिङ्गानिः– प्रकरणेऽस्मिन् वेश्यायाः विरक्तस्य नायकस्य ज्ञानविषयाः विरक्तेः कारणानि च समुपवर्णितानि सन्ति।

6.3.3 विरक्तप्रतिपत्तिः– वेश्याः स्वनिवर्तितं नायकं कथम् आकर्षयन्ति। स्वहेलया कथं तान् पुनः स्वाङ्के आनयन्ति इति वर्ण्यमस्य प्रकरणस्य।

6.3.4 निष्कासनप्रकाराः– वेश्याः केन कारणेन कीदृशान्नायकान् तिरस्कुर्वन्ति। तान् तिरस्कृत्य बहिः निष्कासयन्ति। निष्कासनस्य प्रकाराः के इत्यादि वर्णितमत्र विद्यते।

6.4 विशीर्णप्रतिसन्धानम्– अत्र पलायितानां नायकानां पुनः प्राप्त्युपायाः सविस्तरमुपस्थापिता वर्तन्ते।

6.5 लाभविशेषाः– अत्राध्याये अनासक्तानां वेश्यानां विषये स्वतन्त्रवेश्यानां विषये वर्णयति आचार्यः।

6.6.1 अर्थानर्थानुबन्धसंशयविचारः– [25] अत्र अर्थस्य अनर्थस्य च अनुबन्धोपायाः संशयसम्बद्धविचाराश्च विवेचिताः सन्ति।

6.6.2 वेश्याविशेषाः– प्रकरणेऽस्मिन् वेश्यानां विविधप्रकाराणां सविस्तरवर्णनं विद्यते।

7 औपनिषदिकमधिकरणम्– औपनिषदाख्येऽस्मिन् सप्तमेऽधिकरणे द्वौ अध्यायौ षट् प्रकरणानि च विलसन्ति।

सुभगंकरणम्। वशीकरणम्। वृष्याश्च योगाः। नष्टरागप्रत्यानयनम्। वृद्धिविधयः। चित्राश्च योगाः। इत्यौपनिषदिकं सप्तममधिकरणम्। अध्यायौ द्वौ। प्रकरणानि षट् ।। का.सू. ।। 1.22 ।।

7.1.1 सुभगंकरणम्– [26] रूप-गुण-आयु-त्यागादीनां सौभाग्योत्पादकानां वर्णनं करोति। परिचारिकाणां विवाहादिव्यवस्थाः कथं भवेदिति वर्णयति।

7.1.2 वशीकरणम्–[27] अत्र अवशां वशमानयनोपायाः वर्णिताः विद्यन्ते।

7.1.3 वृष्याश्च योगाः– वाजीकरणस्य दिव्ययोगाः तेषां विभागाः करण-विधयश्च उपलभ्यन्ते।

7.2.1 नष्टरागप्रत्यानयनम्– नष्टानुरागस्य प्राप्तिः पुनः कथं भवेत् एतदर्थ-मुपायाः प्रदत्ताः सन्ति।

7.2.2 वृद्धिविधयः– अत्र बलवीर्यादिसम्वर्धनोपायाः कथिताः सन्ति।

7.2.3 चित्राः योगाः– प्रकरणेऽस्मिन् चित्रविचित्रयोगाः उपस्थापिताः सन्ति।

निष्कर्षः–

शोधपत्रेऽस्मिन् आचार्यमल्लनागवात्स्यायन-विरचितकामसूत्र-सम्बद्धमिथकानां समुपस्थापनां विधाय कामसूत्रग्रन्थस्य विषयवस्तु सारसंक्षेपेणागुम्फम्। कामसूत्रे वर्णितानां समेषामंशानां सामान्यपरिचयः शोधपत्रस्य पठनेन पाठकेनावाप्यते। सामान्ये ज्ञाते सति विशेषस्येच्छा भवतीति कृत्वा विशेषज्ञानाय कामसूत्रं प्रति जनाः आकृष्टाः भवेयुरिति वाञ्छामि।।

सन्दर्भग्रन्थः-

1. कामसूत्रम् आचार्य-वात्स्यायनः खेमराजकृष्णदास प्रकाशन बम्बई, 2015
2. कामसूत्रम् (यशोधरप्रणीतजयमङ्गलाटीकासहितम्) (पण्डितमाधवाचार्यविरचिता पुरुषार्थ-प्रभाख्यटीकासहितम्) आचार्य-वात्स्यायनः, यशोधरः, माधवाचार्यः खेमराजकृष्णदास प्रकाशन बम्बई 2015
3. कामसूत्रकालीन समाज एवं संस्कृति, डॉ. सङ्कर्षण त्रिपाठी, चौखम्भा विद्या भवनम्, 2008
4. कामसूत्र परिशीलन, वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, 2008
5. पुरुषार्थ का कामशास्त्रीय अध्ययन(काम) डॉ. श्रीप्रकाश सिंह, EASTERN BOOK LINKER 2022
6. संस्कृत साहित्य का इतिहास, आचार्य कपिलदेव द्विवेदी, चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी ।
7. संस्कृत साहित्य का वृहद् इतिहास (अष्टादश खण्ड, प्रकीर्ण खण्ड) प्रधान संपादक स्व. पद्मभूषण श्री बलदेव उपाध्याय, उत्तरप्रदेशसंस्कृतसंस्थान, लखनऊ ।

---

1. ब्रह्मचर्यं च गार्हस्थ्यं वानप्रस्थश्च सन्मते ! ।
सन्न्यास इति चत्वार आश्रमाः परिकीर्तिताः ॥ 1 ॥ श्रीमत्सत्संगिजीवनम्

2. ततोऽध्यायसहस्राणां शतं चक्रे स्वबुद्धिजम्। यत्र धर्मस्तैवार्थः कामश्चैवीभिवर्णितः।।
त्रिवर्ग इति व्याख्यातो गण एष स्वयम्भुवा।। (महाभारतम्, शान्तिपर्वः, 59.29.30)
पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्। पुराणमेकमेवासीत् तदा कल्पान्तरेऽनघ।।
त्रिवर्गसाधनं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम्।। मत्स्यपुराम् 53.3-4

3. 'Whenever the words "kama sutra" are mentioned among people who are not truly knowledgeable of what the book is all about, the usual reactions to be found among them include, but are not limited to, lewd and raucous jokes, hushed and embarrassed whispers, and lots of blushing.'—THEORIGINOF.COM

4. In the late 1980s an act of cyber piracy resulted in that single chapter from my translation being circulated widely around the internet, with the result that nowadays a great many people believe that it is the whole of the Kama Sutra.

5. ननु तद्धेतुत्वाद्धर्मार्थाविवोपादेयौ, तौ च शास्त्रविहितौ? सत्यम् तद्धेतुत्वेऽप्युपायान्तरापेक्षत्वात्संप्रयोगपराधीनः कामः, संप्रयोगश्चोपायमपेक्षते, उपायपरिज्ञानं च कामशास्त्रात्, न धर्मार्थशास्त्राभ्याम् । वक्ष्यति च प्रयोजन-वाक्यम्- 'संप्रयोगपराधीनत्वात्स्त्रीपुंसयोरुपायमपेक्षते, सा चोपायप्रतिपत्तिः कामसूत्रात्' इति ।

6. बहवश्च कामवशगाः सःगणा एव विनष्टाः श्रूयन्ते. ।। का.सू.1.2.34 ।।
यथा दाण्डक्यो नाम भोजः कामाद् ब्राह्मणकन्यां अभिमन्यमानः सबन्धुराष्ट्रो विननाश ।। का.सू. 1.2.35 ।।

7. तस्यायं प्रकरणाधिकरणसमुद्देशः ।। का.सू.1.1.15 ।।

8. शास्त्रस्य संग्रहः, त्रिवर्गप्रतिपत्तिः इत्यादय उक्तार्थाः। तत्साहचर्य्याद्ग्रन्थभागा अपि तत्समाख्याः, यथा कंसवधकाव्यमिति ।। जयमंगला टीका ।। 16 ।।

9. शतायुर्वै पुरुषो विभज्य कालं अन्योन्यानुबद्धं परस्परस्यानुपघातकं त्रिवर्गं सेवेत. का. सू. ।। 1.2.1 ।।

10. धर्मार्थाङ्गविद्याकालाननःउपरोधयन्कामसूत्रं तदङ्गविद्याश्च पुरुषोऽधीयीत. ।।
का.सू. 1.3.1।।

11. गृहीतविद्यः प्रतिग्रहजयक्रयनिर्वेशाधिगतैरर्थैरन्वयागतैरुभयैर्वा गार्हस्थ्यं अधिगम्य नागरकवृत्तं वर्तेत. ।। का.सू. 1.4.1 ।।

12. कामश्चतुर्षु वर्णेषु सःवर्णतः शास्त्रतश्चानःअन्यपूर्वायां प्रयुज्यमानः पुत्रीयो यशस्यो लौकिकश्च भवति. ।। का.सू. 1.5.1 ।।
तद्विपरीत उत्तमवर्नासु परपरिगृहीतासु च. प्रतिषिद्धोऽवरवर्णास्वःनिरवसितासु वेश्यासु पुनर्भूषु च न शिष्टो न प्रतिषिद्धः. सुखार्थत्वात्. ।। का.सू. 1.5.2 ।।

13. शशो वृषोऽश्व इति लिङ्गतो नायकविशेषाः. नायिका पुनर्मृगी बडवा हस्तिनी चेति. ॥
का.सू 2.1.1 ।।
तत्र सःदृशसंप्रयोगे समरतानि त्रीणि. ।। का.सू 2.1.2 ।।
विपर्ययेण विःषमाणि षट्. विःषमेष्वपि पुरुषाधिक्यं चेदनःअन्तरसंप्रयोगे द्वे उच्चरते. व्यवहितं एकं उच्चतररतम्. विपर्यये पुनर्द्वे नीचरते. व्यवहितं एकं नीचतररतं च. तेषु समानि श्रेष्ठानि तरशब्दाङ्किते द्वे कनिष्ठे. शेषाणि मध्यमानि. ।। का.सू 2.1.3 ।।

14. रागवृद्धौ संघर्षात्मकं नखविलेखनम्. ।। 2.4.1 ।।

15. उत्तरौष्ठं अन्तरःमुखं नयनं इति मुक्त्वा चुम्बनवद्दशनरदनस्थानानि. ।। 2.5.1 ।।

16. कलहरूपं सुःरतं आचक्षते. विवादात्मकत्वाद्वामशीलत्वाच्च कामस्य. ।। 2.7.1 ।।

---

17. नायकस्य संतताभ्यासात्प्रैश्रमं उपलभ्य रागस्य चानःउपशमं अनुमता तेन तं अधोऽवपात्य पुरुषायितेन साहाय्यं दद्यात्. ।। 2.8.1 ।।
18. नागरकः सह मित्रजनेन परिचारकैश्च कृतपुष्पोपहारे संचारितसुरभिधूपे रत्यावासे प्रसाधिते वासगृहे कृतस्नानप्रसाधनां युक्त्यापीतां स्त्रियं सान्त्वनैः पुनः पानेन चोपक्रमेत्. 2.10.2
19. धनहीनस्तु गुणयुक्तोऽपि मध्यस्थगुणो हीनापदेशो वा सधनो वा प्रातिवेश्यः मातृपितृभ्रातृषु च परतन्त्रः बालवृत्तिरुचितप्रवेशो वा कन्यां अलभ्यत्वान्न वरयेत्. ।। 3.3.1 ।।
    बाल्यात्प्रभृति चैनां स्वयं एवानुरञ्जयेत्. ।। 3.3.2 ।।
20. दर्शितेङ्गिताकारां कन्यां उपायतोऽभियुञ्जीत. ।। 3.4.1 ।।
21. दर्शितेङ्गिताकारां कन्यां उपायतोऽभियुञ्जीत. ।। 3.4.1 ।।
22. व्याख्यातकारणाः परपरिग्रहोपगमाः ।। 5.1.1 ।।
23. वेश्यानां पुरुषाधिगमे रतिर्वृत्तिश्च सर्गात्. ।। 6.1.1 ।।
24. संयुक्ता नायकेन तद्रञ्जनार्थं एकचारिणीवृत्तं अनुतिष्ठेत् ।। 6.2.1 ।।
25. अर्थानाचर्यमाणाननःअर्था अप्यनूद्भवन्त्यनुबन्धाः संशयाश्च((176)). ।। 6.6.1 ।।
26. रूपं गुणो वयस्त्याग इति सुभगंकरणम्. ।। 7.1.3 ।।
27. धत्तूरकमरिचपिप्पलीचूर्णैर्मधुमिश्रैर्लिप्तलिङ्गस्य सम्प्रयोगो वशीकरणम्. ।। 7.1.25 ।।

शोधच्छात्रः संस्कृतसाहित्यविद्याशाखा
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः
लखनऊपरिसरः, लखनऊ (उ.प्र.)।
ईमेल - mayank.bhu.skt@gmail.com

शोधनिर्देशकः संस्कृतसाहित्यविद्याशाखा
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः
लखनऊपरिसरः, लखनऊ (उ.प्र.)।

नाट्यशास्त्रान्वितपरम्परायामभिनयतत्त्वम्

– शिवानी, शोधच्छात्रा
– प्रो. गणेशशंकरविद्यार्थी, शोधनिर्देशकः

(नाट्यशास्त्र में अभिनय तत्व को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, क्योंकि यह दर्शकों तक नाट्य की भावना, कथा और सन्देश पहुँचाने का मुख्य साधन है। भरतमुनि के अनुसार, अभिनय चार प्रकार का होता है– आंगिक, वाचिक, सात्त्विक, और आहार्य। आंगिक अभिनय शरीर की मुद्राओं और गतियों द्वारा भावों की अभिव्यक्ति करता है, जिसमें नेत्र, हस्त और अंग सञ्चालन का विशेष योगदान है। वाचिक अभिनय में संवाद, उच्चारण, स्वर और लय के माध्यम से पात्र की भावना और चरित्र की अभिव्यक्ति होती है। सात्त्विक अभिनय, जो कि अंतःकरण की गहन भावनाओं से उत्पन्न होता है, हृदयस्पर्शी होता है और इसका प्रभाव गहन और दीर्घकालिक होता है। आहार्य अभिनय के अन्तर्गत वेशभूषा, अलंकरण, और मंच सज्जा का समावेश होता है, जो नाटक के वातावरण और पात्रों की स्थिति को प्रभावी रूप से चित्रित करता है।

अभिनय के माध्यम से नाट्यकला दर्शकों को केवल मनोरंजन ही नहीं, बल्कि शिक्षाप्रद और सांस्कृतिक अनुभव भी प्रदान करती है। यह लोक-जीवन, सामाजिक मूल्यों और मानवीय भावनाओं को सरल और सजीव रूप में प्रस्तुत करता है। नाट्यशास्त्र में अभिनय को रस सिद्धान्त के साथ जोड़ा गया है, जहाँ नायक और पात्रों के अभिनय से विभिन्न रसों–श्रृंगार, वीर, करुण, अद्भुत, भयानक, रौद्र, बीभत्स, हास्य और शांत का संचार होता है।

इस प्रकार, अभिनय नाट्यशास्त्र की आत्मा है, जो दर्शकों को नाटक के अनुभव में सम्पूर्ण रूप से डुबो देता है और कला को जीवन के साथ जोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।)

(नाट्यशास्त्रान्वितपरम्परायामभिनयतत्त्वम् इति विषयोऽत्यन्तमहत्वपूर्णः अस्ति, यः भारतीयनाट्यकलापरम्परायाः आधारस्तम्भः भवति। अभिनयस्तु नाट्यशास्त्रस्य प्रमुखं तत्त्वम्, यः नाट्यकलासु भावनां, अनुभूतिञ्च दर्शकान् प्रति सम्प्रेषणाय उपयोगी अस्ति। नाट्यशास्त्रस्य अनुसारमभिनयस्य चत्वारः भेदाः वर्णिताः सन्ति–आङ्गिकः, वाचिकः, सात्त्विकः, आहार्यश्च।

1. **आङ्गिकाभिनयः–** शरीरस्य अङ्गानां हस्तमुद्राणां च प्रयोगेण यत् भावानां निरूपणं क्रियते, सः आङ्गिकाभिनयः कथ्यते।
2. **वाचिकाभिनयः–** वाणीद्वारा स्वरोच्चारणद्वारा च भावस्य सम्प्रेषणं क्रियते। कथा, संवादः, गीतादयः वाचिकाभिनयस्य अन्तर्गताः सन्ति।

3. **सात्त्विकाभिनयः–** आन्तरिकभावानां, मानसिकवृत्तीनां च प्रतिबिम्बः यत्र अभिनेतुः शरीरतत्त्वे, स्वभावे च प्रदर्श्यते, तं सात्त्विकाभिनयं वदन्ति। अस्मिन् क्रोधः, भयम्, उत्साहः, अश्वादयः अन्तर्गताः भवन्ति।

4. **आहार्याभिनयः–** वस्त्राभरणादीनां, विभूषणानां च प्रयोगेण यः भावः सम्प्रेष्यते, तस्य नाम आहार्याभिनयः अस्ति।

अभिनयस्य एते भेदाः, नाट्यशास्त्रे प्रतिपादिताः, नाट्यकलासु रसस्य (आनन्दस्य) उत्पत्तिं दर्शकाणां हृदयेषु सम्प्रेषणं च साधयन्ति। अभिनयतत्त्वं भारतीयनाट्यकलासु न केवलं भावसंप्रेषणस्य साधनमपितु संस्काराणां, सामाजिकानां सन्देशानां च प्रकाशनाय महत्त्वपूर्णं साधनमस्ति।)

मुख्यशब्दाः–

अभिनयः, नाट्यम्, काव्यविधा, देशकालः, भाषा, वेशभूषा, अलङ्कारः, आङ्गिकः, वाचिकः, सात्त्विकः, आहार्यः।

प्रस्तावनाः–

मानवजीवनेऽभिनयस्य महत् महत्त्वम् अस्ति। यतः समाजे निवसन्तः मनुष्याः स्वविनोदार्थं विविधानि कार्याणि कुर्वन्त एव सन्ति यथा गानं-क्रीडा-नृत्यम् वार्तालापः, एतानि मनुष्याणां कार्याणि सन्ति। समाजस्य क्रियाकलापैः सह मानवानाम् अतीव निकटः सम्बन्धः अस्ति। यत् सः स्वस्य मनोरञ्जनाय अपि स्वीकुर्वति। अस्य नेतृत्वं नाटकीयशास्त्रीयपरम्परया भवति। नाटकं जनमनोरञ्जनस्य साधनम् अस्ति। भिन्न-भिन्न-रुचि-युक्ताः जनाः स्वरुच्यनुसारं तस्मात् सुखं उपयोगी-परामर्शञ्च प्राप्नुवन्ति। श्रव्यदृश्यत्वात् अस्य प्रभावशीलता, उष्णता, रोचकता च अन्याभ्यः काव्यविधाभ्यः अन्येभ्यः मनोरञ्जनसाधनेभ्यः अपि अधिका अस्ति। नाटकस्य विस्तृतव्याप्तेः अन्तः जीवलोकस्य सर्वाणि व्यञ्जनानि स्वीकर्तुं शक्यन्ते। नाटकस्य रचनायामन्यविधापेक्षया निर्मातुः द्विगुणा तल्लीनता अपेक्षिता भवति। अतः नाटकस्य स्वामी अभिनयस्य सर्जनशीलतायाः च मनसि चिन्तनं कृत्वा नाटकस्य नियमान् निर्धारितवन्तः। अतः नाटकस्य गौरवपूर्णा संस्कृतपरम्परा प्राचीनतमा, समृद्धतमा, अद्वितीया च अस्ति।

विषयप्रविष्टिः–

आचार्यभरतमुनेः नाट्यशास्त्रानुसारमभिनयशब्दस्य व्युत्पत्तिः 'अभि' उपसर्गपूर्वकं प्रापणार्थक 'नी' धातोः 'अच्' इत्यनेन अभिनयशब्दो उत्पद्यते। भरतमुनिनोक्तं यत्–

अभिपूर्वस्तु णीधातुराभिमुख्यार्थनिर्णये।
यस्मात्प्रयोग नयति तस्मादभिनयः स्मृतः ।।[1]

सम्भवतः भरतमुनिः एतस्य अभिप्रायस्य अनुमोदनं कुर्वन् नाट्यशास्त्रस्य प्रसिद्धविद्वान् रामचन्द्रगुणचन्द्रः स्वस्य पुस्तके 'नाट्यदर्पणम्' इत्यत्र उक्तवान्-अभिमुख्यात् अर्थात् सम्मुखरूपेण (अभिनेय) अर्थात् यया अर्थेन तत् संप्रेष्यते समाजः समानः (अभिनीते अनेन इति) इति अभिनयः कथ्यते।

एतस्य अर्थस्य स्पष्टीकरणेन आचार्यविश्वनाथः राज्यस्य अनुसरणमभिनयरूपेण आह्वयति। तस्य मते नटः शरीर-मनः-वाक्-द्वारा अभिनयस्य चरणानामनुकरणं यस्मिन् प्रक्रियायां करोति तत् 'अभिनयम्' इति कथ्यते।[2] एवं नटेन अभिनयपदानामनुकरणम् 'अभिनयम्' इति। अनुकरणद्वारा नटः नाट्यगृहे प्राकृतिकं वस्तु महता कलात्मककौशलेन प्रस्तुतं करोति, येन प्रत्यक्षपरोक्षयोः सामाजिकानुभवः प्राप्यते।

अभिनयोऽपि एका कला अस्ति। यस्याः माध्यमेन नटः क्रियाकलापान्, वेषभूषाः, नाट्यगृहे विविधगतोः, व्यञ्जनानि च प्रदर्श्य, नाट्यगृहे परिभ्रमन् व्यञ्जनानि च प्रदर्श्य, संयमं निर्वाह्य अपि प्रेक्षकाणां मनोरञ्जनं करोति, उचितं स्थानं, सम्यक् वाक्यपूर्वकं कार्यं करोति; सः पात्रानुसारं देशकालं, भाषां, वेषभूषाम्, अलङ्कारं च संयोज्य अभिनयपात्राणां मानसिकभावनाः प्रकाशयति। अभिनयं पूर्णतया सफलं कर्तुमनुकरणकौशलं, दृश्यसौन्दर्यं, श्रवण-सौभगं, हास्यं च एते चत्वारः गुणाः भवितुं सर्वथा आवश्यकाः इति मन्यन्ते।[3] वास्तविकवस्तूनाम् अपेक्षया प्रतिकृतिं द्रष्टुमधिकमुत्सुकं भवितुं मनुष्याणां स्वाभाविकी प्रवृत्तिः अस्ति। यथा चित्रे चित्रितस्याश्वस्य दर्शने जनाः वास्तविकस्य अश्वस्य अपेक्षया अधिकं रुचिं लभन्ते, तथैव वास्तविकरामादीनाम् अपेक्षया अभिनये रामादीनाम् अनुकरणरूपं दृष्ट्वा प्रेक्षकाः अधिकमानन्दमनुभवन्ति। अतः अनुकरणकौशलं तस्य कृते आवश्यकम्।

अभिनये दृश्यशृङ्गारस्य अपि महत्त्वम् अस्ति। अभिनयः कियत् अपि सुन्दरः भवतु, तस्य रसः, भावः, शब्दः, तालः इत्यादयः भवितुमर्हन्ति यत् सुखदः शब्दः, रागः च भवति। सन्दर्भानुसारं स्वरेण विभक्तिः, भाषायां माधुर्यं, वाक्यविन्यासे लालित्यम् इत्यादयः गुणाः आवश्यकाः। अभिनये जनानां मनोरञ्जनाय च मध्ये हास्यं व्यङ्ग्यं च आवश्यकम्। अनया दृष्ट्या विदूषकः, वसन्तकः, नायक-नायिके, सूत्रधारः इत्यादीनि पात्राणि अभिनये कल्पितानि सन्ति। अभिनयमधिकं रोचकं कर्तुं नृत्यं, गीतं, वाद्ययन्त्राणि च आवश्यकानि सन्ति।

अभिनयस्य मुख्यं प्रयोजनं वाक्यस्य वा मुख्यार्थस्य बोधनं भवति।[4] नाट्यप्रयोगस्य मुख्यार्थः अस्ति यत् नटः प्रेक्षकाणां भावैः अभिभूतं कर्तुमभिनयकलां प्रस्तुतं करोति, यत् नटस्य कार्यम् अस्ति। अत एव अभिनयस्य अन्यत् नाम 'अभिनीता', अभिनयस्य अतिरिक्तं नाम अपि 'नर्तन' इति। 'साहित्यदर्पण'-ग्रन्थस्य रचयिता कविराजविश्वनाथः नाटकमभिनयकाव्यं च रूपकम् इति उक्तवान् अस्ति।[5] अभिनयं तेन 'राज्यस्य अनुकरणम्' इति उक्तम्– भवदभिनयोऽवस्थानुकारः। अर्थात् अभिनयः तत् कथ्यते यस्मिन् नटः शरीर-भावना-वाक्-वेष-आदिभिः अभिनय-पात्रस्य अवस्थानामनुकरणं करोति।

अभिनयकारणात् नाटकं 'प्रयोग' इत्यपि कथ्यते। संज्ञाप्रयोगस्य आधारः अभिनयद्वारा परिषदः समक्षं काव्यं प्रस्तोतुं सामर्थ्यम्।[6] एवं नाट्यरूपोपमादृश्य-प्रयोगाभिनयादिसंज्ञामूलमभिनयतत्त्वम्। एतम् अर्थमधिकं स्पष्टं कृत्वा भरतमुनिः अग्रे वदति यत्, साङ्गोपाङ्गस्य प्रयोगेण प्रेक्षकाणां वा समाजस्य वा नाटकस्य विविधार्थान् हृदयात् अनुभवितुं शक्यते, तस्य नाम अभिनयः।

मुख्यविषयवस्तुः–

संस्कृतसाहित्ये नाट्यशास्त्रस्य मुख्यं योगदानं भारतस्य प्राचीननाट्यकलानां स्वरूपाणां स्पष्टीकरणं वर्तते। नाट्यशास्त्रं संस्कृतसाहित्यस्य आधारग्रन्थः इति मन्यमानेन भरतमुनिना प्रवर्तितम्। अस्मिन् नाटककलानां विविधपक्षेषु यथा अभिनयः, नृत्यं, संगीतं, नाट्यशास्त्रं, प्रेक्षकमनोविज्ञानं च विस्तृतरूपेण चर्चितानि सन्ति। अस्यां परम्परायामभिनयतत्त्वस्यावगमनं महत्त्वपूर्णं यतः अभिनयः नाटकस्य महत्त्वपूर्णं तत्त्वम् अस्ति।

संस्कृतसाहित्ये नाटकस्य व्यञ्जकमहत्त्वम् अस्ति। अस्यां परम्परायां नाटकं जीवनस्य वास्तविकतायाः आदर्शस्य च मिश्रणं भवति, अभिनयद्वारा नाटककलायाः उद्देश्यं न केवलं प्रेक्षकाणां मनोरञ्जनमपितु नैतिकता, धार्मिकता, सामाजिकमूल्यानां च प्रचारः भवति। अभिनयतत्त्वम् अस्य व्यञ्जनस्य मुख्यं साधनम् अस्ति। भरतमुनिना नाट्यशास्त्रेऽभिनयस्य स्पष्टतया परिभाषा कृता अस्ति–

"अभिनयः" इति शब्दस्य अर्थः 'विशेषरूपेण करणीयः' इति। अभिनयः सा कला यस्याः माध्यमेन कलाकारः भावान्, विचारान्, घटनाः च प्रेक्षकाणां समक्षं विशेषरूपेण प्रस्तुतं करोति।[7] अस्मिन् अभिनयस्य चतुर्विधः उल्लेखः अस्ति–

आङ्गिक-अभिनयः– शरीरगति-मुद्रा माध्यमेन अभिनयः।

वाचिक-अभिनयः– संवाद-स्वर-भाषा-माध्यमेन अभिनयः ।

आहार्य-अभिनयः– वेशभूषा माध्यमेन अभिनयः।

सात्विक-अभिनयः– आन्तरिक-भावना, मानसिक-अवस्थायाः प्रदर्शनम्।

आङ्गिक-अभिनयः–

भरतमुनेः मते आङ्गिक-अभिनयमस्ति यस्मिन् शारीरिक-गति-शरीर-भाषा-द्वारा भावाः अभिव्यक्ताः भवन्ति। नाट्यशास्त्रे षष्ठेऽध्याये तेन उक्तम्–

"नृत्यं गात्राणां चेष्टात्वं ह्याख्यायिकं च सुलभं भवेत्।"[8]

अत्र भरतमुनिः कथितवान् यत् कथानकं नृत्येन शारीरिकप्रदर्शनेन च अग्रे नयति (गात्रचेष्टा)। अस्यान्तर्गतं मुख-हस्त-पाद-नेत्रादि-क्रियायाः महत्त्वं दत्तम् अस्ति।

वाचिक-अभिनयम्–

वाचिक-अभिनयम् इति संवाद-प्रस्तुतिः, शब्द-उच्चारणं, स्वरप्रयोगः च निर्दिश्यते। अस्मिन् विषये नाट्यशास्त्रे उक्तम्–

"वाणीर्वचांसि प्रयोक्तव्यं यथाविधानमिष्टतः ।"[9]

संवादानाम् उच्चारणं सम्यक् उच्चारणं च अभिनेतुः कृते अत्यन्तं महत्त्वपूर्णं मन्यते। नाटके वाक्पदार्थः सजीवः भावुकः च भवितुमभिनयस्य महत्त्वपूर्णः भागः भवति।

आहार्य-अभिनयः–

आहार्य-अभिनयः वेशभूषाः, आभूषणं, वस्त्रं चैतैः सम्बद्धतमस्ति। पात्ररूपस्य चित्रणार्थं समीचीनवेषस्य चयनं महत्त्वपूर्णम् अस्ति। आहार्याभिनयद्वारा पात्रस्य सामाजिकस्थितिः, जातिः, लिङ्गम्, स्थितिः च जागरूकाणि भवन्ति।

"आहार्येण सव्यक्तं रूपं ह्यर्थस्य संप्रदायकम् ।"[10]

एतेन नाटकस्य नायकस्य खलनायकस्य वा भूमिका अभिनयेन वर्धयितुं शक्यते इति ज्ञायते।

सात्त्विक-अभिनयमः–

सात्विक-अभिनयः तत् तत्त्वं यस्मिन् मानसिक-भाव-स्थितिः प्रदर्श्यते। अस्मिन् अन्तर्निहितभावनानां मानसिकस्थितीनां च प्रभावि चित्रणं भवति। स्तम्भ-स्वेद-रोमाञ्च-विसंगति-अश्रु-आदि-सात्त्विक-भाव-रूपेण व्यज्यते।

"स्तंभस्वेदप्रलयादयः सत्त्वभावाः स्मृताः।"[11]

भरतमुनिः सात्विक-अभिनयम् अत्यन्तं कठिनतमं महत्त्वपूर्णं च अभिनयतत्त्वं वर्णितवान् यतः तस्मिन् भावानां सम्यक् स्वाभाविकी च अभिव्यक्तिः आवश्यकी भवति। न केवलं बाह्यव्यञ्जनानाम् आश्रयः, अपितु आन्तरिकावस्थायाः सजीवं चित्रणम् अस्ति।

अभिनयस्य मुख्यमुद्देश्यमानन्दस्य भावस्य निर्माणं भवति। भरतमुनिः अभिनयं भोगसृष्टेः मुख्यं साधनं वर्णितवान् अस्ति। रससिद्धान्तानुसारं नाटकस्य मुख्यतया अष्टौ रसाः सन्ति– शरीरसज्जा, हास्यम्, उग्रता, वीरता, भयंकरः, घृणितः, अद्भुतश्च। अभिनेता स्वस्य अभिनयकौशलस्य माध्यमेन प्रेक्षकाणां मनसि एतान् प्रतिरुचिं प्रभावितं करोति।

"न ह्यस्य दर्शकं किञ्चिदशक्यं स्याद्विजानताम्।"[12]

अस्मात् उद्धरणात् स्पष्टं भवति यत् यदा कस्यचित् अभिनेतुः अभिनयः सजीवः प्रभावी च भवति तदा सः प्रेक्षकान् एतेषां भावानाम् अनुभवं कारयितुं समर्थः भवति।

अभिनयतत्त्वः संस्कृतसाहित्यस्य नाट्यशास्त्रप्रेरितपरम्परायां विस्तृतः जटिलः विषयः अस्ति। नाटककाराः शारीरिक-वाचिक-भावनात्मक-सात्विक-अभिनयेन स्वपात्राणि कथानकानि च जीवयन्ति। अभिनयं विना नाटकमपूर्णं भवति, एतदेव तत्त्वं प्रेक्षकान् भावात्मकरूपेण नाटकेन सह सम्बद्धयति।

उपसंहारः–

संस्कृतसाहित्ये नाट्यशास्त्रपरम्परायामभिनयतत्त्वस्य महत्त्वपूर्णं स्थानम् अस्ति। भरतमुनिना लिखिते नाट्यशास्त्रे नाट्यशास्त्रस्य चत्वारि प्रमुखानि अभिनयतत्त्वानि वर्णितानि सन्ति– आङ्गिका (शरीरस्य गतिः), वाचिका (संवादः ध्वनिः च), आहार्यः (वेशः अलङ्कारः च), सात्विकः (आन्तरिकभावनानां प्रदर्शनम्) च एतेषां चतुर्णां माध्यमेन कलाकारः नाटकस्य पात्राणि, भावान्, परिस्थितिं च प्रेक्षकाणां समक्षं प्रभाविरूपेण प्रस्तुतं करोति।

अभिनयस्य मुख्यमुद्देश्यं प्रेक्षकाणां रसस्य (आनन्दः, हास्यं, करुणा, क्रोधः इत्यादयः) अनुभूयते येन ते नाटकस्य अनुभवे निमग्नाः भवेयुः। एषा अभिनयपरम्परा न केवलं बाह्यव्यञ्जनाधारिता, अपितु आन्तरिकभावनानां मानसिकदशानां च सजीवरूपेण अभिव्यक्तिं करोति, येन नाटकस्य सम्पूर्णा अभिव्यक्तिः सम्भवा भवति।

अभिनयस्योदयस्य इतिहासः अतीव प्राचीनः अस्ति। सृष्ट्या एव आरब्धम्। प्रारम्भिकपदे तस्य रूपं प्रेरणास्रोतः च अद्यतनसमयात् भिन्नः आसीत्। विश्वस्य आदिमजातीनामितिहासस्य समीक्षां कृतवन्तः विद्वांसः मन्यन्ते यत् आरम्भे यदा मनुष्यः सभ्यतायाः सामाजिकविकासस्य च प्रथमचरणे प्रविशति स्म, तदा प्रजननक्रियारूपेण तस्य परिचयः अभवत्। यत् पूर्वं अस्य संशोधनस्य अन्तर्गतं वर्णितम् अस्ति।

काव्यस्य द्वे रूपे स्वीक्रियते, दृश्यं श्रव्यं च। दृश्यकाव्यमभिनयः, रूपं, रूपकं, नाटकं च कथ्यते। दृश्यकाव्यमानन्दस्य अनुभवस्य च आधारः भवति। नेत्रेण दर्शनस्य भावात् नाटकं दृग्काव्यमिति संज्ञा प्राप्ता अस्ति। वेदसदृशं नाट्यस्य अधिकं महत्त्वं दातुमिच्छया ब्रह्मणा स्वसृष्टौ वेदेभ्यः अभिनयस्य, पाठस्य, गीतस्य, रसनाट्यस्य च महत्त्वपूर्णतत्त्वानि सङ्गृहीतानि सन्ति। कालान्तरे अनेकैः नाट्यगुरुभिः नाटकस्य अन्याभ्यः साहित्यविधाभ्यः भेदं कर्तुं नाटकस्य परिभाषायामभिनयस्यानुकरणस्य वा समावेशः कृतः, एतत् नाटकं च असाधारणं धर्मं मन्यते स्म।

संदर्भग्रन्थः–

1. अमरकोश-अमरसिंह-निर्णयसागर प्रेस, बम्बई 1940
2. नाट्यशास्त्रम्-संपादक पं. केदारनाथ, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई 1943
3. नाट्यलक्षणरत्नकोश-सागरनन्दी-संपादक बाबुलाल शुक्ल, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, प्रथम संस्करण 1972
4. नाट्यशास्त्रम् (अ. 1.7) भरत-हिन्दी अनु.के.डी. वाजपेयी, भातखण्डे संगीत विद्यालय, लखनऊ 1959
5. नाट्यशास्त्र-भरत संपादक बटुकेश्वर नाथ शर्मा, बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, बनारस, 1929, (संवत् 1985)
6. नाट्यशास्त्र भाग-1 हिन्दी अनु. बाबूलाल शुक्ल, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्रथम संस्करण 1972
7. नाट्यशास्त्र भाग-2 हिन्दी अनु. बाबूलाल शुक्ल, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्रथम संस्करण 1978
8. नाट्यशास्त्र (अ. 1.2) भवभूतिशर्मा एवं डॉ. हरिदत्तशास्त्री, साहित्यभण्डार, मेरठ 1966
9. नाट्यशास्त्र (अ. 1.3) सं. भोलानाथ शर्मा, साहित्य निकेतन, कानपुर 1960
10. नाट्यशास्त्रम् (भाग 1,2) हिन्दी टीका-मधुसुदनशास्त्री, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी। भाग-1 1971

---

1. नाट्यशास्त्र, 8.6-7
2. भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः। साहित्यदर्पण, 6.2
3. अभिनयदर्पण, पृ. सं. - 22.23

4. भारतीं सात्त्वतीं चैव वृत्तिमारभटीं तथा। समाश्रितः प्रयोगस्तु प्रयुक्तो वै मया द्विजाः।। नाट्यशास्त्र- 1.42 नाट्यशास्त्र, 1.22, 25, 41, 54, 64, 76
5. साहित्यदर्पण 6.1
6. पर्षदि प्रकटीकरणम्..........। अभिनवभारती, खण्ड-1, पृ. 1.42
7. नाट्यशास्त्र 6.10
8. नाट्यशास्त्र 8.23
9. नाट्यशास्त्र 19.37
10. नाट्यशास्त्र 22.15
11. नाट्यशास्त्र 7.16
12. नाट्यशास्त्र 27.5

संस्कृतसाहित्यविद्याशाखा
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
लखनऊपरिसरः, लखनऊ (उ.प्र.)।
ईमेल - chaudharyshivani0104@gmail.com

शोधनिर्देशकः- डॉ. गणेश शंकर विद्यार्थी
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
लखनऊपरिसरः, लखनऊ (उ.प्र.)।
*दूरवाणी संख्या - **8580493912***

वैज्ञानिकदृष्ट्या ज्योतिष्टोमयागस्य महत्त्वम्

– अभिषेकचतुर्वेदी, शोधच्छात्रः

– डॉ. नीरजतिवारी, शोधनिर्देशकः

(ज्योतिष्टोम यज्ञ का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से महत्व समझाया गया है। अन्य श्रौत सूत्रों के विचारों का विश्लेषण करने के बाद, लाट्यायन मत को प्रस्तुत किया गया है। प्रक्रियात्मक पहलुओं को भी प्रासंगिक रूप से वर्णित किया गया है। विभिन्न दृष्टिकोणों का तुलनात्मक अध्ययन भी किया गया है। ज्योतिष्टोम यज्ञ के सूक्ष्म पहलुओं का गहन विश्लेषण किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार, 'सोम यज्ञ के समान कोई अन्य यज्ञ नहीं है।' वेद यज्ञों के महत्व पर बल देते हैं, और जो लोग श्रौत परम्परा का पालन करते हैं, वे त्रयी विद्या (तीन वेदों) से समृद्ध जीवन जीते हुए इन अनुष्ठानों को करते हैं। वे वैदिक पुरुष पर ध्यान केंद्रित करते हैं और दर्शपौर्णमास, पशु याग, और सोम याग जैसे– यज्ञ करते हैं ताकि वे स्वर्ग प्राप्त कर सकें और अपनी इच्छाओं को पूरा कर सकें। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है, 'चार स्तोम (स्तोत्र)– त्रिवृत, पंचदश, सप्तदश, और एकविंश- सामूहिक रूप से ज्योतिष्टोम के रूप में जाने जाते हैं।' ज्योतिष्टोम यज्ञ के चार रूप हैं– अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, और अतिरात्र। इनमें से, अग्निष्टोम प्रथम है। सोम यज्ञों में सामान्य पर अन्तिम साम (स्तोत्र) के नाम पर यज्ञ का नाम रखा जाता है। अग्निष्टोम यज्ञ में, अन्तिम साम को अग्निष्टोम साम कहा जाता है, जो 'यज्ञ याज्ञिय' मन्त्र से शुरू होता है। इसलिए, इस यज्ञ को अग्निष्टोम संस्था के रूप में जाना जाता है। 'संस्था' शब्द का अर्थ है अनुष्ठान का समापन या पूर्णता। 'ज्योति' शब्द भी अग्नि (अग्नि) का प्रतीक है।)

(ज्योतिष्टोमयागस्य वैज्ञानिकदृष्ट्या महत्त्वं मया विहितम्। श्रौतसूत्रान्तराणां मतानि समालोच्य लाट्यायनमतानुसारं विषयाः प्रतिपादिताः। प्रक्रियाभागोऽपि यथाप्रसङ्गं निरूपितः। कतमं मतं ज्यायः इति समीक्षणमप्यत्र विहितम्। ज्योतिष्टोमयागस्य ये सूक्ष्माः विषयाः तेऽत्र सम्यङ् निभालिताः। ना सामा यज्ञो भवति इति ब्राह्मणवचनात् वेदस्य अर्थत्वं यज्ञ विषयत्व तत्राऽपि श्रौत परंपरामावहन्तः श्रौत्रियाः श्रौतकर्म निष्पादयन्तः जीवन्ति। जीवने त्रयीविद्यासम्पन्नाः वेदपुरुषं ध्यायन्ति। इष्टिपशुसोमभेदेन यज्ञभेदोऽपि दृश्यते 'स्वर्ग कामो यजेत' इति धिया इष्टिद्वारा पशुद्वारा सोमद्वारा यज्ञं (दर्शपौर्णमासौ इष्टिः पशुः यागः सोमयागः) कुर्वन्ति। तेन साहाय्येन कर्म कृत्वा धर्मार्थपुरस्सरं अपवर्गफलप्राप्तिः भवति। अपि च–

'अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ।।
इत्यनेन ज्यायान् पक्षोऽपि उद्धृतः ।"

सोमयागानां प्रकृतिरग्निष्टोमः। अस्यैव ज्योतिष्टोम इत्यपि नाम। ज्योतिश्शब्देन त्रिवृत्, पंचदश, सप्तदश, एकविंश इति चत्वारः स्तोमाः, यस्य सः ज्योतिष्टोम इति

संज्ञा। **'त्रिवृत् पंचदश सप्तदश एकविंश एतानि वाव तानि ज्योतींषि य एतस्य स्तोमाः'** इति तैत्तिरीयब्राह्मणे। ज्योतिष्टोमस्य चतस्रः संस्थाः। अग्निष्टोमः उक्थ्यः, षोडशी, अतिरात्रश्चेति। एतासु चतसृषु संस्थासु अग्निष्टोमः प्रथमः। प्रायेण सोमयागानां नामानि **'तत्तद्यागेषु अन्तिमं साम यद्गीयते तन्नाम्नैव'** भवन्ति। अग्निष्टोमयागे अन्तिमं साम अग्निष्टोमाख्यं, **'यज्ञा यज्ञिया'** इत्यादि साम्नः अग्निष्टोमसामेति प्रसिद्धिः। अतः अस्याः संस्थाया अग्निष्टोमसंस्थेति व्यवहारः सार्थकः। संस्थानां क्रतूपरमः (समाप्तिरित्यर्थः)। ज्योतिश्शब्दोऽपि अग्निवाचकः।)

कूटशब्दाः– ज्योतिष्टोमयागः, यागः, यागस्य महत्त्वम्, वेदः, यागकर्म।

प्रस्तावनः–

'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'[1] इत्युक्तश्रुतिवचनानुसारेण यज्ञस्याचरणं श्रेष्ठतम-कर्मत्वेन सम्भाव्यते वैदिकोत्तमैः। चतुर्विधानि कर्माणि भवन्ति-अप्रशस्त-प्रशस्त-श्रेष्ठ-श्रेष्ठतमभेदेन। लोकविरुद्धं हिंसाचौर्यादिकमप्रशस्तं कर्म भवति। लोकप्रशंसनीयं बन्धुवर्गपोषणादिकं कर्म प्रशस्तरूपेणांगीक्रियते। स्मृतिग्रन्थोक्तदिशा कूपतटाकादि-निर्माणादिकं श्रेष्ठं कर्म समामनन्ति सन्तः। वेदोक्तयज्ञस्याचरणं श्रेष्ठतमं कर्म भवति। '**यज्ञो हि स्वर्गादीष्टफलसाधनं भवति**।'[2] श्रूयते च अलौकिकसुखसाधनजन्यः स्वर्गः स च यज्ञेनैव साध्यते अतः स्वर्गः यज्ञरूपकर्मणा साध्यो भवति। यज्ञस्वरूपश्च वेदादिषु विवेचितं स च यज्ञः द्विविधः श्रौतयागः स्मार्तयागश्च। श्रुतिप्रतिपादितविधिना विहितो यागः श्रौतयाग इति कथ्यते स्मृति विहितसाधनेन प्रतिपादितो यागः स्मार्तयाग इति कथ्यते।

अद्यतनकाले प्रायशः सर्वत्र स्मार्तयाग एव विधीयते। श्रुतिविहितविधीनां पालनाशक्यत्वात् अद्यतनकाले श्रौतयागः न केनाऽपि विधीयते। श्रुतिविहितविधीनां तथा पालने न भवति न च पालने मीमांसायाः नियमः दृश्यते। परन्तु श्रौतयागे श्रुतिविहितविधीनां पालनमावश्यकं भवति। स्मार्तयागे हवनीय द्रव्यस्य प्राधान्यं भवति। श्रौतयागे च पुरोडाशस्यैव प्राधान्यं वरीवर्ति। तत्रापि कलौ श्रौतयागेषु ज्योतिष्टोमयागः कथञ्चित् विधीयते।

अश्वमेधादियागानां कलौ निषेधात् विधानं न गृह्यते। तत्र ज्योतिष्टोम-यागेऽपि प्रकृतियागः विकृतियागः **'प्रकृतिवत् विकृतिः कर्तव्या'**[3] इति न्यायेन यथा विधानं प्रकृतियागस्य तथैव विधानं विकृतियागस्य भवति। अतः स्वर्गकामेन पुरुषेण ज्योतिष्टोमयागः विधीयते '**ज्योतिष्टोमेन यजेत् स्वर्गकामः**।'[4] ज्योतिष्टोमयागे पुरोडाशप्रकृतिभूते तण्डुलनिष्पादने नैके विधयः मीमांसायां

वर्तन्ते। तद्यथा चरुप्रकृतिभूता तण्डुलाः कार्या इति उद्देश्यं प्रतिपाद्य व्रीहीन् प्रोक्षन्ति व्रिहीणां प्रोक्षणं कर्मणा संस्कारो विधीयते तदुत्तरं निस्तुषीकरणाय व्रीहीन् अवहन्ति इति अवघातविधिना व्रीहीणां निष्तुषीकरणं क्रियते एवं कृते अपूर्वस्य फलजनकता भवति नान्यविधानेन एवं सोमयागे सोमलतायाः क्रयणविधिः प्रतिपाद्यते '**पीङ्गाक्ष्या एकाहायन्या सोमं क्रीणाति**।' अतः श्रौतयागेषु सर्वत्र श्रुतिविहितविधीनां पालनं कर्तव्यमेव इति नियमः। तथा स्मार्तयागेषु नास्ति इति कृत्वा सर्वत्र स्मार्तयज्ञा एवं अद्यतनकाले विधीयन्ते। यज्ञकर्मणः फलं स्वर्गः भवति। न तु स्वर्गः एव यज्ञानां फलं अपितु मुमुक्षूणां यज्ञद्वारा अन्तःकरणसंशुद्धिरपि प्रतिपाद्यते। अतः ये साधकाः स्वर्गादिभोगकामिनः सन्ति तैर्विहितो यागः स्वर्गसाधनं भवति। ये च साधकाः मोक्षकामिनः तैर्विहितो यागः अन्तःकरणशुद्धिद्वारा मोक्षसाधनं भवति ।

'**तमेतमात्मानं यज्ञेन विविदिषन्ति दानेन तपसाऽनाशकेन**'[5] इति श्रुतिः। अतो यज्ञस्य श्रेयसाधनत्वं निःश्रेयसाधनत्वञ्च उभयत्र उपयोगिता यज्ञस्य भवति। यज्ञः कदा कुत्र च विधीयते स्थानकालस्याऽपि विवेचनं ज्योतिषादिशास्त्रेषु विहितमस्ति। श्रौतयागस्य विधिः यथा वेदे प्रतिपादितोऽस्ति तथैव स्मार्तयागस्य विधिरपि स्मृतिषु प्रतिपादितोऽस्ति।

यज्ञशब्दस्यार्थः– यज् देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु धातोः '**यजयाजयतविच्छ-प्रच्छरक्षोनङ्**'[6] इति पाणिनीयसूत्रे नङ् प्रत्यये कृते यज्ञशब्दः निष्पन्नो भवति। अतो यज्ञशब्दस्यार्था भवन्ति देवपूजनम्, सङ्गतिकरणम्, दानञ्च।

देवपूजाः–

- यजनमिन्द्रादिदेवानां पूजनं सत्कारभावनं यज्ञः।
- इज्यन्ते सम्पूजिताः तृप्तिमासाद्यन्ते देवा अत्रेति यज्ञः।
- इज्यन्ते देवा अनेनेति यज्ञः।
- इज्यन्ते देवा अस्मिन्निति यज्ञः।
- इज्यते देवेभ्यः अस्मिन्निति यज्ञः।
- इज्यते अमी इति यज्ञः।
- इन्द्रादिदेवानां पूजन सत्कारश्च येन कर्मणा भवति तत्कर्म यज्ञपदेनाभिधीयते।
- यत्सदनुष्ठानेन सर्वविधविघ्नोपशमो भवति स यज्ञपदेन व्यपदिश्यते।
- येन कर्मणा देवाः पूजिता भवन्ति, तत्कर्म यज्ञपदेन व्यपदिश्यते।

सङ्गतिकरणम्–

- यजनं धर्मदेशजातिमर्यादारक्षायै महापुरुषाणाम् एकीकरणं यज्ञः।
- इज्यन्ते सङ्गतीक्रियन्ते विश्वकल्याणाय परिभ्रमणं कृत्वा महान्तो विद्वांसः वैदिकशिरोमणयः व्याख्यानरत्नाकराः निमन्त्र्यन्ते अस्मिन्निति यज्ञः।
- इज्यन्ते स्वकीय बन्धुबान्धवादयः प्रेमसम्मानभाजः सङ्गतिकरणाय आहूयन्ते प्रार्थ्यन्ते च ये कर्मणेति यज्ञः।
- धर्मदेशजात्यादीनां मर्यादारक्षणाय महापुरुषाणाम् एकीकरणमेव यज्ञ इति वदन्ति।

दानम्–

- यजनं यथाशक्ति देशकाल-पात्रादि-विचार पुरस्सरं द्रव्यादित्यागः।
- इज्यते देवतोद्देशेन श्रद्धापुरस्सरं द्रव्यादि त्यज्यते अस्मिन्निति यज्ञः।
- इज्यन्ते सन्तोष्यन्ते याचका येन कर्मणा स यज्ञः।
- इज्यन्ते चत्वारो वेदाः साङ्गा सरहस्याः सच्छिष्येभ्यः सम्प्रदीयन्ते उपदिश्यन्ते सदाचार्यैर्येन वा स यज्ञः।

यज्ञशब्दस्य व्युत्पत्तिजन्योऽर्थः–

- येन सदनुष्ठानेन इन्द्रप्रभृतयो देवाः सुप्रसन्नाः सुवृष्टिं कुर्युस्तत्कर्म यज्ञपदेनाभिधेयम्।
- येन सदनुष्ठानेन स्वर्गादिप्राप्तिः सुलभा स्यात् तद् यज्ञपदेन व्यवह्रियते।
- येन सदनुष्ठानेन सम्पूर्णविश्वं कल्याणं भजेत् तद् यज्ञपदाभिधेयम्।
- येन सदनुष्ठानेन आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक तापत्रयोन्मूलनं सुकरं स्यात् तद् यज्ञपदाभिधेयम्।
- यागाङ्गसमूहस्य एकफलसाधनाय अपूर्वकर्मविशेषो यागः।
- वेदमन्त्रैर्देवतामुद्दिश्य द्रव्यस्य दानं यागः।

यज्ञशब्दस्य वेदप्रतिपाद्यार्थः–

यत्र देवानुद्दिश्य अग्नौ द्रव्यस्य प्रक्षेपणं भवति स यज्ञः प्रचक्ष्यते। उक्तञ्च–

'यत्र प्रक्षेपाङ्गको देवतोद्देशपूर्वको द्रव्यत्यागोऽनुष्ठीयते स यागपदार्थः।'[7]

कस्मात् यज्ञः इति उच्यते? 'यज्' धातोः अर्थः देवपूजनादिः लोके वेदे च ख्यातः इति नैरुक्ताः। यज्ञो नाम याञ्चाविशेषः यस्मिन् कर्मणि यजमाने अन्नादि द्रव्याणि याच्यन्ते किं वा यजमानः देवान् वृष्टिं याचते किं वा देवाः यजमानं हविः याचन्ते तत् कर्मं यज्ञ इति प्रचक्षते। अथवा कृष्ण-

यजुर्वेदीयमन्त्राणां प्राधान्यात् यज्ञ: इति उच्यते। यज्ञे यजुर्वेदीयमन्त्राणां प्रयोगबाहुल्यं भवति इति।

देवान् प्रति स्वकीयस्य द्रव्यस्य त्यागः यज्ञो इति व्यपदिश्यते।

'दैवतं प्रति स्वद्रव्यस्योत्सर्जनं यज्ञः।'

यथोक्तम्– यज्ञः कस्मात्? प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरुक्ताः। याञ्च्यो भवतीति वा यजुर्भिरुन्नो भवतीति वा बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः यजूंष्येन नयन्तीति वा।8

ज्योतिष्टोमयागः–

यागविषयतायां ज्योतिष्टोमकरणे यानि-यानि फलानि वक्ष्यन्ति तानि सर्वाणि शास्त्रदृष्ट्या अवाप्तानि न काचित् विप्रतिपत्तिः। ज्योतिष्टोमशब्देन उपांशुवादिहारियोजनपर्यन्तो ग्रहयज्ञाभ्यासोऽभिधीयते। ज्योतींषि यज्ञस्तोमाः स ज्योतिष्टोमः। स्तोमैर्ह्यसौ द्योत्यत इति, ते च सोमयागस्य स्तोमाः। तस्मात् ज्योतिष्टोमशब्देन सोमयागोऽभिधीयते। यज्ज्योतिष्टोमो भवति यज्ञमुखन्तटाध्नुवन्ति यदुक्थो यज्ञक्रतोरनन्तरयाय यद्रात्रिः सर्वस्याप्तै। अग्निष्टोमसंस्थैव ज्योतिष्टोम-शब्देनोच्यते। ज्योतींषि त्रिवृदादयः स्तोमा यस्य स ज्योतिष्टोमः। तथा च तैत्तिरीयकं त्रिवृत्पञ्चदश सप्तदश एकविंश एतानि ज्योतींषि यत् एतस्य स्तोमा इति। यज्ज्योतिष्टोमो ऽग्निष्टोमो द्वादशस्तोत्रात्मको भवति। ज्योतिष्टोमस्य हि अग्निष्टोमसंस्था मुख्या। 'एष वाच प्रथमो यज्ञानामिति' श्रुतेः तत्तेन यज्ञमुखं यज्ञानां मुखभूतमग्निष्टोमं प्राप्य आध्नुवन्ति सत्रिणः समृद्धा भवन्ति। तथा तस्मिन्नतिरात्रे उक्थः पञ्चदशस्तुतशस्त्रसाध्यः क्रतुरन्तर्भवतीति, यत्तत् यज्ञक्रतोः सम्पूर्णस्य यज्ञस्य अनन्तराय अपरित्यागाय भवति। उक्थसंस्थायां हि क्रतुः संपूर्णो भवति, यथा पूर्वयोः सवनयोः पञ्चदश पञ्चदश स्तोत्राणि तथा तृतीयेऽपि स्तोत्रपञ्चकसद्भावात्। अग्निष्टोमस्त्वसंपूर्णक्रतुः उक्तहेतोरभावात्। तस्य च अग्निष्टोमसंस्थत्वेन ज्योतिष्टो-मनामताहेतुरुक्तो यथा–

"यदेतानि सर्वाणि सह दुरुपापानि कैतेषामुपाप्तिरिति ज्योतिष्टोम एवाग्निष्टोमेनैवाग्निष्टोमेन यजेन् तस्य वा एतस्य ज्योतिष्टोमस्याग्निष्टोमस्य त्रिवृद्बहिष्पवमानं तदुन्नतस्य शिरः पञ्चदश सप्तदशा उत्तरौ पवमानौ तौ पक्षौ पञ्चदशं होतुराज्यं सप्तदशं पृष्टमेकविंशं यज्ञायज्ञियं तत् पुच्छम्।"9

अधुना प्रथमसंस्थारूपज्योतिष्टोमाग्निष्टोमं महाव्रतयज्ञात्मना स्तोतुं तत्रैवाग्नि-चयनादित्रयस्योपादानाद् ब्रह्मवादिप्रश्नोत्तराभ्यां दर्शयति। सहयुगपत्

दुरुपापानि आप्तुमशक्यानि सर्वेषां महाव्रतयज्ञानुष्ठाने प्रयोगबाहुल्येन ऋत्विक्सम्पादनादेः दुष्करत्वेन चानधिकारात् तत्राग्निष्टोम इति पदेनाग्निस्त्वेनोक्तेरग्निचयनमुक्तमिति मन्तव्यम्। पक्ष्याकारस्य महाव्रतसाम्नो हिं शिरः। पक्षमध्यपुच्छात्मकाः पञ्चावयवाः शिरो गायत्रं रथन्तरं दक्षिणः पक्षः वृहदुत्तरः पक्ष भद्रमस्य पुच्छं राजनसाम ह्यात्मेति तत्सर्वमग्निष्टोमो सम्पादयति तस्य वा इति ऋक् त्रयात्मकमेकसूक्तं तादृशानि त्रीणि सूक्तानि त्रिवृतोऽवयवास्य स्तोमस्य तदिदं त्रिवृदु वहिष्पवमानम् प्रातः सवनिकं तृचं सूक्तत्रयात्मकं बहिष्पवमानं महाव्रतस्य शिरो भवति। बहिष्पवमानमपि गायत्रीच्छन्दस्कैस्तृचैर्गातव्यं माध्यन्दिनः पञ्चदश स्तोत्रियात्मकः पवमानः तृतीयंसवने सप्तदशस्तोत्रियात्मकः आर्भवः पवमानः पक्षस्थानीयौ होत्रानुशंसनीय प्रथममाज्य स्तोत्र सप्तदश स्तोत्रियात्मकं पृष्ठनामकं होतुः प्रथमं स्तोत्रम् तदुभयं मध्यात्मरूपम्। एकविंशत्यावृत्ति रूपं **'यज्ञायज्ञा वो अग्न्यः'** इत्यत्रोत्पन्नं सामपुच्छस्थानीयम्। सोमयागे च– **'ज्योतिष्टोमधर्मा एकाहद्वादशाहयोस्तद्गुण दर्शनात्'**।[10]

ज्योतिष्टोमयागस्य वैज्ञानिकदृष्ट्या समीक्षणावसरे वक्तुं शक्यते यत् यस्मिन् काले यस्यामवस्थायां यमुद्दिश्य मन्त्ररचना (आविर्भावः) महर्षिभिः कृताः तस्योपरि ब्राह्मणग्रन्थेषु आधिदैविक आध्यात्मिक आधिभौतिक अर्थानामूहापोहनं यज्ञमीमांसा-दृष्ट्या आधारित ऋषिः किं वाञ्छति कोऽभिप्रायः तथातात्पर्यविषयभूता किमर्था इति। विजिज्ञासायामेवमुच्यते अंशगूढतमः– श्रृंगग्राहिकया बुध्या उत्तरं नान्विष्यते निश्चीयते, ऋषिभिः निगूढशब्दद्वारा कस्यचित् बोधगम्यं तथ्यं समुद्भाषितम्। ज्योतिष्टोमयागविषयः अत्यन्तमहत्वपूर्णो विद्यते यागस्वरूपं ऋग्वेदे निगदितं सः जगतरचना पुरुषस्य अध्यात्म रचनाविधिज्ञानं आवश्यकम्। ऋग्वेदस्य प्रथमे मंत्र एव अग्निः, यज्ञस्य, देवता, पुरोहितः, ऋत्विक्, होता च इति नामभिः अभिहितः। अत्र **"अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारं रत्नधातमम्"**। अग्निस्तु प्राणस्य मूलभूतः पुरोहितः कथने प्रत्यक्षत्वं उपपद्यते। ऐतरेयदृष्ट्या पृथ्वी पुरोधाता अस्ति। अग्निस्तु पुरोहितः। इयमेव विलक्षणा रचना पार्थिवं वस्तु प्रज्वाल्य परिवर्तितो भूत्वा संवर्धनं करोति। यस्य आरम्भिकी प्रक्रिया हिरण्यगर्भे अथवा गर्भितं भ्रूणे रूपे जायेत। अर्वाचीनगर्भे विज्ञानशास्त्रे (एम्ब्रोलाजी) कायनिर्माणस्य प्रक्रियायाः विशदं विवेचनं प्राप्यते। वैदिकलोकविज्ञानस्य देवता, विज्ञानेन सह संबद्धाः दृढतमः, यथा **डॉ. बसन्त रेले** स्वकीये वैदिक **"गाइस ऐज आफ बायोलाजी"** इत्याख्ये ग्रन्थे प्रतिपादितम्। शुक्र शोणिताभ्यां गर्भकोषात् प्रारभ्यमाणः

सघनीभूय शरीरनिर्माणम् अग्नेः चयनविद्या एव यस्य प्रतिपादनं शतपथब्राह्मणे विशदेन निगदितम्। अपि च यस्य मूलं यजुर्वेदस्य एकादश अध्यादारभ्य अष्टादश अध्यायपर्यन्तं मंत्रेषु इदं प्रपञ्चितम्। यस्य नाम पञ्चचित्तिकः अभिधीयते पञ्चभूतात्मकपंचतत्वे या चितिः भवति। ते नैवशरीर रचना भवति इयमेव "चित्याग्नि" नाम्ना अभिधीयते ऋग्वेदे चित्रशिशुशब्देनोच्यते सः अग्चियनद्वारा जायमानत्वात् एव चित्रं उक्तं परन्तु चित्याग्निस्तु भूतात्मकत्वात् मर्त्यं भवति।

ज्योतिष्टोमयागस्य वैज्ञानिकदृष्ट्या समीक्षणावसरे प्राच्यनव्यसमवेत-स्वरूपावस्था एकैव नान्यत्र यः प्राग् बिन्दुरूपे अन्तरं सैव स्थूल (भौतिक) रूपे जायते। अद्यतनपद्धत्या प्रयोगविधौ विकारोऽपि दृश्यते संभाव्येत परन्तु वैदिक विधयः न कोऽपि विकारा समुत्पद्यते यथा–

वायवायाहि दर्शत इमे सोमा अरंकृताः। तेषां पाहि श्रुधी हवम्।

वैदिककालादारभ्य अद्यतनपर्यन्तं यागस्वरूपा एवं सन्ति कालक्रमानुसारेण ह्रास अभ्युत्थानं च भवत्येव अग्ना वा हूति प्रदान मिति सामान्य स्वरूपं यज्ञस्य विषय आसीत्। तत्र न बहूनां मन्त्राणां पठनं, न वा सामगानं न वा बहूनां कृतीनाम् अनुष्ठानम्। ततः परं क्रमशः यज्ञस्य स्वरूपं जटिलं विस्तृतञ्च सञ्जातम्। यज्ञसंस्थायाः। बहवो नियमाः कृतयः, मन्त्रपठनम् प्रायश्चित्तानि चागतानि। ऋग्वेदकाले यज्ञस्य स्वरूपं सामान्यतः अतिसरलम् आसीत्। परं यजुर्वेदकालो यज्ञविकासेऽत्यन्तं महत्वपूणं योगदानं कृतवान्।

ऋग्वेदकालो यज्ञस्योत्पत्तिकालः (Creavtive Period), यजुर्वेद कालोऽभि-जातकाल (Classical Period) इति सङ्क्षेपेण वर्णयितुं शक्यते। अग्न्याधानम्, अग्निहोत्रं, दर्शपूर्णमासयागौ, चातुर्मास्ययागाः, अग्निष्टोमः, वाजपेयः, राजसूयः अश्वमेध इत्यादयो यागाः यजुर्वेदस्य योगदानम्। तदनन्तरं सामवेदस्य योगदानं नाम विविधा एकाहाः, अहीनाः सत्रयागाश्च। तत्र केचन सत्रयागाः सहस्रवर्षपर्यन्तमपि सामवेदसाहित्येऽनुष्ठेयत्वेन वर्णिता। सत्रयागेषु पुनरुक्तिर्वर्तते। प्रतिदिनं भिन्नानां सोमयागानाम् अनुष्ठानं कृत्वा बहुकालं यावदेते यागा अनुष्ठीयन्ते। तत्र कर्मसु भेदोऽल्पः। यः कश्चन भेदः स मुख्यतः सामगानविषये। तेनैते प्रदीर्घाः सत्रयागाः सामवेदनिर्मिता इति वक्तुं शक्यते। चातुर्मास्यादीनां हविर्यागानां सोमीकरणमपि सामवेदस्यैव निर्मितिः। श्येनादयोऽभिचारयागाः व्रात्यस्तोमाः- साद्यस्क्रयागा अपि सामवेदपरम्परायां प्रादुर्भूताः। साद्यस्क्रयागेषु एकस्मिन्नेव दिवसे यत्कर्म अन्यदा पञ्चसु दिनेष्वानुष्ठीयते तत् क्रियते। एतत्सर्वं कर्म एकस्मिन्नेव दिवसे कर्तुमशक्यम्। अत एते यागा ग्रन्थनिष्ठा एव प्रतिभाति। प्रदीर्घसत्राण्यपि काल्पनिकान्येवेति वक्तुं शक्यते। यतो न कोऽपि सहस्रवर्षाणि

जीवितुं शक्नोति। व्रात्यस्तोमा अपि ग्रन्थनिष्ठाः। तेषां स्वरूपविषये निश्चयाभावात्। वस्तुतस्ते आहिताग्निनैव कर्तुं शक्याः, यदि सः व्रात्यत्वं प्राप्तुं समीहते। व्रात्यो नाम संन्यासिप्रकारः। अथर्ववेदे तस्य स्तुतिः व्रात्यकाण्डे उपलभ्यते। परं कालान्तरेण व्रात्यशब्दो निन्दार्थकः सञ्जातः। अनुपनीत इति तस्य अर्थोऽभवत्। अनुपनीतोऽनधीतवेदः, अनाहिताग्नर्व्रात्यः सोमयागं कृत्वात्मानं शुद्धीकुर्यात् इत्यत्र महती विसङ्गतिर्वर्तते। सा च वेदानुयायिभिर्न कदापि सम्यक्तया विचारिता, यतस्ते यज्ञा एव कदापि सम्यक्तया नानुष्ठिताः। सामवेदे इत्थं बहूनां यज्ञानां समावेशः। अतः सामवेदकालो यज्ञसंस्थाया इतिहासे ह्रासकाल इति रूपेण मया मन्यते।

आधुनिककालेऽपि संस्कृतज्ञानां वेदविषयकं, कर्मकाण्डविषयकञ्च ज्ञानं नास्ति। दूरदर्शने चित्रपटेषु च यज्ञदर्शनप्रसङ्गे यज्ञस्य यद्यदर्शनं क्रियते, तेनैतत् सिद्धं भवति। सप्तशती-स्वाहाकारे यादृशी यज्ञविषयिणी स्थितिस्तादृशीस्थितिः अश्वमेधयज्ञविषयेऽपि अथवा राजसूययज्ञविषये दृश्यते। महाभारतम्, रामायणम्, अन्ये च पौराणिकग्रन्थाः। एतेषां विषये दूरदर्शने चित्रपटे च यज्ञविषयकं यन्मिथ्यादर्शनं भवति तत्र कारणं संस्कृतज्ञानां यज्ञज्ञानाभावः। ते अग्निचयनम्, उत्तरवेदिम्, सदोमण्डपं, हविर्धानमण्डपं न जानन्ति।

अतः एतेषु कस्यापि दर्शनं तत्र न भवति। यतः संस्कृतज्ञाः अश्वमेध इति शब्दं विहाय अन्यत् किमपि न जानन्ति। न केवलं श्रौतयज्ञानामियं कथा, गृह्यकर्मविषयेऽपि स्थितिरियमेव। विवाहविषये दूरदर्शने, हिन्दीचित्रपटेषु वधूवरयोरग्निं परितः '**सप्तप्रदक्षिणाः**' दृश्यन्ते। वस्तुतः विवाहावसरे अग्निं परितः तिस्त्र एव प्रदक्षिणाः सन्ति। '**सप्तपदी**' ति शब्देन प्रसिद्धे कर्मणि तु 'सप्त' इति सङ्ख्यायाः महत्त्वं वर्तते। ज्योतिष्टोमयागविषयके वैज्ञानिकदृष्ट्यानुशीलप्रघट्टके श्रौतयागस्यानुष्ठानं हौत्र अध्वर्युपक्ष इव औद्गात्रपक्षस्यापि अत्यन्तं आद्रियन्ते औदुम्बर्याः उत्तरे आसीन उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता, प्रभृतयः यदा अनेकेषां स्तोत्राणां विहितस्तोमेषु विष्टुतिप्रकारेषु गानं कुर्वन्ति। तदा श्रौतयागः न केवलः नीरसः। अपितु दर्शनश्रवणे रोचकताऽपि भवत्येव। सम्पूर्णकार्यक्रियायाः निरूपणं सामवेदीयताण्ड्यषड्विंशसामविधानजैमिनीयब्राह्मणेषु विस्तरेण निगदितम्। अग्निष्टोमसंस्थज्योतिष्टोमः यः समस्त सोमयागानां प्रकृतिरस्ति तदारभ्य सहस्रसंवत्सरसाध्यसत्रयागानां निरूपणमस्ति।

एवं रूपेण लघुशोधपत्रेऽस्मिन्, को यागः? तत्राऽपि ज्योतिष्टोमः कः? अपि च यागपदेन किं गृह्यते? वैज्ञानिकदृष्ट्या ज्योतिष्टोमयागस्य महत्त्वं इत्येते विषयाः विचारपूर्वकं प्रतिपादिताः।

सन्दर्भग्रन्थः-

1. अर्थसंग्रहः, दीपिकाटिका सहित, चैखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1964
2. अथर्ववेदसंहिता, श्रीपाददामोदर सातवेलकर, स्वाध्याय मण्डल पारडी, 1940
3. ऋग्वेदसंहिता, वैदिक संसोधन मण्डल, पूना, 1941
4. ऋक् प्रातिशाख्यम्, मंगलदेव शास्त्री, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, 1931
5. ऐतरेय आरण्यक, सं. ए. बी. कीथ, आक्सफोर्ड, 1969
6. ऐतरेय ब्राह्मणम्, सायणभाष्य सहित, आनन्दाश्रम, पूना, 1931
7. पारस्करगृह्यसूत्रम्, डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय, चैखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1980
8. मीमांसासूत्रम्, इलाहाबाद पाणिनी प्रकाशन, 1923
9. शतपथब्राह्मणम्, श्री सायणाचार्य, नाग प्रकाशन, दिल्ली, 1984
10. मीमांसान्यायप्रकाश, डॉ. राधेश्याम चतुर्वेदी, चैखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, 2016
11. व्याकरणमहाभाष्यम्, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1971
12. ऋग्वेदभाष्यभूमिका, डॉ. विरेन्द्रकुमार वर्मा, चैखम्बा पब्लिशर्स, वाराणसी, 2007

---

1. शतपथब्राह्मणम् 1.7.1.5
2. अर्थसंग्रहः
3. मीमांसान्यायसूत्रम्
4. मी. न्याय. शाबर भाष्य
5. बृहदारण्यकोपनिषद्
6. पाणिनीयसूत्र 3.3.8
7. भाट्टदीपिका 4/2/12
8. निरुक्त 3/4/16
9. शत. ब्रा. 10/1/2/7
10. सा.स.पू.मं.सं 35

केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः
लखनऊपरिसरः, लखनऊ (उ.प्र.)।
*दूरवाणी संख्या - **9170155748***
*ईमेल - **abhibaba8889@gmail.com***

साहित्यशास्त्रविद्याशाखा
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः
लखनऊपरिसरः, लखनऊ (उ.प्र.)।

पारस्करगृह्यसूत्रस्य प्रथमद्वितीयकाण्डस्य संस्काराणां जयरामविश्वनाथभाष्यानुसारं तुलनात्मकं समीक्षणम्

– नितेशमिश्रः, शोधच्छात्रः
– प्रो. हरेकृष्णअगस्ती, शोधमार्गदर्शकः

(पारस्कर गृह्यसूत्र, शुक्ल यजुर्वेद का एकमात्र गृह्यसूत्र है इस पर कर्क, जयराम, विश्वनाथ, हरिहर, गदाधर आदि पाँच आचार्यो का भाष्य मिलता है। गृह्यसूत्रों में गर्भधारण से लेकर मृत्यु तक व्यक्ति के जीवन के हर चरण से जुड़े संस्कारों का वर्णन है परन्तु इस शोधपत्र में पारस्कर गृह्यसूत्र के प्रथम एवं द्वितीय काण्ड में प्रतिपादित संस्कारों का आचार्य जयराम एवं आचार्य विश्वनाथ के भाष्यों का तुलानात्मक समीक्षण है। यह संशोधन वर्तमान समय में समाज को एक नूतन दृष्टि तथा विचार के लिए पथ प्रदर्शक है।)

(सर्वेऽपि संस्काराः तेषां विधिविधानानि च जीवनकेन्द्रतः समुत्पद्यन्ते। तेन सह एते च भवन्ति। संस्काराणां प्राचीनतमाः आकरग्रन्थाः गृह्यसूत्राणि विवाहसंस्कारतः समारभ्यन्ते यतः विवाहसंस्कारोऽयं जीवनस्य केन्द्रबिन्दुत्वेन स्वीक्रियते स्म। संस्कारः सर्वाश्चापि सामाजिक्यः गतयः धारयति अनुप्रणयति च। संस्काराणां पद्धतयः तासां स्वरूपञ्च निरीक्षणानि अनुभवान् तर्काश्च समाश्रयन्तः अत्यन्तं प्राचीनकालेऽपि संस्काराणां पद्धतयः सुविशिष्टाः सुविस्तृताः वर्तन्ते। संस्काराणामुद्देश्यं व्यक्तेः पूर्णतया व्यक्तित्वस्य विकासः आसीत् येन सः पुरुषः स्वात्मानं मानवातिमानवीय शक्तिपूर्णजगदनुरूपं कर्तुं शक्नुयात्। पारस्करगृह्यसूत्रस्य विषयाः प्रायः त एव सन्ति यत् अन्येषु गृह्यसूत्रेषु वर्णिताः। केवलं तु क्रमव्यवस्थायाञ्च भिन्नता लक्ष्यते। कार्यमिदं सर्वथा नूतनं भविष्यतीति।

संस्कारमन्त्राणां अर्थज्ञानेन पारिवारिकसदस्येषु सौमनस्यभावनायाः व्यक्तित्त्व-विकासस्य च अभिवृद्धिः भवेत्, संस्कारे प्रयुक्तद्रव्याणां समाजस्य कृते वैज्ञानिकदृष्ट्या उपयोगिता, संस्कारे प्रयुक्तमन्त्रैः मनोविज्ञानदृष्ट्या मन्त्रचिकित्सा, मन्त्रार्थज्ञानेन हिंसायाः दुर्गुणानां च परित्यागः भवेत् इति धिया विषयोऽयं महत्त्वपूर्णः।)

कूटशब्दाः– संस्कारः, परित्यागः, अभिधानं, कर्मपरायणं, वेदः, शाखा, प्रवचनपरः, ऋषिः, भर्तृयज्ञः, वासुदेवः, गङ्गाधरः, रेणुदीक्षितः, जितेन्द्रियः-जामाता, दारः।

प्रस्तावनाः–

भगवतः निश्वासभूतोऽयं वेदः नित्यः, शाश्वतः, त्रिकालाबाधितः, अपौरुषेयश्च वर्तते। अस्य सृष्टिविषये कुत्रापि किमपि प्रमाणं न मिलति किमर्थमित्युक्ते कर्मप्रतिपादको वेदः आदौ एक एव आसीत्। अनन्तरं बहुषु शाखासु विभक्तः जातः। **"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"** इति स्वाध्यायविधिना श्रुतिपरम्परया संरक्षणं अद्यावधि दृश्यते। तदर्थम् अस्याः स्वाध्यायविधेः सुरक्षार्थं विविधशाखामाध्यमेन वेदानां प्रचलनं प्रचार-प्रसारः च इदानीं दरीदृश्यते। कर्मपरायणं मनुष्यजीवनम्।

वैदिकसंस्कारकर्मभिरेव समाजस्थापना समुन्नत्तिश्च। अतः **"काम्यो हि वेदाधिगमः, कर्मयोगश्च वैदिकः"** इति प्रशस्तं स्मृत्यनुसारम्। कर्मणः चर्चा वैदिककालात् आरभ्यः आर्यमानसे प्रवृत्ता प्राप्यते। **"अकर्मा दस्युः"।** इति प्रवचनपरः ऋषिः। कर्मणः शाश्वत्यावश्यकता यथारिति सम्पादनीया इत्थमपि च साधुपरकता सुफलनिष्ठता ऋषिदर्शिता वर्तते। ऋषिः पुरोहिताय प्रार्थयति यत् **"देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणः"** [1] इति। यज्ञकर्म विहाय आचार-व्यवहार-प्रायश्चितानि कर्माणि धर्मशास्त्रे प्रतिपादितविषयेषु तु प्रामुख्यं भजन्ते। एषु आचाराध्याये संस्कारकर्म प्रतिपादितम्। अयं संस्कारः कतिविधः इति स्पष्टतः वक्तुं न शक्यते। यतो हि एते सूत्र- स्मृति- निबन्धकाराणां मतानुसारं विद्यन्ते। गौतमधर्मसूत्रे एते संस्काराः 40, वैखानसे 18, बौधायने 13, याज्ञवल्क्ये 12, व्यासस्मृतौ 16, पारस्करे 13 संस्काराः वर्णिताः सन्ति। यद्यपि एतेषां सङ्ख्यानां एकरूपता नास्ति तथापि साधारणतया षोडशसंस्काराः अस्माभिः स्वीक्रियन्ते।

पारस्करगृह्यसूत्रस्य संक्षिप्तपरिचयः–

वेदानां सर्वासु शाखासु एतेषां सूत्रसाहित्यानां रचना समुपलभ्यते यत्र हविर्यज्ञः, सोमयज्ञः, पशुयज्ञश्च सूत्रशैल्यां विवेचिताः। सूत्रसाहित्ये प्रथमं समायातं श्रौतसूत्रं तदनु गृह्यसूत्रस्य निर्मितिः सञ्जाता। गृहस्थजीवनस्य अनुष्ठीयमानानां पाकयज्ञानां विविधसंस्काराणाञ्च वर्णनं गृह्यसूत्रेषु समुपलभ्यते एतदर्थम् अस्याभिधानमपि गृह्यसूत्रे कृतं विद्यते। अत्र जन्मतः मृत्युपर्यन्तं यावन्तः जीवनोपयोगिनः संस्काराः सन्ति, तेषां पृथक्-पृथक् रूपेण विस्तृतं विवेचनं तत्र कृतमस्ति।। तत्र सप्त पाकयज्ञाः संस्थायज्ञाः पञ्च महायज्ञाः च नियमपूर्वकेण विधिसम्मतेन च निबद्धाः सन्ति। तत्र गृहारम्भः, गृहप्रवेशः, रोगापशमनाय शान्तिः इत्येतेषां सर्वेषां विवेचनं विहितम्। पारस्करगृह्यसूत्रं शुक्लयजुर्वेदस्य वाजसनेयी-काण्वशाखाद्वयस्य एकमेव इदं गृह्यसूत्रम्। हिल ब्राण्ड्टमहोदयानुसारेण इदं सूत्रं वाजसनेयगृह्यसूत्रम् इति नाम्नापि विख्यातम्। अस्य रचयिता पारस्करः। अस्मिन् काण्डत्रयं कण्डिकासु विभाजितम्। अस्मिन् त्रिषु काण्डेषु प्रथमकाण्डे आवसथ्याग्नेराधानम्, विवाहादारभ्यान्नप्राशनपर्यन्तानां विषयाणां वर्णनमस्ति। द्वितीयकाण्डे चूडाकरणादारभ्य उपनयन-समावर्तन-पञ्चमहायज्ञ-श्रवणाकर्म-सीतादियज्ञानां विवरणमस्ति। अन्तिमे काण्डे श्राद्धान्तरे अवकीर्णि-प्रायश्चित्तादीनां विविधानां विषयाणां प्रतिपादनमस्ति। अस्य व्याख्यासम्पत्तयो लोकप्रसिद्धेः परिचायिकाः सन्ति। अस्य पञ्चभाष्याणि प्रसिद्धानि सन्ति। तद्यथा– कर्कभाष्यम्, जयरामभाष्यम्, हरिहरभाष्यम्, गदाधरभाष्यम्, विश्वनाथभाष्यञ्चेति। पारस्करगृह्यसूत्रे त्रीणि काण्डानि सन्ति। अनेन प्रकारेण अस्य विषयस्य व्याप्तिः विद्यते। अतः अस्मिन् शोधप्रबन्धे जयरामविश्वनाथभाष्यानुसारं गृह्यसूत्रस्य द्वयोः काण्डयोः तुलनारूपेण मर्यादा निश्चिता वर्तते।[2]

पारस्करगृह्यसूत्रस्य भाष्यकाराणां संक्षिप्तपरिचयः–

कर्काचार्यः–

इमे वैदिकवाङ्मयस्य चिरपरिचिताः मान्याष्टीकाकाराः सन्ति। एभिः कात्यायनस्य श्रौतसूत्रे पारस्करस्य गृह्यसूत्रे च चोभयत्रापि सारगर्भिता टीका सुमनोभिष्टीकिताः। धर्मशास्त्रकारेण हेमाद्रिणा स्वकीये कालनिर्णये (त्रयोदशशत कस्यान्तिमे चरणे) त्रिकाण्डमण्डनं समुद्धृतम्, अपि च स्वमहनीये ग्रन्थे आपस्तम्ब, ध्वनितार्थकारिकायां द्वि-त्रिस्थलेषु कर्काचार्यः समुद्धृतः। तत्र विज्ञेन हेमाद्रिणा श्राद्धनिर्णये कर्कमतं विखण्डितम्। इत्थं हेमाद्रेः त्रिकाण्डमण्डनाच्च प्राचीनतरः कर्कः। तद्व्याख्यायाः नाम 'गृह्यसूत्र-भाष्यम्' अस्ति। पूर्वाचार्याणां यथा व्याख्यापद्धतिर्भवति तादृश्येव स्वल्पाक्षरैरावश्यकपदानामत्र व्याख्या विहिताऽस्ति, न तत्र किञ्चिदप्यभीष्टं वस्तु परित्यक्तम्।।[3]

जयरामाचार्यः–

एते महान्तो वीरवसुन्धराया मेवाडस्य निवासिन आसन्। भारद्वाज-गोत्रोत्पन्नस्याचार्यस्यापरनामकस्य दामोदरस्य पौत्रा आसन्। एषां जनकस्य नाम बलभद्र आसीत्। एभिः कृतभाष्यस्य नाम-सज्जनवल्लभः। मन्त्राणां सुस्पष्टा व्याख्या अस्य भाष्यस्य वैशिष्ट्यमस्ति। पाठ-संशोधनमत्र कानामप्यनिर्वचनीयतां प्रकटयति। तत्त्वितवेदानां पाठं विशिष्टवैदिकानां मुखेभ्यः श्रुत्वा एभिर्मन्त्राणां पाठनिर्धारणं कृतम्। यत्रान्यैः टीकाकृद्भिः पद्धतौ अर्थे चाग्रहः प्रदर्शितस्तत्र वेदपण्डितेन जयरामेण गृह्यसूत्रे समुद्धृतानां मन्त्राणां व्याख्यानमतिकौशलेन प्रामाणिकतया च कृतमस्ति। एतदेवास्य वैशिष्टयम्।।[4]

हरिहराचार्यः–

एतेन महता स्वकृतटीकायां विज्ञानेश्वरमतं समुद्धृतमिति हेतोः एषां काल: पञ्चाशदुत्तरैकादशशतकादनन्तरमेव सिद्धयति। अपि च श्रीदत्तेन स्वकीये 'आचारादर्श' हेमाद्रिणा च श्राद्धप्रकरणे एतन्मतं स्थापितम्, फलतः एषां समयो द्वादशशतकान्त-रालवर्ती। एते महान्तोऽनुमानेनोत्तरभारतस्य विशेषतः कान्यकुब्जप्रदेशनिवासिनः प्रतीयन्ते। हरिहरस्य व्याख्या टीकापेक्षया पद्धतेः स्वरूपधारणादतिशयं महत्त्वं धारयति। हरिहरेणास्यां पद्धतौ महता समारम्भेण गृह्यकर्मकाण्डस्य वर्णनं कृतमस्ति। गृह्यसूत्रस्य सर्वतोऽधिका लोकप्रिया व्याख्या इयमेवास्ति। हरिहरस्य धर्मशास्त्राध्ययनं महत्त्वपूर्णमस्ति। एतेषां रचनायां वैवस्वतमनोः, वृद्धशातातपमहर्षेः, याज्ञवल्क्यस्य, अङ्गिरसः, हारीतस्य, सुमन्तोः लौगाक्षेश्चमतानि समुद्धृतानि सन्ति। टीकाप्रारम्भे कस्यापि वासुदेवनामकस्याचार्यस्य समादरपूर्वकं स्मरणं कृतमस्ति, तन्मतञ्चानुसृतं टीकायाम्। अस्याः व्याख्याया अभिधानं विद्यते गृह्यसूत्रव्याख्यानम्। एते स्वात्मान-मग्निहोत्रिणं ख्यापयन्ति।[5]

गदाधराचार्यः–

अनेन प्रबुद्धेन आचार्येण प्राचीनाचार्याणां मतान्यालोच्य स्वव्याख्यायां विस्तरेणोल्लेखः कृतः। एतादृशेष्वाचार्येषु भर्तृयज्ञः, वासुदेवः, गङ्गाधरः, रेणुदीक्षितः, हरिहरादयश्च मुख्याः सन्ति। हरिहरविषये मतखण्डने तत्र वाक्यमिदमस्ति यत् 'अत्र हरिहरमिश्रैरबुद्ध्वैव पाण्डित्यं कृतमस्ति'। एवमेव परुष' शब्दार्थस्य व्याख्यायां विविधाचार्याणां मतमाकलितमस्ति। तद्यथा इमे 'कोऽपि बलशाली पुरुष' इति हरिहरः, जितेन्द्रियः- भर्तृयज्ञः, जामाता रणकः गङ्गाधरश्च। एष्वर्थेषु गदाधरेणान्तिमोऽर्थः स्वीकृतः।

अन्यत्र च कर्क-जयराम भर्तृयज्ञानां मतान्यालोच्य हरिहरमतं स्वीकृतम्। अत्र भाष्ये समुद्धताः ग्रन्थाः ग्रन्थकाराश्चेमे सन्ति– मनुः, याज्ञवल्क्यः, हारीतः, आपस्तम्बः, व्यासः, मिताक्षरा पराशरः, मदनरत्नम्, वृद्धशातातपः, स्मृत्यर्थसारः, मदनपारिजातः, वशिष्ठः प्रयोगपारिजातः हेमाद्रिश्च। गदाधरस्याभिरुचिः ज्योतिषतत्त्वविषयेऽधिका विद्यते। अतः एभिः संस्काराणां समुचितकालनिर्णयाय ज्योतिषग्रन्थानां सदुपयोगः कृतः। एतादृशो विख्यातो ग्रन्थः रत्नकोशो विद्यते।

कादाचित्करूपेण मूलग्रन्थेऽनुल्लिखितानां विषयाणां विवरणमपि प्रदत्तमस्ति। गदाधरस्य भाष्ये 'गृह्यभाष्ये' भर्तृयज्ञजयरामयोः भाष्ययोः विशेषः प्रभावो दृश्यते। व्याख्याता गदाधरः कस्यापि संस्कारस्य व्याख्यायां तद्विषयेऽनेकविधानां मतानां सारसङ्ग्रहणं महता विस्तरेण करोति। एतदेवास्य वैशिष्ट्यम्। एषां पितुर्नाम वामनदीक्षित आसीत्। एते 'विरग्निचित्-सम्रोड्-स्थपति महायाज्ञिकस्योपाधिना विभूषिताः सन्ति। यतो ह्यत्र हेमाद्रेश्चर्चा विद्यतेऽतो ह्यस्य कालः पञ्चाशदुत्तरचतुर्दशशतकं यावदिति निष्कर्षः।[6]

विश्वनाथाचार्यः–

इमे नन्दपुरस्य काश्यपगोत्रिणो नागरब्राह्मणा आसन्। पितुर्नाम नरसिंहो मातुश्च गङ्गादेवी। ययोः स्मरणं टीकायाः प्रारम्भे कृतमस्ति। एषां व्याख्याया: नाम 'गृह्यसूत्रप्रकाशिका' विद्यते, याऽवसाने खण्डिताऽऽसीत्। ग्रन्थान्तिमानां पञ्चखण्डानां टीकाग्रन्थकृतः पितृव्यस्यानन्तस्य प्रपौत्रेण लक्ष्मीधरेण 1692 वैक्रमाब्दे लिखिता। इमे स्तम्भतीर्थादागत्य (खम्भात-गुर्जरप्रदेशा) काश्यां वसतिं चक्रुः। अत्रैव काश्यां व्याख्येयं पूर्णतामगात्। इत्थं विश्वनाथस्य काल: पोडश शताब्द्याः उत्तरार्धः सिद्ध्यति। परिमाणेनेयं व्याख्या नितान्तं विस्तृता गम्भीरा च विद्यते।[7]

विषयप्रवेशः–

गृह्यसूत्राणां सम्बन्धो जनानां गृहस्थजीवनेन सह वर्तते, अतः गृह्याग्निसाध्ययागानां विस्तृतं विवेचनं गृह्यसूत्रेषु लभ्यते। गृह्यसूत्राणि गृहस्थं जनमनुलक्ष्य प्रवृत्तानि गार्हस्थानि कर्माणि प्रतिपादयन्ति। एषु गर्भाधानपुंसवनसीमन्तोन्नयनादि विवाहमध्याश्च कर्मान्ताः मानवस्य जीवने क्रियमाणाः संस्काराः सन्ति। अतः गृह्यसूत्रं भारतीयवैदिकसंस्कृतेः सभ्यतायाश्च परिचायकग्रन्थः अङ्गीक्रियते। भार्यापरत्व-

मावासपरत्वं च स गृहो गृहमागतः इत्युदाहरणं वदता स्वीकृतम्। भार्यापरत्वे हि विवाहकाले परिगृहीतो भार्यासम्बद्धोऽग्निर्गृह्याग्निस्तत्र कर्तव्यानि च कर्माणि गृह्याणीति व्यवस्थापयितुं शक्यते। गृहपरत्वेऽपि दायाद्यकाले गृहे परिगृहीतः स्थापितश्चाग्निर्गृह्याग्निस्तत्र कर्तव्यानि कर्माणि च गृह्याणीति सुवचं भवति।

पारस्करगृह्यसूत्रे प्रथमकाण्डे विवाह-प्राग्जन्म-शैशवसंस्काराणां नामानि परिचयश्चविवाहसंस्कारः– गृहस्थाश्रमं प्रविविक्षता विवाहसंस्कारः अनुष्ठीयते। अयं संस्कारः स्त्रीणामपि भवति। गृहस्थाश्रमपरिपालनाय 'गृहिण्या' अपेक्षा भवति। अतः स्त्रीपुरुषयोः सौन्दर्यं पौरुषं-नारीत्वं-चरित्रं कुलं चेति बाह्याभ्यन्तरदृष्ट्या **उद्वाहः परिणयनं विवाहः** इति वा अभिधीयते।

इहामुत्र च नारीणां परमा हि गति पतिः भर्तृमार्गानुसरणं स्त्रीणां हि परमं व्रतम्।
न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते तस्याः पुत्रं प्राप्य पुरुषः पूर्णोऽभवत्।

एवमेव **'पुत्रलाभेन पितॄणाम् ऋणाद् मुक्तिः'** इत्यादिभिः सुभाषितैः अस्य संस्कारस्य महत्त्वम् अवगम्यते।[8]

गर्भाधानसंस्कारः–

सृष्ट्यां मानवः सर्वोत्कृष्टो मन्यते। तस्य जीवनस्य उद्देश्यम् आत्मसाक्षात्कारो वर्तते। विधिपूर्वकं संस्कृतो मानवो दिव्यज्ञानमर्जित्वा आत्मसाक्षात्कारं कर्तुं प्रभवति। मानवस्य सम्पूर्णजीवनं संस्काराणां क्षेत्रं वर्तते। संस्काराणां प्रमुखं लक्ष्यं शरीरस्य शुद्धिः पवित्रता चास्ति। एते संस्कारा वस्तुतः गर्भस्याधानादेव प्रारभन्ते। अधिकांश-गृह्यसूत्राणि गर्भाधानादेव संस्काराणां प्रारम्भं निर्दिशन्ति। प्रजननमपि मानवजीवनस्य अङ्गभूतम्।[9]

पुंसवनसंस्कारः–

गर्भधारणानन्तरं गर्भस्थशिशोः पुंसत्वसम्पादनहेतोः पुंसवननाम्नः संस्कारः भवति। अत्र विभिन्नदेवानां प्रार्थना भवति। यया प्रार्थनया गर्भस्थशिशुः पुष्टो भूत्वा पुत्ररूपेण प्राप्तो भवेत्। अस्मिन् अवसरे आयुर्वैदिकौषधीनां सेवनं, भगवतः विष्णोः पूजनं च कर्तव्यम्। येन कर्मणा पुमान् सूयते तत् पुंसवनम्। गर्भाधानस्य द्वितीये तृतीये वा मासि पुष्यनक्षत्रयुक्तायां तिथौ पुंसवनकर्म क्रियते। पुत्रजनननिमित्तं संस्कारः क्रियते। होमः औषधिसेवनञ्च परिपाल्यते।[10]

सीमन्तोन्नयनसंस्कारः–

गर्भधारणानन्तरं चतुर्थे मासे सीमन्तोन्नयनसंस्कारः भवति। अत्रावसरे पतिपत्न्योः केशानां प्रसाधनं वा संवर्धनं च करणीयम्। तयोः कृते उत्सवरूपोयं संस्कारः। अत्र संस्कारः, नृत्यं, गानं, वादनम् इत्यादि भवति। पत्न्याः मनोरञ्जनार्थं सोमस्य स्तुतिः भवति। यदा चन्द्रः पुरुषवाचकनक्षत्रेण युक्तः भवति तदा एव एषः संस्कारः भवति। सीमन्त उन्नीयते यस्मिन् कर्मणि तत् सीमन्तोन्नयनम्। गृह्यसूत्रानुसारेण गर्भाधानस्य चतुर्थे पञ्चमे मासि सीमन्तोन्नयनसंस्कारः क्रियते।

स्मृतिग्रन्थानुसारेण षष्ठे अष्टमे वा मासि संस्कारोऽयमनुष्ठीयते। त्रिभिः दर्भपिञ्जुलैः गर्भिण्याः सीमन्तं (केशम्) उर्ध्वं विनयति स्वामी। गर्भरक्षणमस्य प्रयोजनम्। केशस्य विभजनद्वारा जातशिशोः यशः त्रिलोकं व्याप्नुयात्।[11]

जातकर्मसंस्कारः–

नवजातशिशोः संवर्धनार्थं तथा च तस्य परिपोषणार्थं भवति। एतस्मिन् नाभिवर्धनात्पूर्वं पञ्चब्राह्मणैः वैश्वानरस्य अग्नेः स्तुतिः भवति। तथा च आहुतिः अपि देया भवति। येन शिशोः दीर्घायुष्यम् एवम् अभ्युदयश्च भवति। गर्भकोशात् शिशौ निर्गते जातकर्म विधीयते। पुत्रमुखदर्शनेन पिता नाभिवर्धनात् प्राक् शीतोदकेन सतैलस्नानं विधाय उत्तराभिमुखो भूत्वा यथाविधि जाताकर्म कुर्यात्। जातकर्मणि पितृनुद्दिश्य नान्दीमुखीश्राद्धादिकर्माणि क्रियन्ते। एतत्सर्वं शौचानन्तरमेव कर्त्तव्यम्।[12]

नामकरणसंस्कारः–

अयं संस्कारः शिशोः जन्मानन्तरं दश वा एकादशदिनानन्तरं भवति। गोपनीयं नाम तु जातकर्मसंस्कारे एव भवति। उच्चारणार्हं नाम एतस्मिन् दिने भवति। शुभमुहूर्ते च नक्षत्रे मघुरध्वनियुतं नाम चतुराक्षरैः वा द्वि अक्षरात्मकं भवति। नाम्नः करणं नामकरणम्। शिशोः जन्मनः दशमे एकादशे वा दिवसे पुण्येऽवसरे पिता प्राणानायम्य "अस्य पुत्रस्य नामकरणं करिष्ये" इति संकल्प्य "पुण्याहं कथयित्वा नान्दीश्राद्धं च विधाय ब्राह्मणान् भोजयित्वा कुमारस्य नाम" दद्यात्। ब्राह्मणशिशोः जन्मतः दशमदिवसे, क्षत्रियाणां त्रयोदशे षोडशे वा दिवसे, वैश्यानां षोडशे विंशतितमे वा दिवसे, शूद्राणां द्वाविंशे मासान्ते वा नामकरणसंस्कारः करणीयः।[13]

निष्क्रमणसंस्कारः–

शिशोः गृहाद् प्रथमबहिर्निर्गमनं निष्क्रमणमित्युच्यते। चतुर्थमासि शुभे दिने संस्कारोऽयं करणीय इति मनुनोक्तम्। शिशोःमानसिक्यभिवृद्ध्यर्थं बाह्यजगतः ज्ञाननिमित्तं श्रीवृद्ध्यर्थश्च संस्कारोऽयं विधीयते।[14]

अन्नप्राशनसंस्कारः–

अन्नं प्राश्यते येन कर्मणा तदन्नप्राशनम्। षष्ठे मासि अथवा कुलधर्मत्वेन माङ्गल्यकालविशेषे मासेऽन्नप्राशनं करणीयमिति मनुना प्रोक्तम्। **'षष्ठे मासेऽन्न-प्राशनम्'** इति पारस्करगृह्यसूत्रम्। तस्मिन् दिवसे सिद्धं सुमिष्टं चान्नमिष्टदेवेभ्यः उत्सर्गीकृत्य पिता पुत्रं मन्त्रपाठपूर्वकं भोजयेत्।[15]

पारस्करगृह्यसूत्रे द्वितीयकाण्डे शैक्षणिकसंस्काराणां नामानि परिचयश्च–

चूडाकरणसंस्कारः–

चूडानां केशपाशानां संस्कारो येन कर्मणा क्रियते तत् चूडाकर्मेति कथ्यते। प्रथमे तृतीये वा संवत्सरे अथवा कुलधर्मानुसारेण् संस्कारोऽयं करणीयः। प्रवरसंख्यानुसारेण चूडाकरणसंस्कारः कल्पितः। शिखा एकाधिका भवितुमर्हति। वशिष्ठगोत्रीयाः

शिरोमध्यभागे एकां शिखां धारयन्ति। अत्रिकाश्यपगोत्रीयाः पञ्चशिखां धारयन्ति। भृगुवंशीयाः सर्वमुण्डिताः भवन्ति।[16]

उपनयनसंस्कारः–

बालसंस्काराणाम् उपनयनाख्यः संस्कारः एव सर्वप्रधानः। वेदाध्ययनाय गुरोः शिष्यस्य समीपे गमनम् उपनयनम् इति उच्यते। उपनयन शब्दोऽयम् उपपूर्वक नी धातोः ल्युट् प्रत्यययोगे निष्पद्यते। उप-समीपे (वेदपठनाय गुरोः समीपे) नयनमुप-नयनम्। यदा पिता वेदम् अध्यापयितुम् असमर्थो भवति तदा स्वयं स्वपुत्रम् आचार्यस्य समीपं नीत्वा तस्य उपनयनार्थं प्रार्थयेत्। आचार्यश्च तम् उपनीय शिष्यत्वेन अङ्गीकृत्य तम् अध्यापयेत्। महर्षिगौतममतानुसारेण प्रथमतः अष्टमवर्षवयस्कं माणवकम् उपनयनसंस्कारेण संस्कुर्यात्। उपनयनं हि माणवकसंस्कारः।[17]

केशान्तसंस्कारः–

षोडशे वर्षे केशान्तसंस्कारः सम्पादनीयः। संस्कारोऽयं ब्रह्मचर्यस्य समाप्तिमेव सूचयति। अस्मिन् संस्कारे ब्रह्मचारी केशानां श्मश्रूणां च क्षौरं करोति। अवसरेऽस्मिन् आचार्याय गोदानं क्रियते। नापितायापि उपहारः प्रदीयते।[18]

समावर्तनसंस्कारः–

द्वादशवर्षाणि वेदग्रहणान्तं वा गुरुकुले ब्रह्मचर्यं चरित्वा ततः प्रतिनिवृत्तेन समावर्तनाख्यः संस्कार: अनुष्ठेयः। तत्र प्रधानभूतं कर्म स्नानम्। तच्च तस्य ब्रह्मचर्यप्रक्षालनोद्देशेन क्रियते। तेन स स्नातकाख्यो भवति। अत आश्रमाद् गृहगमनं समावर्तनम् इति गम्यते। अस्मिन्नवसरे एषः संस्कार: सम्पाद्यते। संस्कारे अस्मिन् गुरोः उपदेशः भवति। एष उपदेशो ब्रह्मचारिणः जीवनयात्रां सुखदां सरलां च कर्तुं सारगर्भितो भवति।[19]

जयरामविश्वनाथभाष्ययोः तुलना-उदाहरणानि

पारस्करगृह्यसूत्रस्य विषयाः प्रायः त एव सन्ति यत् अन्येषु गृह्यसूत्रेषु वर्णिताः। केवलं तु क्रमव्यवस्थायाञ्च अन्तरं लक्ष्यते। अस्मिन् गृह्यसूत्रे त्रयः काण्डाः सन्ति। नवदश-सप्तदश-पञ्चदशकण्डिकासु अत्र क्रमशः विभक्ताः अस्मिन् प्रतिपादित-विषयाणां विवरणं इत्थमेव अस्ति।

प्रथमकाण्डे - आवसथ्याधानं - दारहरण - मधुपर्क - पाकयज्ञ - नैमित्तिकप्रायश्चित - गर्भाधान - पुंसवन - सीमन्तोन्नयन - जातकर्म - मेधाजनन-नामकरण - निष्क्रमण - अन्नप्रा शनञ्च। द्वितीयकाण्डे - चुडाकरण - केशान्त (गोदानं)-उपनयन - स्नातकव्रत - पञ्चमहायज्ञ - उपाकर्म - अनध्याय - अध्यायोत्सर्ग-लांगलयोजन - श्रवणाकर्म - इन्द्रयज्ञकर्म - सीतायज्ञञ्च । अत्र जयरामेण स्वभाष्ये लिखितम्– **'दारकाल इति'** दारशब्देन पाणिग्रहणादिसंस्कारसंस्कृतं स्त्रीद्रव्यमभिधीयते परन्तु विश्वनाथेन आवसथ्यपदस्य विस्तृतेन चर्चा अत्र कृतः- आवसथ्यमिति शास्त्रबोधितसंस्कारसंस्कृते प्रदेशविशेषे स्थापनम्। अनयोः भाष्ययोः परिशीलनेन ज्ञातं भवति विश्वनाथस्य भाष्ये प्रत्येकपदस्य चर्चा वर्तते। परन्तु जयरामेन

सूत्रानुसारं भाष्यं कृतम्। **यक्ष्यमाणास्त्वृत्विजः।। जयरामः– यक्ष्यमाणास्तु यागं करिष्यन्तः एवर्त्विजोऽर्हयेयुः।**[20]

विश्वनाथः–

यज्ञारम्भं करिष्यन्तः। तु शब्दः प्रतिसंवत्सरानित्यादिनोक्तं व्यवच्छिनत्ति। ऋत्विजः याजकानर्चयेयुः इत्यर्थः। एतेन क्रत्वारम्भप्रवृत्तेनैवारम्भकाले ऋत्विगर्चनं विधेयं नान्यदेत्यर्थः। अत्र जयरामेण संक्षेपेण स्वभाष्ये लिखितम् परन्तु विश्वनाथेन विस्तृतेन चर्चा अत्र कृता अनयोः भाष्ययोः परिशीलनेन ज्ञातं भवति विश्वनाथस्य भाष्ये प्रत्येकपदस्य चर्चा वर्तते। परन्तु जयरामेन सूत्रानुसारं भाष्यं कृतम्। अत्र भाष्यकारः जयरामः स्वभाष्ये पाकयज्ञानां विषये स्वभाष्ये लिखितवान्। परन्तु आचार्यविश्वनाथेन अत्र पाकयज्ञानां विषये तथा च तेषां अतिरिक्तब्रह्मयज्ञविषये विस्तृतरूपेण स्वभाष्ये लिखितवान् अनयोः भाष्ययोः परिशीलनेन ज्ञातं भवति जयरामेण सूत्रानुसारं भाष्यं कृतम्। विश्वनाथस्य भाष्ये प्रत्येकपदस्य चर्चा एवं अन्यसंबन्धितविषयाणां वर्णनं वर्तते।[21]

निष्कर्षः–

संस्काराणां पद्धतयः तासां स्वरूपञ्च निरीक्षणानि अनुभवान् तर्काश्च समाश्रयन्तः अत्यन्तं वर्तमानकालेऽपि संस्काराणां पद्धतयः सुविशिष्टाः सुविस्तृताः भवेयुः। संस्काराणामुद्देश्यं व्यक्तेः पूर्णतया व्यक्तित्वस्य विकासः तथा पुरुषः स्वात्मानं मानवातिमानवीयशक्तिपूर्णजगदनुरूपं कर्तुं शक्नुयात्। अनेन संशोधनेन संस्कारैः संस्कृतजनानां ज्ञानक्षमता धर्मजिज्ञासानां च समाधानं भवेत्। संस्कारमन्त्राणां अर्थज्ञानेन पारिवारिकसदस्येषु सौमनस्यभावनायाः व्यक्तित्त्वविकासस्य च अभिवृद्धिः। प्राचीनसाहित्ये संशोधनस्य महत्त्वस्थापनम्।

सन्दर्भग्रन्थाः-

1. पारस्करगृह्यसूत्रम् - प्रो. ओमप्रकाशपाण्डेयः, चौखम्बाअमरभारती प्रकासन वाराणसी-1980
2. शुक्लयजुर्वेद, चौखम्बाविद्याभवनप्रकाशन-2002
3. वैदिकसाहित्य का इतिहास – चौखम्बाविद्याभवनप्रकाशन-2012
4. वैदिकवाङ्मयेस्येतिहासः– श्रीजगदीशततन्द्रमिश्रः, चौखम्बाविद्याभवनप्रकाशन-2009

---

1. शुक्लयजुर्वेद संहिता – 1.1
2. वैदिकवाङ्मयस्येतिहासः – पृ. 240
3. वैदिकवाङ्मयस्येतिहासः – पृ. 241
4. वैदिकवाङ्मयस्येतिहासः – पृ. 241
5. वैदिकवाङ्मयस्येतिहासः – पृ. 241
6. वैदिकवाङ्मयस्येतिहासः – पृ. 242
7. वैदिकवाङ्मयस्येतिहासः – पृ. 242
8. पा.गृ.सू. का.- 1. क. 4-8
9. पा.गृ.सू. का.- 1. क. 13

10. पा.गृ.सू. का.- 1. क. 14
11. पा.गृ.सू. का.- 1. क. 15
12. पा.गृ.सू. का.- 1. क. 16
13. पा.गृ.सू. का.- 1. क. 17
14. पा.गृ.सू. का.- 1. क. 17
15. पा.गृ.सू. का.- 1. क. 19
16. पा.गृ.सू. का.- 2. क. 1
17. पा.गृ.सू. का.- 2. क. 2-3
18. पा.गृ.सू. का.- 2. क. 1
19. पा.गृ.सू. का.- 2. क. 6
20. पा.गृ.सू. का.-1.3.3
21. पा.गृ.सू. का.- क. 1-3

वेदः तथा वैदिकविज्ञानविभागः
कविकुलगुरु-कालिदास-संस्कृत-विश्वविद्यालयः
रामटेकम्, नागपूरम् 2023-24

व्याकरणविभागाध्यक्षः
वेदः तथा वैदिकविज्ञानविभागः,
कविकुलगुरु-कालिदास-संस्कृत-विश्वविद्यालयः
रामटेकम्, नागपूरम् 2023-24

भारत के आर्थिक विकास में महिलाओं का बढ़ता योगदान

– डॉ. एस.पी.सिंह

(In traditional Indian Society. The social role of women has been primarily as a wife and mothers. In recent years, there has been a shift in the social role of women in India, women are the key to sustainable development and quality of life in the family. The Ideal Indian wife is the devoted and self sacrificing, caring mother and home maker.

Empowering women is a Critical issue in developing Nations. Even though women are an integral part of any Society, yet their involvement in decision making by the use of their active contribution in economic activities is shallow. Women empowerment and economic development are inter linked, where on the one hand development alone con play a significant role in driving down inequality between women and men, while on the other hand empowering women can benefit development of the economy of our country. As we know that female participation in the labour force and access to decent work is very much essential for an inclusive and sustainable development of the country.

Today the women perform the role of Wife, Partner, Organizer Directors, Doctors, Mother, Administrator, Economist, Teacher, Health Officer, Artist and Queen in the family at the same time apart from it. So we can say it that women plays a key role of the Socio-Economic development of the Society & Nation's Economy, and today women are eager to take up professions and work thus they enjoy equal respect and dignity in the family.)

हमारे देश भारत की कुल आबादी में महिलाओं की लगभग 50% की हिस्सेदारी है। ऐसी स्थिति में महिलाओं के आर्थिक सशक्तिकरण के बिना देश की अर्थव्यवस्था की विकास यात्रा न तो गति पकड़ेगी और न ही लक्ष्य प्राप्त कर पायेगी। अतः देश एवं देश की अर्थव्यवस्था तथा देशवासियों के जीवन स्तर को सुखमय बनाने और विकास की ऊँचाइयों तक ले जाने के लिए देश की महिलाओं का आर्थिक सशक्तिकरण नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है। जैसा कि सर्वविदित है कि एक महिला अपने आप में सम्पूर्ण होती है। उसके अन्दर सृजन, पोषण एवं परिवर्तन की ताकत तो होती ही है, साथ ही संघर्ष एवं चुनौतियों से लड़ने की हिम्मत, हौंसला एवं हुनर की प्रतिमूर्ति होती है। नारी शक्ति की अवधारणा भारतीय संस्कृति में अनन्त काल से विद्यमान रही है। हमारे देश में नारी को अर्धांगिनी माना जाता है। उसके बिना कोई भी धार्मिक/आध्यात्मिक/शुभ कार्य सम्पन्न नहीं हो सकते। अश्वमेघ यज्ञ की पूर्णता के लिए प्रभु श्री राम को स्वर्ण की सीता का निर्माण कराना पड़ा था। साथ ही ध्यातव्य है कि अर्धांगिनी की स्थिति धार्मिक कृत्यों के अवसर पर दाहिनी तरफ निर्धारित है। स्त्री शैव एवं पुरुष वैष्णव धर्म का अनुयायी है ऐसी मान्यता पारमेश्वरागम की है। अथवा

पुरुष शैव एवं स्त्री वैष्णव धर्म में दीक्षित है, दोनों ही स्थितियों में इन पर भगवत् कृपा समान रहती है। ऐसे दम्पत्ति आजीवन सुखपूर्वक जीवन यापन करते हैं।

हमारे देश में पुराकाल से ही देवी माँ की विविध स्वरूपों में पूजा होती आई है–पूर्वी भारत में दुर्गा, काली, केरल में महिषासुर मर्दिनी और भगवती आदि। महिलाओं को सदैव ही शक्ति का प्रतीक मानते हुए ही मान्यता है कि महिलाएँ उन कार्यों को पूर्ण करने में भी सक्षम हैं जिन्हें पुरुष कर ही नहीं सकते।

भारतीय संस्कृति का यह उद्घोष **"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः"** निश्चित् ही वैश्विक स्तर पर अनुकरणीय है किन्तु दूसरी तरफ महिलाओं की स्थिति चुनौती पूर्ण है। पारिवारिक निर्णयों में भूमिका की बात तो दूर, वे अपनी निजी जिन्दगी जीने के लिए भी आवाज नहीं उठा पाती है। सदैव ही बाल्यावस्था, यौवनावस्था एवं वृद्धावस्था सभी में पिता, पति एवं पुत्र के अधीन ही रहने को विवश होना पड़ता है और माँ, पत्नी एवं पुत्री के रूप में अपनी जिम्मेदारियों के अनुपालनार्थ अनेकानेक कठिनाइयों से जूझना पड़ता है किन्तु जैसा कि हम जानते हैं कि किसी व्यक्ति, समुदाय या संगठन की आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक एवं राजनीतिक स्थिति में सुधार को ही सशक्तिकरण कहते हैं। स्वतन्त्रतोपरान्त हमारा देश भारत सशक्तिकरण के परिप्रेक्ष्य में काफी आगे बढ़ा है। विशेषकर भारतीय महिलाओं के जीवन के विविध रूपों में अभूतपूर्व महत्त्वपूर्ण बदलाव परिलक्षित हो रहे हैं। 21वीं सदी की महिला घर की प्राचीर तक ही सीमित नहीं है। वह पूर्णतः अपनी क्षमता एवं उपयोगिता को महसूस कर रही है और घर एवं कार्यस्थल दोनों स्थानों पर न्याय एवं लैंगिग समानता की गुहार कर रही है। तकनीक, अन्तरिक्ष विज्ञान, सेना, खेल आदि जगहों पर अपनी प्रभावशाली उपस्थिति दर्ज करा रही हैं। भारत में कामकाजी जगहों पर हर चौथी कर्मी महिला है। कार्य की जटिलता एवं तकनीक की उपादेयता वाले स्थानों पर महिलाओं की संख्या अधिक दिखाई पड़ती है। एतदर्थ कथनीय है कि महिला सशक्तिकरण के क्षेत्र में हालिया घटनाक्रम काफी उत्साहजनक है। वायुसेना में महिला लड़ाकू पायलट की नियुक्ति हो, चाहे राष्ट्रमण्डल खेल और क्रिकेट समेत अन्तर्राष्ट्रीय खेल आयोजन हो, सब में भारतीय महिलाओं का शानदार प्रदर्शन प्रसंशनीय रहा है। मंगलयान की सफलता, नैनो उपग्रह को कक्षा में स्थापित करने वाली टीम की महिलाओं के अदम्य साहस, हुनर एवं हौंसलें को देखकर यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि ये महिलाएँ देश के लिए मिसाल एवं **'बेटी बचाओ-बेटी पढ़ाओ'** नारे को प्रतिबिंबित कर रही है। लैंगिग समानता में भारत स्कूली शिक्षा के क्षेत्र में काफी सफल रहा है। शिक्षा, बैंकिंग, बीमा, प्रबन्धन, उद्यम, कानून, तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षा, चिकित्सा जैसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में महिलाओं का प्रतिनिधित्व तेजी से बढ़ रहा है। जहाँ 1951 में महिला की साक्षरता दर भारत में केवल 9% थी, वह 2018-19 में बढ़कर 70% के ऊपर पहुँच गयी है। जो बहुत बड़ी उपलब्धि है।

वैश्वीकरण, निजीकरण एवं उदारीकरण के इस दौर में अर्थव्यवस्था में बढ़ती नित नयी तकनीक एवं सूचना तन्त्र से देशों की भौतिक सीमाओं का कोई महत्त्व नहीं रहा तो फिर महिला-प्रतिभाओं को भी चहारदिवारियों के बीच कैद करने का कोई औचित्य नहीं रह जाता। जहाँ पुरुष एवं महिला में दैहिक भेद के कारण असमानता का व्यवहार हो, विकास की ऐसी परिभाषा अधूरी है। आज भी पुरुषों की कमाई का मात्र 78% ही महिलाएँ अर्जित कर पा रही हैं। नारी सशक्तीकरण के लिए आर्थिक स्वतन्त्रता भी सुनिश्चित करना ही श्रेयस्कर होगा। यह न केवल नारी की स्वतन्त्रता को समृद्ध करता है बल्कि आर्थिक सशक्तिकरण से घर परिवार में उनका समादरणीय स्थान होगा। और अपना कैरियर भी बनाने में गुणात्मकता में वृद्धि होगी क्योंकि प्रत्येक महिला में एक अच्छा प्रबन्धन का गुण निहित होता है तभी तो गृहस्थी का उत्तरदायित्व, बच्चों का लालन-पालन एवं अपना भविष्य संवारकर ऊँचाइयों पर चढ़ती हैं। बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ, सुकन्या समृद्धि योजना जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यक्रमों से न केवल भ्रूण हत्या पर नियन्त्रण होता है अपितु लड़कियों की शिक्षा एवं वित्तीय सुरक्षा को बढ़ावा मिलता है।

नारी सशक्तिकरण के लिए इनकी आर्थिक स्वतन्त्रता सुनिश्चित करना अत्यावश्यक है क्योंकि यह घर एवं कार्यस्थल दोनों ही जगह की निर्णय प्रक्रिया में महिलाओं की प्रभावी भूमिका सुनिश्चित करता है। यह शिक्षा का ही प्रत्यक्ष प्रभाव है कि आज नारी भी अपने कैरियर के प्रति संजीदा हो रही है तथा देश, परिवार एवं अर्थव्यवस्था की प्रगति का मार्ग प्रशस्त कर ही है। एक अध्ययनानुसार यूरोप के कारपोरेट निदेशक मण्डल एवं कार्यकारी समितियों में क्रमशः 17% एवं 10% महिलाओं की भागीदारी है। अमेरिका में यह 15% एवं 16% है जबकि भारत में कारपोरेट निदेशक मण्डल में महिलाओं की भागीदारी मात्र 5% है। हमारे देश भारत में 11% महिलाएँ बड़ी-बड़ी कम्पनियों में मुख्य कार्यकारी अधिकारी (C.E.O) जैसे उच्च पद पर कार्यरत हैं, और आशानुरूप सफल भी हैं। देश के बड़े औद्योगिक घराने टाटा ग्रुप के चेयरमैन साइरस मिस्त्री का यह कथन कि हमारे समूह में महिलाओं की कमी को हमें बड़े नुकसान की तरह देखना अधिक तर्कसंगत होगा। निश्चित ही यह कथन देश की अर्थव्यवस्था में महिलाओं के योगदान को सिद्ध करने का पुख्ता-प्रमाण है। यद्यपि टाटा समूह के पास टाटा की मेडिकल आफिसर (कॉफी) की कावेरी नेबिसन और लैन्डरोबर की प्लांट आपरेशन डायरेक्टर मार्गरेट कैम्पबेल, टाटा स्टारबक्स लिमिटेड की सी.ई.ओ. अवनी दावदा जैसी कई काबिल महिलाएं हैं। टाटा समूह इस बात की वकालत करता है कि महिलाओं के होने से कम्पनी के कार्यस्थल का वातावरण ज्यादा बेहतर, शोधपरक, उपलब्धिपरक एवं निर्णयपरक होता है। न केवल कारपोरेट बल्कि बैंकिंग, हॉस्पिटेलिटी, फूड, बेवरजेज फार्मा, सूचना तकनीक जैसी आवश्यक सेवाओं के क्षेत्र में अग्रणी भूमिका का निर्वहन कर रही हैं और असंख्य लोगों के लिए

रोल मॉडल सिद्ध हो रही हैं। और अपनी उपस्थिति से नित-नये आयाम स्थापित कर रही हैं। वर्तमान में भारत के सात बैंकों की कमान महिलाओं के हाथ में है। यहाँ तक कि स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के 200 वर्षों के इतिहास में अरुन्धती भट्टाचार्य पहली ऐसी महिला हैं जिन्होंने चेयरपर्सन के कार्यभार को संभाला। भारतीय महिला बैंक की चेयरपर्सन अनन्य सुब्रह्मण्यम् रही। चन्दा कोचर आई.सी.आई.सी.आई. बैंक की सी.ई.ओ. एवं प्रबन्ध निदेशक हैं। इस वृहत्तर दायित्व का समुचित निर्वहन करने के लिए आपको पद्मभूषण से भी सम्मानित किया गया है। इस प्रकार विभिन्न कम्पनियों के निदेशक मण्डल और उच्च प्रबन्धकीय पदों पर नित महिलाओं की बढ़ती संख्या अर्थव्यवस्था के लिए शुभलक्षण है।

वर्तमान में यदि हम कार्यबल में महिलाओं की सक्रिय सहभागिता बढ़ाना चाहते हैं, तो हमें कामकाजी स्थलों पर महिला कर्मियों के लिए अनुकूल वातावरण बनाने पर अधिक बल देना होगा। इसके लिए महिलाओं के उत्पीड़न रोकथाम, निषेध एवं निदान सम्बन्धी कानून 2013 को सख्ती के साथ लागू करना होगा। वर्तमान में बैंकिंग एवं कारपोरेट क्षेत्रों मे महिलाएँ नित-नये कीर्तिमान स्थापित कर रही हैं। विश्व की 100 पावरफुल महिलाओं की सूची में शामिल किरनमजूमदार शाँ जैसी महिलाएँ अपने बूते पर अरबपति बनी हैं। आपके सराहनीय प्रयासों ने बाइकान एवं भारतीय फार्मास्युटिकल इन्डस्ट्री को सर्वोच्च पायदान पर पहुँचा दिया है। 2005 में पद्मविभूषण एवं 1989 मे पद्मश्री से सम्मानित किरन मजूमदार शाँ का विश्व के विभिन्न देशों की अर्थव्यवस्था के विकास मे सराहनीय योगदान है। इसी प्रकार एच.एस.बी.टी कन्ट्री हेड नैना लाल किदवई को 2002 मे टाइम मैगजीन ने पावर फुल विजनेस ऑफ मैन की उपाधि से सम्मानित किया था।

सन्दर्भग्रन्थः-

1. सेवा-चेतना
2. योजना (महिला सशक्तिकरणविशेषांक)
3. कुरुक्षेत्र
4. दैनिक समाचार पत्र राष्ट्रीय सहारा

सहायकाचार्य (अर्थशास्त्र)
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय,
लखनऊ परिसर, लखनऊ (उ.प्र.)।

महाभारत में वर्णित राजधर्म

– डॉ. राजमंगल यादव

(महाभारते राजधर्मः इत्यस्मिन् शोधपत्रे मया राजधर्मस्य निरुपणं कृतं। किं नाम राजधर्मः? कथं अस्य राष्ट्रे आवश्यकता भवति? अस्य उत्तरं अस्ति यत् राज्ञ: धर्मः एव राजधर्मः। कस्मिन्नपि राष्ट्रे किंवा कस्मिन्नपि देशे राष्ट्रस्य शासनव्यवस्थायाः सम्यक् रूपेण सञ्चालनाय राजधर्मस्य महती आवश्यकता भवति। राजधर्मः एव राज्ञं वै परमो धर्मः इति कथ्यते। ऋते राजधर्मे कस्मिन् देशे न्याय व्यवस्थायाः सम्यक् प्रचालनं भवितुमर्हति। राजधर्मे प्रतिष्ठित: अपि पारायणो वा राज्ञः एव अस्य सम्यक् सञ्चालनं कर्तुं शक्यते। सर्वस्य जीवलोकस्य कल्याणार्थाय एव भवति राजधर्मः। राज्ञः परमो राजधर्मः किम? अस्य प्रश्नस्य उत्तरं महाभारतस्य शान्तिपर्वे पितामह भीष्मः युधिष्ठिरं प्रति दत्तवान्। सः कथित: तत्र न हि सत्यादृते किञ्चित् राज्ञां वै सिद्धिकारकं परमो धर्मः। राज्ञ: कथं व्यवहारं लोकानां समक्षे प्रतिपादयेत्। इत्यस्मिन् विषयेऽपि महाभारते कथितमस्ति यथा गर्भिणी स्त्री गर्भस्थशिशोः संरक्षणाय स्वं प्रियं मनोनुरूपं भोजनं हित्वां तस्य संरक्षणं करोति तथैव राज्ञः अपि लोकं प्रति कर्तव्यं भवति। शासनव्यवस्थायां राजानः कथं सर्वं रहस्यं विजान्ति। तत्र कथितं चारैः राजानः पश्यन्ति। चारैः अर्थात् गुप्तचरैः माध्यमेन राज्ञः राष्ट्रस्य सर्वं वृत्तान्तं ज्ञातुं शक्यते। महाभारतस्य अध्ययनेन एवं ज्ञायते यत् राज्ञः परराष्ट्र एव विमर्दनं क्रियते तथैव स्वराष्ट्र पालने अपि यत्नः कर्तव्यः। यस्मिन् राष्ट्रे राज्ञ: असचेताः। शासनव्यवस्थायाः सञ्चालने न तत्परः। तत्र अराजककता जायते। अराजकेषु राष्ट्रेषु धर्मः न भवति। यस्मिन् राष्ट्रे धर्म-व्यवस्था न भवति तस्य राष्ट्रस्य विनाशं सुनिश्चितम्।। इति सर्वं महाभारतस्य वर्णितं राजधर्मं मया अस्मिन् शोधपत्रे उल्लिखितमस्ति।)

महाभारत भारतवर्ष का इतिहास ग्रन्थ है। इसको पञ्चम वेद की संज्ञा से भी अभिहित किया गया है। महाभारत भारतवर्ष का इतिहासपरक ग्रन्थ होने के साथ-साथ सनातन धर्म के मर्म और उसकी सुदीर्घकालीन परम्परा को भी वर्तमान कालीन समाज किंवा लोक के समक्ष प्रस्तुत करता है। भारतवर्ष के इतिहास में जो कुछ है वह सब कुछ महाभारत में वर्णित है। इसीलिए महाभारत के आदिपर्व के 62वें अध्याय के 53वें श्लोक में कहा गया है–

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ।।

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्ध में जो बात इस ग्रन्थ में है, वही अन्यत्र भी है। जो इसमें नहीं है, वह कहीं भी नहीं है। महाभारत के अन्तर्गत जिस प्रकार अन्य समस्त विषयों का विवेचन किया गया है, उसी प्रकार महाभारत में राजधर्म का भी विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। भीष्मपितामह और

युधिष्ठिर के संवाद में राजधर्म का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। महाभारत के शान्तिपर्व के 85वें अध्याय के प्रथम श्लोक में युधिष्ठिर ने पितामह भीष्म से प्रश्न करते हुए कहा–

कथं स्विदिह राजेन्द्र पालयन् पार्थिवः ।
प्रीतिं धर्मविशेषेण कीर्तिमाप्नोति शाश्वतीम् ।।

अर्थात् राजेन्द्र ! इस जगत् में राजा किस प्रकार धर्मविशेष के द्वारा प्रजा का पालन करे, जिससे वह लोगों का प्रेम और अक्षय कीर्ति प्राप्त कर सके? तब उत्तर में पितामह ने कहा–

व्यवहारेण शुद्धेन प्रजापालनतत्परः ।
प्राप्य धर्मं च कीर्तिं च लोकानाप्नोति शुचिः ।।

राजन् ! जो राजा बाहर-भीतर से पवित्र रहकर शुद्ध व्यवहार से प्रजा-पालन में तत्पर रहता है, वह धर्म और कीर्ति प्राप्त करके इहलोक और परलोक दोनों को सुधार लेता है। अतः राजा का परम कर्तव्य है कि वह राजधर्म का पालन बड़ी तत्परता और सावधानी से करे। क्योंकि वह समस्त प्रजा का प्रतिनिधिभूत पिता स्वरूप है। आज वर्तमान समय की राजनीति धर्म के पालन से विरत होती जा रही है। इसलिए महाभारत में वर्णित राजधर्म किंवा राजनीति के यथार्थ ज्ञान की इस कलियुग में परम आवश्यकता है। प्रस्तुत शोधपत्र में राजधर्म से सम्बन्धित कतिपय प्रसंगों को उपस्थापित किया गया है जिससे महाभारत का राजधर्म सम्बन्धित ज्ञान लोक के समक्ष प्रकाशित हो सके।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश के षष्ठ समुल्लास में यजुर्वेद के इस मन्त्र– **वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम।।**[1] अर्थात् हम प्रजापति परमेश्वर की प्रजा और परमात्मा हमारा राजा और हम उसके किङ्कर भृत्यवत् हैं, को उद्धृत करते हुए राजधर्म की श्रेष्ठता और उसकी विधिवत अनिवार्यता का समर्थन और प्रतिपादन किया है। स्वामी जी ने चाणक्य के इस कथन– **यथा राजा तथा प्रजा।।**[2] अर्थात् जैसा राजा होता है, वैसी ही उसकी प्रजा होती है, को भी उद्धृत करके राजधर्म की प्रतिपालनीयता को समुद्घाटित किया है। चाणक्य के इस कथन को उदाहृत करते हुए उनका कथन है कि राजा और राजपुरुषों को अति उचित है कि वे कभी दुष्टाचार न करें। वे प्रतिदिन धर्म-न्याय से वर्त कर सबके सुधार का दृष्टान्त बनें। सत्यार्थप्रकाश के छठें समुल्लास में उन्होंने मनुस्मृति में प्रतिपादित राजधर्म का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है।[3] उन्होंने इसका उल्लेख करते हुए कहा है कि मैंने यहाँ पर संक्षेप में महाराज मनु द्वारा कहे गये राजधर्म का वर्णन किया है। विशेष रूप से राजधर्म के परिज्ञान के लिए शुक्रनीति, महात्मा विदुर प्रजागर और

महाभारत के शान्तिपर्व में प्रतिपादित राजधर्म और आपद्धर्भ का ज्ञान प्राप्त कर राजा को राजनीति करना चाहिए। उनमें प्रतिपादित राजनीति को धारण करके माण्डलिक अथवा सार्वभौम चकवर्ती के रूप में राजा बनकर अर्थात् वर्तमान युगीन राजव्यवस्था के अनुसार राष्ट्राध्यक्ष, प्रधानमन्त्री किंवा अन्य समस्त प्रकार के मन्त्री बनकर राष्ट्र एवं राज्य का सञ्चालन करें।

महाभारत को पञ्चम वेद कहा गया है। महर्षि वेदव्यास का कथन है–

वेदानध्यापयामासमहाभारत पञ्चमान् ।
सुमन्तुं जैमिनिं पैलं शुकं चैव स्वमात्मजम् ।।[4]

अर्थात् भगवान् महात्मा वेदव्यास ने चारों वेदों सहित पाँचवें वेद महाभारत का अध्ययन सुमन्तु, जैमिनि, पैल, अपने पुत्र शुकदेव और मुझ वैशम्पायन को कराया। पञ्चमवेद महाभारत के शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्म का बहुत उत्तमरीति से वर्णन किया गया है जो आज भी किसी देश के राजतन्त्र किंवा प्रकारान्तरतः लोकतन्त्र (प्रजातन्त्र) के लिए परम आवश्यक है। शान्तिपर्व के 56वें अध्याय में युधिष्ठिर ने श्रीभीष्मपितामह से कहा–

राज्ञं वै परमो धर्म इति धर्मविदो विदुः ।
महान्मेतं भारं च मन्ये तद् ब्रूहि पार्थिव ।।
राजधर्मान् विशेषेण कथयस्व पितामह ।
सर्वस्य जीवलोकस्य राजधर्मपरायणम् ।।[5]

अर्थात् पितामह! धर्मज्ञ विद्वानों की यह मान्यता है कि राजाओं का धर्म श्रेष्ठ है। मैं इसे बहुत बड़ा भार मानता हूँ। अतः भूपाल! आप मुझे राजधर्म का उपदेश दीजिए। पितामह! राजधर्म सम्पूर्ण जीव-जगत् का परम आश्रय है। अतः आप राजधर्मों का ही विशेष रूप से वर्णन कीजिए। क्योंकि–

आगमश्च परस्त्वत्तः सर्वेषां नः परंतप ।
भवन्ते हि परं बुद्धौ वासुदेवोऽभिमन्यते ।।[6]

अर्थात् परंतप पितामह! हम सब लोगों को आप से ही शास्त्रों के उत्तम सिद्धान्त का ज्ञान हो सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण भी आपको ही बुद्धि में सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। तब महाराज युधिष्ठिर के प्रश्नों का उत्तर देते हुए भीष्म पितामह ने कहा–

नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे ।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान् ।।
श्रृणु कार्त्स्येन मत्तस्त्वं राजधर्मान युधिष्ठिर ।

निरुच्यमानान् नियतो यच्चान्यदपि वाञ्छसि ।।[7]

अर्थात् महान धर्म को नमस्कार है। विश्वविधाता भगवान् श्रीकृष्ण को नमस्कार है। अब मैं ब्राह्मण को नमस्कार करके सनातन धर्मों का वर्णन आरम्भ करूँगा। युधिष्ठिर! अब तुम नियमपूर्वक एकाग्र होकर मुझसे सम्पूर्णरूप से राजधर्मों का वर्णन सुनो तथा और भी जो कुछ सुनना चाहते हो, उसका श्रवण करो। यहाँ पर पितामह भीष्म ने ब्राह्मणों को नमस्कार किया है। परन्तु वर्तमान समाज में ब्राह्मण शब्द सुनते ही लोगों के अन्दर ईर्ष्या-द्वेष उत्पन्न हो जाता है। किसी भी वर्ग के व्यक्ति को इस बात पर विचार करना चाहिए कि ब्राह्मण निन्द्य नहीं हैं। उन्हें ब्राह्मण और उनके ब्राह्मणत्व पर विचार अवश्य करना चाहिए। ब्राह्मण का लक्षण बतलाते हुए महाभारत के बनपर्व में कहा गया है–

सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा ।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राहमण इति स्मृतः ।।[8]

अर्थात् युधिष्ठिर ने सर्परूपधारी राजा नहुष से कहा– नागराज! जिसमें सत्य, दान, क्षमा, सुशीलता, क्रूरता का अभाव, तपस्या और दया– ये सद्गुण दिखायी देते हों, वही ब्राह्मण कहा गया है। इसी प्रकार शुकदेव मुनि के ब्रह्मवेत्ता विषय ब्राह्मण के लक्षण विषयक प्रश्न का उत्तर देते हुए महर्षि वेदव्यास ने कहा है–

सर्वान् वेदानधीयीत शुश्रूषुर्ब्रह्मचर्यवान् ।
ऋचो यजूंसि सामानि न तेन न स वै द्विजः ।।[9]

अर्थात् जो सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन कर ले, गुरु की सेवा में रहे, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करे तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त कर ले, वही ब्राह्मण है। इसके विपरीत जो है वह ब्राह्मण नहीं है। अतः समस्त ब्राह्मण समाज को घृणा और निन्दा की दृष्टि से देखना अनुचित है, क्योंकि आज भी समाज में ऐसे उपयुक्त लक्षणों (गुण और कर्म) से सम्पन्न ब्राह्मण विद्यमान हैं। वे चाहे जात्या हों अथवा कर्मणा।

राजधर्म का वर्णन करते हुए भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर से कहा–

आदावेव कुरुश्रेष्ठ राज्ञा रञ्जनकाम्यया ।
देवतानां द्विजानां च वर्तितव्यं यथाविधि ।।[10]

अर्थात् कुरुश्रेष्ठ! राजा को सबसे पहले प्रजा का रञ्जन अर्थात् उसे प्रसन्न रखने की इच्छा से देवताओं और ब्राह्मणों के प्रति शास्त्रोक्त विधि के अनुसार व्यवहार करना चाहिए। अर्थात् राजा देवताओं का विधिपूर्वक पूजन तथा ब्राह्मणों का आदर-सत्कार करे। ऐसा करने से क्या होगा? इसके उत्तर में पितामह ने कहा–

दैवतान्यर्चयित्वा हि ब्राह्मणांश्च कुरूद्वह ।
आनृण्यं याति धर्मस्य लोकेन च समर्च्यते ।।[11]

अर्थात् कुरुकुलभूषण! देवताओं और ब्राह्मणों का पूजन करके राजा धर्म के ऋण से मुक्त हो जाता है और सारा संसार उसका सम्मान करता है। किसी भी व्यक्ति किंवा राजा के जीवन में सत्य का सर्वाधिक महत्व है। इसलिए राजा को सत्यपरायण होना चाहिए। धर्मराज युधिष्ठिर से भीष्म पितामह ने सत्य के महत्व को उद्घाटित करते हुए कहा–

न हि सत्यादृते किञ्चित् राज्ञां वै सिद्धिकारकम् ।
सत्ये हि राजा निरतः प्रेत्य चेह च नन्दति ।।
ऋषीणामपि राजेन्द्र सत्यमेव परं धनम् ।
तथा राज्ञां परं सत्यान्नान्यद् विश्वासकारकम् ।।[12]

अर्थात् सत्य के अतिरिक्त अपर कोई वस्तु राजाओं के लिए सिद्धिकारक नहीं है। सत्यपरायण राजा इहलोक और परलोक दोनों में सुख प्राप्त करता है। राजेन्द्र! ऋषियों के लिए भी सत्य ही परम धन है। इसी प्रकार राजाओं के लिए सत्य से बढ़कर दूसरा ऐसा कोई साधन नहीं है, जो प्रजावर्ग में उसके प्रति विश्वास उत्पन्न करा सके। अतः राजा और वर्तमानकालिक लोकतान्त्रीय प्रणाली के प्रधान मन्त्री एवं राष्ट्राध्यक्ष के लिए सत्यपरायण होना परमावश्यक है।

राष्ट्र एवं समाज जिस प्रकार अपनी उन्नति करता है, उसमें चातुर्वण्य के ब्राह्मण और क्षत्रिय की महती भूमिका होती है। ब्राह्मण (वर्तमानकालिक शिक्षक समुदाय के पी.एच.डी., डी. लिट्. धारक = पण्डित) समाज के पथ प्रदर्शक रहे हैं। क्षत्रिय, समाज एवं राष्ट्र की रक्षा के निमित्त कृत संकल्प रहे हैं। अतः इन दोनों में वैमनस्य नहीं होना चाहिए। यदि इन दोनों में वैमनस्य हुआ तो चारों वर्णो में विद्वेष का समुत्पन्न होना स्वाभाविक है। इस सन्दर्भ में भीष्म पितामह ने महाराज मनु के द्वारा गाये गये दो श्लोकों को उद्धृत किया है, जिसमें कहा गया है–

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ।।
अयो हन्ति यदाश्मानमग्निना वारि हन्यते ।
ब्रह्म च क्षत्रियो द्वेष्टि तदा सीदन्ति ते त्रयः ।।[13]

अर्थात् अग्नि जल से, क्षत्रिय ब्राह्मण से और लोहा पत्थर से प्रकट हुआ है। इनका तेज अन्य सब स्थानों पर तो अपना प्रभाव दिखाता है, परन्तु अपने को उत्पन्न करने वाले कारण से टक्कर लेने पर स्वयं ही शान्त हो जाता है। जब लोहा पत्थर पर चोट करता है, आग जल को नष्ट करने लगती है और क्षत्रिय ब्राह्मण से

द्वेष करने लगता है, तब ये तीनों ही दुःख उठाते हैं। अर्थात् ये दुर्बल हो जाते हैं। इसी दृष्टान्त के आधार पर आज भी समाज में व्याप्त पारस्परिक वैमनस्य चातुवर्ण्य के एक्य को विखण्डित कर रहा है। इसलिए राजा इस विखण्डन पर अंकुश लगाये। उसको रोकने का प्रयत्न करे। अतः राजा प्रजा के साथ कैसा व्यवहार करे? जिससे लोक का मङ्गल हो। इस सन्दर्भ को धर्मराज युधिष्ठिर से बतलाते हुए भीष्म पितामह ने कहा–

भवितव्यं सदा राजा गर्भिणीसहधर्मिणा।
कारणं च महाराज शृणु येनेदमिष्यते ।।[14]

अर्थात् महाराज! राजा का प्रजा के साथ गर्भिणी स्त्री का-सा व्यवहार होना चाहिए। पितामह ने कहा राजन! किस कारण से ऐसा होना उचित है, यह बताता हूँ, सुनो–

यथा हि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोऽनुगम्।
गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राज्ञाप्यसंशयम् ।।
वर्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ सदा धर्मानुवर्तिना।
स्वं प्रियं तु परित्यज्य यद् यल्लोकहितं भवेत् ।।[15]

अर्थात् जिस प्रकार गर्भिणी स्त्री अपने मन को अच्छे लगने वाले प्रिय भोजन आदि का भी परित्याग करके केवल गर्भस्थ बालक के हित का ध्यान रखती है, उसी प्रकार धर्मात्मा राजा को भी चाहिए कि निःसन्देह वह भी वैसा ही व्यवहार करे। कुरुश्रेष्ठ! राजा अपने को प्रिय लगने वाले विषय का परित्याग करके जिसमें सब लोगों का हित हो वही कार्य करे। महाभारत के उद्योगपर्व में राजा के परम कर्तव्य को बतलाते हुए महात्मा विदुर ने धृतराष्ट्र से कहा–

एकया द्वे विनिश्चित्य त्रींश्चतुर्भिर्वशे कुरु।
पञ्च जित्वा विदित्वा षट् सप्त हित्वा सुखीभव ।।[16]

अर्थात् हे महाराज! एक (बुद्धि) से दो (कर्तव्य और अकर्तव्य) का निश्चय करके चार (साम, दान, भेद और दण्ड से तीन (शत्रु, मित्र, उदासीन) को वश में कीजिए। पाँच इन्द्रियों (त्वगिन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय) को जीतकर, छः गुणों (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय) को जानकर तथा सात (स्त्री, जुआ, मृगया, मद्य, कठोर वचन, दण्ड की कठोरता और अन्याय से धनोपार्जन) को छोड़कर सुखी हो जाइये। महाराज! ऐसा व्यवहार करिए कि लोक (प्रजा) आप पर प्रसन्न हो जाए। महात्मा विदुर ने राजा के इसी महत्वपूर्ण धर्म का उपदेश करते हुए धृतराष्ट्र से कहा–

चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम् ।
प्रसादयति यो लोकं तं लोकोऽनुप्रसीदति ।।[17]

अर्थात् राजन्! जो राजा नेत्र, मन, वाणी और कर्म– इन चारों से प्रजा को प्रसन्न करता है, उसी से प्रजा प्रसन्न रहती है, अन्य से नहीं। इसलिए राजा को मनसा, वाचा, कर्मणा एकीकृत होकर प्रजा का पालन करना चाहिए। मन, वाणी और कर्म से एक्यभावस्थित राजा प्रजा को कैसे देखता है? इस बात को बतलाते हुए महात्मा विदुर धृतराष्ट्र से कह रहे हैं–

गन्धेन गावः पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति ब्राह्मणाः ।
चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ।।[18]

अर्थात् गौएँ गन्ध से, ब्राह्मण लोग वेदों से, राजा गुप्तचरों से अन्य साधारण लोग आँखों से देखा करते हैं। अर्थात् राजा अपनी आँख से तो देखता ही है, परन्तु उसकी आँखें उसके विश्वस्त गुप्तचर हुआ करते हैं जो प्रजा के सुख दुःख एवं सदाचार-दुराचार आदि का समाचार राजा को दिया करते हैं। गुप्तचर और मन्त्री राजा के सहायक हुआ करते हैं। इनके विषय में बतलाते हुए महात्मा विदुर ने धृतराष्ट्र से कहा–

पर्जन्यनाथाः पशवो राजानो मन्त्रिबान्धवाः ।
पतयो बान्धवाः स्त्रीणां ब्राह्मणा वेदबान्धवाः ।।[19]

अर्थात् पशुओं के रक्षक या स्वामी-बादल हैं। राजाओं के सहायक-मन्त्रीगण हैं। स्त्रियों के बन्धु (रक्षक) उनके पति हैं। वेदों के बन्धु (रक्षक) ब्राह्मण हुआ करते हैं। इसलिए राजा अपने विश्वासी मन्त्रिगणों की सहायता से राज्य (राष्ट्र) को प्राप्त करे तथा प्राप्त राष्ट्र की न्यायपूर्वक रक्षा करे। महत्मा विदुर ने पुनः धृतराष्ट्र को समझाते हुए कहा है–

धर्मेण राज्यं विन्देत धर्मेण परिपालयेत् ।
धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते ।।[20]

अर्थात् राजा धर्मपूर्वक राज्य प्राप्त करे और धर्मपूर्वक ही उसकी रक्षा करे; क्योंकि धर्ममूलक राज्यलक्ष्मी को प्राप्तकर न तो राजा उसे छोड़ता है और न वही (राज्यलक्ष्मी) राजा को छोड़ती हैं। राजा के न्यायप्रिय होने पर उसका राज्य अक्षुण्ण बना रहता है। उसके अन्यायी होने पर उसका प्राप्त हुआ राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। जैसा कि महात्मा विदुर बतला रहे हैं–

पितृमैतामहं राज्यं प्राप्तवान् स्वेन कर्मणा ।
वायुरभ्रमिवासाद्य भ्रंशयत्यनये स्थितः ।।[21]

अर्थात् अन्याय में संलग्न हुआ राजा अपने बाप-दादों का राज्य पाकर भी अपने कर्मों के द्वारा उसे इस तरह भ्रष्ट कर देता है, जैसे हवा बादल को छिन्न-भिन्न कर देती है और जो राजा न्याय और धर्म में अवस्थित होकर राजधर्म का आचरण करता है, उसके राज्य की संवृद्धि होती है। महात्मा विदुर का कथन है–

धर्माचरतो राज्ञः सद्भिश्चरितमादितः ।
वसुधा वसुसम्पूर्णा वर्धते भूतिवर्धिनी ।।[22]

अर्थात् परम्परा से सज्जन पुरुषों द्वारा किये हुए धर्म का आचरण करने वाले राजा के राज्य की पृथ्वी धन-धान्य से पूर्ण होकर उन्नति को प्राप्त होती है और उसके ऐश्वर्य को बढ़ाती है। जिस प्रकार राजा दूसरे राष्ट्रों को, जहाँ पर अन्याय का आचरण होता है; जीतकर अपने में सम्मिलित कर धर्म स्थापित करता है, उसी प्रकार उसे अपने राष्ट्र की भी तत्परता से रक्षा करनी चाहिए। जैसा कि महात्मा विदुर का कथन है–

य एव यत्नः कियते परराष्ट्रविमर्दने ।
स एव यत्नः कर्तव्यः स्वराष्ट्रपरिपालने ।।[23]

अर्थात् राजा के द्वारा दूसरे राष्ट्रों को अधिकृत करने का जिस प्रकार का प्रयत्न किया जाता है, उसी प्रकार की तत्परता अपने राष्ट्र की रक्षा के लिए भी करनी चाहिए। महाभारत के अनुशासनपर्व (दानधर्मपर्व) में कहा गया है

एवं चरति यो नित्यं राजा राष्ट्रहिते रतः ।
तस्य राष्ट्रं धनं धर्मो यशः कीर्तिश्च वर्धते ।।[24]

इस प्रकार महाभारत के उद्योगपर्व, शान्तिपर्व एवं अनुशासन पर्वादि में राजा के महान् राजधर्म किंवा उसके कर्तव्य का निरूपण किया गया है।

जिस प्रकार राजा के धर्म और कर्तव्य का निरूपण महाभारत के विभिन्न पर्वों में प्राप्त होता है, उसी प्रकार प्रजा के धर्मों और कर्तव्यों का निरूपण भी प्राप्त होता है। महाभारत के शान्तिपर्व में भीष्म पितामह ने धर्मराज युधिष्ठिर को सम्पूर्ण राजधर्म और प्रजाधर्म का उपदेश प्रदान किया है। भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर को जब सम्पूर्ण राजधर्म, चारों वर्णों और आश्रमों के कर्तव्यों का निरूपण कर दिया, तब युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह से कहा–

चतुराश्रम्यमुक्तं ते चातुवर्ण्यं तथैव च ।
राष्ट्रस्य यत् कृत्यतमं ततो ब्रूहि पितामह ।।[25]

अर्थात् पितामह! आपने चारों आश्रमों और चारों वर्णों के धर्म बतलाये। अब आप मुझे यह बताइये कि समूचे राष्ट्र का उस राष्ट्र में निवास करने वाले प्रत्येक नागरिक का मुख्य कार्य क्या है? तब भीष्म पितामह ने कहा–

राष्ट्रस्यैतत् कृत्यतमं राज्ञ स्वामभिषेचनम्।
अनिद्रमबलं राष्ट्रं दस्यवोऽभिभवन्त्युत ।।[26]

अर्थात् युधिष्ठिर! राष्ट्र अथवा राष्ट्रवासी प्रजावर्ग का सबसे प्रधान कार्य यह है कि वे किसी योग्य राजा का अभिषेक करें, क्योंकि बिना राजा का राष्ट्र निर्बल होता है। उसे डाकू और लुटेरे लूटते तथा सताते हैं। राजा के बिना राष्ट्र में अराजकता समुत्पन्न हो जाती है जो किसी भी राष्ट्र के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध होती है। ऐसे राष्ट्र के सन्दर्भ में भीष्मपितामह का कथन है–

अराजकेषु राष्ट्रेषु धर्मो न व्यवतिष्ठते।
परस्परं च खादन्ति सर्वथा धिगराजकम् ।।
नाराजकेषु राष्ट्रेषु वस्तव्यमिति रोचये।
नाराजकेषु राष्ट्रेषु हव्यमग्निर्वहत्युत ।।[27]

अर्थात् जिन देशों में कोई राजा नहीं होता, वहाँ धर्म की भी स्थिति नहीं रहती है; अतः वहाँ के लोग एक-दूसरे को हड़पने लगते हैं। इसलिए जहाँ अराजकता हो, उस देश को सर्वधा धिक्कार है। मेरी रुचि तो यह है कि जहाँ कोई राजा न हो, उन देशों में निवास ही नहीं करना चाहिए। विना राजा के राष्ट्र में दिये हुए हविष्य को अग्निदेव ग्रहण नहीं करते। इसलिए प्रजा को किसी न किसी की राजा को अवश्य बना लेना चाहिए। क्योंकि राजा से ही राष्ट्र का सम्यक रूप से सञ्चालन सम्भव हो पायेगा अन्यथा नहीं। इसलिए भीष्मपितामह कहते हैं'–

तस्माद् राजैव कर्तव्यः सततं भूतिमिच्छता।
न धनार्थो न दारार्थस्तेषां येषांमराजकम् ।।[28]

अर्थात् सदा उन्नति की इच्छा रखने वाले देश को अपनी रक्षा के लिए किसी को राजा अवश्य बना लेना चाहिए। जिनके देश में अराजकता है, उनके धन और स्त्रियों पर उन्हीं का अधिकार बना रहे, यह सम्भव नहीं है। इसीलिए देवताओं ने प्रजा की रक्षा करने वाले राजा की संकल्पना की। जैसा कि महाभारत में कहा गया है–

अदासः क्रिमते दासो ह्रियन्ते च बलात् स्त्रियः।
एतस्मात् कारणात् देवाः प्रजापालान् प्रचक्रिरे ।।[29]

अर्थात किसी भी राष्ट्र में अराजकता की स्थिति में जो दास नहीं हैं, उसे दास बना लिया जाता है और स्त्रियों का बलपूर्वक अपहरण किया जाता है। इसी कारण से देवताओं ने प्रजापालक, नरेशों की सृष्टि की है। इस प्रकार राजा और प्रजा के पारस्परिक सहयोग के द्वारा राज्य समुन्नति को प्राप्त करता है। महाभारत के अन्तर्गत राजधर्म के स्वरूम पर प्रभूत सामग्री वर्णित है जिसका एक से लघु कलेवर वाले शोधपत्र में वर्णन कर माना असम्भव और असमीचीन है। अत: प्रस्तुत शोधपत्र में राजधर्म के सम्बन्ध में कतिपय महत्वपूर्ण और उपादेय अंशों को प्रस्तुत किया गया है। राजधर्म पर अधिक गहन ज्ञान के निमित्त पञ्चमवेद महाभारत का अध्ययन एवं अनुसन्धान अपेक्षित है।

सन्दर्भग्रन्थः-

1. यजुर्वेद - डॉ. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड, गुजरात-1985
2. महाभारत- (छः भाग) - गीताप्रेस गोरखपुर, पन्द्रहवाँ पुनर्मुद्रण, संवत्-2067
3. भारतवर्ष का वृहद् इतिहास - पण्डित भगवद्दत्त सत्यस्रवा, प्रणव प्रकाशन, दिल्ली-द्वितीय संस्करण-2000
4. चाणक्यनीतिदर्पण- डॉ. गुंजेश्वर चौधरी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-2015
5. सत्यार्थ-प्रकाश - श्रीमात्स्वामी दयानन्द सरस्वती, सम्पादकः- पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, रेवली, सोनीपत, हरियाणा-2007

---

1. यजुर्वेद-18.29
2. चाणक्यनीतिदर्पण-13.8
3. सत्यार्थप्रकाश-षष्ठ समुल्लास-पृष्ठ-200-254, सं-युधिष्ठिर मीमांसक
4. महाभारत-आदिपर्व-63.89
5. महाभारत-शान्तिपर्व-56.2-3
6. महाभारत-शान्तिपर्व-56.9
7. महाभारत-शान्तिपर्व-56.10-11
8. महाभारत-वनपर्व-180.21
9. महाभारत-शान्तिपर्व-251.2
10. महाभारत-शान्तिपर्व-56.12
11. महाभारत-शान्तिपर्व-56.13
12. महाभारत-शान्तिपर्व-56.17-18
13. महाभारत-शान्तिपर्व-56.23-24
14. महाभारत-शान्तिपर्व-56.44
15. महाभारत-शान्तिपर्व-56.45-46
16. महाभारत-उद्योगपर्व-33.44
17. महाभारत-उद्योगपर्व-34.25

18. महाभारत-उद्योगपर्व-34.34
19. महाभारत-उद्योगपर्व-34.38
20. महाभारत-उद्योगपर्व-34.31
21. महाभारत-उद्योगपर्व-34.27
22. महाभारत-उद्योगपर्व-34.28
23. महाभारत-उद्योगपर्व-34.30
24. महाभारत-अनुशासनपर्व-145 संक्षेपतः राजधर्म-15 (दाक्षिणात्य प्रति)
25. महाभारत-शान्तिपर्व-67.1
26. महाभारत-शान्तिपर्व-67.2
27. महाभारत-शान्तिपर्व-67.3,5
28. महाभारत-शान्तिपर्व-67.12
29. महाभारत-शान्तिपर्व-67.15

सहायकाचार्य,
संस्कृत विभाग, रामजस कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।
दूरवाणी संख्या - 9868971522
ईमेल - rajmangal.yadav283@gmail.com

वेदों में वर्णित जलतत्त्व

– डॉ. विजय कुमार शर्मा

(मानवजीवने जलम् अतीव महत्त्वपूर्णं तत्त्वम् अस्ति। जलतत्त्वादेव पृथिव्यां अन्नं औषधं च प्राप्यते। पृथिव्यां जीवानां पोषणं संवर्धनं च भवति। पृथिव्यां वृष्टिः न केवलं मनुष्याणां, पक्षीणां, पशूनां च जीवनं प्रददाति अपितु जलवाय्वादिकारणात् पृथिव्याः गुहासु निवसतां कीटानां सुखस्य कारणमपि भवति। अतः भूमिः विश्वस्य च जलतत्त्वात् एव निर्मितम् अस्ति तथा च इयं पृथिव्याम् उपरि क्रियाकलापानाम् आधारं भिन्नरूपेण ददाति। यदि जलं नास्ति तर्हि जीवनस्य कल्पयितुं न शक्यते। जलमेव जीवनमस्ति। इदमेकं वैज्ञानिकं तथ्यं विद्यते। यस्य वेदैरपि पुनः पुनः चर्चां समर्थनं च कुर्वन्ति।)

भारतीय साहित्य का सबसे प्राचीन साहित्य वेद रूप में प्राप्त होता है। वेद शब्द विद् धातु से घञ् प्रत्यय से निष्पन्न है जिसका अर्थ 'ज्ञान' है। वास्तव में वेद सम्पूर्ण ज्ञान के स्रोत हैं। आचार्य सायण ने वेद के विषय में कहा है– **मन्त्रब्राह्मणयो-र्वेदनामधेयम्।** अर्थात् वेदों को मन्त्रपरक एवं ब्राह्मणपरक माना गया है। वेदों में सभी प्रकार की विद्याओं को स्थान प्राप्त है यही कारण है कि ये अत्यन्त प्राचीन एवं वैज्ञानिक ग्रन्थ हैं।

वेदों में देवताओं की स्तुति, कर्मकाण्डों में यज्ञों का महत्त्व, संगीतशास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्विद्या, दार्शनिक महत्त्व, तात्विक महत्त्व, राजकर्म, स्त्रीकर्म, व्यापार, कृषि कार्य, युद्ध विषय आदि का वर्णन प्राप्त होता है। वैसे भी कहा गया है– **'सर्वज्ञानमयो हि सः'**

वेदों में वर्णित ज्ञान को सदैव एक वैज्ञानिक आधार प्राप्त रहा है, यही कारण है कि इतने प्राचीन होने के पश्चात् भी वैज्ञानिक कसौटी पर इनमें वर्णित तत्त्व खरे उतरते हैं। वेदों की कई बातों पर संदेह प्रकट किया गया, परन्तु जब उन पर प्रयोग किये गए तो सत्य सिद्ध हुए। जीवन में जलतत्त्व की महत्ता है, इसी कारण वैज्ञानिक आज भी किसी नये ग्रह की खोज करते हुए सर्व प्रथम जलतत्त्व को खोजते हैं। यदि नये ग्रह पर जल प्राप्त होता है, तब ही वे नव-जीवन की संभावना व्यक्त करते हैं। जल औषधि, वनस्पति आदि का आधार है। जल की महत्ता मानते हुए पंचमहाभूतों में इसका स्थान सुरक्षित है। जल पृथ्वी पर अनेक रूपों में विद्यमान है, इसी पृथ्वी पर समुद्र, नदियाँ, तालाब, कूप, वर्षा के जल हैं जो अन्नों को पुष्ट करते हैं, अन्न से मानव शरीर पुष्ट होता है। खेती के लिए अन्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उपनिषदों में भी अन्न की महत्ता को मान्यता मिली है। तैत्तिरीयोपनिषद् में अन्न को ही प्राण बताया गया है। **प्राणो वा अन्नम्।** (तैत्तिरीयोपनिषद् (भृगुवल्ली)- 7/3) और तैत्तिरीयोपनिषद् के अष्टम् अनुवाक में कहा गया है कि अन्न की अवहेलना नहीं करनी चाहिए तथा जल ही अन्न है। **आपो वा अन्नम्।** (तैत्तिरीयोपनिषद् (भृगुवल्ली)– 8/3) इस अनुवाक में जल में ही

तेज की प्रतिष्ठापना की गई है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में परब्रह्म को मेघ, ऋतु एवं सप्त समुद्ररूप बताया गया है जिससे भुवन (जगत्) की उत्पत्ति बतायी गयी है–

नीलः पीतौ हरितो लोहिताक्षस्तडितगर्भ ऋतवः समुद्राः।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा ।।[01]

छान्दोग्योपनिषद् में जल में सामोपासना का वर्णन किया गया है जिससे जल तत्त्व की महत्ता स्पष्ट होती है। ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के बारहवें सूक्त में इन्द्र की स्तुति हैं। इसी में आए एक ऋचा में कहा गया है

यो हत्वाहिमरिणात्सप्त सिन्धून्यो गा उदाजदपधा वलस्य।
यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक्समत्सु स जनास इन्द्रः ।।[02]

अर्थात् जिसने सर्पाकार राक्षस को मारकर सात नदियों को प्रवाहित किया, जिसने बल नामक असुर की गुफा से अपधा गायों को छुड़ाया था, जिसने दो मेघों के बीच अग्नि (विद्युत्) को उत्पन्न किया था तथा जो युद्ध में संहारक है, हे मनुष्यों, वही इन्द्र हैं। इस ऋचा में इन्द्र के कार्यों का वर्णन प्रस्तुत किया गया है जिसमें इन्द्र को वृत्र के मारने पर सप्त नदियों के बहने की बात कही गयी है। निरुक्त परम्परा में वृत्र से अर्थ मेघ किया गया है, अर्थात् सर्पाकार मेघ पर इन्द्र के प्रहार से सप्त नदियों का उद्भव बताया गया है। वहीं ऋग्वेद के पर्जन्य सूक्त में पर्जन्य की स्तुतियाँ है, पर्जन्य को जल बरसाने वाला मेघ कहा गया है। मानवीय रूप में पर्जन्य को पवित्र जल का पिता भी कहा गया है। ऋग्वेद की एक ऋचा में कहा गया है–

प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युत् उदोषधीर्जिहते पिन्वते स्वः।
इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते यत्पर्जन्यः पृथिवीं रेतसावति ।।[03]

अर्थात् जब पर्जन्य पृथ्वी को जल के द्वारा सुरक्षित करता है, सम्पन्न बनाने का कार्यक्रम चलाता है तब हवाएँ बहने लगती हैं, बिजलियाँ गिरने लगती है, पेड़-पौधे, वनस्पति अंकुरित होने लगते हैं, आकाश जल बरसाने लगता है, भूमि या समृद्धि समस्त संसार को सम्पन्न करती हैं। इस ऋचा में स्पष्ट कहा गया है कि पर्जन्य देवता जल को पृथ्वी हेतु सुरक्षित करते हैं ताकि पेड़-पौधे एवं वनस्पति इस धरा में अंकुरित हों एवं मनुष्य के हित में उपयोगी हों। वैसे भी जल संरक्षण की महत्ता को बारम्बार वैज्ञानिक स्वीकारते रहे हैं। 'Save Water Save Earth' की संकल्पना (Concept) भी दी गई है। अथर्ववेद संहिता में पृथ्वीसूक्त में आयी एक ऋचा में कहा गया है–

द्यौश्च न इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यवः।
अग्निः सूर्य आपो मेधां विश्वे देवाश्च सं ददुः ।।[04]

अर्थात् द्यौ, पृथ्वी एवं अंतरिक्ष के साथ अग्नि, सूर्य का भी जल वृष्टि से गहन सम्बन्ध है। इस ऋचा में आए 'आपः' शब्द से व्यापक अर्थ में जल का अभिप्रेत होता है। द्युलोक, अंतरिक्ष, अग्नि एवं सूर्य के साथ इस व्यापक जल तत्त्व से मेधा प्राप्त होने का उल्लेख मिलता है। अर्थात् जल को मेधा का पोषक बताया गया है। वैसे ऋग्वेद में

सरस्वती की स्तुति में 'मेधां देवी सरस्वती' कहा गया है। सरस्वती को जहाँ मेधा की देवी रूप में माना गया है वहीं सरस्वती को नदी रूप में यथेष्ठ एवं प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है, ऋग्वेद में कहा भी गया है–

महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना। धियो विश्वा वि राजति ।।[05]

अर्थात् नदीरूपी सरस्वती प्रवाहरूप कर्म द्वारा प्रचुर तरंगयुक्त जल व्यक्त करती है, दिखलाती है तथा सारे ज्ञान को भी प्रकाशित करती है। वैसे नदी में तरंग एवं गति जीवन्तता का प्रतीक है वैसे ही मेधा अथवा ज्ञान में जितना अधिक तरंग रहेगा वह भी जीवन्त एवं ज्वलन्त रहेगी। सम्भव है कि मेधा का रसतत्त्व से घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण ही हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र में उपनयन के अन्तर्गत मेधा को सुरभि रस युक्त और जल से वृद्धि करने वाला बताया गया है। (हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र-1.8.4)

वर्षा के महत्त्व को वेदों में प्रमुखता से समझा एवं बताया गया है। अथर्ववेद में कहा गया है– **वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनि धामनि।**[06]

अर्थात् जब सबको जीवन प्रदान करने वाली व्यापक भूमि वृष्टि-जल से आच्छादित हो जाती है तब उससे सभी स्थान धन-धान्य से समृद्ध हो जाने के कारण सबको प्रिय होती है। साथ ही साफ एवं शुद्धता के लिए भी कहा गया है– 'शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु' अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त में ऋतुएँ गिनाई गई हैं। वहाँ वर्षा ऋतु का वर्णन ग्रीष्म के पश्चात् किया गया है, इससे भौगोलिक प्रक्रिया के स्पष्ट वैज्ञानिक संकेत मिलते हैं। इससे पता चलता है कि भीषण गर्मी से वाष्पीकरण की प्रक्रिया द्वारा मेघ बनते हैं, तदन्तर वर्षा होती है। यही वर्षा पृथ्वी को शस्यश्यामला बनाती है। पर्जन्य वर्षा करते हैं इसी कारण उन्हें पिता कहा गया है तथा उनसे प्रार्थना की गई है– **पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु।।**[07] अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त में वर्षा के जल को तो महत्त्वपूर्ण बताया गया है साथ ही हिमवान् पर्वतों से भी नदियों में वर्ष भर जल रहता था ये जल जंगलों और खेती का पोषण करती थी- (अथर्व0–12.1.11) एक ऋचा में कहा गया है कि–

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति ।
स नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा ।।[08]

अर्थात् जिस भूमि पर रात दिन निर्बाध व्यापक जल निर्बाध गति से प्रवाहित हो, वह अनेक जलधारा वाली भूमि हमारे लिए जल रूपी दूध का दोहन करे और उसके द्वारा हमारा ब्रह्मतेज करे। बहुत स्पष्ट संकेत है कि जो जल धाराएँ अपने प्रवाह से वन, वनस्पति आदि को सम्पुष्ट करेंगें, वही सभी जन-जीव के लिए महत्त्व का होगा। जल को पृथ्वी का दूध माना गया है, वह नहीं होगा तो इस पर रहने वालों का पोषण सम्भव नहीं है। जल से ही पोषित होने पर पृथ्वी की गोद हरी-भरी होती है अन्न होता है, औषधि होती है, वनस्पतियाँ होती हैं, पशुओं को चारा मिलता है, प्राणियों का

भरण-पोषण होता है। गंध पृथ्वी का गुण है यह गंध रूपी गुण औषधियों एवं जल सब में उपस्थित रहता है। जैसे घड़े में रखे जल में मिट्टी की सोंधी गंध मिली है। एक ऋचा में कहा भी गया है–

यस्ते गन्धः पृथिवि सम्बभूव यं विभ्रत्योषेधयो यमापः।।[09]

पृथ्वी के भीतर एवं बाहर अनेक रूपों में व्याप्त जल का मूल स्रोत वर्षा है। समुद्रों एवं मेघों का आदान-प्रदान चलता रहता है, गर्मी में वाष्पीकरण की प्रक्रिया मेघ बनाती है तो वर्षा करके पृथ्वी के जल को पुनः लौटा देती है।

जल तत्त्व से ही पृथ्वी पर अन्न, औषधियों का भरण-पोषण होता है तथा पृथ्वी पर प्राणियों का सम्पोषण एवं सम्वर्धन होता है। पृथ्वी पर वर्षा केवल मनुष्य, पक्षियों, पशुओं को ही जीवन प्रदान नहीं करती अपितु जलवायु तथा अन्य कारणों से पृथ्वी की गुहा (बिलों) में निवास करने वाले कीड़े-मकोड़े के लिए प्रसन्नता का कारण भी होती है। अधिक वर्षा होने पर बिलों, कूपों में अधिक जल भरने पर यह कीड़े मकोड़े बाहर आ जाते हैं, एक ऋचा में इस से बचने की प्रार्थना की गयी है–

यस्ते सर्पो वृश्चिकस्तृष्टदंश्मा हेमन्तजब्धो भृमलो गुहाशये ।
क्रिमिर्जिन्वत्पृथिवि यद्यदेजति प्रावृषि तन्नः
सर्पन्मोपसृपद्यच्छिवं तेन नो मृड ।।[10]

पृथ्वी के भीतर जाकर यह जल अन्य तत्त्वों के साथ मिलकर खनिज तेल के रूप में परिवर्तित हो जाती है। एक मन्त्र में कहा गया है कि पृथ्वी के भीतर वह (जल) अग्नि है– (अथर्ववेद- 12.1.37) एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि जल अग्नि को धारण करने वाला है– (अथर्व0– 12.1.19) खनिज तेल के अतिरिक्त जल में विद्यमान अग्नि का एक और सम्भावित कारण हाइड्रोजन गैस को माना जा सकता है। जल का रासायनिक सूत्र H20 है अर्थात् हाइड्रोजन एवं ऑक्सीजन के मेल से जल बना है।

ऋग्वेद के नारदीय सूक्त में सृष्टि के आरम्भ का गम्भीर वर्णन प्राप्त होता है इसमें अम्भः अथवा सलिल से जल शब्द को बताया गया है। **अम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्।**[11]

वह उस अस्पष्ट, अव्यक्त तथा व्यापक सूक्ष्म तत्त्व का अप्रकट रूप का द्योतक है जिसमें भावी सृष्टि के बीज छिपे हुए हैं।

अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त में 'आपः' की अव्यक्त व्यापक स्थिति का वर्णन 'अर्णवं' के द्वारा किया गया है। अर्णव शब्द साधारणतया समुद्र के लिए होता है, अर्णव नामक यह समुद्र उस गति का बोधक है, जो सृष्टि से पूर्व कार्यजगत् के सभी तत्त्वों के अपने मूल में अव्यक्त रूप में मिले हुए थे। इस कारण यह अर्णव पृथ्वी के आरम्भ में सलिल थी– (अथर्ववेद– 12.1.8) ऋग्वेद के वाक्सूक्त में जगत् कारण रूप वाणी अपना आश्रय समुद्र के भीतर 'आपः' में बताती है, वहीं से वह सब लोकों में फैल जाती है। वही जगत् के पालनकर्त्ता को प्रेरणा देती है– (ऋग्वेद- 10.125.7)

वाल्मीकि रामायण में भी कहा गया है– **'सर्वं सलिलमेवासीत् पृथिवी यत्र निर्मिता'** अर्थात् सभी सलिलों से ही पृथ्वी का निर्माण हुआ है। वाल्मीकि रामायण में वर्षा ऋतु का अति मनोहारी वर्णन उपलब्ध होता है, श्रीराम द्वारा लक्ष्मण को सम्बोधित करते हुए कहा गया है–

अयं स कालः सम्प्राप्तः समयोऽद्य जलागमः ।
सम्पश्य त्वं नभो मेघैः संवृतं गिरिसंनिभैः ।।[12]

अर्थात् अब यह जल की प्राप्ति कराने वाला वर्षाकाल आ गया है। आकाश मेघों से आच्छन्न है। इसमें श्रीराम स्पष्ट बता रहें हैं कि जल की प्राप्ति हेतु यह ऋतु महत्त्वपूर्ण है। ग्रीष्म से तपी हुई घास वर्षाकाल में नूतन जल से भींगकर वाष्प विमोचित करेगी, यह वाष्पीकरण प्रक्रिया का वर्णन किया गया है–

एषा धर्मपरिक्लिष्टा नववारिपरिप्लुता ।
सीतेव शोकसंतप्ता मही वाष्पं विमुंचति ।।[13]

वाल्मीकि रामायण में आए इस वर्षा ऋतु वर्णन में जल राशि की महत्ता प्रदर्शित की गई है। वर्षा को नदी, वन, पर्वत, भूमि सभी के लिए अनिर्वाय बताया गया है।

महाभारत के मार्कण्डेय समास्या पर्व के अन्तर्गत वर्षा ऋतु का वर्णन प्राप्य होता है, इससे इस ऋतु की महत्ता का बोध होता है। वर्षा ऋतु में धरती पर घास जम गयी है, मतवाले डाँस और सर्प विचर रहे हैं। पृथ्वी जल से अभिसिक्त होकर शांत और सब के लिए मनोरम हो गयी है–

बभूव पयसा सिक्ता शान्ता सर्वमनोरमा ।।[14]

वर्षा ऋतु में सब ओर जल भर जाता है और नदियाँ बड़े वेग से बहने लगती हैं–

क्षुब्धतोया महावेगाः श्वसमाना इवाशुगाः ।
सिन्धवः शोभयांचक्रुः काननानि तपात्ययें ।।[15]

वर्षा के जल से नदियाँ नव-जीवन प्राप्त करती हैं तथा प्रकृति में भी नव-जीवन का संचार करती हैं। मोर, पपीहा, कोकिल सभी आनन्दोन्मत्त हो जाते हैं। मेढ़क घमण्ड एवं उत्साह में टर्र-टर्र की ध्वनि करने लगता है। इस पर प्रकृति मंगल ध्वनिमयी हो जाती है एवम् अत्यन्त शोभा को प्राप्त करती है। महाभारत के मार्कण्डेय समास्या पर्व के अन्तर्गत मत्स्यावतार की कथा में सृष्टि का अन्त जल प्रलय से बताया गया है। कथा में स्नान करते हुए मनु को एक मछली मिलती है उसकी रक्षा मनु ने अत्यन्त मनोयोग से किया। मछली का आकार बढ़ जाने के बाद मनु ने उस मछली को समुद्र में डाल दिया तब उस मछली ने मनु से कहा कि जब चराचर जगत् का पार्थिव नष्ट हो जाएगा तब मैं आप लोगों की रक्षा हेतु उपस्थित होऊँगा। जब जल प्रलय आया तो नाव को रस्सी के सहारे मछली ने अपने सींग से खीचा।

वेगेन महता नावं प्राकर्षल्लवणाम्भसि ।
स च तांस्तारयन् नावा समुद्रं मनुजेश्वर ।।[16]

सारी पृथ्वी जलमय हो गई है, सारा विश्व एकार्णव के जल में डूबा हुआ है, केवल सप्तर्षि, मनु और मत्स्य ये नौ लोग ही बचे हुए हैं।

सर्वमाम्भसमेवासीत् खं द्यौश्च नरपुंगव ।
एवंभूते तदा लोके संकुले भरतर्षभ ।।
अदृश्यन्तर्षयः सप्त मनुर्मत्स्यस्तथैव च ।
एवं बहून् वर्षगणांस्तां नावं सोऽथ मत्स्यकः ।।[17]

इस भयंकर जलप्रलय से बच जाने पर मनु ने पुनः सृष्टि की रचना की। इस कथा में जल से ही सम्पुष्ट मछली के द्वारा जल प्रलय में महात्माओं का रक्षण किया गया है। अगाध जल राशि से सृष्टि का विनाश भी सम्भव है यह भी इंगित किया गया है। जल से नदियाँ वेगवती होती हैं। नदियों के समीप ही ज्यादा जनसंख्या वास करती है तथा सभ्यताओं का निर्माण हुआ है। नदी के जल अन्न उत्पन्न करने में सक्षम होते हैं। अन्न से ही मनुष्य का भरण-पोषण होता है। वर्त्तमान समय में पनबिजली, सिंचाई आदि के लिए नदियों का समायोजन किया जा रहा है। पनबिजली से उत्पन्न विद्युत प्रकृति निर्भर होने से अत्यन्त लाभकारी स्रोत है। मनुष्य के जीवन में जल बहुत ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

इन सभी बातों से स्पष्ट होता है कि जलतत्त्व से ही पृथ्वी एवं सृष्टि का निर्माण हुआ एवं यह भिन्न प्रकार से पृथ्वी के ऊपर क्रिया कलापों को आधार देती है। यदि जल न हो तो जीवन की परिकल्पना नहीं की जा सकती है। जल ही जीवन है। एक वैज्ञानिक तथ्य है जिसकी बारम्बार चर्चा एवं समर्थन वेद भी करते हैं।

सन्दर्भग्रन्थः-

1. ईशादि नौ उपनिषद्, शांकरभाष्यार्थ- गीताप्रेस, गोरखपुर
2. ऋग्वेद-चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-2004
3. ऋग्वेद-चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-2004
4. अथर्ववेद-चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-2004
5. ऋग्वेद-चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-2004
6. अथर्ववेद-चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-2004
7. अथर्ववेद-चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-2004
8. अथर्व० चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-2004
9. अथर्व० चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-2004
10. अथर्ववेद-चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-2004
11. ऋग्वेद-चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-2004
12. वाल्मीकि रामायण-उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ 1998
13. वाल्मीकि रामायण-उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ 1998
14. महाभारत-गीताप्रेस, गोरखपुर
15. महाभारत- गीताप्रेस, गोरखपुर

16. महाभारत-गीताप्रेस, गोरखपुर
17. म.भा.- गीताप्रेस, गोरखपुर

---

1. (श्वेताश्वतरोपनिषद्- 4/4)
2. (ऋग्वेद- 2.12.3)
3. (ऋग्वेद- 5.83.4)
4. (अथर्ववेद- 12.1.53)
5. (ऋग्वेद- 1.3.12)
6. (अथर्ववेद- 12.1.52)
7. (अथर्ववेद- 12.1.12)
8. (अथर्व. 12.1.09)
9. (अथर्व. 12.1.23)
10. (अथर्ववेद- 12.1.46)
11. (ऋग्वेद- 10.129.3)
12. (वाल्मीकि रामायण- 4/28/2)
13. (वाल्मीकि रामायण- 4/28/7)
14. (महाभारत- 3/187/42 उत्तरार्ध)
15. (महाभारत- 3/187/45)
16. (महाभारत- 3/187/46)
17. (म.भा. 3/187/45-46

सहायक आचार्य, वेदविभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी।

झारखण्ड के अभिलेखों में प्रतिबिम्बित साहित्यिक सन्दर्भों का अवलोकन

– डॉ. देवेन्द्र नाथ ओझा

(भारतस्य ईशानदिशि स्थितस्य झारखण्डप्रदेशस्य भौगोलिकसांस्कृतिकदृष्ट्या स्वकीयम् अभिज्ञानम् अस्ति । ऋग्वेदकालात् आरभ्य अयं क्षेत्रः भिन्न-भिन्न-कालेषु भिन्न-भिन्न-नाम्ना लोकप्रियः अभवत् । वस्तुतः अभिलेखाः दृढं प्रमाणं प्रस्तुवन्ति यत् अयं क्षेत्रः प्रायः 5 शताब्द्याः 19 शताब्द्याः यावत् दीर्घकालं यावत् विविधघटनानां केन्द्रबिन्दुः अस्ति अस्मिन् प्रदेशे प्रमुखैः भारतीयैः प्रादेशिकवंशैः च शासनं कृतम्। अस्मिन् क्षेत्रे 5 शताब्द्याः 19 शताब्द्याः मध्ये प्रायः 60 शिलालेखाः प्राप्ताः सन्ति। एतेषां शिलालेखानाम् अध्ययनस्य फलस्वरूपम् अत्र शिलालेखेषु बहवः साहित्यसन्दर्भाः प्रतिबिम्बिताः सन्ति। शिलालेखानाम् अध्ययनेन साहित्यक्षेत्रे लेखकानां कविनां वा उल्लेखस्य, विविधाध्ययनविषयाणां, शिलालेखानां भाषायाः, प्राचीनभारतीयानां संख्याव्यञ्जनशैल्याः च सम्यक् ज्ञानं प्राप्यते। एवं प्रकारेण झारखण्डस्य अभिलेखेषु प्रतिबिम्बिताः साहित्यिकसन्दर्भाः अस्माकं तथ्यानां पुष्टिं कुर्वन्ति ।)

(भारत के उत्तर पूर्व में अवस्थित झारखण्ड क्षेत्र भौगोलिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अपनी अलग पहचान रखता है। ऋग्वैदिक काल से प्रारम्भ होकर विभिन्न कालों में यह क्षेत्र विभिन्न नामों से प्रचलित रहा। वस्तुतः अभिलेख इस बात का प्रबल प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि लगभग 5वीं शताब्दी से लेकर 19वीं शताब्दी तक के सुदीर्घ कालखण्ड में यह क्षेत्र विभिन्न घटनाओं का केंद्र बिंदु रहा है। यह क्षेत्र प्रमुख भारतीय तथा क्षेत्रीय राजवंश द्वारा शासित रहा। इस क्षेत्र में 5वीं से 19वीं शताब्दी के मध्य लगभग 60 अभिलेख प्राप्त हुए हैं। इन अभिलेखों के अध्ययन के फलस्वरुप यहाँ के अभिलेखों में अनेक साहित्यिक सन्दर्भ परिलक्षित होते हैं। अभिलेखों के अध्ययन से साहित्य के क्षेत्र में लेखक अथवा कवियों का उल्लेख, अध्ययन के विभिन्न विषय, अभिलेखों की भाषा तथा अंक व्यक्त करने की प्राचीन भारतीय शैली का सम्यक् रूप से ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार झारखण्ड के अभिलेखों में परिलक्षित साहित्यिक सन्दर्भ अपने तथ्यों की पुष्टि करते हैं।)

बीज शब्दः– झारखण्ड, अभिलेख, भाषा, साहित्य, अंक, कवि।

परिचयः– झारखण्ड क्षेत्र, भौगोलिक संरचना की दृष्टि से अपनी विशिष्ट पहचान रखता है। यह क्षेत्र मौर्य, गुप्त, पाल, नाग, सिंह तथा मुगल आदि अनेक शासकों द्वारा शासित रहा। ऋग्वैदिक काल से प्रारम्भ होकर विभिन्न कालों में यह क्षेत्र विभिन्न नामों से विख्यात रहा हैं। लगभग 5वीं शताब्दी से लेकर 19वीं शताब्दी

तक के सुदीर्घ कालखण्ड में प्राप्त अभिलेख इस बात का प्रबल प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि यह क्षेत्र विभिन्न घटनाओं का केन्द्र बिन्दु रहा है। यह क्षेत्र प्रमुख भारतीय तथा क्षेत्रीय राजवंशों द्वारा शासित रहा। एक ओर जहाँ इसने मौर्य, गुप्त, पाल, नाग, मान इत्यादि वंशों के शासनकाल में अपनी संस्कृति का अत्यधिक विकास किया, वहीं तुर्क, मुगल और अंग्रेजों के समय में यह क्षेत्र उनके आतंक एवं सांस्कृतिक ह्रास का शिकार भी बना। इस क्षेत्र में 5वीं से 19वीं शताब्दी तक लगभग 60 अभिलेख प्राप्त हुए हैं।

प्राचीन भारतीय साहित्य का मूल स्रोत अभिलेखों में निहित है। राजकीय प्रज्ञप्ति में राजा के समस्त प्रतिष्ठा कर्मों का उल्लेख रहता है। इस तरह के प्रतिष्ठा शासनों को 'पूर्व प्रशस्ति' भी कहा गया है। इसमें शासकों के पूर्व वंश में सुप्रतिष्ठित नरेश के कार्यों की सूचना भी प्राप्त होती है। कौटिल्य ने भी इस विषय पर प्रकाश डाला है। शासनों में राजा के नाम का उल्लेख आवश्यक है। वस्तुतः इस प्रकार की प्रशस्ति का भाव प्रशंसात्मक अभिलेख से है। झारखण्ड के गोविन्दपुर से प्राप्त कवि गंगाधर का शक् संवत् 1059 के अभिलेख[1] इसी श्रेणी में आते हैं। इसमें राज पण्डित शासक के पूर्वजों का कीर्तिगान करते हैं। इसके अतिरिक्त इन प्रशस्तियों के अध्ययन से काव्य का रसास्वादन होता है। अतः उन्हें काव्य कहना अत्युक्ति पूर्ण न होगा। इसमें ऐतिहासिक तथा अर्द्धऐतिहासिक काव्यों के गुण विद्यमान है। काव्यों में रस, छन्द, अलंकार यहाँ के अभिलेखों में भी प्राप्त होता है। दिग्विजय का अतिरंजित काल्पनिक वर्णन इन अभिलेखों की विशेषता है। अभिलेखों में मनोरंजन की चर्चा, विलास एवं विनोद का विवरण प्रायः उपलब्ध होता है। इन बातों को काव्यों में भी स्थान दिया गया है तथा ऐतिहासिक महाकाव्यों में भी उनका प्रभाव दिखाई पड़ता है। अतः यह कहना न्याय संगत होगा कि प्राचीन अभिलेख ही काव्यों के उद्गम स्थान रहे होंगे।

प्राचीन काल में अभिलेख उत्कीर्ण करवाने के विभिनन उद्देश्य तथा अवसर थे किन्तु अभिलेखों द्वारा किसी प्रकार की साहित्यिक चर्चा का ध्येय नहीं था। यहाँ अभिलेख संस्कृत आदि भाषाओं में उत्कीर्ण हुए हैं किन्तु उनका लेखक विद्वान पदाधिकारी ही होता था। उन अभिलेखों के अध्ययन द्वारा साहित्य के अंग पर गौड़ रूप से प्रकाश पड़ता है। संस्कृत साहित्य का प्रथम अंश होने तथा लेखों में संस्कृत के प्रयोग से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि साधारण जनता भी संस्कृत से परिचित थी। संस्कृत भाषा का प्रयोग भारत में तीसरी सदी से अभिलेखों में दृष्टिगोचर होता है। झारखण्ड प्रदेश भी इस प्रवृत्ति का अपवाद नहीं

था, यहाँ के अभिलेखों के अध्ययन से अनेक साहित्यिक पक्षों का ज्ञान प्राप्त होता है जिसका विवेचन निम्न शिर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है–

अभिलेखों में कवि एवं लेखकः–

झारखण्ड से प्राप्त अभिलेखों में लेखक अथवा कवियों का उल्लेख प्राप्त होता है। इन अभिलेखों में प्रशस्तिकार ने (लेखक) इतना अधिक समास आदि का प्रयोग किया है कि उसकी साहित्य शास्त्र की जानकारी स्पष्ट हो जाती है। इस क्षेत्र से प्राप्त कवि गंगाधर का शक संवत् 1059 का अभिलेख[2] प्रमुख उदाहरण है। जिसे शूलपाणि ने उत्कीर्ण किया था– **"शिलाशिल्पिवरः प्रशस्तिम् शूलपाणिः स्वयमुच्चरवान्।"** इस अभिलेख का आरम्भ शार्दूलविक्रीडित तथा स्रग्धरा जैसे लम्बे-लम्बे छन्दों से किया गया है। इसके अतिरिक्त वसन्ततिलका, मन्दाक्रान्ता, उपजाति, गीति, वंशस्थ, अनुष्टुप, शिखरिणी, आदि छन्दों से युक्त पद्य उल्लिखित हैं। इस क्षेत्र से प्राप्त पद्य शैली का यह अभिलेख सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। यहाँ बोड़ेया के वैष्णव मंदिर से प्राप्त विक्रम संवत् 1722-1739 के अभिलेख[3] में लक्ष्मीनारायण तिवारी का उल्लेख लेखक के रूप में दृष्टिगोचर होता है। यह अभिलेख गद्य शैली में उत्कीर्ण है। इसी प्रकार वैद्यनाथ धाम के अन्नपूर्णा मंदिर से प्राप्त शक् संवत् 1704 के अभिलेख[4] में रामदत्त को अच्छा लेखक कहा गया है। यह पद्य शैली में उत्कीर्ण है जो साहित्य के प्रारूप को दृष्टिगोचर करता है। यहाँ के अभिलेखों में अलंकारों का भी प्रयोग मिलता है। जिसमें श्लेष की बहुलता है। इस प्रकार अभिलेखों से हमें साहित्य के रूप में कवियों का उल्लेख एवं उनमें प्रयुक्त विभिन्न छन्दों, अलंकारों तथा उनकी शैली साहित्यिक दृष्टिकोण को प्रमाणित करती है।

अध्ययन के विभिन्न विषयः–

प्राचीन अभिलेखों में अध्ययन तथा अध्यापन का सीधा वर्णन उपलब्ध नहीं होता। केवल प्रसंग वश साहित्य का उल्लेख दृष्टिगोचर हो जाता है अथवा दान के पात्र सम्बन्धी वर्णन, दानग्राही की विद्वता तथा उसकी शाखा का वर्णन का अभिलेखों में उल्लेख मिलता है जिससे हम साहित्य सम्बन्धी विषयों का परिज्ञान कर सकते हैं।

झारखण्ड के अभिलेखों का विवेचन यह बतलाता है कि वेद, वेदांग के अतिरिक्त, दर्शन, तथा इतिहास का भी पठन-पाठन होता रहा। दानग्राही के गुणों का वर्णन करते समय कई विषयों के नाम आते हैं। ज्योतिष तथा धर्मशास्त्रों का भी उल्लेख मिलता है, जिसके अनुसार यहाँ विभिन्न कार्यों के क्रियान्वयन का प्रमाण प्राप्त हो जाता है। वैद्यनाथ धाम के अन्नपूर्णा देवी मंदिर से प्राप्त शक् संवत् 1704

के अभिलेख[5] में रामदत्त द्वारा वेदों के अनुसार यज्ञ कराने का उल्लेख प्राप्त होता है– **"जातवेदोहृतं हव्यं यज्ञं वेदविधनतः"**। इसी प्रकार पं० सिंहभूम जिले के बेनीसागर से प्राप्त मुहर अभिलेख[6] में चार वेदों का जानकार अथवा वेदों के अध्ययन-अध्यापन से सम्बन्ध किसी विद्यालय का संकेत प्राप्त होता है जिससे हम उस प्रदेश में वैदिक यज्ञ तथा वेदों का अध्ययन होने की बात कह सकते हैं। यहाँ गोविन्दपुर से प्राप्त शक संवत् 1059 के अभिलेख[7] में वेदांग के छः विषयों के अध्ययन की चर्चा की गई है।

'सत्कल्प्रवणाः श्रुति प्रणयि (नः) शिक्षाभिरूद्भासिताः
सज्जयोतिषर्गतियो निरूक्तविशदाश्छन्दोविधौ साध्वः ।
(ख्या) ता व्याकरणक्रमेण विदुषाम् (त्युच्च्रधीशील; ना) ।
द्वेदाधैँ प्रतिभाः षडेव भुवने ते वि (बि) भ्रति भ्रातरः ।।

अर्थात् वेद में रूचि वाले मीमांसा के प्रति समर्पित, शिक्षा के अध्येता, ज्योतिष से सुपरिचित, निरूक्त को उतम रीति से जानने वाला, छन्द में दक्ष, व्याकरण में अपनी प्रगति के कारण प्रसिद्ध थे। इन छः भ्राताओं ने अध्ययन मार्ग में गहनता से प्रविष्ट हो, संसार में वेदांग का प्रतिनिधित्व किया। इस प्रकार अभिलेखों से इस बात का पता चलता है कि वेदांगों का अध्ययन समाज में व्यक्ति के द्वारा किया जाता था तथा यह लोकप्रिय था।

झारखण्ड से प्राप्त कुछ अभिलेखों में पुराणों के अध्ययन अध्यापन एवं धर्मशास्त्रों की भी चर्चा की गई है। जिसमें हमें पुराण एवं धर्मशास्त्रों से सम्बन्धित ज्ञान प्राप्त होता है। वैद्यनाथ मन्दिर से प्राप्त एक अभिलेख[8] में शिव पुराण की कथा का उल्लेख है, जिसमें रावण द्वारा शिव को कैलास के शिखर से अपनी स्वर्ण नगरी लंका ले जाने के क्रम में हुई विभिन्न घटनाओं का उल्लेख है। इसमें उस लिंग के ऐतिहासिक घटना की भी जानकारी प्राप्त होती है। उसी प्रकार पश्चिम सिंहभूम जिले के बामन घाटी से प्राप्त श्रीरणभोजदेव तथा श्रीराजभोजदेव के ताम्रपत्र अभिलेख[9] में धर्मशास्त्रों में कही गई बातों का उल्लेख किया गया है जिससे हमें वहाँ के सामाजिक जीवन में अध्ययन के निमित्त पुराण तथा धर्मशास्त्रों के प्रचलन होने की भी पुष्टि होती है। इस प्रकार अभिलेखों का अध्ययन वहाँ साहित्य के विषय के रूप में वेद, वेदांग, षड्दर्शन, पुराण इतिहास एवं धर्मशास्त्रों के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

अभिलेखों की भाषाएः–

प्राचीन अभिलेखों के अध्ययन के निमित्त भाषा का महत्वपूर्ण स्थान है। भाषा वह है, जो हम बोलते हैं। प्राचीन काल में प्रचलित भाषा को ही अभिलेखों

में स्थान दिया गया होगा परन्तु साहित्य का सहारा न लेकर अभिलेखों की भाषा विचारणीय प्रश्न है। साधारणतया लोगों को प्रशस्तियों की भाषा सम्बन्धी ज्ञान अपूर्ण सा है। झारखण्ड में प्राप्त विभिन्न कालों के अभिलेखों में हमें भाषा का जो परिज्ञान होता है। उसे हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं–

संस्कृत भाषाः–

भारतीय अभिलेखों में संस्कृत भाषा का प्रयोग प्रथम सदी से ही शुरू हो गया था। तीसरी से बारहवीं सदी तक भारतवर्ष में विभिन्न अभिलेखों एवं प्रशस्तियों में इसी भाषा का प्रयोग अधिकांशतः दृष्टिगोचर होता है। झारखण्ड प्रदेश से प्राप्त अभिलेखों की भाषा भी इस प्रवृति का अपवाद नहीं था। भाषा की दृष्टि से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि यहाँ से प्राप्त अधिकांश अभिलेखों में संस्कृत भाषा का ही प्रयोग हुआ है। संस्कृत भाषा के इन अभिलेखों में विभिन्न छन्दों, अलंकारों आदि का प्रयोग हुआ है। साथ ही कुछ अभिलेख व्याकरण की दृष्टि से सही प्रतीत होते हैं। इस प्रकार के प्रमुख अभिलेखों में गोविन्दपुर से प्राप्त कवि गंगाधर का शक सम्वत् 1059 का अभिलेख[10], वैद्यनाथ धाम से प्राप्त बारह अभिलेख[11], वामनघाटी से प्राप्त श्रीरणभोजदेव तथा श्रीराजभोजदेव का अभिलेख[12], तथा उदयमान के दुधपानी शिलालेख[13], की गणना की जा सकती है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सर्वसाधारण जनता संस्कृत से विज्ञ थी जो कालान्तर में साधारण साहित्य में प्रयुक्त हुई। भारतीय संस्कृति का रक्षण इस भाषा के द्वारा हुआ है। संस्कृत के प्रभाव से मुगल सुल्तान भी वंचित न रह सके। पलामू के नये किले से विक्रम संवत् 1619 के उत्कीर्ण अभिलेख[14] संस्कृत तथा फारसी दोनों ही भाषा में प्राप्त हुए है।

संस्कृत मिश्रित भाषाः–

प्रायः बारहवीं सदी तक संस्कृत का प्रयोग सार्वजनिक अभिलेखों में भारतीय नरेश करते रहे हैं किन्तु उसके बाद स्थान-स्थान पर संस्कृत मिश्रित स्थानीय या प्रान्तीय भाषा लेखों में प्रयुक्त होने लगी। यहाँ से प्राप्त कुछ अभिलेखों में हमें इस प्रवृति के दर्शन होते हैं, जिसकी भाषा पर उस क्षेत्र विशेष की भाषा का स्पष्टतः प्रमाण दृष्टिगोचर होता है। इस क्षेत्र में स्थानीय भाषा के रूप में संस्कृत के साथ-साथ नागपुरी या छोटानागपुरी, हिन्दी, बांग्ला, मैथिली, आदि भाषाओं का भी प्रयोग मिलता है। यहाँ से प्राप्त इस प्रकार के प्रमुख अभिलेखों में हापामुनी के महामाया मन्दिर से प्राप्त विक्रम संवत् 1458 का अभिलेख[15], बोड़ेया से प्राप्त विक्रम संवत् 1733 का ताम्र-पत्र अभिलेख[16], बोड़ेया से प्राप्त विक्रम संवत् 1722-1739 का अभिलेख[17], डोइसागढ़ के कपिलानाथ महादेव मंदिर से प्राप्त

विक्रम संवत् 1767 का शिलालेख[18], डोइसागढ़ के जगन्नाथ मंदिर से प्राप्त विक्रम संवत् 1739 का अभिलेख[19] तथा हरलाझुरी से प्राप्त अभिलेख[20] की गणना की जा सकती है।

इस प्रकार अभिलेखों में भाषाओं के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस क्षेत्र के अधिकांशतः अभिलेखों में संस्कृत भाषा का ही प्रयोग हुआ है। यद्यपि संस्कृत के साथ-साथ उस समय की स्थानीय भाषा का भी प्रभाव इन अभिलेखों में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है तथापि संस्कृत भाषा का महत्व अधिक था। मुख्य भाषा के रूप में संस्कृत ने ही उस क्षेत्र में अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। यहाँ के इन अभिलेखों में प्रयुक्त भाषा पूर्णतः व्यकारण सम्मत भी नहीं कही जा सकती किन्तु इसका कारण सम्भवतः उत्कीर्ण करने वाले का सीमित ज्ञान था।

अंक व्यक्त करने की प्राचीन भारतीय शैलीः–

झारखण्ड से प्राप्त अभिलेखों का अनुशीलन करने पर प्राचीन काल में अंक व्यक्त करने की प्राचीन भारतीय शैली का परिज्ञान होता है। इस शैली में शब्द तथा अक्षर के आधार पर अंक व्यक्त करने की पद्धति थी। यह शैली हिन्दुओं की पूर्ण वैज्ञानिक व्यवस्था थी। इस प्रदेश से प्राप्त अधिकांशतः अभिलेखों में इसी शैली में अंक व्यक्त करने की पद्धति का परिज्ञान होता है। इस शैली में शब्दों द्वारा उस संख्या को व्यक्त किया जाता था। पुनः शब्दों को दाहिने से बाएँ पढ़ा जाता था। उस समय में शब्द द्वारा पूर्णरीति से अंक लिखने की परिपाटी काम कर रही थी। सर्वप्रथम कात्यायन श्रौतसूत्र में इसका प्रयोग हुआ परन्तु इस परिपाटी का जन्मदाता अज्ञात है। वराहमिहिर ने भी वृहत्संहिता के आठवें अध्याय में शब्दों द्वारा अंक व्यक्त किया है।

झारखण्ड से प्राप्त अभिलेखों में इस पद्धति के दर्शन हापामुनी के महामाया मंदिर से प्राप्त अभिलेख[21] में विक्रम संवत् 965 को वाण 5, रस 6 तथा अंक 9 के रूप में व्यक्त किया गया है। गोविन्दपुर से प्राप्त कवि गंगाधर के अभिलेख[22] में शक् संवत् 1059 के लिए निम्नलिखित पद प्रयुक्त हुआ है– **"नन्देन्द्रियामेन्दुसमे शकाब्दे (ब्दे)"** अर्थात् नन्द 9, इन्द्रिय 5, आकाश 0 चन्द्र 1 को दाहिने से बाएँ पढ़ने पर 1059 हो जाता है। पूरणमल्ल का वैद्यनाथ मंदिर से प्राप्त अभिलेख[23] में शक् संवत् 1518 के लिए निम्नलिखित पद प्रयुक्त हुआ है– **"अचलशशिशायकोल्लसितभूमिशाकाब्दे।"** अर्थात् पर्वत 8, चन्द्रमा 1, वाण 5, और पृथ्वी 1, को 1518 पढ़ा जाता है। इसी प्रकार वैद्यनाथ मंदिर स्थित जयनारायण के काली मंदिर से प्राप्त अभिलेख[24] में विक्रम संवत् 1700 के लिए निम्नलिखित पद प्रयुक्त हुए हैं– **"विन्दूकाशर्षिचन्द्राब्दे"** अर्थात बिन्दु 0 आकाश 0

ऋषि 7, चन्द्रमा 1 को पढ़ने पर 1700 होता है। जयनारायण के ही एक अन्य अभिलेख[25] में शक् संवत् 1634 के लिए **"श्रुतिशिखिरसविधुगणिते शक"** का उल्लेख किया गया है। अर्थात् श्रुति 4, अग्नि शिखि 3 रस 6, तथा चन्द्रमा 1, को 1634 पढ़ा जाता है। वैद्यनाथ धाम स्थित रामदत्त के अन्नपूर्णा देवी मंदिर से प्राप्त अभिलेख[26] में शक् संवत् 1704 के लिए निम्न पद प्रयुक्त हुआ है– **"वेदाभ्रसागरयुते चन्द्रे शाके वरे शुभे"** अर्थात् वेद 4, आकाश 0, समुद्र 7, चन्द्रमा 1, को 1704 पढ़ा जाता है। वैद्यनाथ धाम स्थित क्षेमकर्ण के सावित्रि देवी मंदिर से प्राप्त अभिलेख[27] में शक् संवत् 1614 के लिए निम्नलिखित पद प्रयुक्त हुआ है– **"शके वेदहिमांशुषड्विधुमिते"** अर्थात् वेद 4, चन्द्रमा 1, षड् 6, चन्द्रमा 1, को पढ़ने पर 1614 होता है। यहीं से प्राप्त टीकाराम का गणेश मंदिर अभिलेख[28] में शक् 1684 के लिए **'वेदवसुरसेन्दुभिश्शाके'** पद का प्रयोग हुआ है। अर्थात् वेद 4, वसु 8, रस 6, तथा चन्द्रमा 1, को पढ़ने पर 1684 होता है। तिलमी से प्राप्त अभिलेख[29] में विक्रम संवत् 1794 के लिए **'अब्धिधर्म्मजयाचन्द्रसम्बत्सर'** पद का प्रयोग किया गया है अर्थात् महासागर 4, गुण 9, जया 7, तथा चन्द्रमा 1, को पढ़ने पर 1794 कहा जाता है। राँची से 60 किलोमीटर दूर डोइसागढ़ के जगन्नाथ मंदिर से प्राप्त अभिलेख[30] में विक्रम संवत् 1739 के लिए निम्नलिखित पद प्रयुक्त हुआ है– **"सम्वत् ग्रह गुण सिन्धु शशी"** अर्थात ग्रह 9, गुण 3, सिन्धु 7, तथा शशी 1, को पढ़ने पर 1739 कहा जाता है। चुटिया (राँची) के राम मन्दिर; राधवल्लभ मंदिर से प्राप्त अभिलेख[31] में संवत् 1742 के लिए निम्न पद प्रयुक्त मिलता है– **"संवत कर युग सिंधु शशि।"** अर्थात् कर 2, युग 4, सिंधु 7 तथा शशि 1, को 1742 पढ़ा जाता है।

निष्कर्षः–

इस प्रकार झारखण्ड के अभिलेखों के अध्ययन से यह परिलक्षित होता है कि वहाँ के अभिलेखों में साहित्य के अनेक तथ्य भरे हुए हैं। इन अभिलेखों के अध्ययन से साहित्य के क्षेत्र में लेखक अथवा कवियों का उल्लेख, अध्ययन के विभिन्न विषय, अभिलेखों की भाषा तथा प्राचीन अंक व्यक्त करने की भारतीय शैली का भी सम्यक् रूप में ज्ञान प्राप्त हुआ। अंततः कहा जा सकता है कि झारखण्ड के अभिलेखों में प्रतिबिम्बित साहित्य अपने तथ्य की पुष्टि करते हैं।

सन्दर्भग्रन्थः-

1. आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया, एनुअल रिपोर्ट ऑन इंडियन एपिग्राफी, नई दिल्ली, 1953-54; 1958; 1961-62; 1964-65; 1975-76
2. अनुज डॉ. भुवनेश्वर, छोटानागपुर के प्राचीन स्मारक, भुवन प्रकाशन, राँची, 2000
3. कनिंघम ए., भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, रिपोर्ट, खंड-III, नई दिल्ली, 1872-73

4. कैलहॉर्न, एफ, एपिग्राफिया इंडिका, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, खंड-III, नई दिल्ली, 1894
5. घोष, पी.सी, नोट्स ऑन, एंड ट्रान्सलेशन्स ऑफ़, टू कॉपर-प्लेट इंस्क्रिप्शन्स फ्रॉम बामनघाटी, जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, खंड-I, संख्या-III, कोलकता, 1871
6. मिराशी, वी.वी. जर्नल ऑफ बिहार रिसर्च सोसाइटी, पटना, 1965
7. मित्र, राजेन्द्र लाल, ऑन द टेम्पल ऑफ देवघर, जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, खंड-I, संख्या-III, कोलकता, 1883
8. पाटिल, डी.र, द एंटीक्विटिस रिमेंस इन बिहार, काशी प्रसाद जायसवाल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पटना, 1963
9. सरकार, डी.सी. एपिग्राफिया इंडिका, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, खंड-XXXIII, नई दिल्ली, 1959-60
10. वीरोतम, डॉ. बी., झारखण्ड इतिहास एवं संस्कृति, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 2001

---

1. एपिग्राफिया इंडिका, खंड-II, पृष्ठ, 330-342
2. वही.
3. जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, खंड-I, संख्या-II, 1871, पृष्ठ, 109-110
4. जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, खंड-I, संख्या-II, 1883, मित्र, राजेन्द्र लाल, ऑन द टेम्पल ऑफ देवघर, पृष्ठ, 193
5. वही.
6. डीएच न्यूज सर्विस, रांची, 20 अक्टूबर, 2004
7. एपिग्राफिया इंडिका, खंड-II, पृष्ठ, 336
8. जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, खंड-I, संख्या-II, 1883, मित्र, राजेन्द्र लाल, ऑन द टेम्पल ऑफ देवघर, पृष्ठ, 187-189
9. जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, खंड-I, संख्या-III, 1871, पृष्ठ, 161-169
10. एपिग्राफिया इंडिका, खंड-II, पृष्ठ, 300-342
11. जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, खंड-I, संख्या-II, 1883, मित्र, राजेन्द्र लाल, ऑन द टेम्पल ऑफ देवघर, पृष्ठ, 164-204
12. जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, खंड-I, संख्या-III, 1871, पृष्ठ, 161-169
13. एपिग्राफिया इंडिका, खंड-II, पृष्ठ, 343-346
14. अनुज डॉ. भुवनेश्वर, छोटानागपुर के प्राचीन स्मारक, भुवन प्रकाशन, राँची 2000, पृष्ठ, 42-43
15. वही.

16. वही. पृष्ठ, 102
17. जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, खंड-I, संख्या-II, 1871, पृष्ठ, 109-110
18. अनुज डॉ. भुवनेश्वर, छोटानागपुर के प्राचीन स्मारक, भुवन प्रकाशन, राँची 2000, पृष्ठ, 133-134
19. वही. पृष्ठ,117
20. कनिंघम ए.,भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, रिपोर्ट, खंड-III, 1872-73, पृष्ठ, 145
21. वीरोतम,डॉ. बी., झारखण्ड इतिहास एवं संस्कृति, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 2001, पृष्ठ, 582.
22. एपिग्राफिया इंडिका, खंड-II, पृष्ठ, 338
23. जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, खंड-I, संख्या-II, 1883, मित्र, राजेन्द्र लाल, ऑन द टेम्पल ऑफ देवघर, पृष्ठ, 186
24. वही. पृष्ठ, 192
25. वही.
26. वही. पृष्ठ, 193
27. वही. पृष्ठ, 196
28. वही.
29. जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, खंड-I, संख्या-II, 1871, पृष्ठ, 108
30. वीरोतम - डॉ. बी., झारखण्ड इतिहास एवं संस्कृति, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 2001, पृष्ठ, 591.
31. वही, पृष्ठ, 584.

सहायक प्रोफेसर
एमिटी इंस्टिट्यूट फॉर संस्कृत स्टडीज एण्ड रिसर्च,
एमिटी विश्वविद्यालय उत्तर प्रदेश, नोएडा
*दूरवाणी संख्या - **9968225891,***
*ईमेल - **dnojha12@gmail.com***

उपनिषदों में तात्त्विक ज्ञान

– डॉ. दिनेश शर्मा भारद्वाज

(साररूपेण इदम् वक्तुं शक्यते यदस्मिन् भौतिकवादयुगे सामान्यतया जनाः भोगार्थमेव प्रवृत्ताः भवन्ति। विरला ज्ञानमार्गपथिका एव आत्मतत्त्वोत्सुका: भवन्ति। बहवः जनाः केवलं आत्मज्ञानविषयकोपदेशस्य श्रवणमात्रम् कुर्वन्ति, जीवने तस्य अनुसरणम् न कुर्वन्ति फलतः वास्तविकज्ञानप्राप्त्यर्थं ते असमर्थाः भवन्ति। कल्याणमार्गे प्रवृत्तस्य पथिकस्य उद्देश्यं श्रेयः भवेत्, प्रेय: तथा प्रयोक्तव्यः येन स श्रेयस्य साधनं भवेत्। उपनिषत्सु नचिकेता-ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी-नारदेत्यादीनाम् अनेकेषाम् श्रेयपथिकानाम् उदाहरणानि सन्ति यैः स्वजीवनं धन्यम् कृतमेव, इदानीमपि अस्माकं कृते आदर्शभूतास्सन्ति। कल्याणकामीजनः नचिकेता इव क्षणिकभोगान् त्यक्त्वा आत्मदर्शनार्थं प्रयत्नम् कुर्यादिति। ये जनाः विषयभोगदृष्टया केवलं प्रेयं अर्थात् लोकोन्नतिम् स्वलक्ष्यं विधाय श्रेयमार्गस्य उपेक्षाम् कुर्वन्ति ते दुःखानाम् अत्यन्तं निवृत्तिरूपमानवजीवनस्य यथार्थध्येयेन च्युताः भवन्ति। अस्माभिः ध्येयमार्गानुसरणे धनसंग्रहेत्यादिलोकोन्नते: प्रेयमार्गम् केवलं साधनमात्रमेव मन्तव्यम्। प्रेयवस्तुनि यत्र साध्यरूपाणि भवन्ति तदैव मनुष्य: स्वमार्गेण च्युतो भवति। **'क्रियासिद्धिः सत्वे भवति महतां नोपकरणे'** अस्य आदर्शवाक्यस्य अनुसरणम् कृत्वा श्रेयमार्गस्य पथिक: साधनापेक्षया सत्वभावेन क्रियासिद्धिमेव महत्वं दद्यात्, तदैव जीवनस्य वास्तविकं उद्देश्यं सिद्धम् भविष्यति।)

वेद अनन्त ज्ञान के भण्डार हैं, वेदों का शीर्षस्थानीय ज्ञानकाण्ड ही **उपनिषद्** या **वेदान्त** के नाम से विख्यात है। उपनिषद् संस्कृति और सभ्यता के प्रधान गौरव हैं इनका प्रधान उद्देश्य '**तात्त्विक ज्ञान**' का निरुपण करना है। सहस्रों वर्षों से लगातार यह औपनिषद ज्ञान जीवमात्र को अल्पज्ञान से अनन्त ज्ञान की ओर, सीमित सामर्थ्य से अनन्त शक्ति की ओर, जगद्‌दुःखों से निवृत्त कर शाश्वती शान्ति की ओर ले जाने का पथ प्रशस्त करता आया है। उपनिषदों में अमरत्व ही प्रधान लक्ष्य माना गया है। मनुष्य-शरीर अन्यान्य योनियों की भाँति केवल कर्मों का फल भोगने के लिये ही नहीं मिला है, इसमें मनुष्य भविष्य में सुख देने वाले साधन का अनुष्ठान भी कर सकता है। उपनिषदों में '**तात्त्विक ज्ञान**' निरुपणप्रसंग में सुखप्राप्ति के दो साधन बताये गये हैं– श्रेय और प्रेय। **श्रेय** अर्थात् कल्याण करने वाला मार्ग। श्रेय परलोकोन्नति का मार्ग है। सदा के लिये सब प्रकार के दुःखों से सर्वथा छूटकर नित्य आनन्दस्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तम को प्राप्त करने का उपाय। श्रेयमार्ग आत्मिक शान्ति और मोक्ष का साधन है। **प्रेय** अर्थात् प्रिय लगने वाला मार्ग। प्रेय लोकोन्नति का मार्ग है स्त्री, पुत्र, धन, मकान, सम्मान, यश आदि इहलोक की और स्वर्गलोक की जितनी भी प्राकृत सुखभोग की सामग्रियाँ हैं, उनकी प्राप्ति का उपाय। प्रेय लोकोन्नति का साधन है। उपनिषदों में श्रेय मार्ग को **विद्या** और प्रेय-मार्ग को **अविद्या** के नाम से अभिहित किया गया है। श्रेय और प्रेय दोनों

पृथक् पृथक् मार्ग हैं, एक-दूसरे से विपरीत, विरुद्धार्थसूचक और दूर हैं। कठोपनिषद् कहता है– **दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।**[1] इनमें से श्रेय को ग्रहण करने वाले का कल्याण होता है; प्रेय को ग्रहण करने वाला पतित हो जाता है। मनुष्य के समक्ष विद्या और अविद्या दोनों प्रकार की रमणियाँ उपस्थित होती हैं। अविद्या अनेक प्रकार के मनमोहक आभूषणों से लदी हुई अठखेलियाँ करती हुई मनुष्य के समक्ष उपस्थित होती हैं। इसके चारों ओर दिव्यसेविकाएँ, रथ, महल और सांसारिक भोग क्रीड़ा करते रहते हैं। इसके एक हाथ में दुर्लभ लौकिक भोगों से भरी हुई थाली रहती है तथा दूसरे हाथ में स्वर्ग के सुखों का अक्षय पात्र सुशोभित रहता है। विद्यारूपी रमणी तपस्विनी भेष में उपस्थित होती है। उसका शरीर मृगचर्म से आच्छादित रहता है। उसके केशपाश में पक्षियों के घोसलें दिखायी पड़ते हैं। उसके हाथ में कपाल और वैराग्य के ग्रन्थ सुशोभित होते रहते हैं। अविवेकी व्यक्ति अविद्यारूपी रमणी का सेवक बनकर अक्षय सुख की कामना करता है किन्तु इसका परिणाम भयावह होता है। भोगों की प्रियता आरम्भ में सुख प्रतीत होती है किन्तु इसका परिणाम भयावह है। श्रीमद्भगवदगीता भी कहती है कि आरम्भ भौतिक वस्तुओं में सुख का अनुभव होता है किन्तु वह सुख विषमय ही होता है–

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।।[2]

विषयों और इन्द्रियों के संयोग से जो सुख उत्पन्न होता है, वह आरम्भ में (भोगकाल में) तो अमृत-जैसा लगता है किंतु परिणाम की दृष्टि से तो वह विष-समान ही है। इस प्रकार स्वर्णाभूषणादि से लदी हुई अविद्यारूपी रमणी मनुष्य को नरक के गर्त में झोंक देती है। प्रेय-मार्ग का पथिक के निरन्तर भोगों तथा ऐश्वर्यों के उपभोगरत होने से उसे कभी भी शान्ति की प्राप्ति नहीं होती है। इसके विपरीत **श्रेयमार्ग** के पथिक का मार्ग अत्यन्त कंटकाकीर्ण है। इस पथ पर चलना छूरे की धार पर चलने के समान बताया गया है– **"क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति"।**[3] इस मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति अपने इन्द्रियों को वश में रखता है। मन की चञ्चलता को एकाग्रता में परिणत कर देता है और सर्वदा पवित्र आचरण करता है। उपनिषदों में ऐसे पथिक को धीर पुरुष की संज्ञा दी गई है। यद्यपि **धीर** शब्द का सामान्य अर्थ धैर्यवान् है किन्तु उपनिषदों में धीर का तात्पर्य **स्थितप्रज्ञ** विवेकी एवं ज्ञानवान व्यक्ति से है। किसी भी स्थिति में शोक न करना धीर पुरुष का सर्व सामान्य लक्षण बताया गया है– **"धीरो न शोचति"।**[4] धीरपुरुष नीर-क्षीर की भाँति मिले हुए श्रेय और प्रेय को अलग करने में समर्थ होता है। श्रेयोपासक सांसारिक विषय-वासनाओं की तिलाञ्जलि दे देता है। उसकी दृष्टि में सांसारिक भोग क्षणभङ्गुर हैं और इन्द्रियों की शक्ति को नाश करने वाले हैं। वैराग्यमय रास्ते पर चलकर परमात्मा पद को प्राप्त कर पुनः संसार के ज्वालामुखी

में नहीं जलता है। **श्रेयमार्ग** के वरण से वह परम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करता है। यमराज ने एकमात्र तत्त्वज्ञान की इच्छा रखने वाले स्वर्ग-प्राप्ति के वरदान को ठुकरा देने वाले नचिकेता को **धीर** की संज्ञा प्रदान की थी।

[उपनिषदों में श्रेय और प्रेय]

उपनिषदों के अनेक आख्यानों एवं प्रसंगों में श्रेय और प्रेय का विविध रूपों में वर्णन आया है, **कठोपनिषद्** की द्वितीय वल्ली के प्रथम एवं द्वितीय अध्याय में (यम-नचिकेतासंवाद) में श्रेय-प्रेयविद्या **छान्दोग्योपनिषद्** के सप्तमाध्याय में (नारद-सनत्कुमारसंवाद) भूमाविद्या तथा **ईशावास्योपनिषद्** में विद्या-अविद्या, सम्भूति-असम्भूति इत्यादि के रूप में तथा **बृहदारण्यकोपनिषद्** के द्वितीय अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में (याज्ञवल्क्य-मैत्रेयीसंवाद) में श्रेय और प्रेय का वर्णन है। इस प्रकार ईशादि प्रमुख उपनिषदों के विविध स्थलों एवं प्रकरणों में श्रेय और प्रेय का विवेचन बहुत्र प्रतिपादित है जिसका विस्तृत विवेचन इस प्रकार से है–

[कठोपनिषद्]

कठोपनिषद् में श्रेयस् और प्रेयस् दो मार्गों की चर्चा है। यमराज, नचिकेता को ब्रह्मविद्या से अवगत करवाने के लिए 'श्रेय' और 'प्रेय' मार्ग के विषय में बतलाते हैं कि 'यथा नाम तथा गुण' को चरितार्थ करने वाले इस संसार में श्रेय और प्रेय दो मार्ग हैं। श्रेय का अर्थ है अत्यन्त श्रेष्ठ अर्थात् कल्याण करने वाला और प्रेय का अर्थ है 'अत्यन्त प्रिय लगने वाला' अर्थात् इहलौकिक और पारलौकिक सुख देने वाला। **प्रेयमार्ग** भौतिक उन्नति का मार्ग हैं **श्रेयमार्ग** अध्यात्म का मार्ग हैं। इन्हें 'विद्या' और 'अविद्या' के नाम से भी जाना जाता है। श्रेयमार्ग मोक्ष प्रदान करता है बुद्धिमान् सोच विचारकर उसका ही वरण करते हैं जबकि मन्दबुद्धि योग क्षेम के निमित्त प्रेय मार्ग को चुनते हैं। सामान्य व्यक्ति प्रेयमार्ग को अपनाते हैं, परन्तु ज्ञानी व्यक्ति श्रेय मार्ग को अपनाकर आत्मिक आनन्द पाते हैं– **"तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद् य उ प्रेयो वृणीते"**।[5] इस प्रकार श्रेय मोक्ष प्रदान करने वाला है तो प्रेय अभ्युदय। दोनों मनुष्य को अपनी-अपनी ओर आकर्षित करते हैं। नीरक्षीरविवेकी की भाँति जो श्रेय का वरण करता है उसका तो कल्याण होता है क्योंकि वह सदा-सदा के लिए जन्म और मृत्यु के चक्कर से मुक्त हो जाता है परन्तु जो प्रेय का वरण करता है वह भोगविलासों में ही आसक्त रहता है और परम पुरुषार्थ मोक्ष से भ्रष्ट होकर जन्म मृत्यु के चक्कर में जन्म जन्मान्तर तक पड़ा रहता है। कठोपनिषद् में कहा है– **"श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते, प्रेयो मन्दो योगक्षेमौ वृणीते"**।[6] विडम्बना यह है कि प्रिय लगने के कारण अधिकांश मनुष्य प्रेय का ही वरण करते हैं, कुछ विरले ही श्रेय की तरफ प्रवृत्त होते हैं। यमराज ने नचिकेता के समक्ष भोगमय प्रेयमार्ग को प्रस्तुत किया, सुर-दुर्लभ सुन्दरियाँ और प्रचुर भोग-सामग्रियों का प्रलोभन दिया, पर नचिकेता को उसके तत्त्वज्ञान सम्बन्धी दृढ़ संकल्प से विचलित नहीं कर सके; किन्तु नचिकेता ने श्रेयमार्ग का ही वरण किया। नचिकेता की

जिज्ञासा देखकर यम अत्यन्त प्रसन्न हो कहते है कि नचिकेता को मैं विद्या का चाहनेवाला मानता हूँ। तुमको बहुत-सी कामनाएँ प्रलोभित नहीं करती हैं। यम बतलाते हैं कि श्रेय अथवा प्रेय किसी भी मार्ग को चुनना मनुष्य के अपने हाथ में होने पर भी, अधिकांश प्रेय मार्ग को ही क्यों चुनते हैं। अविद्या में पड़े हुए अपने को धीर और विद्वान् मानने वाले लोग उल्टे रास्तों पर चलते हैं और वे मूढ़ अन्धे के द्वारा ले जाये जानेवाले अन्धे की भाँति भटकते रहते हैं–

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।।[7]

धन के मोह से मूढ़, प्रमादपूर्ण, विवेकरहित पुरुष को परलोक की बात पसन्द नहीं आती। यही लोक है, परलोक कुछ नहीं। ऐसा मानने वाला बार-बार मृत्यु के वश में आता है–

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ।।[8]

इस प्रकार के विचार हमें चार्वाक मतावलंबियों के प्राप्त होते हैं, जिनके अनुसार हम जब तक जीवित है हमे सुखपूर्वक जीना चाहिए– **"यावज्जीवेत्, सुखं जीवेत, ऋणं कृत्वां घृतं पिबेत्"।** कठोपनिषद् में श्रेय और प्रेय के मार्ग को एक रथ-रूपक के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। रथरूपक की यह कल्पना अत्यन्त महत्व की है, जिससे अत्यन्त गम्भीर यह विषय **हस्तामलक** की भाँति सरल बन गया है। यह शरीर ही रथ है जिसमें जिसमें अनेक प्रकार के अरों का समावेश है। बिना रथी के रथ का कोई महत्व नहीं है। आत्मा ही शरीर रूपी रथ का स्वामी है और इस रथी का परम लक्ष्य परमात्मा को प्राप्त करना है। इस रथ का सारथी (संचालक) बुद्धि है, इन्द्रियाँ अश्व हैं, इन्द्रियरूपी अश्वों को वश में करने के लिए मन ही लगाम है। घोड़े मार्ग पर चलना नहीं चाहते क्योंकि उन्हें मार्ग से च्युत करने के लिए विषयभोग की हरी-हरी घास अपनी ओर आकृष्ट करते रहते हैं। इस रथ का प्रमुख तत्त्व बुद्धि है क्योंकि वही संचालक है। यदि बुद्धि रूपी सारथी सांसारिक विषय-भोग की मदिरा में डूब कर रथ का सञ्चालन करे तो मन रूपी लगाम उसके अधिकार में नहीं रहेगा। इसका परिणाम यह होगा कि इन्द्रियरूपी अश्व, विषय-भोग के आकर्षण में मार्ग-विमुख होकर पतन के गर्त की ओर रथ और रथी दोनों को ले जायेंगे। जिस रथ का सारथी विवेकी होता है वह मोह-निशा से जगकर विषय-भोग से दूर रहता है वह, रथ और रथी को परम गन्तव्य स्थान तक पहुँचा देता है। इस प्रकार रथ रूपक की कल्पना का यह रहस्य **श्रेय** और **प्रेय**-मार्ग के परिणाम की विवेचना करता है। जो श्रेय मार्ग का वरण करता है उस रथी के रथ का सारथी विवेकी होता है। इसलिए उसके अश्व उसके वश में रहते हैं। अतः वह परम लक्ष्य मोक्ष को सरलता से प्राप्त कर लेता है किन्तु जो प्रेय-मार्ग के मदिरालय

का भक्त है उसके रथ का सारथी प्रमादी होता है। इसलिए उस रथ के अश्व विषय के लोभ में रथ और रथी दोनों का विनाश कर देते हैं।

[छान्दोग्योपनिषद्]

छान्दोग्योपनिषद् के सप्तमाध्याय में नारद-उपाख्यान में '**भूमा विद्या**' उपदिष्ट है। शोकाक्रान्त नारदः सनत्कुमार के पास जाकर शोक से तरने का उपाय पूछते है। नारद जी से सनत्कुमार कहते हैं नारद! यत्त्वं जानासि तन्मह्यं ब्रूहि। ततः ऊर्ध्वं ते वक्ष्यामीति। नारद जी अधीत विद्याओं के बारे में बताते हैं– **"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदम् आथर्वणं चतुर्थम् इतिहासपुराणं पञ्चमम्"।**[9] नारद जी कहते हैं कि 'भगवन्! यद्यपि मैंने यह सब अध्ययन किया है किन्तु मैं फिर भी मात्र मन्त्रविद् ही हूँ आत्मविद् नहीं। मैं सुख का वास्तविक स्वरूप जानना चाहता हूँ, जिससे शोक को तर सकूं– '**सुखं भगवो विजिज्ञासे**' इति।[10] बहुत ही टेढ़ा प्रश्न है। बच्चा खिलौना देखकर रोता है। जब खिलौना मिल जाता है तो समझता है कि मैं सुखी हो गया। परन्तु कुछ देर खेलने के पश्चात् उसका जी ऊब जाता है और वह खिलौने को फेंककर रोने लगता है। अब उसे उस खिलौने में सुख नहीं मिलता। वस्तुतः खिलौने में सुख समझना उसका बालपन ही था। खिलौने में असली सुख नहीं था। इसी प्रकार धन आदि संसार के पदार्थों का हाल है। वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करने पर भी मुझे शाश्वत सुख या शान्ति नहीं मिल रही।

सनत्कुमार नारद जी को शोकतरण के लिए उपाय बताते हैं– **'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति'।**[11] भूमा **(भूमन्)** का अर्थ है– महान्, महान् शक्ति, ब्रह्म। ब्रह्म ही सबसे महान् है। वही सबसे उच्च आनन्द और सुख है। परमात्मा से इतर सब अल्प है, यह अल्पता ही प्रेय है। थोड़े में अशान्ति और दुःख है। महान् में आनन्द है। सर्वत्र ब्रह्म का दर्शन करना 'भूमा दर्शन' है। अनन्त नित्य और पूर्ण सुख की प्राप्ति ही **श्रेय** है। नारद ने फिर पूछा, 'महाराज! भूमा क्या है? 'सनत्कुमार परमात्मा का स्वरूप बताते हुए कहते है कि– **"यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति- स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद् विजानाति तदल्पम्। यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्"।**[12] **भूमा** (श्रेय) वह है, जिसमें अन्य को नहीं देखता, अन्य को नहीं सुनता, अन्य को नहीं जानता। वह **अल्प** (प्रेय) है जहाँ अन्य को देखता है, अन्य को सुनता है, अन्यको जानता है। भूमा ही अमृत है। अल्प ही दुःख है।' यहाँ भूमा, श्रेय, आत्मा शब्दों से एक ही तात्पर्य है। प्राकृतिक जगत को अपने कार्य का ध्येय बनाना 'अल्पता' है, प्रेय है और आत्मा को ध्येय बनाना भूमापन है। इस प्रकार श्रेय विद्या के रूप में '**भूमाविद्या**' का निरुपण किया गया है।

[बृहदारण्यकोपनिषद्]

बृहदारण्यकोपनिषद् के द्वितीय अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य अपनी दोनों पत्नियों मैत्रेयी और कात्यायनी को कहते हैं कि मैं संन्यास लेने जा रहा हूँ इसलिए सम्पत्ति का बँटवारा करना चाहता हूँ। कात्यायनी साधारण स्त्री थी, धन पाकर संतुष्ट हो गई, किन्तु मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी। मैत्रेयी ने कहा– "यदि सारा संसार समस्त सम्पत्ति समेत मेरा हो, तो क्या मैं अमर हो जाऊँगी? याज्ञवल्क्य कहते हैं– धन से कोई अमर तो नहीं हो सकता। मैत्रेयी ने कहा, "यदि मैं धन से अमर नहीं हो सकती, तो धन मेरे किस काम का? मुझे तो ऐसा ज्ञान दीजिये, जो मुझे अमर बना दे।" धन से अमरत्व की आशा नहीं हो सकती– **अमृतत्वस्य तु नाऽऽशास्ति वित्तेन।**[13] याज्ञवल्क्य कहते हैं कि पति-प्रेम, स्त्री-प्रेम, धन-प्रेम, पुत्र-प्रेम आदि सारे प्रेम आत्मा की (अपनी) प्रसन्नता के लिए किए जाते हैं, वस्तु के लिए नहीं। अतः मूल तत्त्व आत्मा को जानना चाहिए। **आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।**[14] याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को उपदेश देते हुए कहते हैं कि आत्मा का ही दर्शन, श्रवण, मनन और ध्यान करना चाहिए। आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन और ध्यान से संसार की सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है– **"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो आत्मनि दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्"।**[15] 'अमरता' 'अध्यात्म-ज्ञान' से ही प्राप्त होती है, और वही वास्तव में '**विद्या**' है। यही श्रेय मार्ग है। इस उपनिषद् में कात्यायनी प्रेयमार्ग के पथिक के रूप में उल्लिखित है, किन्तु ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी प्रेय मार्ग की आकांक्षिणी नहीं उसे दुर्गमपथ श्रेय मार्ग की आकांक्षा है, जिस पर विरले लोग ही चल पाते है।

[ईशोवास्योपनिषद्]

ईशोवास्योपनिषद् में विद्या-अविद्या एवं सम्भूति-असम्भूति विवेचना प्रसंग में श्रेय और प्रेय का वर्णन है। **ईशोपनिषद्** कहता है कि अविद्या (**कर्ममार्ग**) और विद्या (**ज्ञानमार्ग**) दोनों का समन्वय रखो। कर्ममार्ग से भौतिकसुख (प्रेय) और ज्ञानमार्ग से मोक्ष (श्रेय) की प्राप्ति होती है। ईशोपनिषद् के अनुसार श्रेय मार्ग को न जानने वाले तथा उसके स्वरूप से विमुख रहने वालों की अधोगति होती है–

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताःस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।[16]

अविद्या से मोहजनक विनश्वर लौकिक सुख भले ही प्राप्त हो, परन्तु अनन्त और वास्तविक आनन्द (अमृतत्व) तो विद्या से ही उपलब्ध हो सकता है। विद्या (ज्ञान) की अथवा केवल अविद्या (कर्म) की ही उपासना करना यह एकांगी उपासना है और यह उपासना अपूर्ण है। ऐसी एकांगी उपासना करने वाले मनुष्य दुःख रूपी घोर अन्धकार को प्राप्त होते हैं तथा जन्म-जन्मान्तर तक आवागमन के चक्कर में ही फँसे रहते हैं–

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया रताः।।[17]

वस्तुतः इन दोनों की समन्वयात्मक उपासना ही यथार्थ फलप्रद है। ज्ञान और कर्म दोनों की ही उपासना करनी चाहिए। केवल एक की नहीं। केवल एक की उपासना करने वाले घोर अंधकार में पड़ते हैं, क्योंकि दोनों का फल अलग-अलग है। दोनों फल एक दूसरे के पूरक हैं। अतः ज्ञान और कर्म के यथार्थ स्वरूप को समझ कर ही इन दोनों की उपासना करनी चाहिए तभी सर्वोत्तम फल की प्राप्ति हो सकती है। ईशोपनिषद् के अनुसार जो विद्या और अविद्या इन दोनों को साथ-साथ जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को तरकर ज्ञान से अमरता को प्राप्त कर लेता है:

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयः सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।[18]

ईशोवास्योपनिषद् कहता है कि संभूति (भौतिकवाद) और असंभूति का समन्वय रखना चाहिए। असंभूति से लौकिकसुख (प्रेय) और संभूति से अमरत्व (श्रेय) मिलता है, इसी प्रकार जो मनुष्य असम्भूति और सम्भूति के यथार्थ रूप को नहीं समझ पाते परन्तु उनकी उपासना करते रहते हैं, उनकी अत्यधिक दुर्गति होती है। केवल असम्भूति (विनाशशील शरीर) की उपासना करने वाले घोर अन्धकार (दुःखों) को प्राप्त करते हैं और केवल सम्भूति (ब्रह्मज्ञान) की उपासना करने वाले उससे भी अधिक घोर अन्धकार (दुःखों) को प्राप्त करते हैं। जो लोग असम्भूति अर्थात् क्षणभंगुर सांसारिक विषय स्त्री, पुत्र, धनादि की उपासना करते हैं अर्थात् निरन्तर उन्हीं में आसक्त रहते हैं, और उन्हें सुख का मूल कारण समझते हैं, ऐसे लोग घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो लोग केवल ब्रह्म में ही रत रहते हैं, कर्म कुछ भी नहीं करते वे मानो और भी अधिक अज्ञान रूपी अन्धकार में प्रवेश करते हैं। सम्भूति और असम्भूति के यथार्थ स्वरूप को जिस मनुष्य ने एक साथ जान लिया है, उसी का जीवन सफल है और जिसने केवल सम्भूति (ब्रह्म) या केवल असम्भूति (सांसारिक भोग्य पदार्थों) की उपासना की, उसका जीवन निष्फल है। अतः दोनों का समन्वयात्मक ज्ञान प्राप्त करके इस भवसागर को पार करके अमरता को प्राप्त किया जा सकता है।

सार रूप में कहा जा सकता है कि प्रायः लोगों की प्रवृत्ति भोगों को प्राप्त करने की ओर ही रहा करती है। विरल ही कोई व्यक्ति होता है कि जो ज्ञान मार्ग का पथिक बनकर उस आत्म तत्त्व की प्राप्ति का इच्छुक हुआ करता है। अनेक व्यक्ति आत्म ज्ञानविषयक उपदेशों का श्रवण मात्र ही करते हैं। अतः वे वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि नहीं कर पाते। प्रत्येक कल्याणपथ के पथिक का उद्देश्य **श्रेय** होना चाहिये और प्रेय का इस प्रकार उपयोग करना चाहिये कि वह श्रेय का साधन बन जाय। उपनिषदों में नचिकेता, ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी, नारद इत्यादि अनेक श्रेयपथिकों के

दृष्टान्त वर्णित हैं जिन्होंने श्रेय को अपनाकर अपने जीवन को धन्य बनाया। कल्याण की कामना करने वाले व्यक्ति को नचिकेता की भाँति क्षणभङ्गुर व भौतिक सुखों का परित्याग कर आत्म-दर्शन का प्रयास करना चाहिए। अतः जो लोग विषयभोग की दृष्टि से केवल प्रेय अर्थात् लोकोन्नति को ही अपना लक्ष्य बना लेते हैं और श्रेयमार्ग की उपेक्षा करते हैं वे दुःखों की अत्यन्त निवृत्तिरूप मानव-जीवन के यथार्थ ध्येय से च्युत हो जाते हैं। श्रेयमार्ग के अनुसरण में धन-संग्रह इत्यादि लोकोन्नति के मार्ग को केवल साधन समझना चाहिये। प्रेय वस्तुएँ जहाँ साध्य हुईं वहीं मनुष्य अपने मार्ग से च्युत हो जाता है। '**क्रियासिद्धिः सत्वे भवति महतां नोपकरणे**' इस आदर्श वाक्य का अनुसरण करते हुए श्रेयमार्ग के पथिक को साधनों की अपेक्षा सत्वभाव से क्रियासिद्धि को महत्व देना चाहिए, तभी जीवन का वास्तविक उद्देश्य सिद्ध हो पायेगा।

सन्दर्भग्रन्थः-

1. ईशावास्योपनिषत्, व्याख्याकारः-आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी संस्करण-2016
2. ईशादि नौ उपनिषद्, गीता प्रेस गोरखपुर, 24वां संस्करण, सं-2060
3. उपनिषद्-अङ्क (तेइसवें वर्ष का विशेषाङ्क), गीता प्रेस गोरखपुर, 20वां संस्करण, सं-208
4. एकादशोपनिषद्, व्याख्या सहित, प्रथम भाग, संसद् सदस्य प्रो. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, प्रकाशक-विजयकृष्ण लखनपाल एण्ड कम्पनी, 'विद्या-विहार, 4 वलबीर ऐवेन्यू, देहरादून।
5. एकादशोपनिषद्, व्याख्या सहित, द्वितीयभाग, संसद् सदस्य प्रो. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, प्रकाशकः- विजयकृष्ण लखनपाल एण्ड कम्पनी, 'विद्या-विहार, 4 वलबीर ऐवेन्यू, देहरादून।
6. कठोपनिषद्, डॉ. (श्रीमती) पुष्पा गुप्ता, सुरभारती प्रकाशन, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
7. श्रीमद्भगवदगीता, गीता प्रेस गोरखपुर, सं. 2067 चौदहवाँ पुनर्मुद्रण।

---

1. कठोपनिषद्- 1।2।4
2. श्रीमद्भगवद्गीता- 18।38
3. कठोपनिषद्- 1।3।14
4. कठोपनिषद्- 1।2।22
5. कठोपनिषद्- 1।2।1
6. कठोपनिषद्- 1।2।2
7. कठोपनिषद्- 1।2।5
8. कठोपनिषद्- 1।2।6
9. छान्दोग्योपनिषद्- 7/1/2
10. छान्दोग्योपनिषद्- 7।22।1
11. छान्दोग्योनिषद्- 7।23।1
12. छान्दोग्यपनिषद्- 7।24।1

13. बृहदारण्यकोपनिषद्- 4।5।3
14. बृहदारण्यकोपनिषद्- 4।5।6
15. बृहदारण्यकोपनिषद्- 4।5।6
16. ईशावास्योपनिषद्- 3
17. ईशावास्योपनिषद्- 9
18. ईशावास्योपनिषद्- 11

सहायकाचार्य (साहित्य विभाग)
राजकीय संस्कृत महाविद्यालय क्यार्टू,
जिला शिमला (हि.प्र.) 171201
दूरवाणी संख्या - 8988023863, 7018271863
ईमेल - astrodeno@gmail.com

तुलसीदास का कल्पना-सौन्दर्य

– डॉ. संजय कुमार मिश्र

(भारतीय-काव्यचिन्तने प्रधानतः कृति पक्षे ध्यानं प्रदत्तमस्ति परन्तु रचना कर्मणि न्यूना दृष्टिर-स्ति। अयं पक्षः नोपेक्षित अस्ति। रचना-कर्मण मुख्याः प्रेरणाः तथा तासां हेतूनां सम्बन्धे आचार्यैः विचारितं तथापि सृजनकाले रचना-प्रक्रिया कवेः मनोव्यापारस्य विचारं न्यूनमेव कृतमस्ति। भारतीय-काव्यशास्त्रं "कल्पना" शब्दादपि अपरिचितः आसीत्। इदं कथनं दुःसह्यं भवति यद् अत्र कमपि कल्पना व्यापारस्य ज्ञानं नासीत्। आदिकालादेव कल्पना शब्दस्याप्रयुक्तैव तस्य स्पष्ट-वर्णनं आदिकवेः वाल्मीकेः समाधिदर्शनप्रसङ्गे कृतमस्ति। रामचरितमानसे काव्य रचनायाः श्रेयः दिव्यदृष्टिः प्रदत्तास्ति। पाश्चात्य विचारकेन क्रोचे महोदयेन इड्युकेशन वार्ता क्रमे रचनाकर्मणि दृष्टेः भूमिका उद्घाटितास्ति। तुलसीदासेन ततः बहु-प्रागेव लिखितम्। अनेन ज्ञायते यत् कविश्रेष्ठाः सकलकविगुणसम्पन्नाः सत् मानवीय उदारगुणेनापि परिपूर्णारसन्ति। तथा च व्यक्ते हृदये उदीयमान विभिन्नसंवेगानां तीव्रतर अभिव्यक्तेः कृते गोस्वामिनः व्यंजना पद्धति स्वीकुर्वन्ति। सूक्ष्म निरीक्षणे अपि तेषां प्रधानस्थानं वर्तते। श्रमभावस्य सौन्दर्यव्यंजनायाः कृते तुलसीदासाः श्रीरामलक्ष्मणाभ्यां साके सीता मातुः वनगमनस्य यद् सादृश्यमुपस्थितवन्तः तत् अभिप्रेत भावस्य सम्मयक् अभिव्यक्तिं करोति। यथा कवितावल्याः श्रेष्ठ भावमयं पदम्। श्रीतुलसीदासस्य कल्पनया निर्मितं वस्तुगत-सौन्दर्यस्य रूपे चित्रं वैष्णवभावप्रधानं वर्तते।)

भारतीय काव्य-चिन्तन में प्रधानतः कृति पक्ष पर ध्यान दिया गया है किन्तु रचना-कर्म की ओर बहुत ही कम दृष्टि गई है। वैसे यह पक्ष सर्वथा उपेक्षित नहीं रहा है। रचना-कर्म की प्रमुख प्रेरणाओं और उसके हेतुओं के सम्बन्ध में आचार्यों ने विचार किया है फिर भी रचना-प्रक्रिया सृजन के क्षणों में कवि के मनोव्यापार का विचार अल्प ही किया गया है। यहाँ तक कि भारतीय काव्यशास्त्र "कल्पना" शब्द से ही अपरिचित रहा है किन्तु यह कहना दुस्साहस ही होगा कि यहाँ पर किसी को कल्पना-व्यापार का ज्ञान नहीं था। आदिकाल में ही 'कल्पना' शब्द का प्रयोग किये बिना उसका स्पष्ट वर्णन आदिकवि वाल्मीकि जी के समाधि-दर्शन प्रसंग में किया गया है। रामचरित मानस में काव्य-रचना का श्रेय दिव्य-दृष्टि को दिया गया है। पाश्चात्य विचारक 'क्रोचे' ने 'इनट्युशन' की बात करते हुये रचना-कर्म में दृष्टि की भूमिका उद्घाटित की है। तुलसीदास ने उससे बहुत पहले ही लिख दिया था–

श्री गुरु पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती।।

दलन मोह तम सो सप्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू।।
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहि दोष दुख भव रजनी के।।
सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खनिक।।
जथा सुअंजन अंजि दृग साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखत सैल बन भूतल भूरि निधान।।[1]

मानसकार ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि रामचरितमानस की रचना सर्वप्रथम मानसिक अभिव्यक्ति के रूप में ही हुई थी और कुछ समय तक उसी रूप में रही भी। उसकी भौतिक अभिव्यक्ति बाद में हुई, इसीलिए उसे यह संज्ञा प्रदान की गई–

रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा।।
तातें रामचरित मानस बर। धरेउ नाम हियँ हेरि हरषि हर।।[2]

कवि ने स्वयं अपने मन के लिए दर्पण का सादृश्य उपस्थित किया है। कवि श्रेष्ठ तुलसीदास 'श्री गुरु चरन सरोज रज' से इसे 'रघुबर बिमल जस' के वर्णन में स्वयं को प्रवृत्त कर देते हैं। ऐसा रचना मर्मज्ञ कवि भी जब लिखे कि–

कबित बिवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउँ लिखित कागद कोरे।।[3]

तो इससे कवि का मानवीय उदार पक्ष स्वतः उद्घाटित हो जाता है तथा पाठक का चमत्कृत होना स्वाभाविक है। व्यक्ति के हृदय में उठने वाले विभिन्न संवेगों की तीव्रतर अभिव्यक्ति के लिए गोस्वामी जी ने जिस व्यंजना-पद्धति को अपनाया है वह अपने प्रसंग गर्भत्व एवं सूक्ष्म निरीक्षण के लिए महत्वपूर्ण है। इस कथन की व्याख्या एक उदाहरण के द्वारा ध्यातव्य है–

हमहि देखि मृग निकर पराहीं। मृगीं कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं।।
तुम्ह आनंद करहु मृग जाए। कंचन मृग खोजन ये आये।।[4]

श्रम-भाव की सौन्दर्य-व्यंजना के लिए तुलसीदास जी ने सीता जी को श्रीराम-लक्ष्मण जी के साथ वन में जाने का जो दृश्य उपस्थित किया है वह अभिप्रेत भाव को सम्यक रूप से व्यक्त करता है। तुलसीदास जी द्वारा विरचित 'कवितावली' का यह श्रेष्ठ भावमय पद है–

पुर तें निकसी रघुबीर बधू, धरि धीर दए मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनीं जल की, पुट सूखि गये मधुराधर वै।।
फिरि बूझति है चलनो अब केतिक, पर्नकुटी करिहौं कित ह्वै।।
तिय की लखि आतुरता पिय की, अंखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै।[5]

मर्यादा और शील की दृष्टि से रामचरितमानस एक महत्वपूर्ण महाकाव्य है। ग्राम-बधुओं के पूछने पर सीता जी लक्ष्मण को अपना देवर बताती हैं। जब ग्राम-बधुएँ दूसरे दिव्य पुरुष का भी परिचय पूछती हैं तब

सीता जी कुल वधु की मर्यादा और शील के अनुरूप बिना कुछ कहे तिरछे नयनों से श्रीराम को संकेतिक करती हैं। ग्राम-बधुएँ चतुर हैं, सीता के नयनों की इस अद्‌भुत रसमयी भाषा से यह समझ जाती हैं कि दूसरा दिव्य पुरुष सीता जी का पति है। पूरे चित्र में गोस्वामी तुलसीदास ने भागवत-सौन्दर्य की योजना अनुभवों के माध्यम से की है।

सकुचि सप्रेम बाल मृगनयनी। बोली मधुर बचन पिक बयनी।।
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नाम लखनु लघु देवर मोरे।।
बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय तनु चितइ भौंह करि बाँकी।।
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सयननि।।[6]

तुलसीदास की कल्पना से निर्मित वस्तुगत सौन्दर्य के रूप में चित्र वैष्णव भाव प्रधान है। इस सन्दर्भ में अंगों की दीप्ति स्वयं उसके तरल सौन्दर्य की अभिव्यक्ति से पूर्ण एक चित्र द्रष्टव्य है–

वर दंत की पंगति कुंद कली, अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकैं घन बीच जगै, छबि मोतिन माल अमोलन की।।
घुँघरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर, कुंडल लोल कपोलन की।
नेवछावरि प्रान करैं तुलसी, बलि जाउँ लला इन बोलन की।।[7]

इस रूप चित्र में स्थिर और गत्वर दोनों सौन्दर्य की एक साथ व्यंजना है। रूपगत-सौन्दर्य निरूपण में तुलसीदास ने श्रीराम एवं सीता जी के लौकिक और अलौकिक दोनों रूपों को लिया है। सीताजी के रूपगत-सौन्दर्य के लिए तुलसीदास जी ने 'दीपशिखा' शब्द का प्रयोग किया है वह भी अपने में एक सौन्दर्य-बिम्ब को पूर्ण रूप से प्रतिभाषित करता है–

सुंदरता कहुँ सुंदर करई। छबिगृह दीपसिखा जनु बरई।
सब उपमा कबि रहेउ जुठारी। केहिं पटतरौं बिदेह कुमारी।।[8]

काव्य में दीपशिखा का बिम्ब नारी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए एक निश्चित सन्दर्भ एवं परिवेश में हुआ है। ज्ञान और शक्ति को प्रकट करने के लिए तुलसीदास जी ने रामचरित मानस के उत्तरकाण्ड में 'दीपशिखा' का प्रयोग किया है–

सोहमस्मि इति बृत्ति अखण्डा। दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा।।[9]

सौन्दर्य के उभय पक्षों– शिव और अशिव के वर्णन से तुलसीदास जी ने अपनी सौन्दर्य-दृष्टि का व्यापक परिचय दिया है। उन्होंने शिव के अशिव रूप वर्णन से सौन्दर्य के व्यापक एवं दिव्यतम् पक्ष की व्यंजना की है। शिव का अशिव वेश भी मांगल्य का प्रतीक है। इसकी भी अपनी शोभा है। शिव की बाह्य वेश-भूषा तो अशिव प्रतीत होती है अथवा सौन्दर्य विहीन लगती है। इस

अशिवता में भी एक सहज-सौन्दर्य है तथा जो अन्तर्निहित है, वह है– विश्व कल्याण की भावना–

सिवहिं संभु गन करहिं सिंगारा। जटा मुकुट अहि मौरु सँवारा।
कुंडल कंकन पहिरे ब्याला। तन बिभूति पट केहरि छाला।।
ससि ललाट सुंदर सिर गंगा। नयन तीनि उपबीत भुजंगा।।
गरल कंठ उर नर सिर माला। असिव बेस सिवधाम कृपाला।।[10]

सन्दर्भ ग्रन्थः-

1. काव्य बिम्ब-डॉ. नगेन्द्र
2. तुलसीदास की कला-विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
3. रामचरित मानस-गोस्वामी तुलसीदास
4. तुलसी काव्य मीमांसा-डॉ. उदयभान सिंह
5. तुलसी-सन्दर्भ और समीक्षा-डॉ. त्रिभुवन सिंह

---

1. रामचरितमानस गोस्वामी तुलसीदास-बालकाण्ड, दोहा संख्या-01, गीता प्रेस, गोरखपुर।
2. रामचरित मानस-गोस्वामी तुलसीदास, बालकाण्ड, दोहा संख्या-35, गीता प्रेस, गोरखपुर।
3. रामचरित मानस-गोस्वामी तुलसीदास, बालकाण्ड, दोहा संख्या-09, गीता प्रेस, गोरखपुर।
4. मानस-गोस्वामी तुलसीदास, बालकाण्ड, दोहा संख्या-37, गीता प्रेस, गोरखपुर।
5. कवितावली-अयोध्याकाण्ड-पद संख्या-11, गोस्वामी तुलसीदास, गीता प्रेस, गोरखपुर।
6. मानस, गोस्वामी तुलसीदास-अयोध्याकाण्ड, दोहा संख्या-116, गीता प्रेस, गोरखपुर।
7. रामचरित मानस, गोस्वामी तुलसीदास-बालकाण्ड-पद संख्या-5, गीता प्रेस, गोरखपुर।
8. रामचरित मानस, बालकाण्ड, दोहा संख्या-230, गीता प्रेस, गोरखपुर।
9. रामचरित मानस, अयोध्या काण्ड, दोहा संख्या-118, तुलसीदास, गीता प्रेस, गोरखपुर।
10. रामचरित मानस-बालकाण्ड-दोहा संख्या-91, गीता प्रेस, गोरखपुर।

सहायकाचार्य-हिन्दी
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय,
लखनऊ परिसर, लखनऊ (उ.प्र.)।

पॉल ड्यूसन की कृतियों में अद्वैतवेदान्त के तत्त्व

– प्रीति, शोधच्छात्रा
– डॉ. धनञ्जय मणि त्रिपाठी

(Nineteenth century French philosopher Victor Cousin translated two chapters of the Bhagavadgita. He said, "When we look at the philosophy of India, we come to know of such a deep truth which is completely opposite to the shallow conclusions of our European thinkers. We are forced to bow before the East and accept that this is the birthplace of the highest human philosophy." Friedrich Schelling praised the Upanishads in a language even more fervent than Schopenhauer and inspired his fellow Max Muller to translate the Upanishads. Max Muller learned Sanskrit, showed deep interest in the Rigveda, and became a famous foreign scholar of his time. His successor Paul Deussen said, "Vedanta is one of the most excellent creations of human consciousness. In the tradition of knowledge, there is no flower better than the Upanishads and no fruit as excellent as Vedanta." German scholar Paul Deussen was a great foreign scholar of Vedanta philosophy. He was also a professor of philosophy in a German University. Deussen was also a propagator of the history of philosophy and Schopenhauer's metaphysics. Influenced by Schopenhauer, Deussen turned towards Indian knowledge and influenced by the monism of Vedanta philosophy, he tried to establish the unity of Brahma and the world and made full efforts to focus on the immortality of the soul. In this context, Paul Deussen created and translated many works on Vedanta philosophy. Deussen mainly advocates in his works that- 'Vedanta in its undistorted form is the strongest basis of pure morality. It is the greatest solace in the pains of life and death.' Paul Deussen avoids saying anything about the pramanas illustrated by Shankaracharya.)

सारांशः– उन्नीसवीं शताब्दी के फ्रेंच दार्शनिक विक्टर कज़िन ने भगवद्गीता के दो अध्यायों का अनुवाद किया। कहा कि, "जब हम भारत के दर्शन की ओर देखते हैं तो वहाँ हमें ऐसे अथाह सत्य का ज्ञान होता है जो हमारे यूरोपियन विचारकों के उथले निष्कर्षों के सर्वथा विपरीत है। हमें विवश होकर के पूर्व के सामने घुटने टेकने ही पड़ते हैं और मानना पड़ता है कि उच्चतम मानव दर्शन का यही जन्मस्थान है।" फ्रेडरिक शैलिंग ने शोपेनहावर से भी ज़्यादा उत्कंठित भाषा में उपनिषदों की वंदना की और अपने शिष्य मैक्समूलर को उपनिषदों के अनुवाद के लिए प्रेरित किया। मैक्समूलर ने संस्कृत सीखी, ऋग्वेद में गहरी अभिरुचि दिखाई और अपने समय के प्रख्यात विदेशी पण्डित हुए। उनके उत्तराधिकारी पॉल ड्यूसन ने कहा– "वेदान्त मानव चेतना की सबसे उत्कृष्ट कृतियों में है। ज्ञानपरम्परा में उपनिषदों से उत्तम कोई पुष्प नहीं और वेदान्त जैसा उत्कृष्ट कोई फल नहीं।" जर्मन विद्वान् पॉल ड्यूसन वेदान्त दर्शन मुख्यतः अद्वैतवाद तथा संस्कृत के प्रमुख अध्येता थे। वे जर्मनी के एक विश्वविद्यालय में

दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक भी थे। ड्यूसन दर्शन के इतिहास तथा शोपेनहावर के तत्त्वमीमांसा के प्रचारक भी रहे, शोपेनहावर से ही प्रभावित होकर ड्यूसन भारतीय विद्या की ओर मुड़े तथा वेदान्त दर्शन के अद्वैतवाद से प्रभावित होकर ब्रह्म और जगत् की एकता स्थापित करने का प्रयास किया तथा आत्मा की अमरता पर भी ध्यान केन्द्रित करने का पूर्ण प्रयास किया। इसी सन्दर्भ में पॉल ड्यूसन ने वेदान्त दर्शन से सम्बन्धित अनेक कृतियों का सृजन तथा अनुवाद किया।

कूटशब्दः-

वेदान्त दर्शन, अद्वैतवाद, पॉल ड्यूसन, शोपेनहावर, ड्यूसन, ब्रह्म, ब्रह्मसूत्र, विदेशों में अद्वैत संस्कृतविद्या अपने में सन्निहित वैविध्यपूर्ण विषयों एवं वैशिष्ट्य के कारण सदा से आकर्षण का केंद्र रही है। यह संस्कृतविद्या की विशेषता ही है की इसका समादर न केवल भारतवर्ष अपितु विदेशों में भी रहा है। इस सन्दर्भ में यजुर्वेद का अधोलिखित मन्त्र द्रष्टव्य है– **सा प्रथमा संस्कृतिः विश्ववारा**[1]। बगदाद में **बैत उल् हिकमत** नाम से एक अनुवाद केंद्र की स्थापना की गई। जहाँ चरक, सुश्रुत से लेकर विभिन्न आयुर्वेदिक ग्रन्थ गणित, ज्योतिष एवं खगोल विषयक ग्रन्थ भारतीय पण्डितों एवं अरब निवासियों के द्वारा मिलकर अरबी में अनूदित किए गए जिसका एक समृद्ध इतिहास है, यहीं से भारतीय विद्या यूरोप में प्रविष्ट हुई।[2] यूरोप में सोलहवीं शताब्दी तक संस्कृत-साहित्य के प्रति कोई विशेष रुचि नहीं थी। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में हेनरी रॉथ नामक जेसूइट पादरी आगरा आया और मिशनरी कार्यों के लिए सर्वप्रथम संस्कृत सीखी एवं 1662 ई. में संस्कृत व्याकरण पर एक पुस्तक भी लिखी।[3] इन दार्शनिक एवं साहित्यिक ग्रन्थों ने यूरोप में संस्कृतविद्या के प्रति अभूतपूर्व जागरूकता एवं जिज्ञासा उत्पन्न कर दी। तब तक जर्मनी भी भारत-विद्या के अध्ययन के प्रबल केन्द्र के रूप में विकसित हो चुका था। भारतीय चिन्तनधारा में जिन दर्शनों की परिगणना विद्यमान है, उनमें शीर्ष स्थानीय दर्शन वेदान्त है यह मन्दिर रूपी भारतीय दर्शन का स्वर्णकलश का देदीप्यमान सूर्य है।

वेदान्त का अर्थ है– वेदों का अन्तिम भाग या सिद्धान्त। तात्पर्य यह है कि वह शास्त्र जिसके लिए उपनिषद् ही प्रमाण है।[4] वेदान्त में जितनी बातों का उल्लेख है, उन सबका मूल उपनिषद् है। उपनिषदों को आधार बनाकर बादरायण मुनि ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की। अद्वैतवाद का प्रमुख आधार महर्षि बादरायण का ब्रह्मसूत्र ही है। ब्रह्मसूत्र के अन्तर्गत ब्रह्म शब्द का प्रयोग चार जगह हुआ है और चारों स्थलों पर ब्रह्म शब्द का प्रयोग परमात्मा के अर्थ में ही हुआ है।[5] अद्वैतवाद दर्शन की प्राणप्रतिष्ठाकर्त्री माया का संकेत ब्रह्मसूत्र में **"मायामात्रन्तु कात्स्येनानाभिव्यक्त स्वरूपत्वात्"**[6] इसके अतिरिक्त **"तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः"**[7] सूत्र के अन्तर्गत सूत्रकार ने जागतिक प्रपञ्च की सत्यता का स्पष्ट निषेध किया गया है।

पॉल जैकब ड्यूसन (1845-1919) एक जर्मन ऑरिएन्टलिस्ट और संस्कृत विद्वान् थे। वह कील विश्वविद्यालय जर्मनी में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक थे। ड्यूसन

आर्थर शोपेनहावर से प्रभावित थे, वे फ्रेडरिक नीत्शे और स्वामी विवेकानन्द के मित्र भी थे।[8] जब स्वामी विवेकानन्द जर्मनी गए तो वह वहाँ पॉल ड्यूसन के अतिथि थे। विवेकानन्द पॉल ड्यूसन के कक्ष में बैठे थे। वहीं पास में जर्मन में लिखी पुस्तक रखी हुई थी। जो सङ्गीत के विषय में थी। ड्यूसन ने पुस्तक की अत्यन्त प्रशंसा की तो स्वामी जी ने ड्यूसन से पुस्तक मात्र एक घण्टे के लिए देने को कहा ताकि वे उसे पढ़ सकें। विवेकानन्द की इस बात से ड्यूसन आश्चर्यचकित थे, क्योंकि पुस्तक जर्मन भाषा में थी और इतनी मोटी थी कि उसे पढ़ने के लिए एक सप्ताह भी कम होता। तत्पश्चात विवेकानन्द ने पुस्तक को कुछ देर तक अपनी हथेलियों के बीच दबाकर रखा और ड्यूसन से बोले "इस पुस्तक में कुछ विशिष्ट नहीं है"। तो ड्यूसन को प्रतीत हुआ की विवेकानन्द झूठ बोल रहें हैं या उन्हें अपने ज्ञान का अभिमान हो गया है। ड्यूसन ने उनकी परीक्षा लेने के लिए पुस्तक के अलग-अलग पृष्ठों से प्रश्न करना शुरू किया। सबसे अधिक आश्चर्य ड्यूसन को तब हुआ जब सभी प्रश्नों के सटीक उत्तर मिलने लगे तथा उससे सम्बन्धित विचारों को भी विवेकानन्द ने उनके समक्ष रख दिया। फिर विवेकानन्द ने ड्यूसन को एक योगी की एकाग्रता, ब्रह्मचर्य, त्याग और संयम शक्ति से परिचित कराया तथा पॉल ड्यूसन सनातन संस्कृति के प्रति और अधिक प्रभावित हुए।[9] 1919 में पॉल ड्यूसन ने शोपेनहावर सोसाइटी (शोपेनहावर गेसेलशाफ़्ट) की स्थापना की। ड्यूसन 1912 में विद्वानों की पत्रिका शोपेनहावर ईयरबुक (जहरबुच) के पहले सम्पादक थे।[10] ड्यूसन ने सनातन धर्म के प्रति अपनी प्रशंसा के प्रतीक के रूप में अपना नाम संस्कृत में करके **देवसेन** रख लिया। स्वामी विवेकानन्द से वेदों की प्रशंसा करते हुए ड्यूसन कहते हैं कि **"वेद वेदान्त की मधुर मोहिनी शक्ति क्षणभर में ही बाह्य बाह्य जगत् को भुला देती है। उसका अध्ययन करते ही मन एक उन्नत, आध्यात्मिक भाव में चला जाता है"**[11] ड्यूसन रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की बम्बई शाखा में 1883 ई. भाषण देते हुए वेदान्त के विषय में कहा– **"अविकृत वेदान्त दर्शन पवित्र नीतियों की सुदृढ़ नींव है और जीवन वा मृत्यु के दुख समूह के लिए परम सांत्वना का स्थल है। हे भारतवासियों इसे कभी न छोड़ना"।**[12] पॉल ड्यूसन वेदान्त एवं उपनिषदों की प्रशंसा करते हुए कहते हैं – **"On the tree of wisdom there is no fairer flower than the Upanishads, and no finer fruit than the Vedanta philosophy.[13] … Vedanta is one of the most valuable products of the genius of mankind in its researches of the eternal truth. …It was here that for the first time the original thinkers of the Upanishads …found it when they recognized our Atman, our innermost individual being, as the Brahman, the inmost being of universal nature and of all her phenomenon. …The Upanishads have tackled every fundamental problem of life. They have given us an intimate account of reality."[14]**

पॉल ड्यूसन का जन्म 1845 में राइन प्रान्त के ओबरड्रेइस में हुआ था। वे एक मामूली आय वाले पादरी के आठ बच्चों में से एक थे। वे जर्मन दार्शनिक शोपेनहावर और कान्ट दर्शन के छात्र और आजीवन भक्त बन गए। ड्यूसन ने 1864 और 1881 के बीच बॉन, ट्युबिंगन और बर्लिन विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त की जहाँ उन्होंने प्लेटो

के दर्शन पर अपना शोध प्रबन्ध लिखा। ड्यूसन ने अपनी मृत्यु 1919 के वर्ष तक शोपेनहावर पर वार्षिक पुस्तक का सम्पादन जारी रखा और शोपेनहावर की रचनाओं के एक संस्करण पर काम किया।[15] ड्यूसन ने जब प्रो. लासेन द्वारा शकुन्तला की व्याख्या करने वाले एक व्याख्यान में भाग लिया तब वह संस्कृत और सनातन धर्म से प्रभावित हुए। ड्यूसन का पहला प्रकाशन **1894** में ***Macmillan Co. London*** से ***The Elements of Metaphysics*** के रूप में द्वितीय जर्मन संस्करण से अंग्रेजी में सी.एम.डफ द्वारा प्रकाशित हुआ। ड्यूसन ने **1906** में ब्रह्मसूत्र का जर्मन अनुवाद ***Die Sutras Des Vedanta*** के नाम से ***Forgotten Books*** से प्रकाशित किया।[16] पॉल ड्यूसन के ***Die Philosophie der Upanishads*** का जर्मन से अंग्रेजी में A.S GEDEN द्वारा अनुवाद हुआ, जो कि **EDINBURGH: T&T CLARK, 1908** में प्रकाशित हुआ।[17] पॉल ड्यूसन के *1897* के जर्मन संस्करण ***Sechzig Upanisads's des Veda***[18] का अंग्रेजी अनुवाद तथा *1980* में ***Sixty Upanisads of The Veda*** नाम से ***MOTILAL BANARSIDASS, DELHI*** से प्रकाशित हुआ। पॉल ड्यूसन की कृति ***Das System des Vedanta*** जिसका जर्मन से अंग्रेजी भाषा में अनुवाद ***The System of the Vedanta*** शीर्षक से सर चार्ल्स जॉनसन द्वारा किया गया, इसका प्रकाशन 1912 ई. में शिकागो से हुआ है। इसका हिन्दी भाषा में अनुवाद ***वेदान्तदर्शन*** नाम से **डॉ. सङ्गम लाल पाण्डेय** द्वारा **1977** में हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ से प्रकाशित हुआ।[19] ड्यूसन की भारत यात्रा 1912 में ***My Indian Reminiscences*** के रूप में अंग्रेजी में ***G.A NATESAN & CO., MADRAS*** से प्रकाशित हुई।[20] हालाँकि उनके आत्मकथात्मक पत्र अभी तक अंग्रेजी में अनुवादित नहीं हुए हैं। ड्यूसन की वेदान्त प्रणाली को कई बार पुनर्मुद्रित किया गया है। उन्होंने अपनी व्याख्या के ढांचे के रूप में ब्रह्मसूत्र और कुछ हद तक उस पर आदि शङ्कराचार्य के भाष्यों का प्रयोग किया है।

अद्वैतवाद के कुछ प्रमुख सिद्धान्तों में अनिर्वचनीयख्यातिवाद, विवर्तवाद, अध्यासवाद तथा अध्यारोप एवं अपवाद जैसे अनेक अद्वैतवादी सिद्धान्त प्राप्त होते हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि ब्रह्म के अतिरिक्त यह समस्त नामरूपात्मक जगत् मिथ्या है। अनिर्वचनीयख्याति की परिभाषा करते हुए आनन्दबोधाचार्य ने न्यायमकरन्द के अन्तर्गत लिखा है– **"सविलासाविद्यानिवृत्तिरेव बाधस्तद्गोचरतैवा निर्वाच्यता"।**[21] अनिर्वचनीयख्यातिवाद में शुक्ति में अध्यस्त रजत को सत् एवं असत् से विलक्षण मानते हुए, रजत की प्रातिभासिक सत्ता स्वीकार की गई है। अनिर्वचनीय रजत के **सदसद्विलक्षणत्व** के विषय में उदाहरण स्वरूप कथन है– यदि रजत सत् है तो अविद्या निवृत्ति होने पर उसका बाध न होता। अतः रजत को **त्रिकालबाधित सत्**[22] नहीं कहा जा सकता है। इसके विपरीत अध्यस्त रजत को असत् भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि रजत शशशृंग के समान असत् नहीं है, यदि असत् होता तो भ्रमकाल में उसकी प्रतीति सम्भव न होती। इसलिए रजत की प्रातिभासिक सत्ता स्वीकार की है– **तथा च**

लोकेऽनुभवः शुक्ति का हि रजतवद्धासते।[23] इसी दृष्टान्ट के आधार पर अविद्याजन्य जगत् की अनिर्वचनीयता सिद्ध की गई है। विवर्तवाद **"अतत्वतोऽन्यथाभावो विवर्तः"**[24] जो अपने मूल रूप के साथ दूसरे रूप में परिवर्तित न हो वह विवर्तवाद है। शुक्ति में रजत तथा रज्जु में सर्प की प्रतीति विवर्तमात्र है। अतः जगत् के ब्रह्म का तात्त्विक परिवर्तन न होने के कारण ही ब्रह्म और जगत् में विवर्तभाव है। शङ्कराचार्य ने अध्यास की परिभाषा **"अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः"**[25] कहकर दी है। अर्थात् किसी वस्तु में तद्भिन्न वस्तु का आरोप करना ही अध्यास है। आत्मा में जगत् का अनुभव अध्यास है। अध्यास भोक्तृत्व कर्तृत्व का प्रवर्तक एवं लोकप्रत्यक्ष का विषय है। अध्यास अनादि, अनन्त, नैसर्गिक और मिथ्या है।

पॉल ड्यूसन का ग्रन्थ ***THE SYSTEM OF VEDANTA*** को चार भागों में विभाजित किया गया है। **प्रथम भाग** में धर्मशास्त्र एवं के सिद्धान्त की चर्चा की गई है, जिसमें ईश्वर की सत्ता का प्रमाण, स्वयं में ब्रह्म, ब्रह्माण्डीय सिद्धान्त के रूप में ब्रह्म, मानसिक सिद्धान्त के रूप में, आत्मा के रूप में ब्रह्म, ब्रह्म सर्वोच्च लक्ष्य तथा गूढ़ धर्मशास्त्र का विवेचन किया गया है। **द्वितीय भाग** में ब्रह्माण्ड विज्ञान या सृष्टि प्रक्रिया पर चर्चा हुई है जिसमें ब्रह्म को जगत् का सृजनकर्ता के रूप आदि में विवेचन किया गया है। **तृतीय भाग** में मनोवैज्ञानिक या आत्मा के सिद्धान्त का वर्णन किया गया है जिसमें आत्मा की अमरता का प्रमाण, आत्मा की उत्पत्ति और स्वरूप, आत्मा का ईश्वर से सम्बन्ध तथा आत्मा की अवस्था आदि है। **चतुर्थ भाग** में संसार या आत्मा के स्थानान्तरण पर चर्चा की गई है। इस भाग में वेदान्त की गूढ़ विद्या आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

पॉल ड्यूसन ***The System of Vedanta*** में मनोविज्ञान में विशेष रूप से ब्रह्माण्ड के एक विशेष पक्ष पर ध्यान केन्द्रित करते हैं जिससे ब्रह्माण्ड को दो स्थितियों **मुक्ति** एवं **बन्धन** पर विचार किया जा सके। पॉल ड्यूसन ने ब्रह्माण्ड निर्माण के दो कारक बताये हैं। पहला अकार्बनिक प्रकृति जिसमें पञ्चमहाभूत सम्मिलित हैं। दूसरा जैविक प्रकृति जिसमें आत्म तत्व है। अन्ततः दोनों तत्व अकार्बनिक तथा कार्बनिक दोनों ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। ड्यूसन ने ब्रह्म का सम्बोधन **"the one without second"**[26] कहकर किया है। यह वाक्य पूर्णतः अद्वैत-वाद की मूलभावना को प्रकाशित करता है। ड्यूसन का मानना है कि ब्रह्म-बाह्य दृष्टिकोण से प्रत्येक विश्व काल अर्थात् प्रत्येक सृष्टि के समय तत्वों को प्रारम्भ से सृजन करता है। तत्पश्चात उसमें प्रवेश करता है। ड्यूसन के अनुसार आत्मा एवं तत्व दोनों अविभाजित स्वयं ब्रह्म हैं। ब्रह्म की एकता में विषमताओं का संश्लेषण शामिल है, यह संश्लेषण केवल आवश्यक अस्तित्व ब्रह्म के ज्ञान में ही हो सकता है। ड्यूसन इसे पारलौकिक ज्ञान के रूप में सन्दर्भित करता है। इसी प्रकार पॉल ड्यूसन अपने ग्रन्थ ***"The Philosophy of Upanishad"*** में त्रिविध आत्मा का वर्णन करते हैं जिसमें प्रथम आत्मा साकार स्व अर्थात् शरीर को कहते हैं। द्वितीय आत्मा आभ्यन्तर स्व जो कि इस भूत भौतिक जगत् से परे है तथा काया रहित है।

तृतीय आत्मा सर्वोच्च आत्मा अर्थात् जो ब्रह्म है जिससे यह विषय वस्तु अर्थात् जगत् भिन्न नहीं है। प्रत्येक वस्तु में ब्रह्म है तथा ब्रह्म में प्रत्येक वस्तु है अर्थात् सबका कारण ब्रह्म ही है। ड्यूसन की यह सर्वोच्च आत्मा अद्वैतवाद का द्योतक है। इसके अतिरिक्त ***"The Philosophy of Upanishad"*** में पञ्चविध आत्मा का भी वर्णन किया गया है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोशों को आत्मा के पाँच प्रकार के रूप में वर्णित किया है। इनमें प्रथम चार कोशों को Sheaths एवं Husks कहा अर्थात् अन्नमय, प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय कोशों को आवरण या भूसी के समान बताया तथा आनन्दमय कोश को मूल तत्व कहा गया है। ड्यूसन के इस ग्रन्थ में अद्वैत वेदान्त के तत्व 'ब्रह्म' का अनेक बार वर्णन किया गया है। ब्रह्म को प्राण एवं वायु स्वरूप कहा गया। इसमें ब्रह्म के प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व की व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। ब्रह्म के अस्तित्व एवं मिथ्यात्व पर चर्चा की गई है। ड्यूसन ने ब्रह्म को चेतना बताया तथा आनन्दस्वरूप उस ब्रह्म की अज्ञेयता बताने का प्रयास किया गया। ड्यूसन ने ब्रह्म को एकमात्र वास्तविकता माना है। ड्यूसन ने ब्रह्म को ब्रह्माण्डीय सिद्धान्त, मानसिक सिद्धान्त के रूप में भी वर्णित किया है। इसमें हिरण्यगर्भ ब्रह्म की चर्चा भी दृष्टिगोचर होती है। अपने इस ग्रन्थ में ड्यूसन के वेदान्त के कल्प सिद्धान्त का भी वर्णन किया है। इन सभी वर्णनों के आधार पर हम कह सकते हैं कि ड्यूसन के इस ग्रन्थ में अद्वैतवाद के सिद्धान्तों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

वेदान्त दर्शन में ब्रह्म को आत्मा की संज्ञा दी गयी है। इस आत्मा की पारमार्थिक सत्ता है किन्तु जीव की भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है। मानव के शारीरिक विकार मानसिक विकार इसके अतिरिक्त अलग-अलग व्यक्तियों के गुण और अगुण यह सिद्ध करते हैं कि जीवात्मायें अनेक हैं। यही जीवात्मायें कर्म-नियमों के अनुसार सुख-दुख को भोगती है। जैसी करनी वैसी भरनी के नियमों पर कर्मफल को प्राप्त करता है। इस प्रकार जीवात्मा ही कर्त्ता और भोक्ता है। जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त करके परमधाम मोक्ष को प्राप्त करता है। जीवात्मा के प्रति ऐसी समानता प्रायः भारतीय दर्शनों में समान रूप से देखी गयी है। यूरोपीय विद्वान् पॉल ड्यूसन ने उपनिषद् एवं भारतीय दर्शन वेदान्त से प्रभावित होकर कई ग्रन्थों की रचना तथा अनुवाद किया जिनमें वेदान्त के मुख्य तत्व ब्रह्म का पग-पग पर उल्लेख मिलता है। वह ब्रह्म का the one without second कहकर संबोधित करते हैं तथा अद्वैतवाद का समर्थन करते हैं।

---

1. यजुर्वेद 7/14
2. डॉ. शिल्पा सिंह, डॉ. राजेश सरकार : विदेशी विद्वानों का वेद एवं संस्कृत विद्या विषयक अवदान, चौखम्बा ओरियन्टालिया, दिल्ली पृ. सं. 2
3. वही.
4. वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणम्, वेदान्तसार
5. राममूर्ति शर्मा: भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा, चौखम्बा ओरियन्टालिया, दिल्ली पृ. सं. 27
6. ब्र. सू. 3/2/3

7. ब्र. सू. 2/1/14
8. डॉ. शिल्पा सिंह, डॉ. राजेश सरकार : विदेशी विद्वानों का वेद एवं संस्कृत विद्या विषयक अवदान, चौखम्बा ओरियन्टालिया, दिल्ली पृ. 149
9. https://www.achhikhabar.com/2019/04/22/swami-vivekananda-meets-paul-jakob-deussen-hindi/
10. Paul Deussen (advaita.org.uk)
11. जगदीश प्रसाद बरनवाल 'कुन्द' : विदेशी विद्वानों का संस्कृत प्रेम, मेधा बुक्स, दिल्ली पृ. सं. 105
12. वही.
13. Dr. Paul Deussen: Outline of The Vedanta System of Philosophy
14. Vedanta Gesellschaft e.V. - Home (vedanta-germany.org)
15. Paul Deussen (advaita.org.uk)
16. Paul Deussen (advaita.org.uk)
17. डॉ. शिल्पा सिंह, डॉ. राजेश सरकार : विदेशी विद्वानों का वेद एवं संस्कृत विद्या विषयक अवदान, चौखम्बा ओरियन्टालिया, दिल्ली पृ. सं. 150
18. डॉ. शिल्पा सिंह, डॉ. राजेश सरकार : विदेशी विद्वानों का वेद एवं संस्कृत विद्या विषयक अवदान, चौखम्बा ओरियन्टालिया, दिल्ली पृ. सं. 150
19. जगदीश प्रसाद बरनवाल 'कुन्द' : विदेशी विद्वानों का संस्कृत प्रेम, मेधा बुक्स, दिल्ली पृ. 105
20. Paul Deussen (advaita.org.uk)
21. आनंदबोधाचार्य : न्यायमकरंद, चौखम्बा संस्करण, 1907 पृ. सं. 125
22. डॉ. रामशङ्कर त्रिपाठी : भारतीय दर्शन का परिशीलन, भारतीय विद्या संस्थान, वाराणसी पृ. सं. 355
23. ब्र. सू., शा. भा. उपोद्घात
24. डॉ. रामशङ्कर त्रिपाठी : वेदान्तसार, चौखम्बा ऑरिएन्टालिया, दिल्ली
25. राममूर्ति शर्मा: भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा, चौखम्बा ओरियन्टालिया, दिल्ली पृ. 405
26. Dr. Paul Deussen: System of Vedanta, Translation by Charles Johnston, Motilal Banarsidass, Delhi Pg. No. 285

शोधच्छात्रा
संस्कृत विभाग,
जामिया मिल्लिया इस्लामिया,
नई दिल्ली-110025

सहायक आचार्य,
संस्कृत विभाग,
जामिया मिल्लिया इस्लामिया,
नई दिल्ली-110025

बौद्धन्यायपरम्परा के अनुसार "परार्थानुमान"

– डॉ. अतुल कुमार श्रीवास्तव

(Triruplinga says that it is Paraartha Anumana. It is a trirupa in which there are three forms namely Anvaya, Vyatireka and Pakshadharmata. It is Paraartha Anumana as it is used for Para-Parasyaamidam Paraartham. There is no place for special determinations in Paraartha Anumana, which was accepted by various sects long before Dignaga, but the credit of discovering the real meaning of this fact should be given to Dignaga.)

त्रिरूपलिङ्ग का कहना परार्थानुमान है– **परार्थानुमानलक्षणम्-त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम्।** तीन रूप अर्थात् अन्वय, व्यतिरेक और पक्षधर्मता नामक तीन रूप जिसमें होते हैं वह त्रिरूप है। वचन के द्वारा त्रिरूपलिङ्ग को प्रकट किया जाता है। पर के लिए प्रयुक्त होने से यह परार्थ अनुमान है– **परस्यामिदं परार्थम्।** बौद्धन्याय में अनुमान के लिए त्रिरूप का होना आवश्यक बताया गया है। आचार्य शांतरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में परार्थानुमान को श्रोता की अपेक्षा से प्रमाण माना है, वक्ता की अपेक्षा से नहीं **"यत्परार्थानुमानत्वमुक्तं तच्छ्रोत्रपेक्षया।"**[1]

तीन रूपों में लिङ्ग का कथन परार्थानुमान है। अन्वय, व्यतिरेक तथा पक्षधर्मता नामक तीन रूप जिस वचन से कहे जाते हैं वह वचन (कथन) औपचारिक रूप से अनुमान ही कहलाता है। अर्थात् दूसरे के लिए जो अनुमान होता है वही परार्थानुमान है। परार्थानुमान का रूप वचनात्मक होता है। तीन रूप में लिङ्ग का प्रतिपादन करने वाला वचन दूसरों को भी अर्थ का प्रतिपादन कराता है और ज्ञान कराता है ऐसा मानकर ही वचन को अनुमान से सम्बोधित किया जाता है।

यह अनुमान दो प्रकार का होता है, साधर्म्यवत् तथा वैधर्म्यवत्।[2]

साध्यधर्मी और दृष्टान्तधर्मी दोनों में हेतु की सत्ता के कारण उत्पन्न सादृश्य ही साधर्म्य है और वह साधर्म्य जिस साधन वाक्य में होगा वह साधर्म्यवत् साधन वाक्य कहा जायेगा। साधर्म्यधर्मी तथा दृष्टान्तधर्मी में हेतु की सत्ता के कारण उत्पन्न वैसादृश्य (असमानता) वैधर्म्य है और वह जिस साधन वाक्य में होगा वह वैधर्म्यवत् साधन वाक्य है।

परार्थानुमान के प्रयोग के भेद से दो भेद होते हैं–

साधर्म्यवत् तथा वैधर्म्यवत्। इन दोनों में भेद केवल प्रयोग से ही है अर्थ से कुछ भी नहीं प्रयोग अर्थात् शब्द व्यापार के भेद से परार्थानुमान द्विविध प्रकार का है।

(क) साधर्म्यवत्–

समान है धर्म जिसका, वह सधर्मा-समानधर्म वाला है। उसका भाव साधर्म्य है और दृष्टान्तधर्मी के साथ पक्ष-साध्यधर्मी के हेतु द्वारा किए गए सादृश्य को ही साधर्म्य कहा गया है तथा जिस साधनवाक्य/अनुमान वाक्य/ प्रयोग द्वारा साधर्म्य का साक्षात् कथन किया जाता है उसी को साधर्म्यवत् कहा जाता है।

(ख) वैधर्म्यवत्–

अर्थात् जिसका धर्म भिन्न प्रकार का है, वह विधर्मा कहा जाता है और विधर्मन् का भाव वैधर्म्य है। अतः दृष्टान्तधर्मी के साथ साध्यधर्मी के हेतु द्वारा किए गए असादृश्यता-असमानता को ही वैधर्म्य कहा जाता है। लिङ्ग या हेतु के प्रकारः- पक्ष, सपक्ष, विपक्ष व्यावृत्ति हेतु या लिङ्ग तीन प्रकार के होते हैं, इनमें से प्रत्येक का साधर्म्यवत् तथा वैधर्म्यवत् प्रयोग हो सकता है।

(1.) साधर्म्यवान् अनुपलब्धि हेतुः

(व्याप्ति) जो पदार्थ उपलब्धि के योग्य होकर भी उपलब्ध नहीं होता वह अभाव-व्यवहार का विषय है, जैसे अन्य कोई प्रमाण से अभाव-व्यवहार के योग्य निश्चित किया गया शशविषाणादि। (पक्षधर्मता) किसी निश्चित प्रदेश में उपलब्धि के योग्य होकर भी घट उपलब्ध नहीं हो रहा है अतः वह अभाव-व्यावहार का विषय है इस भाँति यह अनुपलब्धि का प्रयोग है।

(2.) साधर्म्यवत् कार्य हेतु–

जहाँ पर धूम होता है, वहाँ अग्नि होती है, जैसे– पाकशाला इत्यादि में और यहाँ भी धूम है, पाकशाला आदि में प्रत्यक्ष तथा अनुपलब्धि के द्वारा कार्यकारणसम्बन्ध के रूप में अविनाभाव का निश्चय किया जाता है। यहाँ भी धूम है आदि के द्वारा साध्य धर्म वाले पर्वतादि पक्ष में पक्ष-धर्म का होना बताया गया है। मात्र स्वभाव हेतु में ही नहीं अपितु कार्यहेतु में भी, जिसके साथ कार्यकारणभाव निश्चित होता है, अतः उस कारण की सिद्धि के लिए ही कार्य हेतु का प्रयोग किया जाता है।

(3.) साधर्म्यवान् स्वभाव हेतु–

जो सत् विद्यमान है, वह सब अनित्य (क्षणिक) ही है जैसे– घटादि। यह शुद्ध विशेषण रहित स्वभाव का प्रयोग है और जो उत्पत्तिमान् है, वह अनित्य है–

यह वस्तुतः अभिन्नस्वभावभूत धर्म को भिन्न मानकर स्वभाव हेतु का प्रयोग किया जाता है। इसी अनुसार जो कार्य होता है वह अनित्य होता है– यह स्वभाव हेतु का भिन्न विशेषण से प्रयोग है जो अपने स्वरूप की सिद्धि के लिए दूसरे कारणों के व्यापार की अपेक्षा रखता है वह पदार्थ कृतक कहलाता है। इस प्रकार कारणों के भेद से कार्य की भिन्नता हो जाना इत्यादि भी स्वभावहेतु के प्रयोग कहलाते हैं।[3]

साधर्म्यवत् के अनुपलब्धि, कार्य, स्वभाव हेतु के पश्चात् अब हम वैधर्म्यवत् प्रयोगों से समझते हैं।

(4.) वैधर्म्यवत् अनुपलब्धि हेतु–

जो विद्यमान वस्तु उपलब्धि के योग्य है, वह अवश्य उपलब्ध होती है, जैसे– नीलादि क्षण (विशेष-स्वलक्षण) (यह व्याप्ति है) किन्तु उपलब्धि के योग्य होते हुए भी घट की उपलब्धि यहाँ नहीं हो रही है इसलिए यहाँ घट नहीं है– (पक्षधर्मता)। यह अनुपलब्धि का वैधर्म्यवत् प्रयोग है।

जैसे– घट का अभाव साध्य है, जो दृष्टान्त नीलस्वलक्षण है वह सत् है। यह घटाभाव के विपरीत धर्मवाला है। वह वैधर्म्य दृष्टान्त है।

(5.) वैधर्म्यवत् कार्यहेतु–

अग्नि के न होने पर धूम नहीं होता और यहाँ धूम है– यह कार्य हेतु का वैधर्म्यवत् प्रयोग है। अग्नि के अभाव का निषेध से अग्नि के होने का निश्चय हो जाता है।

(6.) वैधर्म्यवत् स्वभाव हेतु–

अनित्यता न होने पर सत्ता, उत्पत्तिमत्ता अथवा कायता नहीं होती, किन्तु शब्द सत् है, उत्पत्तिमान् है तथा कृतक है– यह वैधर्म्यवान् स्वभाव हेतु का प्रयोग है। जो अनित्य नहीं, वह सत् नहीं। ठीक इसी अनुसार जो अनित्य नहीं, वह उत्पत्तिमान् नहीं, वह कृतक नहीं है।[4]

परार्थ अनुमान के रूप में परार्थानुमान की ऐतिहासिक रूपरेखाः

आचार्य धर्मोत्तर यह प्रमाणित करते हैं कि आचार्य दिङ्नाग ने ही सर्वप्रथम अनुमान तथा परार्थानुमान के बीच निश्चित तथा दृढ़ रेखा खींची थी। उन्होंने अनुमान के ज्ञान की एक प्रक्रिया के रूप में, हमारे ज्ञान के दो प्रमाणों में से एक के रूप में कल्पना करते हुए उसे 'स्वार्थानुमान' कहा। दूसरे को इन्होंने ज्ञान का प्रमाण नहीं बल्कि एक ऐसी विधि माना जिसके द्वारा किसी श्रोता-समूह के हित के लिए तर्कवाक्यों की एक द्वारा विश्वसनीय तथा शुद्ध रूप से ज्ञान को व्यक्त किया जा सके।

यह मत हमारे ज्ञान के दो प्रमाणों के बीच एक सैद्धान्तिक अन्तर के सिद्धान्त का ही परिणाम है। ज्ञान के केवल दो, और मात्र दो ही प्रमाण हैं क्योंकि अधिगत 'तत्त्वों' के दो और केवल दो ही प्रकार हैं। इन्द्रियाँ केवल अन्यतम स्थूल और विशेष का बोध करती हैं और अनुमान केवल सामान्य का बोध करता है। ज्ञान के एक ऐसे प्रमाण के रूप में ग्रहण करने पर जिसका ग्राह्यता के साथ विरोधी अन्तर है, अनुमान तथा प्रज्ञा परस्पर विकार्य शब्द होंगे। वास्तव में हमारे विश्लेषण ने यह दिखाया है कि अनुमान निश्चय के एक प्रकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं, और निश्चय भी प्रज्ञा की पद्धति का ही एक अन्य नाम है। अनुमान सामान्य से उसी प्रकार सम्बद्ध होता है, जिस प्रकार विशुद्ध ग्राह्यता निरपेक्ष विशेष अथवा वस्तुस्वलक्षण का बोध करती है। इस प्रकार के अनुमान को किसी श्रोतासमूह को किसी प्रतिज्ञा को सूचित करने के लिए प्रयुक्त तर्कवाक्यों की एक शृङ्खला से पृथक् करना चाहिए।[5] स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान के सिद्धान्तों के आरम्भकर्ता दिङ्नाग थे, न केवल साक्ष्य उपलब्ध होता है, वरन् हम इस प्रकार के पृथक्करण के तर्क का भी औचित्य सिद्ध कर सकते है, क्योंकि यह इनके दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त का एक साक्षात् परिणाम है।

धर्मोत्तर के वक्तव्य की उन सबसे पुष्टि होती है जो कुछ हम भारतीय तर्कशास्त्र के इतिहास के सम्बन्ध में जानते हैं। दिङ्नाग के परिष्कार के पूर्व की कृतियों में 'स्वार्थ' तथा 'परार्थ' अनुमानों का उल्लेख नहीं मिलता। न गौतम, न कणाद, न वात्स्यायन, और न ही किसी ऐसे का वसुबन्धु उल्लेख करते हैं जिसे हम जानते हों परन्तु दिङ्नागोत्तर प्रायः प्रत्येक तर्कशास्त्रीय कृति में अनुमानों के भेद प्राप्त होते हैं। प्रशस्तपाद, जो बहुत सम्भवतः दिङ्नाग के समकालीन थे, वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने वैशेषिक सम्प्रदाय के तर्कवाक्य में इसका समावेश किया।[6]

नैयायिक आरम्भ में अपने पञ्चावयवी परार्थानुमान को किसी श्रोतावर्ग को उपलब्ध ज्ञान सूचित करने वाले तर्कवाक्यों मात्र से युक्त नहीं मानते थे। फिर भी, दिङ्नाग के दृष्टिकोण को उद्योत्कर ने स्वीकार कर लिया था। नैयायिकों ने वैशेषिकों के उदाहरण को स्वीकार करते हुए अपने तार्किक उपदेश में परार्थ अनुमान के सिद्धान्त को सम्मिलित कर लिया। स्वार्थ अनुमान तथा परार्थ अनुमान के बीच अन्तर का उल्लेख हमें गङ्गेश के बाद की समस्त कृतियों में मिलता है। भारतीय तर्कशास्त्र की एक अन्य विशिष्टता, परार्थानुमानात्मक रूपों के सिद्धान्त के प्रति भी कुछ आवश्यक परिवर्तनों के साथ यही बात कही जा सकती है कि इसके दो और केवल दो ही वास्तविक रूप होते हैं तथा इस बात को भी कि परार्थानुमान में विशेष निश्चयों का कोई स्थान नहीं है, दिङ्नाग के बहुत पहले से

ही विभिन्न सम्प्रदायों ने मान लिया था, किन्तु इस तथ्य के वास्तविक अर्थ की खोज का श्रेय दिङ्नाग को ही दिया जाना चाहिये।[7]

---

1. बौद्ध-न्याय परम्परा, लेखकः-प्रो. विजयकुमार जैन, प्रकाशकः-मैत्री प्रकाशन, संस्करण-2009, पृ.सं.-69
2. तद् द्विविधम् साधर्म्यवद्वैधर्म्यवच्च। बौद्धतर्कभाषा, मोक्षाकरगुप्तकृत, हिन्दी अनुवाद-रघुनाथगिरि, पृ.सं.-55
3. बौद्धतर्कभाषा, मोक्षाकरगुप्तकृत, हिन्दी अनुवाद-रघुनाथगिरि, पृ.सं.-59
4. बौद्धतर्कभाषा, मोक्षाकरगुप्तकृत, हिन्दी अनुवाद-रघुनाथगिरि, पृ.सं.-61-62
5. बौद्ध-न्याय, शेरबात्स्कीकृत, हिन्दी अनुवादः- डॉ. रामकुमार राय, प्रकाशकः- चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, संस्करण-1969, पृ.सं.-348
6. बौद्ध-न्याय, शेरबात्स्कीकृत, हिन्दी अनुवादः- डॉ. रामकुमार राय, प्रकाशकः- चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, संस्करण-1969, पृ.सं.-349
7. बौद्ध-न्याय, शेरबात्स्कीकृत, हिन्दी अनुवादः- डॉ. रामकुमार राय, प्रकाशकः- चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, संस्करण- 1969, पृ.सं.-350

केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय,
लखनऊ परिसर, लखनऊ (उ.प्र.)।
दूरवाणी संख्या - 8604201089

McDougall Theory of Instinct : Relevance in Indian Context

– Prof. Avneesh Agrawal

(मूलप्रवृत्ति को सीखने की आवश्यकता नहीं होती – यह सोचे बिना स्वाभाविक रूप से होती है। मूलप्रवृत्ति एक जन्मजात आवेग है, जो आमतौर पर विशिष्ट बाहरी उत्तेजनाओं के जवाब में की जाती है। मूलप्रवृत्ति को आम तौर पर स्पष्ट रूप से अनसीखा और आनुवंशिक रूप से निर्धारित व्यवहार के रूप में वर्णित किया जाता है। विलियम मैकडॉगल, मूल प्रवृत्ति / सहज प्रवृत्ति (instinct) विषय पर कार्य करने वाले, 20वीं शताब्दी की शुरुआत के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक थे। जो अपने मूल प्रवृत्ति सिद्धांत (Theory of Instinct) के लिए जाने जाते थे। इन्होंने मानव व्यवहार और प्रेरणा को समझने में योगदान दिया। इस सिद्धान्त में मैकडॉगल ने बताया कि सभी जीव प्राकृतिक जैविक प्रवृत्तियों के साथ पैदा होते हैं, जो उन्हें जीवित रहने में सहायता करती है। प्रत्येक व्यक्ति में कम या ज्यादा मात्रा में यह प्रवृत्ति होती है, जो व्यवहार की प्रमुख निर्धारक होती है। मैकडॉगल का मूलप्रवृत्ति का सिद्धान्त व्यवहार को आकार देने में विरासत में मिली प्रवृत्तियों की भूमिका पर जोर देता है। ये प्रवृत्तियाँ मानव कार्यों को सञ्चालित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। उन्होंने तीन मुख्य प्रकार की प्रवृत्ति की पहचान की थी। प्राथमिक, माध्यमिक और तृतीयक वृत्ति। मनोविज्ञान का एक स्कूल है "हॉर्मिक मनोविज्ञान", जो मानता है कि सभी मानव और जानवरों का व्यवहार उद्देश्यपूर्ण और लक्ष्य-उन्मुख होता है। मानव व्यवहार, सहज आग्रहों और सचेत लक्ष्यों के संयोजन से प्रेरित होता है। प्रस्तुत लेख में प्रासंगिक रुप से मैकडॉगल के मूल प्रवृत्ति सिद्धान्त को भारतीय सन्दर्भों में मानव व्यवहार और संस्कृति को समझने के लिए एक सार्थक प्रयास किया गया है। भारतीय सन्दर्भों में व्यक्तिगत और सामूहिक व्यवहार को आकार देने में मूल प्रवृत्ति की जटिलताओं को समझने व चुनौतियों से निपटने के लिए अधिक सूक्ष्म दृष्टिकोण विकसित कर सकते हैं।)

Keywords: Instincts, Behaviour, Hormic, Primary, Secondary, and Tertiary Instincts, Indian Context.

William McDougall, a renowned psychologist propagated the Theory of Instinct in the early 20th century, provides a comprehensive framework for understanding human behavior through the lens of instincts. Instincts are innate, unlearned biological forces that drive behavior and are essential for survival and adaptation. Instinctive behavior is an adaptive response to a stimulus in one's environment. It is carried out by the nervous system as a result of genetics. This type of behavior is not a reflex, but rather a complex and species-specific pattern of activity. Instinctive behavior is also referred to as a stereotyped response. Instincts are not only inherited tendencies present in animals but also play a crucial role in shaping human actions, behavior and culture.

McDougall identified a variety of instincts, which he categorized into three main types: primary, secondary, and tertiary instincts.

Sr.No.	INSTINCTS	
1.	**Primary**	The most fundamental and include basic drives such as hunger, thirst, and sex.
2.	**Secondary**	More complex and involve social behaviors such as parenting, co-operation, and aggression.
3.	**Tertiary**	Even more abstract and encompass higher-order cognitive processes such as curiosity, creativity, and morality.

Instincts are innate, unlearned, and universal patterns of behavior that are characteristic of a species. These instincts are believed to be the product of evolutionary processes and serve to ensure the survival and reproduction of the species. The number of instincts including instincts of self-preservation, aggression, reproduction, and gregariousness are believed to be fundamental to human behavior. Instinct theory is a motivational theory propounded by William McDougall. He listed fourteen instincts:

Sr. No.	INSTINCTS (14)		
1.	Hunger	8.	Submission
2.	Curiosity	9.	Construction
3.	Escape	10.	Acquisition
4.	Pungnacity	11.	Crying out or appeal
5.	Sex	12.	Laughter
6.	Gregariousness	13.	Rest or sleep
7.	Self-assertion	14.	Comfort

An instinct does not need to learn – it happens naturally without even thinking about it. The instinct is an inborn impulse or motivation to action typically performed in response to specific external stimuli. Today instinct is generally described as an apparently unlearned and genetically determined behavior pattern. Now a days instinct is matter of concern in the field of purposive psychology; sociobiology and teleology.

Hormic Psychology:

The term “Hormic” comes from the Greek word horme, which means a vital urge to action.The hormic view of learning is a school of psychology originated in the 1920s, holds that all human and animal behavior is purposeful and goal-oriented.

Here are some key notions of the Hormic view of learning:

- **Instinctive motivation**: Instincts are the primary motivation for behavior.
- **Innate feeling**: People are inspired by an innate feeling of becoming great and perfect.
- **Past experiences**: Past experiences of pain and pleasure determine how people anticipate pain and pleasure, which in turn determines how they choose their activities.
- **Purposeful behavior**: All behavior is purposeful and goal-oriented, and is fundamentally different from mechanical processes.
- **Social psychological phenomena**: The hormic view is particularly concerned with explaining social psychological phenomena in terms of instinctive behavior.

The key aspect of McDougall's theory comes from "Instinct Theory" and the notion of the "Hormic Psychology of Learning," directs that behavior is driven by a combination of instinctual urges and conscious goals. He argued that instincts provide the basic impetus for behavior, while conscious thought and reasoning serve to guide and direct these instinctual urges towards specific goals. The instinctual impulses are the psychological manifestations of instincts that motivate behavior. These impulses can be influenced by both internal factors such as biological drives and emotions; and external factors such as environmental stimuli and social norms.

Relevance of McDougall's Instinct Theory in Indian Context

In the Indian context, McDougall's theory of instinct can be applied to understand various aspects of human behavior and society. It can contribute to our understanding of human behavior and culture in several ways.

❖ Firstly, India is a culturally diverse country with a rich tapestry of traditions, beliefs, and practices. McDougall's framework can help us analyze how instinctual drives influence cultural norms and values, shaping everything from family structures to religious rituals. For example, the instinctual drive for **social cohesion and belonging,** which McDougall identified as a secondary instinct, can shed light on the importance of community and collectivism in Indian society. Concepts such as "family honor" and "duty towards one's community" can be understood as manifestations of this instinctual drive for social cohesion.

- India, with its diverse cultural and social landscape, provides a rich context for exploring the role of instincts in shaping behavior. For example, the **instinct of gregariousness**, or the tendency to seek out and form social groups, can be observed in the strong emphasis on community and family ties in Indian society. The concept of caste or creed, for instance, can be seen as a manifestation of this instinct, with individuals identifying strongly with their social group and seeking to maintain close ties within it.
- Similarly, the **instinct of self-preservation** can be seen in the emphasis on health and well-being in Indian culture, as well as in practices such as yoga and Ayurveda, which are aimed at maintaining physical and mental health.
- McDougall's theory can also help us understand the role of **instincts in shaping social hierarchies** and power dynamics within Indian society. The instinctual drive for **dominance and submission**, which McDougall classified as a secondary instinct, can be observed in the caste system and other forms of social stratification in India. By examining how these instinctual drives interact with cultural and historical factors, we can gain deeper insights into the complexities of Indian society.
- McDougall's theory provides a framework for understanding the role of **instincts in driving individual behavior and decision-making** in India. For instance, the instinctual drive for self-preservation, a primary instinct, can explain behaviors such as **risk aversion and resource accumulation** in the context of India's socio-economic landscape. Similarly, the instinctual drive for curiosity and exploration, which McDougall categorized as a tertiary instinct, can shed light on the importance of education and intellectual pursuits in Indian culture.
- The **instinct of aggression**, while often viewed negatively, can also be seen in a positive light in the context of Indian history, where individuals and communities have often displayed a strong **sense of resilience and determination** in the face of adversity.

In addition to its descriptive value, McDougall's theory also has practical implications for various domains in India, including education, healthcare, and social policy. By recognizing the influence of instincts on human behavior, policymakers and educators can design interventions and programs that are more attuned to the innate needs and motivations of individuals. For example, in the field of education, understanding the instinctual drive for mastery and competence can inform teaching strategies that promote intrinsic motivation and engagement among

students. Similarly, in healthcare, recognizing the role of instincts in health-related behaviors can lead to more effective interventions for promoting healthy lifestyles and preventing disease.

In conclusion, McDougall's theory of instinct and school of Hormic Psychology emphasizes the goal seeking, striving and foresightedness with instincts serving as the primary motivation for behavior. It is particularly concerned with explaining social psychological phenomena in terms of instinctive behavior. It knits a valuable framework for understanding human behavior and culture in the Indian context. By exploring the role of instincts in shaping individual and collective behavior, we can gain deeper insights into the complexities of Indian society and develop more nuanced approaches to addressing its challenges.

References:–

1. David Ray Griffin, (1997) Parapsychology, philosophy, and spirituality: a postmodern exploration.
2. William McDougall (1911) Body and mind: A history and a defense of animism Methuen,
3. W. McDougall, (1912) An *Introduction to Social Psychology*. 6th ed. John W. Luce &Co., Boston (online)
4. *W. McDougall, (1960),An Introduction to Social Psychology (23rd ed.), Imprint of Methuen & Co (London) and Barnes & Noble (New York).*
5. https://en.wikipedia.org/wiki/William_McDougall_(psychologist)
6. https://study.com/academy/lesson/instinct-definition-lesson-html

Senior Professor,
Head of the Department of
Shikshashatra Vidyashakha,
Central Sanskrit University,
Lucknow Campus, Lucknow.

WILLIAM SHAKESPEARE AND IRONY

– Dr. Kavita Bisaria

(यह पत्र शेक्सपियर के कार्यों में व्यंग्य के उपयोग का विश्लेषण करता है, नाटककार विभिन्न प्रकार के व्यंग्य का उपयोग करके अपने पात्रों और कथानकों की जटिलता को गहरा करते हैं। ट्वेल्थ नाइट, मैकबेथ, और हैमलेट जैसे नाटकों का विश्लेषण करते हुए, यह पत्र यह दिखाता है कि व्यंग्य-भ्रमद्र धोखे और जीवन की अप्रत्याशितता के विषयों को कैसे बढ़ाता है। शेक्सपियर का व्यंग्य हास्यपूर्ण और त्रासदीपूर्ण सन्दर्भों में दोनों ही स्थितियों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस अध्ययन में शेक्सपियर के नाटकों में व्यंग्य की बहुआयामी भूमिका का पता लगाया गया है और यह बताया गया है कि यह पात्रों, कथानकों और दार्शनिक अन्वेषणों के विकास को कैसे आकार देता है।)

Abstract:

Irony is a central theme in Shakespeare’s works, offering both comedic and tragic depth. Through the use of dramatic, situational, and verbal irony, Shakespeare explores themes of human nature, fate, social order, power, and identity. This paper provides an in-depth analysis of the use of irony in Shakespeare’s major works, investigating how it shapes the development of his characters, narratives, and philosophical inquiries. By analyzing plays like *Romeo and Juliet*, *Macbeth*, *Twelfth Night*, *King Lear*, and others, this study illustrates the nuances of irony and its multifaceted role in making Shakespeare’s plays relevant across centuries. This paper explores the use of irony in the works of William Shakespeare, examining how the playwright employs various forms of irony to deepen the complexity of his characters and plots. Shakespeare's mastery of verbal, situational, and dramatic irony allows him to engage audiences in a more interactive experience, often encouraging reflection on human nature, fate, and societal norms. Through an analysis of plays such as *Twelfth Night*, *Macbeth*, and *Hamlet*, the paper highlights the ways in which irony enhances themes of confusion, deception, and the unpredictability of life. By investigating Shakespeare’s use of irony, this study underscores its role in both comedic and tragic contexts, enriching the dramatic experience and offering timeless insights into human behavior.

Keywords: Shakespeare, irony, dramatic irony, verbal irony, situational irony, tragedy, comedy, fate, identity, power.

Introduction:-

William Shakespeare’s plays have long been celebrated for their complexity, depth, and ability to resonate with audiences across time. Among the many literary devices he employs, irony stands out as one of the most powerful tools in his arsenal. Irony allows Shakespeare to create rich, layered narratives that not only entertain but also provoke deep philosophical reflection. The intricate use of irony in his works creates tension, heightens emotion, and often challenges the audience’s perceptions of characters, morality, and fate.

Irony functions in various ways throughout Shakespeare's works. Dramatic irony provides the audience with superior knowledge, creating anticipation and often dread. Situational irony underscores the unpredictable and often paradoxical nature of human existence, where actions taken with the best of intentions lead to unintended consequences. Verbal irony, on the other hand, involves characters saying one thing while meaning another, often used for comic effect or to reveal character flaws and contradictions.

Irony is a powerful and pervasive device in literature, and few writers have employed it as skillfully as William Shakespeare. Known for his ability to capture the complexities of the human condition, Shakespeare often used irony to enhance the dramatic tension and depth of his plays. From the humorous misunderstandings in *Twelfth Night* to the tragic twists in *Macbeth*, irony in Shakespeare's works serves as a tool to explore themes of deception, fate, and the disparity between appearance and reality. This paper aims to examine how Shakespeare masterfully utilizes various forms of irony—verbal, situational, and dramatic—to develop his characters, create complex plots, and offer profound insights into human nature. By focusing on key works such as *Hamlet*, *King Lear*, and *Othello*, we will explore how Shakespeare’s use of irony both captivates the audience and provides a rich medium for exploring the intricacies of power, identity, and morality.

This study aims to provide a comprehensive analysis of Shakespeare’s use of irony in his plays, exploring how this device

shapes his thematic concerns, character development, and overall narrative structure. Through an examination of major plays such as *Romeo and Juliet*, *Macbeth*, *Twelfth Night*, *King Lear*, *Julius Caesar*, *The Tempest*, and others, this paper will explore how irony serves not only as a structural device but also as a medium through which Shakespeare comments on the human condition, society, and morality.

1. Irony in Shakespeare: A Theoretical Framework

Before delving into specific plays, it is essential to first define and discuss the concept of irony in literature. Irony is a rhetorical device used to convey an incongruity between what is said and what is meant, or between appearance and reality. In literary works, this discrepancy creates meaning that can be humorous, tragic, or deeply philosophical. Shakespeare uses three main types of irony: dramatic, situational, and verbal

The concept of irony in Shakespeare's works can be analyzed through various lenses, drawing upon classical, structural, and cognitive theories. At its core, irony operates as a tool for revealing the contradictions inherent in human nature, social structures, and the individual psyche. Aristotle's rhetoric emphasized the contrast between appearance and reality, which aligns with Shakespeare's frequent use of verbal and situational irony to subvert audience expectations and create profound meaning. Dramatic irony, where the audience knows more than the characters, is especially prevalent in tragedies like *Macbeth* and *Othello*, where the disparity between the characters' actions and the audience's knowledge heightens emotional engagement and underscores the theme of fate versus free will. Cognitive theories of irony also suggest that Shakespeare's audience is invited into a complex process of recognition, where they must discern the layers of meaning between what is spoken and what is truly meant. Additionally, Shakespeare's use of irony often functions as a critique of social and political institutions, using humor and absurdity to expose the flaws in authority, morality, and justice. This theoretical framework will explore how these forms of irony are not merely devices for humor or plot advancement, but also contribute to the deeper thematic concerns of Shakespeare's works, engaging audiences in a reflective exploration of the complexities of human existence.

Dramatic Irony:-

Dramatic irony occurs when the audience knows something that the characters do not. This knowledge creates tension, as the audience anticipates how the characters will react when they learn the truth. In many of Shakespeare's tragedies and comedies, dramatic irony deepens the emotional impact of the play, as the audience watches characters unknowingly move toward their fate. **Dramatic Irony** is a powerful literary device in which the audience knows more about a situation, event, or conversation than the characters involved. This creates a contrast between what the characters believe or understand and what the audience knows to be true. In essence, the irony lies in the disparity between the characters' perceptions and the reality presented to the audience.

In Shakespeare's plays, dramatic irony is often used to heighten tension, build suspense, or add layers of meaning to the narrative. By knowing more than the characters, the audience is able to anticipate the consequences of actions, often leading to a more emotionally charged experience as the plot unfolds.

For example, in *Romeo and Juliet*, the audience is aware of the lovers' tragic fate, yet the characters remain oblivious. This tension builds throughout the play, especially as their doomed love leads to misunderstanding and death.

Situational Irony:-

Situational irony arises when there is a stark contrast between what is expected to happen and what actually occurs. It reflects the unpredictable nature of life and human experience. Shakespeare frequently uses situational irony to comment on the futility of human ambitions and desires. Characters often take actions that they believe will lead to positive outcomes, only to find that these actions lead to the opposite result. **Situational irony** occurs when there is a discrepancy between what is expected to happen and what actually happens. In other words, the outcome of a situation is opposite to what the audience or characters anticipate. It is often used to emphasize the unpredictability of life, highlight the contrast between appearances and reality, and explore themes of fate, justice, or human folly.

In *Macbeth*, for instance, Macbeth's ambition leads him to murder Duncan and seize the throne. However, rather than gaining

peace and power, his actions lead to paranoia, further violence, and ultimately, his death. This stark contrast between expectation and reality exemplifies the futility of Macbeth's quest for power.

Verbal Irony:-

Verbal irony involves a character saying one thing but meaning another. This can be used for various purposes: to create humor, reveal character flaws, or expose societal contradictions. Shakespeare uses verbal irony to illuminate the discrepancies between a character's public persona and private intentions, often making a point about the complexities of identity. **Verbal irony** occurs when a character says one thing but means another, often in a way that contradicts the literal meaning of their words. This type of irony is often used to convey sarcasm, wit, or to highlight contradictions between a character's actions and their words. Verbal irony relies on the audience's understanding that there is a difference between what is spoken and what is meant, allowing the speaker to communicate something indirectly.

In Shakespeare's works, verbal irony is frequently used to develop characters, provide humor, and create layers of meaning that add depth to the dialogue. It can serve both comedic and dramatic purposes, depending on the context in which it is used.

In *Julius Caesar*, Mark Antony's famous funeral speech contains verbal irony. He repeatedly refers to Brutus as an "honorable man" while suggesting the opposite through his tone and implication. The audience, aware of Brutus's betrayal, understands the irony in Antony's praise.

2. Dramatic Irony in Shakespeare's Tragedies:-

Shakespeare's tragedies are particularly rich in dramatic irony. The audience often possesses knowledge that the characters do not, which heightens the emotional stakes and creates a sense of inevitability. Dramatic irony is especially significant in plays like *Romeo and Juliet*, *Macbeth*, and *Othello*, where the audience watches helplessly as characters move toward their tragic fates.

Romeo and Juliet: The Tragedy of Forbidden Love:-

One of the most famous examples of dramatic irony in Shakespeare's works occurs in *Romeo and Juliet*. The audience knows

that Juliet is not truly dead but in a death-like sleep induced by a potion, while Romeo believes she has died. This misunderstanding leads to his tragic decision to kill himself. The audience's knowledge of Juliet's true condition heightens the tragedy, as they are forced to watch as Romeo makes a fatal choice based on false information. In *Romeo and Juliet*, dramatic irony is pervasive from the beginning of the play. The audience is aware of the lovers' tragic fate, but Romeo and Juliet are unaware that their families' feud will ultimately lead to their deaths. The tragic irony is heightened in the final scenes when Romeo, believing Juliet is dead, takes poison, and Juliet awakens to find him dead beside her. The dramatic irony here is not only in the lovers' misunderstanding but also in the larger societal forces—the feud between their families—that render their love doomed from the start.

This form of irony is often used to provoke pity and fear in the audience. The sense of inevitability that accompanies the characters' actions draws attention to the inescapability of fate and the futility of human desires in a world shaped by powerful external forces.

Macbeth: The Tragic Consequences of Ambition:-

In *Macbeth*, the audience is aware that Macbeth is a deeply flawed and ambitious character, while other characters, such as King Duncan and Banquo, trust him. Dramatic irony is present when Macbeth receives prophecies from the witches that seem to promise him greatness, but the audience knows that these predictions will lead to his eventual downfall. The tension arises as the audience waits to see how Macbeth's actions, fueled by the prophecies, will unfold. .In *Macbeth*, dramatic irony plays a central role in the play's exploration of ambition, power, and fate. The audience knows from the start that Macbeth's ambition will ultimately lead to his downfall. The witches' prophecy, which promises that Macbeth will become king, creates a sense of dramatic irony. As Macbeth ascends to the throne through murder, the audience is aware of the consequences of his actions—paranoia, violence, and ultimately death—long before Macbeth realizes it.

One of the most significant instances of dramatic irony occurs when Macbeth misinterprets the witches' prophecy, believing he is invincible. The witches tell him that no man born of a woman will harm him, and Macbeth takes this to mean he is invulnerable. However, the audience knows that Macduff, who kills Macbeth, was

not “born of a woman” in the usual way, but delivered by Caesarean section.

Othello: The Destructive Power of Jealousy:-

Othello is another tragedy where dramatic irony is key to understanding the play’s themes of jealousy, manipulation, and trust. The audience knows Iago's true intentions—he is deceiving Othello and planting seeds of doubt about Desdemona's fidelity—while Othello remains unaware of Iago’s treachery. The tension grows as the audience watches Othello fall deeper into jealousy and mistrust, leading to tragic consequences. The audience knows that Iago is manipulating Othello into believing that his wife, Desdemona, has been unfaithful. However, Othello remains unaware of Iago’s treachery, which leads him to murder Desdemona in a fit of jealousy. The tragic irony is compounded by the fact that Iago's manipulation ultimately leads to Othello's own downfall. The audience's awareness of the truth intensifies the sense of inevitability and tragedy, making Othello's jealousy even more destructive.

3. Situational Irony: Human Endeavor and the Futility of Ambition:-

Situational irony is especially prevalent in Shakespeare's tragedies, as it often highlights the contrast between a character’s desires and the reality they face. It also serves to critique the nature of human ambition, showing how individuals’ attempts to control their own destinies can lead to unforeseen consequences.

Macbeth: The Irony of Power:-

In *Macbeth*, situational irony is evident in the downfall of the protagonist. Macbeth is told by the witches that he will become king, but he must kill Duncan to seize the throne. He expects to be safe after killing Duncan, but his guilt and paranoia lead to his eventual downfall. Macbeth anticipates a secure rule, but instead, his actions set in motion a chain of events that results in his death. The irony lies in how his ambition to control fate leads to his destruction. In *Macbeth*, Macbeth’s decision to murder King Duncan and seize the throne is an act driven by ambition, but it ultimately leads to his undoing. Macbeth believes that murdering Duncan will secure his reign and bring him peace. However, the act of murder sets off a chain reaction of violence and paranoia, and Macbeth’s reign is marked by insecurity and fear. In

the end, Macbeth is killed by Macduff, and his quest for power leads only to destruction. The irony of Macbeth's situation lies in the fact that his ambition for power, which he believes will give him security and control, leads him directly to his demise.

Twelfth Night: Disguises and Mistaken Identities:-

In *Twelfth Night*, situational irony is central to the plot, especially through the use of mistaken identities and disguises. Viola's disguise as Cesario leads to a series of romantic entanglements. The Duke falls in love with Cesario, believing him to be a man, while Olivia falls in love with Cesario, unaware that he is actually a woman. The confusion created by these mistaken identities leads to a series of humorous and ironic situations, ultimately resulting in the revelation of true identities and the resolution of the romantic conflicts.

The situational irony in *Twelfth Night* reflects Shakespeare's exploration of the fluidity of gender and identity, as well as the comedic possibilities that arise from the confusion of social roles.

"A Midsummer Night's Dream":

- In *A Midsummer Night's Dream*, there is a moment of situational irony when the love potion causes characters to fall in love with people they would not ordinarily be attracted to. For example, Lysander, who was once in love with Hermia, suddenly falls for Helena after being enchanted. The audience expects Lysander and Hermia to end up together, but the potion creates an unexpected, and ultimately humorous, twist in their love lives.

"King Lear":

- In *King Lear*, one of the most poignant examples of situational irony is Lear's decision to divide his kingdom among his daughters. He expects Goneril and Regan to care for him after he gives them his wealth, based on their flattering words. However, both daughters turn out to be deceitful and cruel, while Cordelia, who spoke honestly and was disinherited, proves to be the most loyal and loving daughter. The situation is ironic because Lear's initial judgment leads to his downfall, as the daughters he thought he could trust betray him, and the one he disrespected remains steadfast.

“The Merchant of Venice”:

- In *The Merchant of Venice*, the trial scene demonstrates situational irony when Shylock, the Jewish moneylender, demands the pound of flesh from Antonio according to the bond they agreed upon. However, the twist is that Shylock did not anticipate that he would not be allowed to take any blood with the flesh. The letter of the law, which Shylock uses to his advantage, turns out to be his downfall as the law is used against him in an unexpected way.

4. Verbal Irony: Revealing Character and Society

Verbal irony is used in Shakespeare’s plays to reveal the contradictions between characters’ words and actions, often serving as a vehicle for social criticism. Through verbal irony, Shakespeare critiques societal norms, exposes hypocrisy, and deepens the audience’s understanding of characters’ motivations.

Julius Caesar: The Politics of Speech:-

In *Julius Caesar*, one of the most famous examples of verbal irony occurs in Mark Antony’s funeral speech. Antony repeatedly calls Brutus and the conspirators "honorable men," but his tone and the context of his speech suggest the opposite. The audience, aware of Brutus’s betrayal, understands that Antony’s praise is deeply ironic. Through this verbal irony, Antony manipulates the crowd, turning public opinion against the conspirators and paving the way for civil unrest. The speech exemplifies how verbal irony can be a powerful tool for persuasion and political manipulation.

Hamlet: Cynicism and Wit:-

Hamlet is another play where verbal irony is used extensively to reveal the protagonist’s inner turmoil and disillusionment. Hamlet’s frequent use of irony, particularly in his interactions with his mother, Claudius, and Polonius, serves to expose the corruption and deceit at the heart of the Danish court. His famous remark, "Frailty, thy name is woman!" is ironic not only because Hamlet’s own indecisiveness makes him equally "frail," but because it reveals his internal conflict and bitterness toward his mother’s quick remarriage to Claudius.

Verbal irony in *Hamlet* allows the audience to see through the façades presented by the characters, revealing deeper truths about their motivations and the corrupt nature of the world in which they live.

“Twelfth Night”:-

- In *Twelfth Night*, the character of Feste, the fool, often uses verbal irony to make pointed comments. For instance, when he refers to the grieving Olivia, he tells her, "Nothing that is so is so." Here, Feste is commenting on the contradictions in Olivia's behavior—she mourns for her brother, yet she quickly falls in love with Cesario (Viola in disguise). The irony lies in the fact that Olivia is grieving over something that, to others, might seem exaggerated or temporary, and the audience is in on the joke that her mourning is more a theatrical display than a genuine emotion.

“Much Ado About Nothing”:-

- In *Much Ado About Nothing*, the characters of Beatrice and Benedick engage in witty verbal duels filled with irony. For example, when Beatrice sarcastically claims, "I know you of old," she means the opposite, revealing her disdain for Benedick. The irony is that while she pretends not to care for him, her words indirectly show her true feelings. This type of verbal irony is used throughout the play to underscore their relationship, as both characters use ironic statements to conceal their emotions.

“Macbeth”:-

- In *Macbeth*, verbal irony is often used to highlight the contrast between the characters' public personas and their inner thoughts. For instance, when Lady Macbeth tells her husband to "Look like the innocent flower, but be the serpent under’t," she is advising him to appear harmless while secretly being ruthless. The verbal irony here lies in the contrast between the "innocent flower" and the "serpent," emphasizing the duplicity and treachery that will define Macbeth’s rise to power.

“The Merchant of Venice”:-

- In *The Merchant of Venice*, Shylock uses verbal irony when he speaks of the bond he has with Antonio. When he says, "If you repay me not on such a day, in such a place, such a sum or sums as are expressed in the bond, let the forfeit be nominated for an equal pound of your flesh," the literal meaning is one of cold, calculating vengeance. However, the irony is that he does

not fully anticipate the legal loophole that will turn his demand into a punishment for him. Shylock's rigid adherence to the bond is ironic because it leads to his own downfall.

5. Irony as a Commentary on the Human Condition:-

Shakespeare's use of irony is not merely a narrative device; it is a means through which he comments on the complexities of the human experience. The irony in his plays often reflects the contradictions inherent in human nature, where characters' desires, actions, and outcomes are shaped by forces beyond their control. irony **as a Commentary on the Human Condition** in Shakespeare's works plays a vital role in exploring the complexities of human nature, societal norms, and the inevitable contradictions in life. Through various forms of irony—dramatic, situational, and verbal—Shakespeare not only crafts compelling narratives but also delves into profound philosophical and psychological questions about identity, power, fate, and morality. Irony becomes a tool through which Shakespeare reflects the paradoxes of the human experience, revealing the gap between appearances and reality, intention and outcome, and belief and action.

Key Aspects of Irony as a Commentary on the Human Condition:

1. **The Fallibility of Human Judgment**:-
    - One of the most persistent themes in Shakespeare's works is the fallibility of human judgment, and irony often highlights this. Characters frequently make decisions based on limited knowledge, misplaced trust, or misguided beliefs, leading to tragic or ironic outcomes. This fallibility emphasizes the limitations of human understanding and the precariousness of human existence.
    - In *King Lear*, for instance, Lear's judgment in dividing his kingdom based on his daughters' flattery instead of their true loyalty is a powerful example of situational irony. The outcome—Lear's eventual madness and tragic death—underscores the consequences of flawed human judgment and the inability to see beyond appearances. Lear's trust in superficial words, rather than genuine actions, leads to his downfall, reflecting the theme of human misperception.

2. **The Paradox of Human Nature**:-

- Shakespeare often uses irony to highlight the contradictions within human nature. Characters in his plays frequently embody conflicting traits, such as love and hate, loyalty and betrayal, wisdom and folly. Irony exposes these contradictions, shedding light on the complexity and multifaceted nature of individuals.

- In *Macbeth*, for example, Macbeth's ambition is a key driver of the plot, and the irony lies in how his desire for power leads to his own destruction. Macbeth believes that by murdering King Duncan and securing the throne, he will achieve peace and stability, yet this act of violence only spirals him into further bloodshed, paranoia, and despair. His tragic end highlights the irony that what he seeks—power—ends up being his undoing. This also reflects the broader human condition: the pursuit of personal gain can often result in personal ruin.

3. **Fate vs. Free Will**:-

- Irony in Shakespeare's plays often explores the tension between fate and free will, illustrating how human beings grapple with the forces that shape their lives. The gap between characters' desires or intentions and the reality of their situations underscores the fragile nature of free will and the unpredictability of fate.

- In *Romeo and Juliet*, the two lovers are driven by their passion and the belief that they can control their destinies, yet the tragic irony is that their love leads to their untimely deaths. The audience knows that the "star-crossed" nature of their fate is already sealed from the beginning, but Romeo and Juliet's actions, driven by their emotions, ironically bring about the very outcome they hoped to avoid. This reflects the broader human condition: the tension between trying to shape one's own fate while being constrained by forces beyond one's control.

4. **The Absurdity and Tragicomedy of Life**:-

- Shakespeare often juxtaposes comedy and tragedy, using irony to explore the absurdity of human existence. Life, with its

inherent contradictions and randomness, is depicted as both laughable and tragic. Irony is a tool through which Shakespeare exposes this duality, as his characters' efforts to control their lives often lead to unpredictable and paradoxical outcomes.

- In *Twelfth Night,* Shakespeare uses situational and verbal irony to highlight the absurdity of social norms, love, and identity. Characters like Viola, who disguise themselves in order to gain love or power, embody the theme of mistaken identity. The irony here lies in how their deceptions ultimately lead to resolutions that bring both comedic and tragic elements. For instance, Viola's mistaken identity as Cesario, while initially creating comic misunderstandings, also sheds light on the fluidity and complexity of gender and social roles, revealing the instability of identity itself.

5. **Moral and Ethical Irony**:-
   - Irony in Shakespeare's plays often exposes the moral and ethical contradictions in society. Characters who engage in deceit, manipulation, or betrayal often face ironic consequences that force the audience to reflect on the ethical dimensions of their actions. Shakespeare uses irony to critique social norms, highlighting the discrepancies between what society claims to value and how people actually behave.

   - In *The Merchant of Venice,* Shylock's demand for a pound of flesh, which he views as a just punishment, becomes ironic when the legal system twists it against him. The irony is not just in the legal outcome, but in the broader moral question of justice and mercy. Shakespeare's portrayal of Shylock, often seen as both a villain and a victim, invites the audience to consider the complexities of justice and revenge in human society, reflecting the ethical ambiguities of the human condition.

6. **The Inevitability of Death**:-
   - Shakespeare often uses irony to explore the inevitability of death, a central theme in many of his tragedies. The dramatic irony in plays like *Hamlet* and *Macbeth* heightens the tragic

awareness of death's certainty, making the characters' actions seem both futile and inevitable.

- In *Hamlet*, the protagonist’s delay in avenging his father’s death is both tragic and ironic. Hamlet’s philosophical musings about life, death, and existence provide a stark contrast to the inevitable actions that will lead to his own demise. The irony lies in Hamlet’s struggle with inaction and overthinking, which ultimately leads him to fulfill the destiny he tried to avoid.

6. Conclusion:-

Shakespeare’s mastery of irony is one of the key reasons his works have endured for centuries. Through dramatic, situational, and verbal irony, Shakespeare creates complex characters, intricate plots, and rich thematic explorations of human nature, society, and fate. Irony in Shakespeare’s plays serves not only as a narrative tool but as a means of engaging the audience in deeper reflections on the paradoxes of life. Whether in the tragic fates of *Romeo and Juliet* and *Macbeth* or the comedic misunderstandings of *Twelfth Night*, irony reveals the tension between appearance and reality, the unpredictability of human desire, and the complexities of identity and morality.

In examining Shakespeare’s use of irony, it becomes clear that his works continue to resonate with modern audiences because they speak to universal truths about the human condition. Shakespeare’s use of irony transcends the specifics of his time, making his works relevant across cultures and eras. By highlighting the discrepancies between what is said and what is meant, what is expected and what actually occurs, Shakespeare forces us to confront the complexities of life and to reflect on the inherent contradictions that define the human experience.

Irony serves as a central device in Shakespeare’s exploration of the human condition, offering a profound commentary on the complexities, contradictions, and inherent unpredictability of human life. Through dramatic, situational, and verbal irony, Shakespeare masterfully exposes the gap between appearance and reality, intention and consequence, as well as the inherent flaws in human judgment and perception.

In his tragedies, irony often leads to the downfall of characters who are blind to their own faults, actions, or the larger forces that control their lives. Whether it's the fatal flaws of characters like Macbeth, Lear, or Hamlet, or the mistaken identities and misunderstandings in his comedies, Shakespeare uses irony to highlight the fragility of human understanding and the futility of attempting to control one's fate. The tension between fate and free will, exemplified by characters who strive to change their destinies only to fulfill them in an unexpected way, is a recurring theme in his works.

Moreover, irony in Shakespeare's plays engages the audience emotionally and intellectually, making them active participants in the unfolding drama. The audience, aware of the disparity between what is said and what is meant, or between what is expected and what actually occurs, is often drawn into the irony's deeper layers, provoking reflection on the characters' moral choices and the consequences of their actions.

Through the various forms of irony, Shakespeare not only entertains but also offers a lens through which we can examine the contradictions and complexities of the human experience. Ultimately, irony in Shakespeare's works challenges the audience to consider the nature of truth, justice, identity, and mortality—illuminating both the tragic and comic aspects of life. His use of irony invites us to reflect on the unpredictable and paradoxical nature of existence, making his plays timeless and resonant with audiences across generations.

References:-

1. Boyce, Charles. *William Shakespeare- A Literary Reference to His Life and Work*. 2005.
2. The Riverside Shakespeare, 1974, Houghton Mifflin Company.
3. Tilak, Dr. Raghukul. *Antony and Cleopatra by William Shakespeare*. Rama Brothers, 2014.
4. Tilak, Dr. Raghukul. *Twelfth Night by William Shakespeare*. Rama Brothers.
5. N. Rowe, E.F.Q. *The Works of Mr. William Shakespeare*, in six volumes, Revised and corrected, with an Account of the Life and Writings of the Author. London: Jacob Tonson, 1709.
6. *The Oxford Shakespeare*, The Complete Works (2nd edition), Oxford University Press, 2005.
7. Booth, W.C. *A Poetic of Irony*. University of Chicago Press, 1974.

8. Greene, R. *Shakespeare's Playworld*. University of Chicago Press, 1980.
9. Leech, C. *Shakespeare's Tragedies*. Routledge, 1969.
10. Muir, K. *Shakespeare's Tragic Sequence*. Liverpool University Press, 1972.

Footnotes:-

1. For an in-depth discussion of dramatic irony in Shakespeare, see Booth's *A Poetic of Irony* (1974), where he explores how irony is used to manipulate audience expectations and subvert traditional narrative structures.
2. Leech's *Shakespeare's Tragedies* (1969) provides a critical analysis of how Shakespeare uses irony not just for comic effect, but also as a means of deepening the emotional and philosophical resonance of his tragedies.
3. The use of disguise and mistaken identity in *Twelfth Night* is discussed extensively in Greene's *Shakespeare's Playworld* (1980), focusing on how irony plays a central role in the play's exploration of love and gender roles.

Assistant Professor,
Central Sanskrit University,
Vishal Khand-4, Gomti Nagar,
Lucknow-226010.

RASA SIDHANTA

– Dr. K. Narayanan

(संस्कृतवाङ्मये 'रसः' इति विषयमधिकृत्य अनेकाः चर्चाः प्रचलिताः सान्ति। अस्योत्पत्तिः ऋगवेदादिति सुविदितम्। साधारणतया अस्थार्थः सोमरसः इति ज्ञायते। जलं, क्षीरं, मधु इत्यादीनां रसः। साहित्यशास्त्रे रसस्य विशेषार्थः सौन्दर्यानुभूतिः इति वक्तुं शक्यते। साहितीयकुतुकिनां कृते अयं विषयः मनोरञ्जनदायकः। अत्र अस्मिन्निबन्धे रसो नाम किमिति परिशीलयामः। तत्र प्रसिद्धानाम् आचार्याणां मतानुसारं अमुं विषयं स्पष्टी कर्तुं उद्यमः क्रियते। काव्यं नाम किम्? तस्य गुणाः के? 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' इत्यत्र शब्दार्थयोः विशकलनमपि क्रियते। विविधमतानि अनेकाः चर्चाः तेषामध्ययनम् अध्यापनञ्च अमुं विषयं सम्पुष्टं करोतीति न संशयः ।)

The history of Rasa begins from Rg veda where it is generally used in the sense of the juice of the soma plant. It also denotes water milk, flavour and taste and essence. The Taitiriya Upanisad describes it 'raso vai sah 'rasam hyevayam labdhvanando bhavati' which describes the Supreme Reality. It is very likely that the earlier thinkers in literary criticism took this Rasa to mean the aesthetic pleasure.

Valmiki stands at the threshold of the development of the theory of Rasa and he is believed to be the father of the theory of Rasa. But it was definitely formulated in its. First time by Bharata in his Natyasastra. Hence Bharata may justly claim the title of the Father of Sanskrit literary criticism. During the period between Bharata and Anandavardhana the theory of Rasa gained little favour among the literary critics. Before discussing the theory of rasa in detail we have to go through briefly some of the definitions of poetry.

What is poetry? The earlier definitions support sound and sense as equally important in poetry. Some others give more importance to sound alone. Bhamaha, Mammata, Vidyanatha, Vagbhata and Hemacadnra give equal importance to sound and sense. Bhamaha says * "sabdarthau sahitau kavyam"[1]. Mammata defines poetry "Tadadosau sabdarthau sagunavanalamkrti punah kvapi" But Dandin gives more emphasis on sound – "sariram tavadistarthavyavaccinna padavali"[2] Jagannatha defines poetry thus "ramaniyarthapratipadaksh sabdah kavyam" [3] Like human beings the kavya possesses body and soul. If words are the body of poetry, what is the soul of poetry? To this question several scholars have given various answers. Vamana says that Riti is the soul of poetry. According to Anandavardhana dhavani is the soul of poetry. Kuntaka says that vakrokti is the soul of poetry and includes dhvani under vakrokti. The Rasa School of Bharata made rasa the soul of poetry or drama. Anandavardhana extends the concept of the rasa theory and lays down that rasadhvani is the best poetry. Viswanatha defines poetry thus "vakyam rasatmakam kavyam".

There are eight schools in Sanskrit poetics viz rasa alankara guna riti dhvani vakrokti aucitya and anumana. The view of Mahimabla is that dhvani is in under

anumana. As he had no followers, he need not be considered as a founder of a school in order to understand the relative positions of rasa with other theories, they have to be examined and discussed here.

The Rasa School:

The earliest exponent of the Rasa School is Bharata. Kavya and natya are regarded as synonyms. The relation of rasas to poetry in general was not systematically dealt with till the Dhvanyaloka was composed. But it would not be correct to say that writers on poetics were not at all cognizant of the employment of rasas. The Kavyadarsa describes how the figure 'llrasavat' is depended on one of the eight rasas. Dandin was aware of the between sthayibhava and rasa. Bhamaha was also aware of rasas. But he did not treat them as the most essential element in poetry. He says that a mahakavya should be endowed in rasas. Vamana also says[4] "diptarasatvam kantih" Rudrata is the first writer to treat of rasas in his work kavyalankara. Even in Natyasastra, rasa is not the principal subject, but it is dealt with therein because of its relation to dramatic representation. The Natyasastra says that without rasa nothing can be done in drama. The Abhinavabharati remarks that one rasa runs like a thread in rupaka. According to the kavyamimamsa, Bharata dealt with rupakas and Nandikeswara with resas. But the present Natyasastra deals with both these subjects. Nandikeswara's work on rasas has not come down to us.

The Alankara and Guna Schools:

The foremost representatives of the Alankara School are Bhamaha and Udbhata. Dandin, Rudrata and Pratiharenduraja may also be held to belong to this school. It is not be supposed that they were unaware of the theory of rasa. Udbhata defines rasavat in which he refers to the technical terms stayibhava, vibhava sansari (vyabhicari) bhava and then names the nine rasas. Dandin also defines rasavat and he is quite aware of these rasas and their bhavas. Although these writers are well aware of the existence of rasa, they had not found out how to apply the theory to kavya. To them alankaras seemed to be the most important part in kavyas, so much so they made rasas subordinate to alankaras and defined such figures as rasavat. Bhamaha and Dandin hardly made any distinction between alankaras and gunas. Dandin regards the ten gunas as alankaras. Bhamaha, Dandin and others were not aware of the theory that pratiyamana sense is the soul of poetry. They did not employ the words dhvani and aprastutaprasamsa, samasokti and aksepa. All the rest of dhvani they would have included under paryayokta. Bhamaha and Dandin spoke of vakrokti or atisayokti as all important and as lying at the root of all figures. Bhamaha divided alankaras into these of sobda and of had the same distinction. Udbhata, Vamana and Rudrata enumerate. Bhoja divides alankara into those of sabda, those of artha and those of both.

Bharata mentioned four alankaras and ten gunas. Hence he must have made a distinction between them. Dandin included gunas under the word alankara in their wider sense. Bhamaha defines three gunas anddandin ten. The Dhavanyoloka established the relation between the gunas and alankara. Just as bravery and the like are the gunas of the soul, and bracelets are ornaments put on the body, so the gunas are the gunas of rasa. Madhurya is pre-eminently appropriate to vipralambhasrngara

and karuna, ojas to raudrarasa and prasada is common to all rasas. When the predominant rasa is sringara, anuprasa does not help. To employ yamaka in srngara is a great mistake, particularly in vipralambha. Most of the writers such as Mammata hold that the gunas are the qualities of the soul of poetry like bravery, that they are permanently associated with rasa and figures are of speech are like ornaments on the body. Most of the alankarikas follow this position.

The number of alankaras has varied from time to time. Bharata mentioned only four. There are ancient writers who described only five or eight. Bhatti, Dandin, Bhamaha, Udbhata and Vamana speak of 30 to 40 Mammata defines 61. Ruyyaka about 75 the Candraloka 100 and Kuvalayananda[5]

The doctrine of gunas was an ancient one. The inscription of Rubradaman refers to some gunas. In the Natyasasta gunas and alankaras occupy a subordinate position, while rasa occupies a prominent place. Dandin gives gunas great prominence. Vamana in his own way makes a distinction between gunas and alankara. He speaks of 10 sabdagunas and 10 arthagunas. Dandin mentions 10 gunas but makes no difference between sabdagunas and Mammata and Hemacandra reduced the gunas to 3 and the rest are included in them.

The Riti School:

Vamana is the foremost representative of Riti School. Dandin also devotes considerable space to Riti. He does not employ the word riti at all. Instead, he uses the word marga throughout. Vamana boldly asserts that riti is the soul of poetry. Riti is the special arrangement or combination of words. He speaks of 3 ritis – vaidarbhi, gaudiya and pancali.

The Riti School marks a real advance over the alankara school. Though it did not reach the real essence of poetry, it approached very near it. Vamana's attitude towards Rasa is similar to that of Dandin. They both give a small place to it in their works, but there is essential difference. Following Bhamaha, Dandin brings the Rasa under the Alankaras. Vamana treats them as the essential feature of the guna. It is the Rasas that give brilliance to poetic style.

The Vakrokti School:

The word vakrokti has been used in literature from ancient times with several meanings. Vakrokti is a stiking mode of speech and differing from the plain, matter of fact ordinary mode of speech. Bhamaha used the word in the same sense. He required Vakrokti to be present in all alankaras. The poet gives expression to striking combination or relations of things, which are beyond the reach of ordinary men, Kuntaka used the word vakrokti mainly in this sense, but he goes too far in making vakrokti the soul of poetry. His definitions of vakrokti as[6] vaidagdhyobhangi bhaniti 'seem to be borrowed from other writers. The vakrokti of Rudrata and Ruyyaka is much narrower in scope than the vakrokti of Bhamaha. Dandin and Kuntaka theory is really an offshoot of the alankara school.

The Dhvani School:

The dhvani theory is only an extension of the rasa theory. It introduced reason to the field of poetry. Rasa is always suggested and not the Dhanyakka said that the best poetry is that which contains a charming vyangya sense. Only the words which have particulars qualities and manner, and contain a charming vyangya constitute kavya.

The dhvani divided vyangya sense into three varieties, viz rasa, alankara and vastu. Under the first are included not only the nine rasas, but all the bhavas and their abhasas also. Vastudhvani means that a mere fact is suggested by words that express another sense. Alankaradhavani suggests an imagintive thing, which would assume the form of a figure of speech. Dhvanyaloka says that (1) 'rasa eva vastuta atma. Vastvalankaradhvani tu sarvatha rasam prati paryavarsyete iti vacyadutkrstau tau ityabhiprayena dhvanih kavyasyatmeti samanyena uktam'. The dhvani seems to hold like Wordsworth that poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings *'sokah, slokatvamagatah'.

The Dhvanyaloka divided kavya into three-dhvanikavya, gunibhutavyangya and citra. In the last it included all alankaras of word and sense. But the Dhvanyaloka is careful to point out that a true poet should never waste his powers over composing poems that have no relations to rasas. It assigns to gunas and alankaras their proper position (gunah sauryadivat, alankarah katakadivat). The dhvani school regarded them as of secondary importance. They are only the external appearance of poetry. It holds that we must look deeper into the inner meaning, viz the emotional atmosphere. When dhvani or rasa is said to be the soul of poetry, it is virtually employing the language of the Upanisad. There is a remarkable similarity between the aesthetic experience and the spiritual experience. It is, therefore that Mammata speaks of rasa as brahmasvadamiva.

The Aucitya School:

Ksemendra puts forward a theory that aucitya (appropriateness) is the soul of poetry. By aucitya he means a certain poetic harmony or fitness of things. Anandavardhana held that the absence of aucitya is the one impediment to the realisation of aesthetic pleasure and pointed out the necessity of aucitya in rasa. Ksemendra said that the presence of rasa contributes to aucitya. He extended this principle not only to the alankaras and gunas, but also to word, sentence, poem, verb, case, gender, number etc. His conception of aucitya is very comprehensive. He accepts nine rasas.

The Rasa-sutra:

There are several works that expound the theory of rasa such as the Natyasastra, the Abhinavabharati, Saraswatikantabharana, Srngaraprakasa, Dasarupaka, Srngaratilaka, Bhavaprakasana, Rasatarangini. The pivot round which the whole rasa system revolves is the sutra "vibhavanubhava vyabhicarisamyogat rasanispatih. Two features are to be noted in this sutra:[7] the word sthayi does not occur in it and[8] it is somewhat vague as to the meaning of the two words 'samyoga 'and 'nispatti'. There are four interpretations made by Lollata, Sankuka, Nayaka and Abhinavagupta. Their views are respectively called utpattivada, anumitivada,

bhuktivada and abhivyaktivada. Pandita Jagannatha also attempted to interpret the rasa sutra in his own way.

There are certain permanent and dominant basic moods in the minds of all spectators or readers. They are ordinarily dormant, but when appropriate stimuli are employed, they are roused and evolve into a pleasurable state of mind. These permanent moods are called sthayibhavas. The permanent moods are eight. Viz rati, hasa, soka, krodha, utsaha, bhaya, jugupsa, and vismaya. Some add a ninth one 'sama'.

Anubhava is defined as "anubhavo vikarastu bhavasamsu-canatmakah" (Dasarupaka) on which Dhanika says "sthayibhavan anubhavayantah samajikan sabhruviksepakataksadayo rasaposakarino anubhavah" Eight of the anubhavas are called satvikabhavas. There is a difference of opinion as to why they are called satvikas. Satva means a sympathetic heart and satvika means 'satvena nirvrtta' (Dasarupa). The external movements of the eye, eyebrows, glances, smiling face convery the emotion of love and hence are called anubhavas.

Bharata mentions forty-nine bhavas "Nanabhinayasambadhan bhavayanti rasaniman Yesmattasmadamibhavahvijneyanatyaoktrbhih."

Vibhavas are of two types viz alambana and uddipana. Alambana is the hero and the heroine. The exciting circumstances (causes) such as moonrise, spring, flowers, bower are Uddipanavibhavas. There are thirty-three secondary moods such as nirveda, glani, sanka etc. These are called vyabhicari or sancaribhavas. Bharata describes them at length. (1) "vividham abhimukhysna rasesu carantiti vyabhicarinah."

The Application of Rasa Theory:

Rasa can be understood only by sahrdayas. The only proof of its existence is the carvana or asvada. We may apply the theory of rasa to the adikavya, Ramayana. When Valmiki was powerfully affected by the spectacle of the death of one of a pair of the loving kraunca bird at the hands of the hunter, the sage's imagination was strirred and he burst forth into a passioned song. The story is narrated in the Balakanda. The parting of the loving pairmeans the fall and death of the female bird are the vibhavas of karuna rasa. The lamentation and piercing cry of anguish uttered by the surviving male partner are the anubhavas of karuna. These powerfully moved the dormant mood of sympathy and pathos in Valmiki's heart. A moment it beat in unison with the sorrow of the bird (tanmayibhyava). Then there was an overflow of that powerful feeling in the form of measured verse 'ma nisada'.

Thus the Balakanda states the origin of the classical Sanskrit sloka and also contains the germs of the rasa theory. The Raghuvamsa echoes the words of Balakanda and so does Dhvanyaloka. It abounds in elaborate with the objective episode that stirred his heart. The situation as idealised by the sage's vision due to his sensitive mind gave rise to poetic outburst. Then the poet is commonly full of the transcendental (alaukika) mental experience. Every reader cannot appreciate or experience it. He must also posses sufficient mental equipment and visualise in his own mind the situation as expressed by the poet (kaveh srotuh samano anubhavah"

Kavisahrdayakhyam vijayate). The poet cannot communicate to every reader the emotional situation. He can only awaken in the man of taste (sahrdaya) an emotional state similar to what he depicts in the poem.

All editions of the Ramayana make the hunter kill the male bird and it is the female that laments, but the Dhvanyaloka and Locana make the female die by the arrow. The Kavyamimamsa of Rajasekharan also supports the interpretation the Dhvanyaloka.

The Interpretations of Rasasutra:

We shall trace now briefly the growth of the theory of rasa at the hands of Lollata, Sankuka, Nayaka and Abhinava. The original works of Lollata, Sankuka and Nayaka are not yet available. We have to rely upon the summaries of their doctrines furnished by their adverse like Abhinava and Mammata.

Lollata's view:

After Bharata, the earliest to put forward a theory of rasa was Lollata. According to him Rasa, in the primary sense, belongs to the character. The actor identifies himself with the character and exhibits the sthayibhava of the character, which is intensely developed through vibhavas, anubhavas and vyabhicaribhavas. The sthayibhava thus intensified is called rasa. The spectator ascribes rasa to the actor because he imagines himself for a moment to be the very same character. The spectator is charmed by this and feels delight. This delight is not the spectator's aesthetic appreciation. As the rasa is produced in the character, this view is called utpattivada'. The word 'samyogat' means sambandhat' By vibhava, the sambandha is janya-janakabhava; by anubhava, it is gamya-gamakabhava by vyabhicaribhava, it is posya posakabhava. The word 'nispatti' means 'utpatti'.

Sankuka's view:

Samkuka thinks that rasa is a matter of inference. He critises Lollata for holding that sthayibhava, when intensified, becomes rasa. For the existence of sthayibhava cannot be known at all without vibhavas etc. The actor imitates the character. The spectator apprehends the actor as the character. He does this by inferring the sthaybhava character in the vibhavas (causes), anubhavas (effects) and vyabhicaribhavas. This inference of sthayibhava is called rasa. That is why Bharata does not mention the sthayibhava in his sutra. Sankuka speaks of rasa from the standpoint of the spectator. In this respect, his theory is an improvement upon Lollata's. In Sankuka's view, the spectator infers the rasa imitated by the actor. The actor experiences feelings identical with those of the character and makes the spectator forget for the time being the difference between the actor and the character. As the rasa is inferred logically, it is called anumitivada. It is based on 'citraturaganyaya' The word 'samyoga' means 'gamya-gamakabhava sambandha', and 'nispatti' means 'anumiti'.

Bhattanayaka's view:

The next writer to put forward a better view of rasa is Bhattanayaka. He refutes the view that rasa is a matter of inference. According to him, rasa is neither known through the means of knowledge, nor produced, nor manifested. What really

constitutes the realisation of rasa is based on the three functions of word- (1) abhidha (2) bhavana of bhavakatva and (3) bhojakatva or bhoga. All linguistic expressions has the first one. It is in the second that the language is differentiated from ordinary expression and passes on to poetic expression. This aspect (bhavakatva) is achieved in kavya by the gunas, alankaras etc. Dramatic representation possesses the second and third aspects. Here bhavakatva is achieved through the four varieties of abhinaya.

There are two difficulties in the way of the realisation of the rasa (1) the individualistic elements of sahrdaya, actor and character and (2) the painful emotions which remain painful. These difficulties can be solved with the help of the bhavakatvavyapara. The sahrdaya through his imaginative sympathy (bhavana) identifies himself with the character and loses his individuality. The individual love of the character, the actor and the sahrdaya is submerged through their unification. This is called 'sadharanikarana' after this the third function (bhojakatva or bhoga) operates. This function kindles the instinct in the sahrdaya to develop to the claimax of self-luminous bliss. Bhattanayaka's concept of bhoga has been taken from the Samkhya philosophy. The bhoga arises by the supremacy of the satvaguna over the rajas and the tamas'. Hence it must invariably be pleasant. Thus this view solves the two difficulties raised above. According to Nayaka 'samyoga' means 'sadharanikarana' resulting from bhavakatvavyapara. The word 'Nispatti' means 'bhukti' so it is called bhuktivada.

Abhinavagupta's view:

The next and the last theory that satisfactorily and conclusively solved all the difficulties, was formulated by Abhinavagupta. He holds the view that rasa is abhivyakta. Rasa becomes abhivyakta by the power of vyanjana. He thinks that love and other moods are dormant in the mind of sahrdayas. These moods are roused by the stimulus of vibhavas, anubhavas and vyabhicaribhavas, and reach the state of rasa. This rasa realisation (rasapratiti) can be analyzed and described. He gives up the bhavakatva (sadharanikarana) and bhoga of Nayaka and brings them under vyanjana and rasapratiti (or rasasvada or rasacarvana) respectively.

According to Abhinava, soul is immortal, and all souls, particularly of the sahrdaya, have in them implanted certain instincts (sthayibhavas) when there is a clear representation of vibhavas, anubhavas and vyabhicaribhavas, this instinct (vasana) is developed to a thrill or joy. This is called rasa.

Rasa realisation is said to be alarukika (transcendental) firstly because it is not produced by the ordinary causes Vibhavas anabhavas and vyabhicharibhavas are regarded as the causes of the realisation of rasa. If they are the causes, are they karakahetus (causes) which produces the rasa) or are they jnapakahetus (causes which reveal things) they are neither of these. Rasa is not karya, because the rasapratiti (effect) does not exist, once the vibhavas (causes) etc are withdrawn. Rasa is not jnapya, because rasa does not exist before the vibhavas. The vibhavas only suggest the rasa. Hence rasapratiti is alaukika.

Secondly, rasa is transcendental by its psychological nature also, Rasapratiti is blissful knowledge. But this knowledge is neither 'nirvikalpaka' nor 'savikalpaka'. The former knowledge has no definiteness and has no relations. But rasa is related to

vibhavas. The latter is definite and is related to name, jati etc. but rasa is indefinable and a blissful experience. So rasa is different from those two varieties of knowledge. Hence it is alaukika.

Further, rasa is unique, because it is different from Yogic realisation. The process of the experience of rasa is pleasant unlike that of Yoga. The yogin realises the Absolute Brahman, while the sahrdaya realises some peculiar bliss involving differences. Yogic realisation is neither life nor death. It is perennial and eternal. But the realisation of rasa occurs only in life. It does not continue for long. Therefore, the resapratiti is unique and alaukika. As all rasas are pleasurable, even the karuna leads one to the realisation of joy. When the mind is completely absorbed in an emotional scene, it attains certain equilibrium. This balance of mind free from any disturbance, is called bliss. Pain is felt only when the balance of mind is disturbed. Thus on a philosophic basis one can establish how a tragic scene is pleasurable. According to Abhinava, the word 'samyoga' means 'vyangya –vyanjakabhava sambandhat' and nispatti means abhivyakti .

The Number of Rasas:

The controversary over the number of rasas still exists. Bharata mentions only eight rasas. Kalidasa, Vararuci, Dandin and Bhamaha accept this number. But Udbhata recognises santa as the ninth rasa. He is probably the first writer who introduced santarasa. Most of the writers such as Lollata, Rajasekhara, Ananda, Abhinava, Tota, Nayaka, Kuntaka and Ksemendra accept it. Ananda holds as its sthayin neither nirveda nor sama but trsnaksayasukha. He quotes Mahabharata as example. Some holds nirveda as its sthayin. Bhoja holds dhrti as the sthayin of santa. Abhinava accepts it as the greatest rasa. But Dhananjaya and Dhanika, both refute it. Some say that the rasas are given as eight only in natya and later santa is permitted in kavya Jagannatha and Madhusudana Sarasvati accept bhakti as a rasa. A few writers say that preyas, Vatsalya, priti, sneha, bhakti and sraddha are rasas.

Rasa-synthesis:

Rasa synthesis means to reduce rasas to one prakrti and the rest as its vikrtis. Bhavabhuti suggested such a synthesis in karuna. He says that there is only one rasa, karuna and it assumes different forms even as the same water assumes the forms of a whirl bubble etc. karuna is the prakrti, the other rasas are its vikritis. Ananda explains that the Ramayana is an epic of karuna. Bhoja was a monist and a pluralist combined. Rasa is only one to him, and that is srngara or ahamkara or abhimana. Abhinava considers santa as the one fundamental rasa and the other rasas are its modification. It has been recognised by all writers that rasa as such is one. Rasa is a rasa. It has no other name, it is one like the Brahman. Hence Bharata also uses the singular number, says Abhinava; 'na hi rasadrte kascidarthah pravarttate'.

Ref.

1. Bhamaha - Kavyalankara, I -16
2. Mammata - KavyaPrakasa , l - 4
3. Jagannatha - Rasagangadharam - l
4. Kavyalankarasutravritti\

5. Kuvalayananda 115
6. Vakrokijeevitam 1 - 10
7. Dhvanyaloka- I - 5
8. Natyasastra Vl - 34

Ref. books

1. Dr. C H Nagaraju , Aucityavicara carca of Kshemendra, Chowkhamba
2. Pt. Durgaprasad, Kavyalankarasutras, Nirnayasagar press, Mumbai
3. Dr. Ganganatha Jha, Kavyaprakasha of Mammata, BVP
4. Sree Narayana Mishra - Rasa gangadhara of Jagannatha Pandita, Krishnadas Academy.
5. Pt. Mahadeva Sastri & Pt. Pattabhirama Sastri - Dhvanyaloka of Anandavardhana, Chowkhamba
6. Sri. Radhesyam Mishra - Vakrokti jeevitam of Kuntaka, Chowkhamba.
7. Manomohan Ghosh - The Natyasastra of Bharatamuni, Asiatic Society of Bengal, Calcutta.
8. Sankarasarma Sastri - Kavyalankara of Bhamaha, Sri Balamanorama Press, Mylapore.

Associate professor of Sanskrit
Sanatana Dharma College Sanatanapuram
P. O.: Alappuzha Kerala 688003
Ph : 9495505354
Email - kornar2000@gmail.com

A Glance of Current and Future Trends and Technologies related to Computer Science

– Vinay Kumar Dwivedi

(इस लेख में कम्प्यूटिंग के अगले युग से सम्बन्धित नया आविष्कार एवं कार्यशैली क्या हो सकता है, इस सूचना को पाने के लिए अतीत और वर्तमान कम्प्यूटिंग क्षेत्र का आविष्कार एवं कार्यशैली का अध्ययन किया गया है। उपरोक्त कार्य को मान्य करने के लिए सर्वेक्षण उपकरण के रूप में विभिन्न प्रौद्योगिकियों, इंटरनेट, उत्पाद निर्माण, अनेक सॉफ्टवेयर, विविध प्रकार की डेटा, सुरक्षा प्रौद्योगिकी और मूल्यांकन रिपोर्ट का उपयोग किया गया था। सर्वेक्षण उपकरण का उपयोग मुख्य रूप से प्रारम्भिक के अलावा कम्प्यूटिंग क्षेत्र में आगे भविष्य में उन्नत कम्प्यूटिंग प्रौद्योगिकी घटकों क्या हो सकता है, इसके बारे में साक्ष्य प्राप्त करने के लिए किया गया था।)

Abstract:-

This article studied the past and current computing area to predict the census of future trends in computing and glimpse into what the next era of computing might be. The survey appliance was developed and validated from reported and observed influence of various technologies, Internet use, product manufacture, software evolution, the technology exodus, Data in Transit, Data at Rest, Data in Use, the security technology and the performance evaluation and technology evolution. The survey instrument mainly was used to attain prophecy evidence about what's next in computing In addition to the advanced computing technology components starting to be found in elementary and forth.

Keywords:- Information Technology, product cycle, computing platforms, Security, Artificial Intelligence, Drones, Big tech companies, Elementary edification and Technology of Education.

I. Introduction:-

Computing is any goal-oriented activity requiring, benefiting from, or creating a mathematical sequence of steps known as an algorithm e.g. through computers. Computing includes designing, developing and building hardware and software systems; processing, structuring, and managing various kinds of information; doing scientific research on and with computers; making computer systems behave intelligently; and creating and using communications and entertainment media. The field of computing includes computer engineering, software engineering, computer science, information systems, and information technology (From Wikipedia, the free

encyclopedia).

II. Description and Further Reviews:

Tech product cycles are mutually reinforcing interactions between platforms and applications. New platforms enable new applications, which in turn make the new platforms more valuable, creating a positive feedback loop. Smaller, off shoot tech cycles happen all the time, but every once in a while historically, about every 10 to 15 years major new cycles begin that completely reshape the computing landscape. Financial and product cycles evolve mostly independently.

The personal computer enabled entrepreneurs to create word processors, spreadsheets, and many other desktop applications. The internet enabled search engines, e-commerce, e-mail and messaging, social networking, SaaS business applications, and many other services. Smart phones enabled mobile messaging, mobile social networking, and on-demand services like ride sharing. Today, we are in the middle of the mobile era. It is likely that many more mobile innovations are still to come.

Each product era can be divided into two phases:

1. The gestation phase, when the new platform is first introduced but is expensive, incomplete, and/or difficult to use.
2. The growth phase, when a new product comes along that solves those problems, kicking off a period of exponential growth.

The Apple II was released in 1977 (and the Altair in 1975), but it was the release of the IBM personal computer in 1981 that kicked off the personal computer growth phase.

The Internet's gestation phase took place in the 80's and early 90's when it was mostly a text-based tool used by academia and government.

There were feature phones in the 90's and early smart phones like the Sidekick and Blackberry in the early 2000s, but the smart phone growth phase really started in 2007-2008 with the release of the iPhone and then Android. Smartphone adoption has since exploded: about two billion peoples have smart phones today. By 2020, 80% of the global population will have one.

If the 10-15 years pattern repeats itself, the next computing era should enter its growth phase in the next few years. In that scenario, we should already be in the gestation phase. There are a number of important trends in both hardware and software that give us a glimpse

into what the next era of computing might be. Here I can talk about those trends and then make some suggestions about what the future might look like.

Hardware: Small, Cheap, and Ubiquitous:

We are now entering an era in which processors and sensors are getting so small and cheap that there will be many more computers than there are people. There are two reasons for this. One is the steady progress of the semiconductor industry over the past 50 years (Moore's law). The second is what Chris Anderson calls "the peace dividend of the smart phone war":

In the modern semiconductor era, the focus has shifted from standalone Central Processing Units (CPUs) to bundles of specialized chips known as systems-on-a-chip. Is it true that Computer prices have been steadily dropping considerably.

Typical systems-on-a-chip bundle energy-efficient ARM CPUs plus specialized chips for graphics processing, communications, power management, video processing, and more. This new architecture has dropped the price of basic computing systems from about $100 to about $10. The Raspberrry Pi Zero is a 1 GHz Linux computer that you can buy for $5. For a similar price you can buy a Wi-Fi enabled microcontroller that runs a version of Python. Soon these chips will cost less than a dollar. It will be cost- effective to embed a computer in almost anything.

Software: the golden age of AI

There are many exciting things happening in software today. Distributed systems are one good example. As the number of devices has grown exponentially, it has become increasingly important to

1. Parallelize tasks across multiple machines
2. Communicate and coordinate among devices.

Interesting distributed systems technologies include systems like Hadoop and spark for parallelizing big data management problems and Bitcoin/blockchain for securing data and assets. Furthermore consider, consider cloud technology in numerous services; the most significant cloud computing benefit is in terms of IT cost savings. Businesses, no matter what their type or size, exist to earn money while keeping capital and operational expenses to a minimum. With cloud computing, you can save substantial capital.

A lot of the excitement in AI has focused on deep learning, a machine learning technique that was popularized by a now famous

2012 Google project that used a giant cluster of computers to learn to identify cats in YouTube videos. Deep learning is a descendent of neural networks, a technology that dates back to the 1940s. It was brought back to life by a combination of factors, including new algorithms, cheap parallel computation, and the widespread availability of large data sets.

Take example of the today booming social apps like WhatsApp Inc which was able to build a global messaging system that served more than 900Million users with just 50 engineers, compared to the thousands of engineers that were needed for prior generations of messaging systems. This "WhatsApp effect" is now happening in AI.

Software tools like Theano and TensorFlow, combined with cloud data centers for training, and inexpensive GPUs for deployment, allow small teams of engineers to build state-of-the-art AI systems.

For example, here a Solo programmer working on a side project used TensorFlow to colorize black-and-white photos:

Left: black and white. Middle: automatically colorized.

Right: true color.

Software + hardware: The new computers

There are a variety of new computing platforms currently in the gestation phase that will soon get much better and possibly enter the growth phase as they incorporate recent advances in hardware and software. Although they are designed and packaged very differently, they share a common theme: they give us new and augmented abilities by embedding a smart virtualization layer on top of the world.

DRONES. Today's consumer drones contain modern hardware (mostly smartphone components plus mechanical parts), but relatively simple software. In the near future, we'll see drones that incorporate advanced computer vision and other AI to make them safer, easier to pilot, and more useful.

INTERNET OF THINGS (IoT). The obvious use cases for IoT devices are energy savings, security, and convenience. As hardware

components continue to improve, wearable will support rich applications the way smart phones do, unlocking a wide range of new applications. As with IoT, voice will probably be the main user interface.

VIRTUAL REALITY. VR systems need to be really good to avoid the “uncanny valley” trap. Proper VR requires special screens (high resolution, high refresh rate, low persistence), powerful graphics cards, and the ability to track the precise position of the user (previously released VR systems could only track the rotation of the user’s head).

AUGMENTED REALITY. AR will likely arrive after VR because AR requires most of what VR requires plus additional new technologies. For example, AR requires advanced, low-latency machine vision in order to convincingly combine real and virtual objects in the same interactive scene. That said, AR is probably coming sooner than you think.

III. What’s Next Then?

It is possible that the pattern of 10-15 year computing cycles has ended and mobile is the final era. It is also possible the next era won’t arrive for a while or that only a subset of the new computing categories discussed above will end up being important.

IV. Conclusion:

Observers have noted that many of these new devices and Technologies are in their “awkward adolescence.” That is because they are in their gestation phase. Like personal computers in the 70’s, the internet in the 80’s, and smart phones in the early 2000’s.

It is also predicted that humans would one day be able to talk with their minds and get Internet access from orbital lasers beaming power down to Earth.

Virtual reality, artificial intelligence and smart cars will move to the main stage in 2016 as hardware is commercialized and cloud technologies make way for multi-functional computing filled with incremental technology developments that will serve as a foundation for a much smarter future.

We are seeing pieces of a future that isn’t quite here. The future is coming; markets go up and down, and excitement ebbs and flows, but computing technology marches steadily forward.

References:

1. Broberg, J., Buyya, R., & Tari, Z. (2008). MetaCDN: Harnessing 'Storage Clouds' for high performance content delivery. Technical Report GRIDS-TR-2008-11, Grid Computing and Distributed Systems Laboratory, University of Melbourne, Australia.
2. Bryman, A., & Bell, E. (2003). Business Research Methods. Oxford: Oxford University Press.
3. Bulkeley, W. M. (1996). A cautionary network tale: Fox Meyer's high-tech gamble. Wall Street Journal Interactive Edition.
4. Buyya, R. (2009). Market-Oriented Cloud Computing: Vision, Hype, and Reality of Delivering Computing as the 5th Utility. 9th IEEE/ACM International Symposium on Cluster Computing and the Grid.
5. Buyya, R., Yeo, C. S., & Venugopal, S. (2008). Market-oriented Grids and Utility Computing: The State-of-the-art and Future Directions. Journal of Grid Computing, 6 (3), 255-276.
6. Chen, I. J. (2001). Planning for ERP systems: analysis and future trend. Business Process Management Journal, 7 (5), 374-86.
7. Creswell, J. (1994). Research Design: Quantitative and Qualitative Approaches. Thousand Oaks, CA: Sage.
8. Das, A., Reddy, R., Reddy, S., & Wang, L. (2009). Information Intelligence in Cloud Computing-How can Vijjana, a Collaborative, Self-organizing, Domain Centric Knowledge Network Model Help. Proceedings of the 5th Annual Workshop on Cyber Security and Information Intelligence Research: Cyber Security and Information Intelligence Challenges and Strategies. Oak Ridge, Tennessee: ACM NewYork.
9. Davenport, T. (1998). Putting the Enterprise into the Enterprise System. Harvard Business Review, 121-131.
10. David, M., & Sutton, C. (2004). Social Research: The Basics. London: Sage Publications Ltd.

Dept. of Computer Science and
Natural Language Processing
Central Sanskrit University,
Lucknow Campus, Lucknow.

The Power of Smiling : A Cross-Cultural Communication Tool in Education

– Swati Mazta

(मुस्कुराना हमारे भावों को बिना शब्दों के व्यक्त करने का एक खूबसूरत तरीका है। हालांकि, हर जगह मुस्कुराने का मतलब एक जैसा नहीं होता। यह लेख खासतौर पर भारतीय स्कूलों में मुस्कुराहट के महत्व पर रोशनी डालता है। दुनिया भर में मुस्कुराहट को आमतौर पर खुशी से जोड़ा जाता है, लेकिन भारत में, खासतौर पर स्कूलों में, मुस्कुराने का चलन थोड़ा कम है। अगर शिक्षक मुस्कुराते हैं, तो बच्चे सहज महसूस करते हैं। छोटे बच्चे, जो बिना बोले हुए इशारों को भी समझने की कोशिश करते हैं, उनके लिए यह और भी जरूरी है। एक सच्ची मुस्कान बच्चों के लिए अपनापन और भरोसे का एहसास कराती है। इससे उनकी झिझक दूर होती है, और वे खुलकर सीखने में मन लगाते हैं। जब शिक्षक मुस्कुराकर बच्चों से बातचीत करते हैं और उनकी तारीफ करते हैं, तो कक्षा का माहौल दोस्ताना और खुशनुमा हो जाता है। यह लेख यही सुझाव देता है कि शिक्षकों को अपनी कक्षा में मुस्कुराहट को अपनाना चाहिए। इससे बच्चों को न केवल पढ़ाई में रुचि बढ़ती है बल्कि वे शिक्षक से एक मजबूत भावनात्मक जुड़ाव भी महसूस करते हैं। इसलिए, मुस्कुराहट सिर्फ एक साधारण अभिव्यक्ति नहीं है, यह एक ऐसा जरिया है, जिससे शिक्षक और छात्र के बीच एक मजबूत रिश्ता बनता है और स्कूल का माहौल सकारात्मक और प्रोत्साहन से भरपूर होता है।)

(Smiling is a common way to communicate without words. The meaning changes from culture to culture while being smiled at. This article looks at smiling, especially in Indian schools. Everywhere in India, people associate smiling with happiness. In the classroom, it is less often seen than in the West. In classrooms, a teacher's smile is key for good communication, especially for young students who pay close attention to nonverbal signals. A genuine smile can create a friendly atmosphere, help reduce student anxiety, and build emotional ties. This paper emphasizes that Indian teachers should use smiles more often to improve classroom behavior and increase student motivation. The article supports the intentional use of smiles in education by looking at a range of cultures and practical examples. It concludes that a smile, along with eye contact and positive feedback, can greatly improve the classroom, helping both teachers and students flourish in a supportive environment.)

Keywords: *Communication, Non-verbal communication, Smiling, Culture, Behaviour, Motivation*

Smiling is an integral part of communication. It falls under the category of nonverbal cues controlled by facial expressions. It can be a conscious choice or an unconscious reaction, allowing individuals to express or mask their emotions. Interestingly, despite the understanding that smiling facilitates better communication, many Indians tend to smile less frequently. This behavior is largely influenced by cultural norms. While smiling is often considered a universal gesture, its significance and interpretation can vary greatly across different societies. For example, in Indian culture smiling is overlooked, whereas smiling is more widely accepted as a means of promoting social bonds in Western countries.

In face-to-face conversations, a smile can convey a range of emotions, feelings, and attitudes, both with and without accompanying words. It is commonly associated with happiness, cheerfulness, and an overall sense of well-being. However, it’s important to note that a smile can also serve as a mask, concealing feelings such as anger, shyness, or

even discomfort. Understanding the nuances of smiling in various cultural contexts can enhance our communication skills and interpersonal relationships. For example, Paul Ekman says, "the Japanese more than the Americans masked negative expressions with a smile". Smiling is essential to cross-cultural communication and even in teaching-learning in the classrooms. A "smile" in one society portrays friendliness, in another embarrassment, and, in still another may contain a warning that, unless tension is reduced, hostility and attack will follow (Birdwhistle 34).

Cultural communication is vital as it is universal across all cultures. However, from the perspective of Indian culture in the classroom, teachers often hesitate or refrain from smiling at their students. In our culture, smiling is usually underestimated compared to Western norms. While it is essential to teach spoken communication to help every student understand classroom content, we cannot overlook the importance of nonverbal communication.

"The young children in primary classroom range from non-readers to beginning readers; therefore, they rely on nonverbal cues to a greater extent than older students and adults do. The facial expressions of young children are especially important to note because their verbal ability is limited. Frowns, smiles, tears and tightly-closed mouths communicate feelings." (Seefeldt,1980 as cited in Virginia O Griffin 11-12)

Children initially rely heavily on nonverbal expressions and gestures as their primary means of communication. During early development, they begin to convey their needs and feelings through actions and gestures before advancing to more complex cognitive and linguistic abilities. When children first start school, their emotional responses can vary significantly. While some may feel excited and happy, many experience anxiety, unease, and insecurity at the thought of being away from their parents for an extended period. This emotional spectrum often manifests through facial expressions. Some children may cry for their mothers, while others exhibit joy by smiling, playing, or eating. In contrast, a few may appear dull, sleepy, or sad.

Teachers need to be attentive to these varied emotional states. Engaging students in activities while maintaining a friendly manner, such as offering a *Duchenne* smile, can help create a positive atmosphere in the classroom, alleviating their concerns and fostering happiness. Psychologist and nonverbal communication expert Paul Ekman describes a *Duchenne* smile as a genuine expression of enjoyment. Facial expressions serve not only to convey thoughts and ideas but also to reveal our deepest feelings and emotions. In the context of education, it is essential for Indian teachers to wear a smile frequently during the teaching-learning process.

A simple smile can encourage positive changes in both teachers' and students' behaviors. It creates a healthier, more disciplined classroom environment and fosters positivity, which significantly enhances students' ability to learn and develop effectively. Moreover, this positivity boosts students' morale and encourages transformative behavior changes. To strengthen the bond between teachers and students, nothing is more effective than a *Duchenne* smile accompanied by eye contact. This genuine form of connection often communicates far more than words ever could. During face-to-face learning, a teacher's facial expressions play a vital role in both teaching and communicating with students. A smile of happiness can create a wonderful atmosphere for classroom learning. Smiling is beneficial because it fosters a positive environment for both teachers and students. As Indians, we need to recognize that a smile serves as a cross-cultural communication tool that connects people worldwide, even if their responses to it may vary.

In recent times, especially during the hardships of Covid-19 in 2020, we all faced significant challenges. Our education system, in particular, and the learners within it suffered greatly. According to a report from India Times, a teacher's actions were captured on CCTV in a school in Qinhuangdao City, North China, where the teacher practiced smiling just before entering the classroom. This illustrates that a smile can be a simple yet powerful solution to many problems. Children often respond positively to teachers who smile and maintain regular eye contact. A genuine smile is a wordless gesture that conveys a range of emotions. Research by Dabell highlights that "smiles are superb for learning." They create a lasting positive impact, building trust and respect while inspiring motivation in their students. Consequently, a teacher's smile can significantly influence classroom dynamics. When teachers carry smiles on their faces and make eye contact with each student, the classroom environment becomes happier, stress-free, and more conducive to learning.

Teachers employ various strategies for teaching, maintaining classroom discipline, and building relationships with their students. They play a pivotal role in every child's life by providing a friendly and supportive environment. However, some teachers who frown, shout, or grumble at students can create a nervous atmosphere, leading to widespread dislike among students. Many students may prefer not to attend school if they feel they are not treated well. Classroom management and discipline can be particularly challenging. However, it can often be improved with a simple smile. A smile that conveys happiness and joy can uplift students and positively impact the classroom environment. Rather than making students feel weak, a genuine smile can be powerful, resolving many issues simply through positivity and encouragement.

Children are often mischievous and creative. They enjoy imitating their teachers in their teaching style and interactions with peers. This behavior often manifests during playtime, particularly in a role-playing game called "Teacher-Teacher," where children act out a classroom scenario. Sometimes, parents encourage their children to imitate their teachers when asked to perform or act out a lesson. This practice enables children to replicate teachers' classroom behavior, allowing parents to become more aware of their child's learning environment and the teacher's interactions. Consequently, students and parents tend to praise the teacher. If any inappropriate behavior is observed-whether from the students or teachers-it is essential to address it promptly and without hesitation.

Additionally, maintaining eye contact and offering a polite smile are crucial in managing the classroom environment. A simple smile and establishing eye contact can help defuse many problematic situations without causing harm or embarrassment. This form of silent communication encourages students to behave properly without verbalizing corrections, which can hurt feelings and disrupt the class. It also signals to the student that they understand the teacher's message and reminds them not to repeat undesirable behavior. Children should feel good about coming to school regularly, as it is a place where they learn new things, play, have fun, and enjoy their day without fear, burden, or stress. Students should feel free to speak with their teachers if they encounter any problems or difficult situations. Teachers need to be friendly and approachable, rather than hostile.

In addition to teaching, teachers have many other responsibilities. Their schedules can be busy, stressful, and strained, but this should never impact the students. In the classroom, challenges can be managed effectively with a smile, good humor, and a varied of voice tones, ensuring that children do not suffer from the teachers' issues. The classroom environment should be positive, as students spend most of their time there. A positive atmosphere promotes constructive thinking and helps develop students' creative

thinking skills and ideas. While some learners are passionate about learning, others might require encouragement to pursue specific interests. Teachers should avoid favoritism and support each child, creating a bias-free environment where all students feel equal and happy. This will foster collaboration and motivation, enabling them to achieve positive results without prejudice.

Teachers should maintain a polite smile, as smiling on the face can enhance children's creativity and encourage problem-solving. It helps them think freely and independently. Welcoming thoughts and ideas with positive feedback encourages better decision-making while being mindful of others' emotions. This approach allows teachers to connect well with their students and gain positive reinforcement. Such reinforcement can take many forms, including verbal praise or nonverbal cues, such as a smile, nod, thumbs-up, high-five, or a simple pat on the shoulder. These gestures can motivate students to strive for excellence and achieve positive outcomes. Raising social awareness among teachers allows them to engage with all students, encouraging conversations and discussions. Praising students for sharing their ideas helps create an environment where everyone feels secure, happy, and productive.

Overall, children need to feel happy, excited, and successful. Teachers should always smile-whether it's a genuine Duchenne smile or a friendly, polite one-to keep the atmosphere lively and reduce stress. Smiling acts as a natural antidepressant, lifting everyone's mood instantly. It helps release endorphins in the brain and promotes relaxation. When teachers smile, it boosts children's confidence and productivity. Children excel at picking up on emotional cues. If a teacher appears strict, unapproachable, or displays a fake or sarcastic smile, kids may feel intimidated and avoid engaging with them. On the other hand, if a teacher is cheerful, approachable, and warm, children are more likely to respond positively, making that teacher their favorite and hoping for them to remain in their class for the following year. Smiling is important in our lives, as it conveys happiness, fosters a positive environment, and promotes good feelings. So, we should keep smiling and stay positive because life is good!

References:

1. "Are There Universal Facial Expressions?" *Paul Ekman Group*, 22 Nov. 2021, www.paulekman.com/resources/universal-facial-expressions.
2. BIRDWHISTELL, R. L. (1970). *Kinesics and Context: Essays on Body Motion Communication*. University of Pennsylvania Press. http://www.jstor.org/ stable/j.ctt3fhk73
3. Dabell, John. "Smile, You're A Teacher!" *TeacherToolkit*, 9 Jan. 2018, www.teachertoolkit.co.uk/2017/07/24/smile.
4. Dharni, Aishwarya. "Watch This Teacher Putting On A Smile Before Entering His Classroom, People Applaud Him " *IndiaTimes*, 30 Dec. 2020, www.indiatimes.com/trending/human-interest/video-teacher-puts-on-a-smile-before-entering-his-classroom-530822.html.
5. Griffin, Virginia O., "A Survey of the Use of Nonverbal Communication by Primary Teachers in Class Management" (1985). UNF Theses and Dissertations. Paper 39. http://digitalcommons.unf.edu/etd/39
6. Neil, S., & Caswell, C. (1993). *Body Language for Competent Teachers*. Routledge.
7. Samovar, L. A., Porter, R.E., & Mc Daniel, E. R. (2007). Communication between Cultures (7ed.) Wadsworth.

Dept. of English
Central Sanskrit University
Lucknow Campus, Lucknow-226010

CASTE SYSTEM AND THE IMPACT OF RESERVATION IN TRADITIONAL INDIAN SOCIETY

– Upasana Tripathi

(भारत में जाति आधारित भेदभाव की जड़ें बहुत अधिक समय से हैं, जो समाज को चार वर्गों– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभाजित करती थीं। प्रारम्भ में यह व्यवस्था व्यवसाय आधारित थी, लेकिन समय के साथ यह जन्म-आधारित और कठोर बन गई। इसके परिणामस्वरूप, दलितों को अछूत माना गया और वे समाज के हाशिये पर चले गए। उन्हें निम्न स्तरीय कार्यों तक सीमित रखा गया और शिक्षा, मन्दिर व सार्वजनिक सुविधाओं से वंचित किया गया। जातिगत भेदभाव के कई पहलू रहे, जिनमें सामाजिक, धार्मिक, शैक्षिक और व्यावसायिक अलगाव प्रमुख हैं। ऊँची जातियों ने निम्न जातियों से दूरी बनाए रखी, उन्हें अशुद्ध मानते हुए शैक्षिक और धार्मिक ज्ञान से वंचित रखा। विवाह में भी जाति आधारित प्रतिबंध लगाए गए, जिससे सामाजिक गतिशीलता बाधित हुई। स्वतन्त्रता के बाद, संविधान ने अनुच्छेद 14, 15, 16 और 46 के माध्यम से समानता और आरक्षण की व्यवस्था की। मण्डल आयोग और एम. नागराज जैसे मामलों में न्यायपालिका ने आरक्षण को सन्तुलित करते हुए सामाजिक न्याय की दिशा में कदम बढ़ाए। सरकारी योजनाओं, जैसे– पोस्ट-मैट्रिक छात्रवृत्ति और अत्याचार निवारण अधिनियम, ने दलितों और पिछड़े वर्गों के जीवन में सुधार लाने का प्रयास किया। हालांकि, आरक्षण नीति ने शिक्षा, रोजगार और राजनीति में दलितों और पिछड़े वर्गों की भागीदारी बढ़ाई है, लेकिन सामाजिक भेदभाव अभी भी बना हुआ है। उच्च ड्रॉपआउट दर, निजी क्षेत्र में भेदभाव और जातिगत हिंसा जैसी समस्याएँ चुनौती बनी हुई हैं। निष्कर्षतः, आरक्षण और अन्य नीतियों ने ऐतिहासिक अन्याय को कम करने का प्रयास किया है, किन्तु आरक्षण के कारण होने वाली गुणवत्ता सम्बन्धी समस्याएँ भी हैं, जिस कारण व्यापक सामाजिक-आर्थिक सुधार आवश्यक हैं ताकि भारत एक सशक्त और समान समाज की दिशा में आगे बढ़ सके।)

(The caste system in India, one of the world’s oldest forms of social stratification, has deeply influenced Indian society for centuries. Based on a rigid hierarchical structure, this system divides people into hereditary groups determined by birth, traditionally categorised as the Brahmins (priests), Kshatriyas (warriors), Vaishyas (traders), and Shudras (labourers), with Dalits (formerly “untouchables”) positioned outside and at the bottom of this hierarchy. This social structure has historically denied lower castes access to education, economic opportunities, and political power, reinforcing inequality and exclusion. Though the Indian Constitution outlawed caste-based discrimination, its legacy continues to impact social and economic relations.In response to these deeply rooted inequities, the Indian government implemented a system of reservations, or affirmative action policies, aimed at uplifting historically marginalised groups, particularly the Scheduled Castes (SCs), Scheduled Tribes (STs), and Other Backward Classes (OBCs). Through reservations in education, employment, and political representation, the policy has made significant strides in reducing inequalities by increasing access to opportunities previously denied to lower castes. Data from government and independent studies indicate a marked rise in the representation of SCs, STs, and OBCs in educational institutions, government jobs and political bodies, contributing to the social and economic mobility of marginalised communities. However, despite these advancements, reservations have faced criticism. This Article explores the origins, persistence and the ongoing social, political, and economic impacts of both the

caste system and reservation policies in modern India.)

Keywords: Caste System, Discrimination, Reservation, Affirmative Actions, Equality, Social System

Introduction:

The meaning of the word "reservation" according to the dictionary is "a seat or table booked for specific purpose or person", however, in India, the term often refers to a system designed to take positive steps to assist vulnerable and oppressed section of the society[1]. This raises the question: who falls under "vulnerable section" and what is that "affirmative action"? To understand the context, one needs to trace back the roots in the history of social system of India. Indian society today consists of thousands of castes, which people classify into two main caste categories: upper and lower castes. For over 2000 years, people have classified society into four major Varna as per the traditional *Varna vyavastha: Brahmin, Kshatriya, Vaishya* and *Shudra* (as prescribed in the *Brahmanas*). This classification, described in ancient texts, comes with specific roles and responsibilities associated with each *Varna*. *Brahmins* held the top position in the caste-ladder, responsible for teaching, preaching and priestly professions, the *Kshatriya* were warrior, *Vaishya* engaged in trade and *Shudras* were labourers and peasants. In the initial period, this division was based on occupation also called *karma* that is 'division of labour' but gradually it transformed into a rigid system based on heredity. In the due course of time, this rigidity established a hierarchy in the society and those born in *Shudra* Varna kept on being exploited by the other upper Varnas[2]. This prolonged discriminatory practises among Varna and due changes in the society in the form of castes established a new social system based on caste discrimination. In modern Indian society some groups are marginalized treated inferior, leading to their socio-economic backwardness commonly termed as Scheduled Caste in the post-constitutional framework.

In India, the government has introduced "reservation" as a form of affirmative action to support marginalized communities, often referred to as "positive discrimination" to address historical discrimination and promote equality. This system was established to rectify the historical injustice against disadvantage classes. It ensures that all individuals across different social strata have equal opportunities, ultimately aiming to achieve an egalitarian society. The system is in line with Article 14 of the Constitution of India, which envisage a fundamental right of *equality* and endeavours to ensure that everyone is equal before the law. Simultaneously, it confers the right of *equal protection of Law*.

Aristotle, speaking of inequality in his inimitable style, has remarked that the worst form of inequality is to try to make unequal things equal. The Article on eliminating inequality asserts that equals should be treated equally while unequal should be treated differently. It simply means to give level playing field to the disadvantaged sections of society and in this order, "reservation" has been a tool to ensure the same.

The idea of reservation policy in India was mooted by William Hunter and Jyotirao Phule in 1882 to do away with discriminatory practices prevalent back then.[3] Reservation is an active effort to improve employment opportunities, educational opportunities for members of downtrodden and oppressed sections of society as a remedy for the long standing atrocities and discrimination against such people. This is done with the vision of establishing an equity based society, having equality of employment opportunities, education, social status, political representation, etc, thereby fulfilling the objective of an ideal state to an extent as envisaged in the Directive Principles of State

Policy (part IV) of the Constitution of India.

Historical Context:

As discussed in the earlier paragraphs, caste discrimination in India traces its roots back to the ancient times originating in varna system described in the Vedic texts around 1500 BCE. The system initially aimed to create a social order based on occupation, but over time it became rigid with no possibility of mobility for those born into specific castes. By the later *Vedic* period, caste system became deeply entrenched into the society, solidify into the *Jati* system, where thousands of sub-castes emerged. At the bottom of hierarchy, society subjected some Dalits to serve. They were assigned degraded jobs like manual scavenging, denied access to temples, schools and public places and were forced to live in segregated areas, which kept them marginalized and excluded from the mainstream society.

Forms Of Discrimination:

In ancient India, social segregation represented one of the boldest forms of discrimination. Beneath the various categories were the Dalits, who were deemed impure and relegated to the lowest rung of society. Higher casts avoided any physical contact with the lower caste believing that even their touch could lead to spiritual pollution, and consequently, they were prohibited from entering temples, participating in religious rituals, forcing them to live in isolation away from the mainstream society.[4]

Another significant type of discrimination was occupational segregation, which was closely tied to caste hierarchy. Each caste was traditionally associated with specific types of work and people were expected to follow the occupation of their castes. Therefore shudras were assigned menial tasks and manual labour, serving the upper caste, they were relegated, to polluting jobs like cleaning toilets, removing dead animals, manual scavenging, etc. This rigidity restricted the economic mobility of people of lower caste.

Religious discrimination played a crucial role in upholding the caste hierarchy, as *Brahmins* at the top of the caste system held a monopoly over religious knowledge and rituals. Access to religious knowledge was strictly restricted to lower castes, especially Dalits and women were prohibited from reading or listening to Vedas. The concept of 'purity and pollution' governed much of religious life with upper castes, fearing even the shadow of the lower caste, which further worsened their isolated situation.

Educational discrimination was another critical aspect of caste-based exclusion as education in ancient times was primarily a domain of Brahmans who were responsible for transmitting religious and philosophical knowledge. Lower castes *Shudras* and *Dalits* were prohibited from accessing formal education, which ensured the illiteracy of the lower caste and denied them any intellectual advancement, further entrenching their subjugation in society.

Marriage restrictions also known as "endogamy" were another form of discrimination that maintained the rigidity of the caste system where marriage was strictly confined within one's caste and Inter-caste marriages were forbidden. The practice of endogamy prevented social mobility and ensured that caste lines remained clear and unbreakable. The prohibition of Inter-caste marriages reinforced the idea of caste purity.

Impact of Discrimination:

From the aforesaid, it can be seen that discrimination in India since ancient times

has been multifaceted, touching every aspect of life to ensure that power privileges remain concentrated in few hands belonging to the upper caste, which had a deep adverse impact on the growth, status, standard of life of the lower caste. This caste system perpetuated a cycle of poverty with limited access to higher paying or prestigious work. Marginalised groups were forced into low wages, labour, and heavy jobs. The caste system also severely restricted social mobility to reinforce their lower status and over the period this system became deeply ingrained in Indian society, creating a rigid hierarchy and stripping the lower caste of its basic rights. Caste discrimination has severely impacted the social and economic status of lower castes in India, particularly the Scheduled Castes (SCs) and Scheduled Tribes (STs). Historically, the lower castes were subjected to untouchability, exclusion from public spaces, and were denied access to education and land ownership. These systemic barriers confined them to menial and low-paying jobs, often in agriculture or sanitation, reinforcing their socio-economic disadvantage.

Socially, caste discrimination has stigmatised lower castes, resulting in widespread segregation in villages and urban areas. Even today, Dalits often live in separate colonies and face restrictions on using public facilities like wells, temples, and schools. Instances of violence and atrocities against lower castes, such as mob lynchings or denial of access to resources, are common. The National Crime Records Bureau (NCRB) reported thousands of cases of atrocities against SCs and STs annually, highlighting the deep-rooted prejudices that persist. Economically, lower castes have historically been denied access to land, capital, and educational opportunities, keeping them in a cycle of poverty.[5]

However, modern reforms have been introduced in the form of government's affirmative actions, or judicial intervention to do away with the long-standing discriminatory behaviour in the society.

Constitutional Provisions, Judicial Intervention and Government Actions Constitutional Provisions.

Indian society has been experiencing discriminatory practices for a long time spanned for over 2000 years, from the vedic period, which was further entrenched in ancient India to mediaeval India and can be witnessed in the modern India also. During the colonial period along with the freedom struggle, simultaneous efforts were taken by the leaders who were also social reformers like Jyotiba Phule, Gopal Baba Walangkar, Gandhiji, Dr Bhimrao Ambedkar to eradicate this social disparity based on caste as well as for the upliftment of downtrodden class. Initiatives like Brahma Samaj, Prarthana Samaj, the establishment of all India, Harijan Sangh by Gandhiji, the self-respect movement by EV Ramaswamy Naicker, and Mahad Satyagraha by Dr Bhimrao Ambedkar are few of such movements.[6]

After Independence, the Constitution of free India has made equality and non-discrimination a constitutional mandate. In this order, various provisions have been enshrined into the Constitution to take steps towards an equal society. To begin with Article 14, which deals with the right to equality, which holds that everyone is equal before the law, and therefore everyone should be treated equally (A.V. Dicey), as well as endeavours should be made to bring everyone on a level playing field under equal protection of the law. This provision of the constitution is supported by Article 15, which deals with the prohibition of discrimination against a citizen on the grounds-caste, gender, place of birth, religion, race, therefore, it restricts the arbitrary power of the government or bars, the government and citizen from exercising any kind of discrimination on the

above mentioned grounds against citizen. The Constitution through Articles 15(4) and 16(4) empowers the state to make special provision for the advancement of these weaker sections, especially in matters of education and public employment. Article 15(4) allows the state to make special provision for socially and educationally backward while Article 16(4) provides reservations in public employment for those not adequately represented in government services. Article 46 of the directive principles of state policy[7]. Further directs the state to promote the educational and economic interest of scheduled castes (SC), scheduled tribes(ST) and other weaker sections to reduce inequalities and ensure equal opportunities. In this way, the constitution has prepared a ground for the reservation.

Judicial Intervention:

When it comes to the Indian judiciary, it has played a significant role in interpreting and shaping the reservation system through various landmark judgements. Judicial interventions have sought to balance affirmative action with constitutional principles of equality, ensuring that reservations do not undermine the meritocracy while safeguarding the rights of marginalised communities. Here are a few landmark judgements.

A major breakthrough was **Indira Sawhney vs Union of India (1992)** commonly referred to as the mandal commission case. This case arose from the implementation of the recommendations of Mandal Commission, which proposed 27% reservation for other backward classes(OBC) in central government jobs. In this judgement, the Supreme Court upheld 27% reservation for OBCs in government jobs but ruled that total reservation should not exceed 50%. It also held that economic criteria alone can't be the basis for reservation as the goal of affirmative action is to address, social and educational backwardness and not just economic deprivation. Also, this judgement introduced the concept of creamy layer which refers to the relatively well and more educated individuals within the OBC category who are not eligible for the reservation.[8]

The second important judgement is **M.Nagraj vs Union of India (2006)** case where the Supreme Court addressed the issue of reservation in promotions for scheduled castes and scheduled tribes.

The court held constitutional amendments that allowed for reservation in promotion of scheduled caste and scheduled tribes, but laid down crucial conditions. First, the state must demonstrate the backwardness of the group, second, the state must provide evidence of an inadequate representation of the group in public services and third one where the state must ensure that reservations in promotion do not adversely affect the overall efficiency of administration as stipulated under Article 335 of the Constitution.[9]

Ashok Kumar Thakur vs Union of India (2008) case has been a significant one where Supreme Court upon the constitutional validity of reservations for OBCs in central educational institutions (CEIs) including the solutions like Indian Institute of Technology, (IIT) Indian Institute of Management (IIM). The judgement rain forced the principal that reservation in education must be aligned with the objective of uplifting marginalised communities without compromising on merit or creating undue advantages for economically and socially advanced sections within OBCs.[10]

There have been a few significant judgements regarding the reservation of SCs, STs and OBCs which fall under the backward section of the society. These judicial interventions have supported the government's affirmative actions which subsumes the reservation (quota) government jobs, and educational institution under Article 16(4) of

the Indian constitution, which allows reservation as mentioned above.

To ensure political empowerment, the Indian constitution provides reserve seats in the Parliament and state legislature for scheduled castes and scheduled tribes under Articles 330 and 332. This enables political representation for these groups in decision-making bodies, ensuring that their interests are addressed in governance and policymaking. As of now, there are 84 seats reserved for scheduled castes and 47 seats for scheduled tribes in Lok Sabha.

Government Actions:

Affirmative action policies in India, aimed at uplifting historically marginalised and downtrodden castes, have evolved through a series of constitutional provisions, legal frameworks, and government initiatives. These actions are largely focused on ensuring equal access to education, employment, and political participation for Scheduled Castes (SCs), Scheduled Tribes (STs), and Other Backward Classes (OBCs), who have suffered systemic discrimination and exclusion.

One of the most significant affirmative actions has been the implementation of reservations (or quotas) in government jobs and educational institutions. Article 16(4) of the Indian Constitution allows for reservations in government employment for any backward class of citizens that is not adequately represented in public services. Similarly, Article 15(4) permits reservations in educational institutions. Initially, 22.5% of government jobs were reserved for SCs (15%) and STs (7.5%). Over time, the Mandal Commission's recommendations led to the inclusion of OBCs in this framework, resulting in an additional 27% reservation for them. These reservations have been aimed to address historical imbalances and ensure the participation of marginalised communities in key sectors of society.[11]

Over time, the Indian government extended reservation policies to include promotions within government services for SCs and STs. This was intended to ensure that individuals from these communities not only entered public services but could also rise through the ranks. The legal framework supporting this policy was challenged, but it was upheld with certain conditions by the judiciary, notably in the M. Nagaraj case (2006), where the Supreme Court ruled that reservations in promotions could be permitted if the state demonstrated inadequate representation of the backward class.

The government has introduced numerous educational schemes for SCs, STs, and OBCs to improve their access to education. Some key initiatives include: **Post-Matric Scholarships**[12] - Financial support is provided to students from SCs, STs, and OBCs to pursue higher education. This aims to remove the financial barriers that often prevent students from marginalized communities from continuing their studies beyond primary or secondary school. Another one is **Pre-Matric Scholarships**[13] **-** Similar financial aid is available for students from these communities at the school level to encourage enrolment and reduce dropout rates along with this **National Fellowship and Scholarship for Higher Education of SC/ST Students**[14] **-**This program provides scholarships for students pursuing higher studies, particularly Ph.D. programs, ensuring better representation of SCs and STs in academia and research.

To address caste-based violence and discrimination, the government enacted the Scheduled Castes and Scheduled Tribes (Prevention of Atrocities) Act, 1989. This act provides for special courts to hear cases of atrocities committed against SCs and STs, ensuring swift justice. Additionally, free legal aid is provided to SCs and STs to ensure that their rights are protected and that they have access to the legal system.

There are many more affirmative actions taken by the government since independence. The Indian government's affirmative actions for downtrodden castes aim to address centuries of discrimination and exclusion by providing opportunities for social, economic, and political advancement. These efforts are crucial for fostering a more equitable society, though challenges remain in ensuring that the benefits of these policies reach the most disadvantaged and are implemented effectively.

Impact Analysis of The Affirmative Actions (Reservation):

The reservation system in India, implemented as a form of affirmative action, was designed to address the historical injustices faced by marginalised communities, specifically the Scheduled Castes (SCs), Scheduled Tribes (STs), and Other Backward Classes (OBCs). Though the system has generated significant debate, its purpose has been to level the playing field for groups traditionally disadvantaged by the caste hierarchy. Over time, the impact of reservation policies has been evident in various domains such as education, employment, and political participation. Despite the system's achievements, challenges still persist, especially in terms of achieving social equality and bridging the economic gap.

Educational Impact:

One of the major areas where reservation has had a visible impact is education, particularly in terms of access to higher education for underrepresented communities. The All India Survey on Higher Education (AISHE) Report 2021-2022 reveals a significant increase in the Gross Enrolment Ratio (GER) for SCs, STs, and OBCs in higher education. The GER for SCs stood at 25.9% from 18.9% in 2014-15, for STs at 21.2% from 13.5% in 2014-15, and for OBCs there is an increase of around 45% in 2021-22 then in 2014-15. This data indicates a gradual but steady improvement in the enrolment of marginalised communities in educational institutions, thanks in part to reservation policies.[15]

However, challenges remain, particularly in the form of gap between gross enrolment ratio in higher education (18-23 years) of marginalized students and others. A report from the AISHE notes that gap Gross Enrolment Ratio (GER) in higher educationof SC is 23.1% and ST is 18.9% while the national average is 27.3%.[16] The persistence of such gap between the sections suggests that while access to education has improved, yet it is lower comparatively.

Employment Impact:

The reservation system has also significantly influenced employment patterns, particularly in government jobs. According to a 2019 report by the Ministry of Personnel, Public Grievances & Pensions, the representation of SCs, STs, and OBCs in central government positions has grown steadily over the years. In the central government, the percentage of SC employees is 17.49% in 2019, while the percentage of ST employees is 8.47% in the same period. For OBCs, their representation in central government jobs surged following the implementation of the Mandal Commission's recommendations, reaching 21.57% in 2019 Representation of SCs and STs is more than the prescribed percentage of reservation, (15% and 7.5%, respectively).[17]

Despite these gains, marginalised groups continue to face significant challenges in the private sector. A study conducted by Thorat et ll (2007) highlighted that discrimination in hiring practices remains rampant. The study found that low catse and muslim applicant who arwe equally or better qualified then high caste applicants are

significantly less likely to pass through the hiring screens despite identical qualifications. This disparity underscores the fact that while reservations have been effective in the public sector, the private sector has yet to fully embrace diversity and equality in hiring.

In terms of economic mobility, the Periodic Labour Force Survey (PLFS) 2019-2020 shows that the unemployment rate in urban areas for SCs stood at 7.6% and for STs at 7.3%, for OBCs 7.2% higher than the others i.e. 6.3%[18]. This suggests that while access to jobs has improved for marginalised groups, many still struggle to secure meaningful employment that provides financial stability and upward mobility.

Political Representation:

Another significant impact of the reservation system has been the increased political representation of SCs and STs at various levels of government. The 17th Lok Sabha (2019-2024) reserves 84 seats for SCs and 47 seats for STs, constituting 15.4% and 8.6% of the total seats, respectively. This political representation aligns closely with the proportion of SCs and STs in the general population, as recorded in the 2011 Census. Before 2008, it was 79 for SCs and 41 for STs. [19]

At the local level, the 73rd and 74th Constitutional Amendments have had a profound impact by reserving seats for SCs, STs, and women in Panchayati Raj institutions. Various studies have found that political reservations in local governance bodies led to a marked increase in resource allocation to SC and ST communities, particularly in areas such as sanitation, infrastructure, and healthcare. This form of grassroots political empowerment has played a key role in ensuring that historically marginalised communities have a voice in local governance and decision-making.

Social Impact:

While the reservation system has brought about improvements in educational and political access, caste-based discrimination continues to affect the social fabric of India. According to a 2022, NCRB report on violence against Dalits the crime rate has increased against Scheduled Castes by 33.3% over 2021 and Scheduled Tribes by 24.6% over 2021.[20] They are facing discrimination in public spaces, including temples, markets, and public transportation.

Social stigmas associated with caste remain deeply entrenched, particularly in rural areas where segregation still exists in many villages. Dalits and lower-caste individuals are often excluded from communal events and public spaces, perpetuating the social exclusion that has defined Indian society for centuries. This persistent discrimination shows that while affirmative action policies have succeeded in improving representation, they have not fully dismantled the deep-rooted social hierarchies that exist within Indian society.

Criticism and Conclusion:

The reservation system in India has faced criticism for contributing to a decline in the quality of education and work, as seats are reserved for specific categories. In recent years, legal challenges have questioned the reservation system, arguing that it contradicts the principle of equality enshrined in the Indian Constitution. The Supreme Court of India has also issued rulings that limit the scope of reservations and stress the need for a more equitable distribution of opportunities. A significant issue with the reservation system is the lack of effective implementation and monitoring. Eligibility criteria are often poorly defined, leading to confusion and exploitation. Many individuals who do not belong to the reserved categories obtain fraudulent caste certificates to benefit

from the system, depriving deserving candidates of their opportunities and fostering resentment among communities. Additionally, reservation policies are sometimes misused for political gain, with parties using them to secure support from specific vote banks.[21]

However the reservation system in India has undoubtedly made a significant impact on the representation of marginalised communities in education, employment, and politics. While the system has successfully improved access to resources and opportunities for SCs, STs, and OBCs, it has not fully eradicated caste-based discrimination, especially in social settings and the private sector. Additionally, challenges such as high dropout rates, the concentration of benefits among the "creamy layer," and continued social exclusion suggest that while reservations have been effective, they are not a complete solution. To further promote equality, the government must complement reservation policies with broader social reforms that target economic development, anti- discrimination measures, and educational support for marginalised communities. Only then can the goal of achieving true social and economic equity be realised.

References:

1. Ahuja Ram, (1993), Indian social system, Jaipur & New Delhi, Rawat publication.
2. Kashyap, Subhash C, (2021), Our Constitution: an introduction to India's constitution and constitutional law, New Delhi, National Book Trust, India.
3. Ministry of Personnel, Public Grievances and Pensions, (2019), Annual Report 2018-19
4. Thorat, S., & Attewell, P. (2007). The Legacy of Social Exclusion: A Correspondence Study of Job Discrimination in India, Volume 42, Economic and Political Weekly.
5. Sudrania, OP (2012) Constitution of India and Rights of Equality and Backward Classes, The Chakra, June 13, www.chakranews.com
6. Ambedkar, B R. (1987). Annihilation of caste. 1936. Bangalore: Dalita Sahitya Akademi.
7. Thorat, Sukhdev. Madheshwaran, S. & Vani,B., (2023) *Scheduled Castes in the Indian Labour Market: Employment Discrimination and its impact on poverty.* Oxford University Press.
8. National Commission for Scheduled Caste (2020) Annual report 2018-19 and 2019-20
9. National Commission for Scheduled Tribe (2016) Annual report 2015-2016

---

1. Britannica, T.Editors of Encyclopaedia (2024). affirmative action. Encyclopedia Britannica. https://www.britannica.com/topic/affirmative-action
2. Ahuja Ram, (1993),Indian social system, Jaipur & New Delhi, Rawat publication
3. Santoshi Indrajit & Dutt Om, (2023), Reservation System In India: is it indispensable?, Volume. 9 International Journal of law (IJS), ISSN: 2455-2194
4. Santoshi Indrajit & Dutt Om, (2023), Reservation System In India: is it indispensable?, Volume.9 International Journal of law (IJS), ISSN: 2455-2194
5. National Crime Records Bureau Ministry of Home Affairs,(2022) *Crime in India 2022* (p.xx). Governmwnt of India. Retrieved from https://images. assettype.com/ barandbench/202312/dc0ba053-a1f0-4e6a-a5f8-e7668ddd 2249/ NCRB_STATS.pdf
6. Ahir, Rajiv, (2020), A Brief History Of Modern India (p. 241), New Delhi, Spectrum Books.

7. Kashyap, Subhash C, (2014), Our Constitution: an introduction to India's constitution and constitutional law (p. 96) New Delhi, National Book Trust, India.
8. *Indra Sawhney & Ors. v. Union of India,* AIR 1993 SC 477; 1992 Supp 2 SCR 454
9. *M.Nagaraj & Others vs Union Of India & Others,* AIR 2007 SUPREME COURT 71, 2006 (8) SCC 212
10. *Ashok Kumar Thakur Vs. Union of India,* AIR 2008 2008 6 SCC 1
11. Srivastava, S & Srivastava, A.K., (2021), An Anlytical study of discrimination and reservation system for backward classes based on caste, international general of management and human.
12. Ministry of Minority Affairs (2006), *Post-Matric Scholarships.* Government of India. Retrieved January 23, 2025, from https://www.minorityaffairs.gov.in/ show_content.php ?lang=1&level= 2&ls_ id=163&lid=165
13. Ministry of Minority Affairs (2006), *Pre-Matric Scholarships.* Government of India. Retrieved January 23, 2025 from https://www.minorityaffairs.gov.in/ show_content. php?lang=1&level= 2&ls_id=162&lid=114
14. Ministry of Tribal Affairs (2005-06). *National Fellowship and Scholarship for Higher Education of SC/ST Students.* Government of India. Retrieved January 23, 2025 from https://www.myscheme.gov.in/schemes/ nfandshests
15. Ministry of Education (2022), *All India Survey on Higher Education 2021-22* (p.iii)Government of India. Retrieved from https://cdnbbsr.s3waas.gov.in/s 392049 debbe566ca5782a3045cf300a3c/uploads/2024/02/20240719952688509. pdf
16. Ministry of Education (2021), *All India Survey on Higher Education 2020-21* (p.26)Government of India. Retrieved from https://cdnbbsr.s3waas.gov.in/ s392049debbe566ca5782a3045cf300a3c/uploads/2024/02/202402141745337862.pdf
17. Ministry of Personnel, Public Grievances & Pensions (2019). Retrieved from https://pib.gov.in/Pressreleaseshare.aspx? PRID=1579065
18. Ministry of Statistics and programme Implementation (2020), *Annual Report,Periodic Labour Force Survey,*(p.74), Government of India. Retrieved from https://mospi. gov.in/sites/default/files/publication_reports/Annual_Report _PLFS_201920F1.pdf
19. Retrieved from https://www.mea.gov.in/Uploads/PublicationDocs/19167_State _wise_ seats _in_Lok_Sabha_18-03-2009.pdf
20. National Crime Records Bureau Ministry of Home Affairs,(2022) *Crime in India 2022* (p. xx). Governmwnt of India. Retrieved from https://images.assettype.com /barandbench/2023-12/dc0ba053-a1f0-4e6a-a5f8 e7668ddd2249/NCRB_STATS.pdf
21. Prasanna K, (2024), *Reservation and its Impact on Indian Society, https:// juriscentre.com/2024/04/25/reservation-and-its-impact-on-indian-society.*

Assistant Professor Grade,
Political Science,
Central Sanskrit University,
Lucknow Campus, Lucknow-226010

Title : The Role of Social Media in Promoting Eco-Friendly Advertising Initiatives in India

– Divya Tripathi
– Dr. Sumita Kathuria

(सोशल मीडिया भारत में पर्यावरण-अनुकूल विज्ञापन के प्रचार में एक प्रभावी मंच बनकर उभरा है। यह जनजागरूकता बढ़ाने, हरित उपभोक्तावाद को प्रोत्साहित करने और सतत विकास के लक्ष्यों को हासिल करने में महत्वपूर्ण योगदान देता है।)

(In the contemporary digital age, social media has emerged as a powerful communication, networking, and marketing tool. Its influence extends beyond personal interactions to shaping societal norms and consumer behaviors. It has an impact on consumer behavior and society standards in addition to interpersonal relationships. The promotion of environmentally friendly campaigns is a significant field in which social media has had a big impact. This article examines social media's efficacy, difficulties, and potential in promoting ecologically conscious advertising initiatives in India. This article examines the role of social media in promoting eco-friendly advertising initiatives in India. By analyzing the effectiveness, challenges, and opportunities associated with leveraging social media platforms for sustainable marketing campaigns, the study provides insights into the evolving landscape of environmental communication in the digital era. Through targeted advertising campaigns, Indian companies leverage social media platforms to showcase their commitment to sustainability by highlighting eco-friendly products, initiatives, and corporate social responsibility efforts. For example, leading brands in India use platforms like Instagram and Facebook to share stories of sustainable manufacturing processes, eco-friendly packaging innovations, and partnerships with conservation organizations. As businesses and consumers continue to prioritize sustainability, it will be essential to harness the power of social media to drive positive environmental change and shape a more environmentally conscious society.)

Keywords:

Social media, Eco-Friendly Advertising, Sustainability, Consumer Behavior, Brand communication.

Introduction:

Social media has become a potent instrument for networking, marketing, and communication in the modern digital era. In recent years, social media has emerged as a powerful tool for promoting eco-friendly initiatives in India. With its vast reach and ability to connect individuals and organizations, social media platforms have become instrumental in raising awareness, mobilizing support, and driving positive change towards environmental sustainability. One of the most

significant ways social media promotes eco-friendly[1] initiatives in India is by raising awareness about environmental issues. Platforms like Facebook, Twitter, and Instagram allow environmental organizations, activists, and concerned citizens to share information about pressing environmental challenges such as air and water pollution, deforestation, and climate change. Through compelling visuals, informative articles, and engaging videos, social media users are educated about the importance of adopting eco-friendly practices and supporting initiatives aimed at protecting the environment. tips, ideas, and best practices. From DIY recycling projects to sustainable living guides, users exchange valuable information on reducing waste, conserving energy, and minimizing carbon footprints. Hashtags like #BeatPlasticPollution and #ClimateActionIndia trend on platforms like Twitter, fostering a sense of community social media enables individuals and organizations to amplify their voices and advocate for policy changes that promote sustainability. Environmental activists often use platforms like Twitter to launch campaigns, organize protests, and petition government authorities to take action on issues such as waste management, renewable energy adoption, and wildlife conservation. The widespread dissemination of such campaigns on social media helps garner public support and pressure policymakers to prioritize environmental protection. Also, social media platforms serve as hubs for sharing eco-friendly among environmentally conscious individuals and inspiring others to adopt eco-friendly habits. Social media plays a crucial role in promoting eco-friendly businesses and initiatives. Indian startups and companies specializing in sustainable products and services leverage platforms like Instagram and LinkedIn to showcase their offerings and connect with environmentally conscious consumers. Influencers and celebrities also use their social media platforms to endorse eco-friendly brands and initiatives, driving consumer demand for sustainable alternatives. Furthermore, social media facilitates collaboration and knowledge-sharing among diverse stakeholders working towards environmental sustainability in India. Online forums, Facebook groups, and LinkedIn communities bring together policymakers, researchers, entrepreneurs, and activists to discuss strategies, share resources, and collaborate on innovative solutions to environmental challenges. This collective effort enables the pooling of expertise and resources, leading to more effective and impactful eco-friendly initiatives. It is indeed a paradigm shift by changing the customer taste and increasingly the environmental consciousness that leads Indian advertising business towards adopting a greener approach in its functioning techniques. Social media proves effective in this scenario too wherein it facilitates the cause to reach the environmentally conscious consumer along with spreading their eco-message everywhere. In terms of social media, the campaigns for eco-friendly initiatives are being promoted in India. They provide awareness, mobilize support, foster community engagement, and facilitate collaboration. Given the increasing influence of social media, its power in positively shaping environmental change in India will also increase in the future, which, in turn, is seen as a powerful tool to make a sustainable future. The paper provides insights into the understanding of sustainability among young consumers in India and offers specific design principles for effective social media campaigns that make sustainable behaviors appealing to individuals with diverse attitudes toward sustainability, hence promoting the widespread adoption of eco-friendly practices.[2]

Review of the Literature:

In a **study of centennial's attitudes towards sustainable advertising,** the author has pointed out the findings and concluded aspects of previous studies related to social media advertising. According to **Sustainable Behaviour and Social Media: A Study of Centennials Attitudes Towards Sustainable Advertising by Vivek Aggarwal Prashant Dev Yadav Vinod Kumar Singh and Snigdha Dashand** factors influencing consumer behavior in India, particularly regarding the purchase of sustainable products. It identifies eco-friendliness, recyclable properties, natural ingredients, and association with charity or social causes as key characteristics that impact consumers' purchasing decisions. The review highlights the growing demand for sustainable products in India, driven by increased spending and awareness of environmental issues. It emphasizes the need to understand effective ways to encourage sustainable behavior among consumers, with social media emerging as a potential avenue for achieving this goal. By focusing on young consumers aged 15 to 25 years, the study aims to assess the significance of social media and sustainability advertising in shaping their behavior. The quantitative data collected through online surveys from 514 undergraduate and graduate students are analyzed using a generalized linear model and structural equation modeling. The findings of the study reveal a positive relationship between advertising on social media and the behavioral intention and sustainable behavior of young consumers. This underscores the importance of leveraging social media platforms to promote sustainability initiatives among this demographic. Drawing on the research findings, the paper offers insights into enhancing young consumers' understanding of sustainability and proposes specific design principles for creating effective social media campaigns. These campaigns aim to make sustainable behaviors more appealing to individuals with varying attitudes, thereby fostering widespread adoption of eco-friendly practices. **(Vivek,2021)**[3]

A Case Study of the Effectiveness of Social Media Advertising in India:

The role of social media is huge in this growing population. Social media is exceptionally powerful in sharing news. The author has pointed out the findings and concluded aspects of the previous studies related to social media advertising. According to **Understanding the Effectiveness of Social Media Advertising in India by Dr. Kesavan** advertising is also possible on social media by viewing information related to any kind of business and non-business operations. The management information system of social media accepts the data accessed by the recipients monitors their wishes and compliments them with relevant advertising, this increases the sales performance of goods and services. The young generation has become addicted to viewing social media frequently even at the workplace. They have been giving their replies to the information shared by others and also advising others to share the same message. Smart mobile phones and internet data are the base of social media, these are effectively performing the function of advertising and Google is promoting advertising by downloading various mobile apps. Due to the growth of social media in the current scenario, corporates are developing various

marketing strategies, especially telecom, online shopping agencies, travel agencies, etc. **(Kesavan,2020)[4]**

The growing importance of eco-friendly advertising globally:

According to Jelena Krstić et al. (2021), the global importance of environmentally responsible advertising has risen significantly with the increasing awareness of environmental issues. This form of advertising emphasizes conservation, sustainability, and eco-friendly practices in marketing strategies, reflecting the growing consumer demand for environmentally conscious products. As concerns about pollution, climate change, and the depletion of natural resources intensify, consumers are more inclined to support businesses and products that align with their values of sustainability and environmental stewardship (Jelena, 2021).

Krstić et al. argue that green advertising plays a critical role in shaping consumer behavior by promoting eco-friendly consumption choices and fostering accountability among businesses. This shift in consumer expectations has compelled companies worldwide to adopt sustainable practices and transparently communicate their environmental efforts. Consequently, environmentally conscious advertising has become a vital tool for addressing global environmental challenges while meeting the evolving preferences of socially responsible consumers.[5]

The importance of environmentally responsible advertising has grown significantly on a global basis as environmental concerns have grown. In all marketing initiatives, this kind of advertising heavily emphasizes conservation, sustainability, and eco-friendly behaviors. The growing significance of environmentally conscious advertising can be attributed to increased consumer consciousness concerning environmental concerns including pollution, climate change, and the exhaustion of natural resources. Customers actively seek out goods and businesses that share their ideals of sustainability and environmental care as they grow increasingly conscious of their environmental effects.

Harnessing Social Media for Eco-Friendly Advertising:

Social media platforms provide a cost-effective and far-reaching medium for disseminating messages about environmental sustainability. Brands and organizations leverage these platforms to raise awareness about eco-friendly products, practices, and initiatives. Through visually engaging content, compelling narratives, and interactive campaigns, advertisers can effectively engage with audiences and promote sustainable consumption patterns.

Case Study: The Success of 'Go Green' Campaigns on Social Media:

One notable example of successful eco-friendly advertising through social media in India is the ‘Go Green’ campaign initiated by various brands and environmental organizations. By utilizing hashtags such as #GoGreen, #SustainableLiving, and #EcoFriendly, these campaigns have encouraged users to share their eco-conscious actions, tips, and experiences. The viral nature of social media has amplified the reach of these initiatives, inspiring individuals and communities to adopt environmentally responsible behaviors.

"Examples such as the #CleanIndia campaign highlight how effective social media can be in mobilizing public participation in environmental initiatives."

Here are some brands in India that have been actively involved in green or eco-friendly campaigns:

Tata Group: Tata Group, one of India's largest conglomerates, has been actively involved in sustainability initiatives across its various businesses. Tata Group emphasizes environmental responsibility and sustainability in its branding and marketing efforts, from renewable energy projects to eco-friendly product lines.

ITC Limited: ITC Limited, a diversified conglomerate with interests in FMCG, hospitality, and agribusiness, has undertaken several initiatives focused on environmental sustainability. Their "Greenovation" campaign promotes eco-friendly practices and products across their portfolio, including sustainable packaging and responsible sourcing.[6]

Aditya Birla Group: Aditya Birla Group, a conglomerate with interests in sectors like metals, cement, and textiles, has embraced sustainability through initiatives like "Aditya Birla Sustainability Vision 2030." Their eco-friendly campaigns emphasize resource conservation, circular economy principles, and community engagement.

Marico Limited: Marico Limited, a leading FMCG company known for brands like Parachute and Saffola, has launched eco-friendly campaigns promoting sustainable packaging and responsible sourcing of raw materials. Their initiatives focus on reducing plastic usage, promoting recycling, and raising awareness about environmental conservation.

HUL (Hindustan Unilever Limited): HUL, a subsidiary of Unilever, has integrated sustainability into its business strategy through initiatives like "Project Shakti" and "Swachh Aadat Swachh Bharat." HUL's eco-friendly campaigns emphasize waste reduction, water conservation, and promoting sustainable livelihoods among local communities.

Mahindra Group: Mahindra Group, a leading conglomerate with interests in automotive, agriculture, and renewable energy, has launched several green initiatives under its "Rise for Good" platform. From electric vehicles to sustainable farming practices, Mahindra Group's eco-friendly campaigns promote environmental stewardship and innovation.

Infosys: Infosys, a global leader in IT consulting and services, has prioritized sustainability through initiatives like "Infosys Sustainability Report" and "Infosys Green Initiatives." Their eco-friendly campaigns focus on reducing carbon footprint, energy efficiency, and promoting green technology solutions.

Conclusion:

Social media has revolutionized eco-friendly advocacy in India, fostering awareness, action, and collective efforts toward environmental sustainability. Platforms like Facebook, Twitter, and Instagram enable mass awareness by engaging millions with content highlighting climate change, pollution, and conservation. Viral videos and infographics amplify urgent environmental messages, encouraging

individuals to participate in conversations and take action.These sites enable activists, organizations, and communities to mobilize support for eco-friendly causes, organize rallies, petition policymakers, and drive grassroots initiatives. Real-time connectivity fosters collaboration among like-minded individuals, turning social media into a catalyst for citizen-led environmental movements.Tata Group, TCS Limited, and Hindustan Unilever Limited have joined social media to embrace sustainability. Tata Motors touts electric vehicles, whereas Tata Power talks about renewable energy through educating the general public. The Infosys company, the Aditya Birla Group, Marico Limited, and Mahindra Group have all jumped on board the social media wagon and are showcasing activities such as the reduction in carbon emissions, the revitalization of rural villages, and clean energy efforts.These campaigns underscore how businesses integrate eco-friendly values with operations, inspiring others to follow suit. By blending innovation with responsibility, these corporate giants prove that business success and environmental stewardship can coexist, offering a model for sustainable growth.

Social media's role in driving awareness and fostering collective action underscores its transformative potential in shaping India's journey toward a greener future.

Scope of further research:

The study of social media's function in supporting environmentally friendly advertising campaigns in India is a vibrant and diverse subject of research. Further research could focus on the specific characteristics and functionalities of different social media platforms (e.g., Instagram, Facebook, LinkedIn) in influencing eco-friendly advertising effectiveness. Comparative analyses of platform-specific strategies and user engagement patterns could inform tailored approaches for maximizing impact. It includes studies of how consumers behave and perceive sustainable products, evaluations of the efficacy of social media campaigns promoting eco-friendliness, content analysis of advertising tactics, and research on the impact of social media influencers. It also explores regulatory ramifications, business CSR practices, cross-cultural perspectives, and the long-term viability of such projects. Through investigating these domains, scholars can provide significant perspectives on how social media influences environmentally conscious advertising in India, propelling sustainable consumption and shaping approaches for both marketers and policymakers.

Research Methodology:

This study utilizes a mixed-methods research design to examine the impact of social media on eco-friendly advertising initiatives in India. The quantitative phase involves content analysis of eco-friendly campaigns on platforms like Facebook and Instagram. Convenience sampling will be used to recruit a diverse sample of social media users, while purposive sampling will select participants for the qualitative phase, ensuring varied perspectives. Data analysis includes statistical techniques for quantitative data and thematic analysis for qualitative data. Ethical considerations emphasize informed consent, confidentiality, and approval from ethics committees to protect participants' rights and privacy throughout the study.

References:

1. Aggarwal, Vivek, et al. "Sustainable Behaviour and Social Media: A Study of Centennials Attitudes Towards Sustainable Advertising." World Review of Entrepreneurship, Management, and Sustainable Development, vol. 17, no. 6, Jan. 2021, p. 777. https://doi.org/10.1504/wremsd.2021.10042145.
2. Alamsyah, Doni Purnama, et al. "Consumer Awareness Towards Eco-friendly Product Through Green Advertising: Environmentally Friendly Strategy." IOP Conference Series. Earth and Environmental Science, vol. 824, no. 1, July 2021, p. 012043. https://doi.org/10.1088/1755-1315/824/1/012043.
3. Bhatia, Mayank, and Amit Jain. "Green Marketing: A Study of Consumer Perception and Preferences in India." Electronic Green Journal, vol. 1, 2014, doi:10.5070/ G313618392.
4. Kesavan, Dr. N. "UNDERSTANDING THEE EFFECTIVENESS OF SOCIAL MEDIA ADVERTISING IN INDIA." Studies in Indian Place Names, vol. 40, no. 12, Mar. 2020, pp. 1862–68.
5. Krstić, Jelena, Milica Kostić-Stanković, and Jelena Cvijović. "Green Advertising and Its Impact on Environmentally Friendly Consumption Choices: A Review." Industrija, vol. 49, 2021, pp. 93–110.
6. Noguti, Valeria, and David S. Waller. "How The Time of Day Impacts Social Media Advertising Outcomes on Consumers." Marketing Intelligence & Planning, vol. 42, no. 3, Feb. 2024, pp. 418–37. https://doi.org/10.1108/mip-04-2023-0172.
7. Si, Sajid. "Social Media and Its Role in Marketing." Business and Economics Journal, vol. 07, no. 01, Jan. 2015, https://doi.org/10.4172/2151-6219.1000203.
8. Siddiqui, Shabnoor, and Tajinder Singh. "Social Media Its Impact With Positive and Negative Aspects." International Journal of Computer Applications Technology and Research, vol. 5, no. 2, Feb. 2016, pp. 71–75. https://doi.org/10.7753/ijcatr0502.1006.
9. Tirtayani, I. Gusti Ayu, et al. "Determinants of Purchase Intention in Social Media Advertising." RGSA, vol. 18, no. 6, Mar. 2024, p. e04793. https://doi.org/10.24857 /rgsa.v18n6-016.

---

1. Alamsyah, Doni Purnama, et al. "Consumer Awareness Towards Eco-friendly Product Through Green Advertising: Environmentally Friendly Strategy." IOP Conference Series. Earth and Environmental Science, vol. 824, no. 1, July 2021, p. 012043.
2. Bhatia, Mayank, and Amit Jain. "Green Marketing: A Study of Consumer Perception and Preferences in India." Electronic Green Journal, vol. 1, 2014.
3. Aggarwal, Vivek, et al. "Sustainable Behaviour and Social Media: A Study of Centennials Attitudes Towards Sustainable Advertising." World Review of Entrepreneurship, Management, and Sustainable Development, vol. 17, no. 6, Jan. 2021, p. 777.
4. Kesavan, Dr. N. "UNDERSTANDING THEE EFFECTIVENESS OF SOCIAL MEDIA ADVERTISING IN INDIA." Studies in Indian Place Names, vol. 40, no. 12, Mar. 2020, pp. 1862–68.
5. Krstić, Jelena, Milica Kostić-Stanković, and Jelena Cvijović. "Green Advertising and Its Impact on Environmentally Friendly Consumption Choices: A Review." Industrija, vol. 49, 2021, pp. 93–110,
6. Thacker, Hency. "Top 50 Companies for CSR and Sustainability in 2023". The CSR Journal, 2024.

Ph.D Research Scholar,
Department of Music and Fine Arts,
University of Delhi.

Assistant Professor,
College of Art, New Delhi.
E-mail: divyatripathi00793@gmail.com

EXPLORING THE MANIFOLD SCRIPTS OF INDIA FROM BRAHMI UP-TILL NAGARI

– Vanshika Tiwari

(प्रस्तुत शोधपत्र का उद्देश्य ब्राह्मी की उत्पत्ति के बाद और नागरी की खोज से पहले उत्तरी भारत में हुई लिपियों की विविध प्रकृति के विकास की जाँच करना है। लिपियों की विविधता को क्षेत्रीय और सांस्कृतिक प्रभावों के लिए जिम्मेदार ठहराया गया है। विभिन्न प्रख्यात विद्वानों और भाषाविदों ने भारत में लेखन प्रक्रिया और इसकी पहली लिपि, ब्राह्मी के जन्म पर विभिन्न सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं। ऐसी विविध लिपियों की उपस्थिति भारत को एक प्रतिष्ठित विद्वतापूर्ण अतीत से सुशोभित करती है जो इसके भाषाई परिदृश्य को समृद्ध करती है। भारत के उत्तर-दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक, इन लिपियों को हर दिशा में पाया जा सकता है, जिससे उनकी विषमता बढ़ जाती है, जैसा कि कुटिल लिपि, गुप्त लिपि, शारदा लिपि, आदि में देखा गया है। विभिन्न तरीकों से, ये लिपियाँ पहले की लिपियों से सम्बन्धित हैं स्थापित और विद्वानों द्वारा अध्ययन के लिए उपजाऊ जमीन प्रदान करती हैं। ब्राह्मी से इसकी उत्तराधिकारी लिपियों में संक्रमण भाषा के विकास की गतिशील प्रकृति और साक्षरता के प्रसार को दर्शाता है, जो स्वदेशी नवाचार और बाहरी प्रभावों दोनों को दर्शाता है। ब्राह्मी लिपि के विकास के बाद, भारत में सबसे पुरानी लेखन प्रणालियों में से एक, भारतीय उपमहाद्वीप में लिपियों की एक समृद्ध टेपेस्ट्री विकसित होने लगी। इस अवधि ने लेखन शैलियों में एक महत्वपूर्ण विविधीकरण को चिह्नित किया, प्रत्येक विभिन्न क्षेत्रों की भाषाई और सांस्कृतिक आवश्यकताओं के अनुरूप था। जैसे-जैसे ये लिपियाँ विकसित हुईं, उन्होंने साहित्य, धार्मिक ग्रन्थों और प्रशासनिक अभिलेखों की रिकॉर्डिंग की सुविधा प्रदान की, जिससे दक्षिण एशिया की भाषाई विरासत को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई गई)

Abstract:

The present paper aims to examine the evolution of the manifold nature of scripts that took place in northern India, after the origination of Brahmi and before the discovery of Nagari. The diversity of scripts has been attributed to regional and cultural influences. Various eminent scholars and linguists have presented different theories on the birth of the writing process in India and its first script, Brahmi.

The presence of such manifold scripts adorns India with a prestigious scholarly past, enriching its linguistic landscape. Encompassing the south to the north and east to the west of India, these scripts can be found in every direction, increasing their heterogeneity, as seen in Kutil Lipi, Gupta Lipi, Sharda Lipi, etc. In various ways, these scripts relate to earlier scripts, establishing connections and providing fertile ground for study by scholars. The transition from Brahmi to its successor

scripts illustrates the dynamic nature of language development and the spread of literacy, reflecting both indigenous innovation and external influences.

Keywords: *Phoenician script, Semetic script, Kutil Lipi, Sharda Lipi, Max Müller, Brahmi, Nagari.*

Introduction:

The change in scripts after Brahmi appears to be gradual, leading to significant effects on many of them. Different regions manifested various scripts, each holding its own identity. The scripts discovered are credited to being inscribed on hard substances, as most unwritten languages and other scripts written on softer materials are believed to have been lost over time.

Different scholars provide various sources for the origination of writing in India, including Max Müller, who believes that there is no evidence to suggest that the art of writing pre-existed in India. The same diversity of opinions is evident among scholars attributing the birth of Brahmi to various foreign scripts, such as the Phoenician and Semitic scripts. The scripts that emerged after Brahmi, discovered in various regions of India, appear quite diverse in their alphabets and numbers.The evolution of scripts after the Brahmi script appears to have taken place over time and had long term effects, on the emergence of various writing systems. As the years went by various areas, within the subcontinent started creating their individual scripts each adapting to represent the specific language, culture and local characteristics of its users. The different script styles led to a range of writing systems including Kharosthi in the region and Grantha in the southern areas as well, as Devanagari, in the northern parts and many more options available. One of the factors contributing to the preservation and study of scripts is the practice of engraving or inscribing them onto long lasting materials, like stone or metal in the past. These carved writings are commonly discovered on monuments, coins and official documents serving as enduring records of history. Languages or scripts inscribed on materials, like palm leaves or cloth are thought to have disappeared over time due to weathering and decay of these surfaces. This has resulted in the loss of a part of linguistic diversity, for languages that were not formally documented or written down on durable mediums. The absence underlines the significance of the remaining engravings. Written symbols that have stood the test of time since they provide perspectives on the language and cultural background of the areas where they were utilized.

Brahmi Script:

Brahmi is considered the oldest script of India by most Indian scholars, believed to have been originated by *Brahma* himself, which is the reason for its name. Various Jaina texts, such as the *Samvayang Sutt*, mention 18 scripts including Brahmi, and its *Bhagwati Sutra*[1] begins with a salute to the Brahmi script in the following words: "*Namo Bambhiye Libiye.*"[2] Similarly, [3] Buddhist texts like *Lalitvistar* mention 64 scripts, beginning with Brahmi and second mentioned being kharoshthi.

Brahmi is a syllabic script i.e. it is a writing system whose characters represent syllables like simple consonant and the inherent vowel a. There are matras

and ligatures in all the scripts in Brahmi family. Matras are extra strokes which when attached to a consonant indicate a different vowel other than a Ligatures indicate consonant clusters. Brahmi is the ancestor of the Brahmic family of scripts, which includes all Indian scripts viz. Devanagari, Odia, Gujarati, Tamil, Telugu etc. and also ancient scripts in Sri Lanka, Burma, and south-east Asian countries: Java, Sumatra, Cambodia. Present alphabets of Burma, Thailand, Indonesia, Laos, Annam, Cambodia are derived from Brahmi.

Brahmi is considered the originator of various later Indian scripts. Over time, it developed into two broad types: one prevalent in North India and the other in South India. The major difference is that ***Northern Brahmi is more angular in shape, while the Southern variant is more circular.*** Most Ashokan rock edicts dated 250-232 BCE are found in Brahmi script. It conforms to a syllabic writing style and was often used to write Prakrit and Pali, which were the languages of the masses, and later, Sanskrit. Many scholars attribute the origin of brahmi to different sources, some of them are mentioned belowü-

- Dr Alfred Müller believes with the oncoming of Sikandar, the Indians learnt the art of writing from greeks, which came along with it.[4]
- James princep and Senart believe Brahmi's origin from Yunani (greek) script.
- Wilson believes its origin from greek or phoenician script.
- Hallway believe that brahmi is a intermixed script, which has its eight letters exactly same and taken from the fourth century BC Letters of Armaic script.
- Kurst believes that in eighth century BC phoenican people who lived in West Asia came to India for trade purpose, and they knew writing already. It can be predicted phoenician script became the basis of origination of various other scripts, including Brahmi.
- Sir William Jones believed that Brahmi has its origin from semetic lipi. And and this perception was further strengthened by the similarity established by Webber between semetic and brahmi script.
- Various later scholars like Max Müeller, Benfe, pot, Westerguard etc, accepted this notion after little doubt.
- Stevenson believes that letters of Brahmi Lipi are made from phoenician or Egyptian letters.
- On one hand, Bernel believes that phoenician letters gave rise to armaic letters which further give rise to brahmi letters, but Isaac Taylor writes that Armaic lipi and Brahmi's letters don't match.
- Isaac Taylor Writes that Brahmi might have originated from anonymous Southern Semitic script.

  Hence, various scholars take shelter of different scripts like Egyptian Syrian, greek, semetic, phoenician to attribute the origination of brahmi through them. Some of the varied accepted theories of its diverse origin has been has been discussed below.

- **The Semitic theory (Phoenician or Aramaic)** : The oldest Brahmi inscriptions bear similarity with contemporary Aramaic for the congruent sounds. Aramaic is written from right to left, as are several early examples of Brahmi. For example, both Brahmi and Aramaic resemble; both Brahmi and Aramaic resemble, etc. In order to accommodate more sounds, Brahmi has a number of extensions to the Aramaic alphabet. In Aramaic there is no distinction between dental stops and retroflex stops (d and)and in Brahmi the dental and retroflex series are graphically very similar, as if both had been derived from a single Aramaic prototype. Instead of emphatic consonants (q, ,) in Aramaic, Brahmi has corresponding aspirated consonants (kh, th, etc.) leading to replacement of q by kh, () by th (), etc. Brahmi p and ph are graphically very similar, and seem to be derivative of same source in Aramaic p. The first letter of Brahmi a is also similar to that of Aramaic alef. Some authors opine Greek ancestry of Brahmi. According to them, there is striking similarity between certain letters such as Greek letter theta and Brahmi tha. But this is merely reflects an influence at most rather than derivation of Brahmi from Greek alphabet. Falk suggested that the Greek model of script influenced the use of distinct diacritics for short and long vowels in Brahmi. However Falks suggestion is doubtful because the vowel notation in Greek is completely different and use distinct Semitic consonant characters with inconsistent short and long vowel pairs whereas in Brahmi there is a complete and regular set of matched short and long pairs of post-consonantal diacritic signs.
- **Theories regarding indigenous origin of Brahmi**: The earliest inscription of Brahmi is found in 6th century BC in Sri Lanka, but the occurrence of several local variants of it implies that its origin lies further back in time. Brahmi was the script of religious texts and as such could spread all over India [5]
- **Origin from Indus script**: Brahmi script may be possibly derived from the Indus Valley Script. The Indus script was founded in Harappa at around 1900 BC where as the first Brahmi and Kharosthi inscriptions at nearly 500 BC. It is generally believed that no texual inscription has been discovered between the Indus script and Brahmi script and thus the Indus origin of Brahmi is highly unlikely. Moreover Indus valley script is not yet deciphered for which the meaningful comparison is not possible. However the pre-historic, undeciphered pictographic inscriptions found in Vikramkhol cave, Odisha was a mixture of Brahmi form and a developed type of the Mohenjodaro script [6]. The time of this Vikramkhol pre-Brahmi inscription is also intermediate between Indus and Brahmi. G.R. Hunter in his book The Script of Harappa and Mohenjodaro and Its Connection with Other Scripts (1934) proposed a derivation of the Brahmi alphabets from the Indus Script, the match being considerably higher than that of Aramaic in his estimation
- **Origin from Kharoshthi**: Some western scholars assume that Khartoshi predated Brahmi and is thus could be the precursor of Brahmi; Khartoshi in turn

came from Aramaic. But many of the graphically similar characters of Khartoshi and Aramaic have different phonetic values.[7] Thus origin of Khartoshi from Aramaic is less likely. Moreover Brahmi may not have originated from Khartoshi because Brahmi ha and ta are respectively similar to Aramaic he, and ta but not Khartoshi ha and ta.

Kharosthi Script:

This script is believed to have origins from the Aramaic script. Among all Ashokan edicts, only two are found in this script, discovered in the Mansehra and Shahbazgarhi regions of earlier West Punjab. No Indian evidence of this script has been found prior to Ashoka. However, many Persian coins inscribed in Kharosthi suggest that this script may have been prevalent in West Asia even before 400 BCE. Later rulers in India, such as the Kushans, Shakas, and Parthians, used this script for inscriptions in Prakrit. The inscriptions found in this script are smaller and similar to Aramaic letters. Unique features include the presence of *Śanyuktakshar* and differences in *hrasva* and *dērgha.* This script is considered a sister script of Brahmi and is its contemporary. Many Buddhist inscriptions written in it extend from Pakistan to Afghanistan and are written from right to left.

Grantha script:

Among the later Brahmi scripts the name of Grantha script can be found in the southern part of India.Grantha script is a classical South Indian script used primarily to write Sanskrit texts in the Tamil-speaking region. Originating around the 5th century CE, it was developed to transcribe Sanskrit, which couldn't be accurately represented by the Tamil script due to its phonetic differences[8]. It was also used in parts of Kerala and occasionally found in inscriptions and manuscripts in nearby areas where Sanskrit texts needed to be recorded. Grantha is notable for its elegant curves and loops, and it served not only religious and literary purposes but also administrative roles. Its legacy is evident in several modern scripts, including Tamil, and it remains a symbol of classical scholarship in South India.

Gupta Script:

This is a later Brahmi script prevalent in the northern part of India, which underwent changes over time, leading it to become similar to Nagari. It is essentially a modified form of Brahmi that was commonly used during the Gupta period for inscriptions in Sanskrit. It is known for its role in the cultural and scholarly advancements of the Gupta period, often referred to as a golden age of Indian history. The script served as a precursor to several later Indian scripts, including Nagari, Bengali, and Tibetan scripts. Gupta Lipi was used to inscribe important texts, coins, and stone monuments, reflecting the administrative, literary, and religious practices of the time. Notable changes include the extension of the upper line on letters and broader alphabets. Its time period can be stated as after Brahmi, between 400-500 AD.

Siddhamatrika Script (Kutila):

This *lipi* is a later version of the *Gupta lipi*, attributed to the period between 600-900 AD. Its name derives from the more twirled or *kutila* form of letters. It was

prevalent mainly in the eastern part of India, leading to the evolution of Gaudi script, often used for writing Bengali. The word *Kutila* means *crooked* in the Sanskrit language, and it is assumed that the name came from the curving shapes of Kutila letters, distinct from the straighter lines of the Brahmi and Gupta scripts. It was used in the inscriptions of later Gupta rulers, such as in Yashodharman's *Mandsaur Abhilekh* and Mahanama's *Buddha Pratima Abhilekh.*

Sharda script:

This *lipi* is dated to the 8th century AD and appears to have evolved from *Kutila*. Its area of prevalence includes Kashmir and nearby regions. Although earlier evidence of its use is scarce, it became more common in later ages. The first evidence is from the *Sarahan Prashasti*.[9] Much information about *Sharda Lipi* can be found in the work of Dr. Vojel "Antiquities of Chamba State." The Sharda script has several distinctive features:

1. Angular Form: The characters are characterized by sharp, angular lines, making them visually distinct from more rounded scripts.
2. Abugida System: Sharda is an abugida, meaning that each consonant carries an inherent vowel sound, which can be modified with diacritics.
3. Brahmic Origin: It is derived from the Brahmi script and shares similarities with other scripts in the Brahmic family.
4. Vertical Orientation: The script is generally written from left to right.
5. Ligatures: Sharda often uses ligatures, where two or more characters are combined into a single glyph, which is common in many Indian scripts.
6. Distinctive Numerals: The script has its own set of numerals that are different from those used in Devanagari and other scripts.
7. Usage: Historically, it was used for writing Sanskrit and various regional languages, especially in religious and literary texts.

Nagari Lipi:

Through the evolution of earlier scripts, the most prominent and widely used later script in India took the form of the Nagari script. Its earliest evidence is found in the inscription of Pratihara King Mahendrapala's *Danpatra Abhilekh.*[10] It was used in the Vijayanagar Empire under the name *Nandi Nagari* and continues to be used in that form today.Nagari is written from left to right (like Brahmi) and is primarily used to write standard Hindi and Sanskrit. Its features include the use of symmetrical round shapes within squared outlines, recognized by a top line used at the head of letters. Its branches later gave rise to several other scripts, such as Bengali, Oriya, and Gurmukhi. It is derived from the ancient Brahmi script and shares similarity with scripts of brahmic family. Like Sharda it is also an abugida where each consonant has an inherent vowel .It has its own numeral system distinct from latin numeral system.

Conclusion:

The origination of writing in India can be traced back to the period of the Indus Civilization, which lasted for about a thousand years from 2500 to 1500 BCE. After more than a thousand years, we encounter inscriptions of Asoka in Greek, Aramaic, Kharosthi, and Brahmi scripts. Brahmi was the most common script used

by Asoka, who ruled from 269 to 232 BCE. Brahmi inscriptions from the period of Asoka have been found in Sri Lanka in rock-shelters and in the West Afghanistan region, revealing the extensive epigraphical reach of India at that time. The exploration of later scripts after Brahmi provides insights into how writing styles emerged in India and how letters became broader and more distinct. The vast diversity in the manifestation of various regional inscriptions highlights the innovative talents of indigenous writers and inscribers. An exploration of the evolution of scripts opens a door of innovative mindsets for the scholars by throwing light on the signicant history which scripts takes us to.

Reference Books:

1. John D. Bengtson (2008). In Hot Pursuit of Language in Prehistory: Essays in the Four Fields of Anthropology: in Honor of Harold Crane Fleming. John Benjamins Publishing. Pp. 427–. ISBN 90-272-3252-0.
2. R. Umamaheshwari (2018). Reading History with the Tamil Jainas: A Study on Identity, Memory and Marginalisation. Springer. P. 43. ISBN 978-81-322-3756-3.
3. The Paleography of India by Rai Bahadur Pandit Gaurishankar Hirachand Ojha. Munshiram Manoharlal, New Delhi.
4. Kishore, Kavitha (15 October 2011). “Porunthal Excavations Prove Existence of Indian Scripts in 5th Century BC: Expert”.
5. Dilip K. Chakrabarty (2009). India: An Archaeological History: Palaeolithic Beginnings to Early Historic Foundations. Oxford University Press India.
6. “Rudimentary Tamil-Brahmi Script Unearthed at Adichanallur”. The Hindu. 17 February 2005.
7. Coningham, R.A.E.; Allchin, F.R.; Batt, C.M.; Lucy, D. (1996), “Passage to India? Anuradhapura and the Early Use of the Brahmi Script”, Cambridge Archaeological Journal
8. Burgess, James. (1964 [1883]). Report on the Buddhist Cave Temples and their Inscriptions. London: Trübner & Co.
9. Daniels, P. T. and Bright, W. (1996). The Worlds Writing Systems. New York: Oxford University Press.
10. Diringer, David. (1953 [1898]). The Alphabet: A Key to the History of Mankind. London: Hutchinson's Scientific & Technical Publications. Available Online at http://asi.nic.in/asi_books/1287.pdf
11. Fairservis, W. A. (1983). The Script of the Indus Valley Civilization. Scientific American 248: 3, Pp.58 66. DOI: 10.1038/ scientificamerican0383-58
12. Goyal, S.R. (1979). "Brhm- An Invention of the Early Mauryan Period". In Gupta, S.P. and Ramachandran, S.P. (Ed.) The Origin of Brhm Script. (History and Historians of India Series, vol.2). Delhi: D.K. Publications.
13. Salomon, Richard, G. (1998). Indian Epigraphy: A Guide to the Study of Inscriptions in Sanskrit, Prakrit Languages. London: Oxford University Press.
14. Thappar, Romila. (2002). Early India From the Origins to AD 1300. London: Penguin Books. Available Online at http://www.ahandfulofleaves.org/ documents/History%20of%20Early%20India%20From%20the%20Origins%20to%20AD%201300_Thapar.pdf
15. Thappar, Romila. (2006). India: Historical Beginnings and the Concept of the Aryan. New Delhi: NBT.

---

1. Thappar, Romila. (2006). India: Historical Beginnings and the Concept of the Aryan. New Delhi: NBT
2. Bhagawati sutra

3. The Paleography of India by Rai Bahadur Pandit Gaurishankar Hirachand Ojha.
4. Burgess, James. (1964 [1883]). Report on the Buddhist Cave Temples and their Inscriptions.
5. Indian Epigraphy: A Guide to the Study of Inscriptions in Sanskrit, Prakrit Languages
6. The Alphabet: A Key to the History of Mankind , David diringer.
7. Salomon, Richard, G. ,Indian Epigraphy: A Guide to the Study of Inscriptions in Sanskrit, Prakrit Languages.
8. Kishore, Kavitha,Porunthal Excavations Prove Existence of Indian Scripts in 5th Century bc
9. Dilip K. Chakrabarty, India: An Archaeological History: Palaeolithic Beginnings to Early Historic Foundations.

Research Scholar,
Department of Sanskrit,
Jamia Millia Islamia University
New Delhi.

Significance of Tirtha in Indian Tradition: with Special reference to NaimishāraṇyaTirtha

– Miss Prajna Panda

(भारतीय परम्परा में तीर्थों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिनका उल्लेख वेद, पुराण, महाकाव्य एवं अन्य धार्मिक ग्रन्थों में विस्तृत रूप से मिलता है। तीर्थ शब्द "त्र" धातु से व्युत्पन्न है, जिसका तात्पर्य 'पार करना' या 'संस्कार की ओर अग्रसर होना' है। यह शब्द न केवल भौगोलिक स्थलों का बोध कराता है, बल्कि आध्यात्मिक शुद्धि, धार्मिक अनुष्ठानों और मोक्ष प्राप्ति के मार्ग का भी संकेतक है। नैमिषारण्य तीर्थ भारतीय धार्मिक परम्परा में अद्वितीय स्थान रखता है। यह स्थान प्राचीन काल से यज्ञों, तपस्याओं और आध्यात्मिक साधना का केन्द्र रहा है। ऋग्वेद में नैमिषारण्य का उल्लेख एक पवित्र स्थल के रूप में मिलता है, जहाँ ऋषियों ने धार्मिक कृत्य किए। रामायण के अनुसार, श्रीराम ने यहाँ अश्वमेध यज्ञ किया और इसे धर्म और संस्कृति के आदर्श स्वरूप का केन्द्र बनाया। महाभारत में इसे सभी पापों का विनाशक और धर्मात्माओं का निवास स्थान बताया गया है। पुराणों में इसे तीर्थराज की उपाधि दी गई है और वराह पुराण में इसे भगवान विष्णु द्वारा राक्षसों के विनाश का स्थान कहा गया है। शिव महापुराण और देवी भागवत पुराण इसे कलियुग के प्रभावों से मुक्त बताते हैं। कूर्म पुराण के अनुसार, यह तीर्थ मोक्ष प्राप्ति के लिए सर्वोत्तम स्थान है, जहाँ धार्मिक अनुष्ठानों और पितरों के तर्पण का विशेष महत्व है। नैमिषारण्य केवल एक तीर्थ स्थल नहीं है, बल्कि यह धार्मिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का प्रतीक है। यहाँ किए गए पुण्य कर्म व्यक्ति की सात पीढ़ियों का उद्धार करते हैं और जीवन त्यागने वाले को मोक्ष प्रदान करते हैं। यह स्थान भगवान शिव, देवी पार्वती और अन्य देवताओं का निवास माना गया है। इस पुण्यभूमि का प्रत्येक धार्मिक कृत्य न केवल व्यक्ति को पवित्र करता है, बल्कि उसे आत्मिक मुक्ति की ओर भी अग्रसर करता है। भारतीय परम्परा में नैमिषारण्य तीर्थ की महत्ता कालातीत है और यह धर्म, संस्कृति, और मोक्ष की अवधारणा का एक जीवन्त उदाहरण है।)

India is a holy land of great spiritual places. Our old tradition as well as religious places are delineated in the sacred Indian texts, *viz.*, Vedas, Upanishads, Puraṇas, Epics, *etc.* However, tirthas have a great importance in Indian culture and tradition. The term *tirtha* is derived from the root *tr-* (***tr-plāvanataranayoh***) 'to cross' with the *unādi* suffix *thak* (***patrtudivaciricisicibhyasthak***).[1] From the etymological sense it means a place of pilgrimage on the bank of a stream or river or tank or pond, which should be crossed to attain the grace of God or Goddess. According to *Medinikosa* the term *tirtha* means 'a *Shāstra* (scripture), *adhvara* (sacrifice), *kshetra* (sacred place), *upāya* (means), *nari-rajah* (timely courses of women), *avatāra* (stairs to descend into water of a river/tank, etc.), *rsi-justambu* (holy water used by sages), *pātra* (objects used in the *yajnas*), *upādhyaya* (*guru*/teacher/preceptor) and *mantri*(minister).[2] The

Vaijayantikosa[3]also defines *tirtha* almost in same senses as explained in the *Medinikosa.*

In Rigveda the word *tirtha* occurs frequently. In several *mantras* of the *Rigveda*, *tirtha* appears to mean a road or a way.[4] In some places *tirtha* may be taken to mean a ford (*ghata*) in a river.[5] *Tirtha* is also used in the sense of holy place or holy spot in the *Rigveda*.[6] Sāyaṇa interprets the term as: ***'yathāgangāditirthetarpanamukhe'.***[7] It also indicates the sense of a holy place situated near river Ganga and the place is being used for '*pitrtarpaṇa*' and other religious purposes. So, *tirtha* exclusively means a locality or expanse of water which gives rise to the accumulation of righteousness owing to its own peculiar nature without any adventitious circumstance.

Naimisāraṇya was a famous *tirtha* in the post-Vedic period, as widely and clearly described in the Vedic texts, Epics and Purāṇas. A number of references to Naimisāraṇya or the forest of Naimisa occurs in the Vedic texts. In the Kāthaka Samhitā of the *SuklaYajurveda* it is said: **"नैमिष्या तै सत्रमासत त उत्थाय सप्तविंशतिकुरुपांचालेषुवत्सत-रान्वततान्वको..."** It means the resident of Naimisa Forest performed a *Satra* or sacrifice. The Sankhāyana Brāhmaṇa also mentions a great sacrifice performed in the Naimisāraṇya:

"अथ ह स्माहदैवादासिः प्रतर्दनोनैमिषीयाणां सत्रमुपगम्योपासद्य विचिकित्सां..."[9]

Besides, the Jaiminiya Brāhmaṇa states that a *Satra* (sacrifice) was performed in Naimisa Forest by the sages:

"अथा ह वैनैमिशीयाइतिसत्त्रिणस् सोमशुष्मगृहपतयस् सत्त्रं निषेदुः ।[10]

The people of this forest called Nimisiya or Naimisya which is also mentioned in the Tāṇdya Mahā Brāhmaṇa of the Sāmaveda as–

एतेनवैनैमिशीयाः सर्वामृद्धिमार्जवन् सर्वामृद्धिमृन्धुवन्ति य एतदुपयन्ति (नैमिशीया नैमिशाख्यवासिनः)[11]

From these Vedic passages it is clear that Naimisāraṇya was a sacred place or *tirtha* where seers were performing different Vedic sacrifices as a part of their religious duties.

The importance of this holy *tirtha* is also known from the description of Ramayana. The Asvamedha sacrifice was performed by Sri Rama in Naimisāraṇya to show his prowess and sovereignty. He met with the Brahmins and discussed with them regarding the preparation of this sacrifice. However, He was extremely pleased after being known the sacred knowledge of the Brahmins,[12] residing in the forest. Then he

ordered His administrative people to prepare the vast sacrificial place at Naimisa Forest, situated near Gomati River.

यज्ञवाटश्चसुमहान् गोमत्यानैमिषेवने ।[14]

It is also noted that the great king of Ayodhya Lord Rama was staying in this *tirtha* with his brother Laksmana.[15] He asked Laksmaṇa to invite Sugriva and other princes for the sacrifice and to put up a large number of tents in the Naimisa Forest on the bank of the river Gomati for their grand reception. At this invitation the sage Valmiki also came to the Naimisāraṇya to attend the sacrifice, accompanied by his disciples including Lava and Kusa. A few huts were put up in a part of the forest for their residence.[16] During Rāma's stay in the Naimisāraṇya, all other kings brought presentations for Him and He also returned their hospitality by honoring them in true spirit.

नैमिषेवसतस्तस्य सर्व एव नराधिपाः ।
अनिन्युरुपहारांश्चतान् रामः प्रत्यपूजयत् ।।[17]

It is clear from the above verse that the Ayodhya-*pati* Rāma, being an incarnation of Lord Narayana, was successively performing yajnas in the Naimisa *tirtha* and even reciprocating due honor to the sages, brahmins and kings for their active participation in the Asvamedha sacrifice.

The importance of Naimisa *tirtha* was also glorified in the Mahābhārata. It describes and even clarifies the reasons why one should visit and stay in this holy place. The Epic further elaborates that Naimisa-*tirtha* is frequented by the *siddhas*, where Brahma with the celestials always dwells. The sages perform their daily religious duties as well as great traditional Vedic sacrifices in this forest and the Gods are coming and residing there for receiving their *yajna-bhāgas* from the *yajamānas* or sacrificers. The following verse clarifies it as:

ततस्तुनैमिष्यंगच्छेत् पुण्यं सिद्धनिषेवितम् ।
तत्र नित्यंनिवसतिब्रह्मादेवगणैः सह ।।[18]

The Naimisa *tirtha* is even able to destroy the sins (*papas*) of the human beings. Only by wishing to go to Naimisa, half of one's sins is destroyed. As soon as a man enters it, he is cleansed of all his sins. As it is rightly said in the Mahābhārata:

नैमिष्यंमृगयानस्य पापस्यार्थ प्रणश्यति ।
प्रविष्टमात्रस्तुनरः सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।[19]

The Naimisa (*tirtha*) is identified as one of the best *tirthas* of India. As it is mentioned that all the *tirthas* rest in Naimisa, so one should stay here at least for a month.[20] Besides, by performing regular holy bath and

preferring good *sāttvika* diet in Naimisāraṇya, one would obtain the fruits of many sacrifices.[21] According to the Mahabharata this forest *tirtha* is an auspicious place for the *sādhakas,* sages and religious minded persons or devotees. Anybody who gives up his life in Naimisa by fasting, he definitely sanctifies his race (*kula*) for seven generations upwards and downwards. Hence, the great Epic *Mahabharata* specifically adds:

पुनात्यायासप्तमंचैवकुलंभरतसत्तम ।
यस्त्यजेनैमिषे प्राणानुपवासपरायणः ।।[22]

Therefore, Naimisa-*tirtha* is really a sacred and holy region or a religious (*dhārmik*) place of pilgrimage. The wise men advise that "a person, who remains in this *tirtha*, feels that as if he is in the heaven."[23]

The Puranas too have elaborately discussed the real significance of Naimisa-*tirtha*. The name of the forest is said to have been derived from the fact that the *nemi* (circumference) of the *dharmacakra* was shattered there. According to the description of *Varāha Purāna* the entire army of the demon king Durjaya was destroyed completely and reduced to ashes by the discus (*cakra*) of Lord Hari. Having performed it, the Supreme Lord said to the sage Gauramukha, "I have killed the army of the demon in a twinkle of the eye (*nimesa*). Hence, this forest would be named as 'Naimisa' forest and would be the abode of brahmins."

उवाचनिमिषेणेदंनिहितंदानवंबलम् ।
अरण्ये ऽस्मिस्ततस्त्वेवंनैमिष्यारण्यसंज्ञितम् ।
भविष्यति यथार्थवैब्राह्मणानांविशेषतः ।।[24]

The Varaha Purana also prescribed for performing *sraddha-karmas* for the *pitaras* in this sacred *tirtha.* All the evils are warded off if someone devotedly worships the Manes after taking a holy bath in the Gomati River in Naimisaranya.[25] Definitely, the *pitaras* get satisfied by receiving *sraddha-annas* and *tarpanas* from their relatives in this *tirtha*. Besides, the Purāṇa adds that by taking a bath in the Naimisa *tirtha* on the thirteenth day (*trayodasitithi*) a man would shake off all his sins.[26]

According to Shiva Maha Purāṇa, Lord Brahmā has advised to Brahmins the means of salvation. He said "I will release this mentally created wheel. The place where its rim (*nemi*) gets shattered is auspicious for your *sādhanā* or meditation." The Purāṇa nicely describes the words of Brahma as:

एतन्मनोमयंचकंमया सृष्टंविसृज्यते ।
यत्रास्य शीर्यतेनेमिः स देशस्तपसः शुभः ।।[27]

Hence, after advising this to the devoted brahmins Lord Brahma created a mental wheel as bright as sun. Then, after properly bowing Lord

Siva He released the wheel. Those delighted pious Brahmin devotees bowed to the Lord and pursued the wheel to the place where its rim got shattered. The sacred wheel thus hurled fell on a smooth charming rock in a certain forest where the water was sweet and clear. That forest became famous as Naimisa *tirtha*. It is a *Pavitra-bhumi* and known as a place of *tapas* and *sadhana*. The *devas, yaksas, gandharvas, vidyādharas,* sages and even pious human beings will reside here for their religious duties and ceremonies. Hence, this forest of Naimisa will be renowned as a *punyaksetra* (sacred worship place) for the liberated souls and *mumuksu* beings.

तद्वनंतेनविख्यातंनैमिष्यं मुनिपूजितम् ।
अनेकं यक्षगन्धर्वविद्याधर समाकुलम् ।।[28]

The *Devi Bhagavata Purana* also goes with the Siva Purana by adding that Naimisa *tirtha* is a famous and holy place, as the *cakra* or *nemi* of Brahma has stopped there for the seekers of truth. As said:

नेमिसंशीर्यते यत्र स देशः पावनः स्मृतः ।[29]

The specialty of this Naimisa *tirtha* is that the impact of Kali would not be seen here. It means Kali (*yuga*) will not be able to enter into the *tirtha* due to its religious sanctity and all the residents of Naimisāraṇya will remain there until the *satyayuga* comes back. The text clarifies this as:

कलेस्तत्र प्रवेशो न कदाचित्संभविष्यति ।
तावत्तिष्ठन्तु तत्रैव यावत्सत्ययुगं पुनः ।।[30]

Hence, Naimisa *tirtha* will never come under the worse impact of Kali. This is really the main specialty of this *tirtha*, as blessed by the Highest Lord.

According to Kurma Purāṇa, the Naimisa *tirtha* is well known in the three worlds. Being more liked by Lord Mahadeva than any other *tirthas*, it is destructive of great sins. It is aptly said in the text:

इदं त्रैलोक्य विख्यातंतीर्थनैमिषमुत्तमम् ।
महादेवप्रियतरं महापातकनाशनम् ।।[31]

So, due to the Grace of Lord Shiva Naimisāraṇya is known as a *punya-sthāna* (or *punyaksetra*). It is created by the Highest Deity, Lord Brahma for the performance of *sadhana*(penance) by the *rsis* (sages), desirous of seeing Mahādeva.[32] Once the six outstanding brahmin families, viz. the Maricis, the Atris, the Vasisthas, the Kratus, the Bhrgus and the Angiras, formerly approached the Brahma, how to see the Lord Ishana (*Isanam… kenopayenapasyamobruhi deva*).[33] In the reply, the Creator Brahma advised them to perform a *Satra* (sacrifice) of the duration of one thousand years, free from all the defects. Regarding the place of the

sacrifice, He said I will tell you the place where you will perform the same. Then He touched the mind-wheel and desired it to leave. Thereafter, the Lord told the sages "This wheel has been discharged by me. You follow it without any delay."[34] Where the rim of this wheel gets shattered is the auspicious place for the purpose of *tapas* and sacrifices (***yatra syanemihsiryetasa-desastapasahsubhah*).[35]** As it rolled on; its rim got shattered at a place which came to be remembered by the name Naimisa. It is very holy and is honored everywhere by all the sages and devotees of God. In the words of *Kurma Purana*:

तस्य वैव्रजतः क्षिप्रं यत्र नेमिरशीर्यत ।
नैमिषंतत् स्मृतंनाम्नापुण्यं सर्वत्र पूजितम् ।।
सिद्धाचारणसंपूर्ण यक्षगन्धर्वसेवितम् ।
स्थानंभगवतः शंभोरेतन्नैमिषमुत्तमम् ।।[36]

So, undoubtedly, Naimisāraṇya is a sacred place and a famous *tirtha*, where anyone can perform sacrifice and even continue *tapas* for seeking liberation. As described, it is a place full of *siddhas*, *caraṇas* and other *dharmatmas*. It is resorted to by *yaksas* and *gandharvas*. This excellent holy place Naimisa is the pleasant abode of Lord Sambhu or Siva. Formerly, *devas*, along with *gandharvas*, *yaksas*, serpents and the demons performed their penance (*tapas*) here and finally attained excellent boons.[37] Resorting to this holy *tirtha*, the six old brahmin families, *viz*. Maricis, Atris, *etc*. propitiated the Lord Mahadeva with great concentration, by means of sacrifices and finally perceived Mahesvara. Therefore, it is clear now that every religious ceremony being performed here must provide some positive result or intended things to its performers, in time. As it is mentioned that each of the following holy rites performed here shall destroy the sins committed in the course of seven births.

अन्नदानंतपस्तप्तंश्राद्धयामादिकञ्च यत् ।
एकैकंनाशयेत्पापंसप्तजन्मकृतं तथा ।।[38]

Therefore, it is advised that one should offer *dana* to the poor beings and perform *sraddha* for the satisfaction of Manes (*pitaras*). Besides, he should properly perform austerities (*tapas*) and *sadhanas*, along with regular rites and other sacrifices for the destruction of *papas* and for attaining the final goal of life. The foremost significance of this holy *tirtha* is, even till today, Lord Mahesvara of universal vision sports about along with his spouse Rudrani (Parvati), while the Pramāthas surround Him as attendants. As said:

अत्र देवोमहादेवो रुद्राण्योकिलविश्वदृक् ।
रमते ऽद्यापिभगवान्प्रमथैः परिवारितः ।।[38]

Another significance of this *tirtha* as mentioned in the Kurma Purana is that "by giving up their lives here in this Naimisāranya, the *dvijas, etc.* will go to the *brahmaloka,* after which they are not born again."

अत्र प्राणान् परित्यज्य नियमेन द्विजातयः ।
ब्रह्मलोकंगमिष्यन्ति यत्र गत्वा न जायते ।।[39]

Henceforth, the final intension of each human being is to get *mukti* or *nirvāṇa* or liberation. A sage, a *sādhaka* or a true devotee always seek to attain salvation through various religious performances. At the end, he obtains emancipation and never returns to this world in the form of a being. This has been properly said in the Bhagavad Gitā: "neither the sun nor the moon nor even the fire can illumine that Supreme Self-effulgent state, attaining to which they never return to this world. This is My Supreme Abode."

नतद्भासयतेसूर्यो न शशांको न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धामपरमं मम ।।[40]

Hence, due to the good impact of great *tirthas*, like Naimisāraṇya and performance of *punyakarmas* the human being attains liberation.

However, in the conclusion it can be said that Naimisāraṇya is really a holy and famous *tirtha* of the Brahmavarta or Bhāratavarsa. This has been nicely depicted in the Vedic texts, Epics, and Puranas. Both Lord Visnu and Brahmā have created or introduced this holy *tirtha* for the religious upliftment and final attainment of the highest goal or liberation of the people of different ages. This has also been the pleasant abode of Lord Siva and Devi Parvati and a *yajnabhumi* (place of sacrifice) of Bhagavan Rama and other great seers. Hence, this *punyabhumi* of Naimisāraṇya is really known as a king of all the sacred *tirthas, i.e. tirtha-raja* of this great country since time immemorial.

References:-

1. भारतीय गणित का इतिहास - विभूति भूषण दत्त, 1991
2. काशी की पांडित्य परंपरा - पं बलदेव उपाध्याय, 1998
3. दीर्घवृत्तलक्षणम् - सुधाकर द्विवेदी, 1954
4. गणकतरंगिणी - सुधाकर द्विवेदी, 1965
5. काशी का इतिहास - डॉ मोतीचन्द्र, 2001
6. ग्रहलाघव - पं केदारदत्त जोशी, 1998
7. चलराशिकलन - सुधाकर द्विवेदी, 2001
8. चलन कलन - सुधाकर द्विवेदी, 2003
9. सरस्वती सुषमा -1942

1. Uṇādi Sutra, 164 (II.7)
2. तीर्थ शास्त्राध्वरक्षेत्रोपाय नारीरजः सुच ।
अवतारर्षिणुष्टाम्बुपात्रोपाध्याय मन्त्रिषु ।। Medini Kosa, XVII.7
3. तीर्थमन्त्राद्युपाध्यायशास्त्रेष्वम्भसिपावने ।
पात्रोपायावतारेषु स्त्रीपुष्पे योनियज्ञयोः ।। Vaijayanti Kosa, VI.3.13cd-14ab
4. तीर्थेनार्यः पौंस्यानितस्थुः ।। Rigveda, I.169.6
5. अरित्रं वांदिवस्पृथुतीर्थेसिन्धुनांरथः ।। Rigveda, I.46.8
6. धीतिरससृग्रमंशास्तीर्थे न दस्ममुप यन्त्यूमाः ।। Rigveda, X.31.3
7. Sāyaṇa Bhāsya on Rigveda, X.31.3
8. Kāthaka Samhitā, X.6
9. Sankhayana Brāhmana, XXVI.5
10. Jaiminiya Brāhmaṇa, I.363.
11. Tāndya Maha Brāhmaṇa, XXV.6.4, *Cf.* Kausitaki Brāhmaṇa, XXVI.5.
12. स तेषां द्विजमुख्यानांवाक्यमद्भुतदर्शनम् ।
अश्वमेधाश्रितं श्रुत्वाभृशंप्रीतोऽभवत् तदा।। रामायण, उत्तरकाण्ड, 91.8
13. आज्ञाप्यतांमहाबाहोतद्धि पुण्यमनुत्तमम् *ibid.*, उत्तरकाण्ड, 91.16ab
14. *Ibid.*, 91.15cd.
15. विज्ञाय कर्मतत् तेषांरामो लक्षणमब्रवीत् ।
Ibid., उत्तरकाण्ड, 91.9.
16. वर्त्तमानेतथाभूते यज्ञे च परमाद्भुते।
सशिष्य आजगामाशुवाल्मीकिर्भगवानृषिः ।।
स दृष्ट्वादिव्यसंकाशं यज्ञमद्भूतदर्शनम् ।
एकान्त ऋषिसंघातश्चकारउटजाशुभान् ।। रामायण, उत्तरकाण्ड, 93.1-2
17. *Ibid.*, उत्तरकाण्ड, 92.4.
18. Mahabharata, Vanaparva, 84.59.
19. *Ibid.*, Vanaparva, 84.60.
20. तत् मासंवसेद् धीरोनैमिष्ये तीर्थतत्परः ।
पृथिव्यां यानितीर्थानितानितीर्थानिनैमिषे ।। *Ibid.*, Vanaparva, 84.6
21. कृताभिषेकस्तस्यैषनियतोनियताशनः ।
गवांमेधस्य यज्ञस्य फलंप्राप्नोतिभारत ।। *Ibid.*, Vanaparva, 84.62
22. *Ibid.*, Vanaparva, 84.63.
23. समोदेत् सर्वलोकेषु एवमाहुर्मनीषिणः ।
नित्यंमेध्यं च पुण्यं च नैमिष्यंनृपसत्तमः ।। *Ibid.*, Vanaparva 84.64
24. Varāha Purāna, XI.108-109.
25. गंगासरयूमथवाविपाथ्यांसरस्वतींनैमिष्य गोमतींवा ।
ततो ऽवगाह्यार्चनमादरेणकृत्वा पितृणामहितानिहन्ति ।। *Ibid.*, XIII.48
26. त्रयोदश्यांनैमिष्ये च प्रयागे च चतुर्दशीम् । ....
कालेष्वेषुनरः स्नात्वासर्वपापंव्यपोहति ।। *Ibid*, 174.56-57.
27. Shiva Purāna,Vāyaviya Samhitā, Chapter, 3.53.
28. *Ibid.*, 3.57.
29. Devi Bhāgavata Purāna, I.2.29.

30. *Ibid*., I.2.30.
31. Kurma Purāna, Uttarārdha (2nd part), Chapter 43.1.
32. महादेवंदिदृक्षूणामृषीणांपरमेष्ठिना।
ब्रह्मणानिर्मितंस्थानंतपस्तप्तुं द्विजोत्तमा ।। *Ibid.*, Ch. 43.2
33. *Ibid*., Chapter 43.5.
34. मुक्त्वामनोमयंचक्रंसंस्पृष्ट्वातानुवाच ह ।
क्षिप्तमेतन्मयाचक्रमनुव्रजतमाचिरम् ।। *Ibid.*, Ch. 43.7
35. *Ibid*., Chapter, 43.8
36. *Ibid*., Chapter, 43.9-10.
37. अत्र देवाः सगन्धर्वाः सयक्षोरगराक्षसाः ।
तपस्तप्त्वापुरादेवालेभिरेप्रवरान्वरान् ।। *Ibid.*, Ch. 43.11
38. *Ibid*., Chapter 43.15.
39. *Ibid*., Chapter 43.16.
40. Bhagavad Gitā, Chapter XV.6

Research Scholar of Yoga, KKSU,
Ramtek, Nagpur, Maharashtra- 441106.
& Kaivalya Dham Research Institute
& Research Centre, Lonavala, Pune
Email: pandaprajna97@gmail.com